













# BIBLIOTHECA INDICA

## COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

---

THE

SANHITA OF THE BLACK YAJUR VEDA.

WITH THE

COMMENTARY OF MADHAVA ACHARYA

EDITED BY

MAHESACHANDRA NYAYARATNA, C. I. E.

VOL. IV

KANDA IV.

---

CALCUTTA:

PRINTED BY J. W. THOMAS, BAPTIST MISSION PRESS.

1881.



# INDEX

TO THE

FOURTH VOLUME OF THE TAITTIRÍYA-SANHITÁ.

FOURTH-KÁNDA—AGNIKÁNDA.

PRAPÁTHAKAS—I—VII.

## PRAPÁTHAKA I.

|       |  |         |
|-------|--|---------|
| I—XI. | Anuvákas —Ukhásambharane mantráh, . .        | 1—151   |
| I.    | Anuváka Abhryádánam, . . .                   | 1—15    |
| II    | „ Mridákrántih, ...                          | 15—37   |
| III.  | „ Mritkhananam, ... ..                       | 37—49   |
| IV    | „ Mridáharanam, ... ..                       | 50—65   |
| V     | „ Ukháurmápanam, ... ..                      | 66—75   |
| VI    | „ Ukhásanskárah, . . .                       | 78—87   |
| VII   | „ Sámidhenyah, ... ..                        | 87—93   |
| VIII. | „ Ápríúpa-Prayájayájjáh, ..                  | 94—113  |
| IX.   | „ Agnutpádanam, ..                           | 113—126 |
| X.    | „ Agnidhátanam, ..                           | 127—142 |
| XI.   | „ Vaisvadeve havishám yájjánuvákýáh, 142—151 |         |

## PRAPÁTHAKA II.

|       |  |         |
|-------|--|---------|
| I—XI. | Anuvákas —DevaYaja-grahah, .                           | 152—308 |
| I.    | Anuváka. A'sandyám ukhágneñ sthápánam, .               | 152—166 |
| II    | „ Ukhágneñ upasthánam, . .                             | 166—175 |
| III.  | „ Ukhágneñ chayanadeśam prati<br>nayanam, . . .        | 175—188 |
| IV.   | „ Gárhapatyágneñ chayanam, .                           | 188—202 |
| V.    | „ A'havaníya-chayanáartham bhubah<br>karshanam, ... .. | 202—225 |
| VI.   | „ Oshadhibápan, ...                                    | 226—238 |
| VII   | „ Loshtrakshepádikam, .                                | 239—252 |
| VIII. | „ Rukmélyupadhánam, .                                  | 252—261 |
| IX.   | „ Svayamátinnádíshtakopadhánam, ...                    | 265—286 |
| X     | „ Pas'us'irshopadhánam, ...                            | 287—299 |
| XI    | „ Varunapragháse yájjánuvákýáh, . .                    | 299—308 |

## PRAPĀTHAKA III.

## Chiti I.

|         |                           |             |
|---------|---------------------------|-------------|
| I—XIII. | Anuvākas.—Chitis, ...     | ... 309—413 |
| I.      | Anuvāka. Apasyāḥ iṣṭakāḥ, | ... 309—314 |
| II.     | Prānabhritāḥ iṣṭakāḥ,     | ... 314—321 |
| III.    | Apānabhritāḥ iṣṭakāḥ,     | ... 321—328 |

## Chiti II.

|     |                    |             |
|-----|--------------------|-------------|
| IV. | A'svinyāḥ iṣṭakāḥ, | ... 328—337 |
| V.  | Vayashyāḥ iṣṭakāḥ, | ... 338—343 |

## Chiti III.

|      |                            |             |
|------|----------------------------|-------------|
| VI.  | Svayamātrinnādyāḥ iṣṭakāḥ, | ... 343—349 |
| VII. | Vrihatyādyāḥ iṣṭakāḥ,      | ... 350—354 |

## Chiti IV

|       |                                       |             |
|-------|---------------------------------------|-------------|
| VIII. | Akṣhṇayāstomīyāḥ iṣṭakāḥ,             | ... 355—361 |
| IX.   | Avas'isthāḥ Akṣhṇayāstomīyāḥ iṣṭakāḥ, | ... 362—370 |
| X.    | Sriṣṭhīnāmākāḥ iṣṭakāḥ,               | ... 371—376 |
| XI.   | Vyushṭhīnāmākāḥ iṣṭakāḥ,              | ... 376—389 |

## Chiti V.

|       |                                |             |
|-------|--------------------------------|-------------|
| XII.  | Asapatnāḥ Virajas cha iṣṭakāḥ, | ... 389—396 |
| XIII. | Yājñyanuvākyāḥ,                | ... 396—413 |

## PRAPĀTHAKA IV.

Fifth chiti continued up to XI' Anuvāka.

|        |                               |             |
|--------|-------------------------------|-------------|
| I—XII. | Anuvākas,                     | ... 414—562 |
| I.     | Anuvāka. Stomabhāgāḥ iṣṭakāḥ, | ... 414—422 |
| II.    | Nākāsadaḥ iṣṭakāḥ,            | ... 422—427 |
| III.   | Chodāḥ iṣṭakāḥ,               | ... 428—437 |
| IV.    | Chhandasaḥ iṣṭakāḥ,           | ... 437—454 |
| V.     | Sanyagādyāḥ iṣṭakāḥ,          | ... 455—459 |
| VI.    | Viśvajyotiradyāḥ iṣṭakāḥ,     | ... 459—468 |
| VII.   | Bhūyaskṛdādayāḥ iṣṭakāḥ,      | ... 468—472 |
| VIII.  | Indratanvaḥ iṣṭakāḥ,          | ... 473—476 |
| IX.    | Yajnatanvaḥ iṣṭakāḥ,          | ... 476—481 |
| X.     | Nakṣatreshṭakāḥ,              | ... 481—486 |
| XI.    | Ritabyāḥ iṣṭakāḥ,             | ... 487—497 |
| XII.   | Yājñyanuvākyāḥ,               | ... 497—508 |

## PRAPĀTHAKA V

|       |                                    |     |         |
|-------|------------------------------------|-----|---------|
| I—XI. | Anuvākas.—Rudrādhyāya,             | ... | 509—562 |
| I.    | Anuvāka Rudrasya tānoḥ prasādanam, | ... | 509—518 |
| II.   | „ Ubhayato-nāmaskārāṇi yajunshi,   | ..  | 518—521 |
| III.  | „ Ditto,                           | ..  | 522—526 |
| IV.   | „ Ditto,                           | ..  | 526—529 |
| V.    | „ —————-kramāṇi yajunshi,          | ... | 529—531 |
| VI.   | „ Ditto, . . . . .                 | ... | 532—534 |
| VII.  | „ Ditto, ...                       | ..  | 534—536 |
| VIII. | „ Ditto, . . . . .                 | ... | 537—539 |
| IX.   | „ Ditto, . . . . .                 | ... | 540—542 |
| X.    | „ Richah mantrāḥ,                  | ... | 543—551 |
| XI.   | „ Śiṣṭāḥ richaḥ yajunshi cha,      | ..  | 551—562 |

## PRAPĀTHAKA VI.

## AGNISANSKĀRAḤ ĀŚVAMEDHĀNGĀNI CHA.

|       |  |     |         |
|-------|--|-----|---------|
| I—X.  | Anuvākas,                              | ... | 563—673 |
| I.    | Anuvāka. Parīshechana-vikarshanādayaḥ, | ..  | 563—579 |
| II.   | „ Vais'vakarmana-homaḥ,                | ..  | 579—593 |
| III.  | „ Agnipranayanam,                      | ... | 594—604 |
| IV.   | „ Apratiratha-sūktam,                  | ..  | 604—615 |
| V.    | „ Agnisthāpanam,                       | ..  | 616—632 |
| VI.   | „ Āśvamedhāngam kavachādi-sannāhaḥ,    | ... | 633—646 |
| VII.  | „ Āśvastomīya-mantrāḥ,                 | ... | 646—656 |
| VIII. | „ Ditto, ..                            | ..  | 657—663 |
| IX.   | „ Ditto, ..                            | ... | 664—673 |

## PRAPĀTHAKA VII.

|          |  |        |         |
|----------|--|--------|---------|
| I—XV.    | Anuvākas — Vasudhāfādayaḥ sanskāráḥ,         | ..     | 674—714 |
| I to XI. | Anuvākas. Vasudhārāhoṃa-mantrāḥ,             | ...    | 674—699 |
| XII.     | Anuvāka. Vājaprasaviyahomaḥ,                 | ..     | 699—708 |
| XIII.    | „ Agniyogah,                                 | ...    | 709—721 |
| XIV.     | „ Vihabyāḥ iṣṭakāḥ,                          | ..     | 722—733 |
| XV.      | „ Āśvamedhasambandhīnyo yājyā-<br>nuvākhyāḥ, | ... .. | 733—744 |





## शुद्धिपत्रम् ।



| अप्रामाण्यम् ।                  | शुद्धिम् ।          | पङ्क्तिः । | पङ्क्तिः । |
|---------------------------------|---------------------|------------|------------|
| वक्ष्यामः" इति .....            | वक्ष्याम इति .....  | ७          | १६         |
| यक्षयक्षिणा .....               | यक्षयक्षीणा .....   | १७         | १०         |
| त .....                         | ते .....            | १५         | १०         |
| मस्मयु(१) .....                 | मस्मयु(१) .....     | १५         | १२         |
| उबन्तरिच्छ .....                | उबन्तरिच्छ .....    | १५         | १६         |
| चिकीर्षते .....                 | चिकीर्षते .....     | १६         | ५          |
| —जिघमि .....                    | जिघमि .....         | १६         | २०         |
| प्राप्नुयुः(एवमेव सर्वत्र पाठः) | प्राप्नुः .....     | १८         | ११         |
| दण्डेम(८) .....                 | दण्डेम .....        | २७         | २०         |
| द्वरिष्याम(९) .....             | द्वरिष्याम(८) ..... | २७         | २२         |
| अभिं .....                      | अभिः .....          | २५         | १०         |
| अन्वप्ति .....                  | अन्वप्ति .....      | २६         | ४          |
| 'द्यावा .....                   | द्यावु .....        | २६         | ११         |
| वचस्ततो .....                   | वचस्ततो .....       | २७         | १६         |
| —तेजः प्राप्तिः .....           | तेजः—प्राप्ति ..... | ४८         | १६         |
| आयुर्दूतो .....                 | आयुर्दूतो .....     | ५०         | १८         |
| वाजी(एवमेव सर्वत्र पाठः)        | वाजि .....          | ६१         | १०         |
| कर्मण्यां .....                 | कर्मण्यां .....     | ६६         | १७         |
| पदे .....                       | पदे .....           | ६६         | २०         |
| बुद्धि .....                    | बुद्धि .....        | ७२         | ६          |
| उत्ता कर्षे .....               | उत्ता-कर्षे .....   | ७८         | ७          |
| धारयितुः .....                  | धारयितुः) .....     | ८४         | ६          |
| मुखाः .....                     | मुखाः .....         | ८५         | ११         |
| बोधयनं .....                    | बोधयनं .....        | ८८         | ११         |
| दधः .....                       | दधे .....           | ९२         | ३          |



श्रीगणेशाय नमः ।



अथ तैत्तिरीयसंहिताभाः

चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

॥ हरिः ॐ ॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः । अग्निं  
ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्<sup>(१)</sup> । युक्ताय म-  
नसा देवान्त्सुर्वर्यतो धिया दिवं । दृष्टज्योतिः  
करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान्<sup>(२)</sup> । युक्तेन मनसा  
वर्यं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्यै<sup>(३)</sup> । युञ्जते  
मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य दृष्टो विपश्चितः ।  
वि होषा दधे वयुनाविदेक इत ॥ १ ॥

मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः<sup>(४)</sup> । युजे वा ब्रह्म  
पूर्य नमोभिर्वि सोका यन्ति पथ्येव सूरः । शृण्वन्ति  
विश्वे अदृतस्य पुषा आ ये धामानि दिव्यानि तस्युः<sup>(५)</sup> ।  
यस्य प्रयागमन्मन् इत्युर्देवा देवस्य महिमानमचतः ।  
यः पार्थिवानि विमन्ने स एतन्नो रजांसि देवः स-

विता महित्वना<sup>(१)</sup> । देव सवितुः प्रसुव यज्ञं प्रसुव ॥  
॥ २ ॥

यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः । केतपूः केतं नः  
पुनातु वाचस्पतिर्वाचमद्य स्वदाति नः<sup>(२)</sup> । इमं नो  
देव सवितर्यज्ञं प्रसुव देवायुवः सखिविदः सचाजितं  
धनजितः सुवर्जितं<sup>(३)</sup> । ऋचा स्तोमः समर्हय गायत्रेण  
रयन्तरं । वृहजायचवर्त्तनि<sup>(४)</sup> । देवस्य त्वा सवितुः  
प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां गायत्रेण छन्द-  
साऽऽदेऽङ्गिरस्वत्<sup>(५)</sup> अभिरसि नारिः ॥ ३ ॥

असि पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर  
चैष्टुभेन त्वा छन्दसाऽऽदेऽङ्गिरस्वत्<sup>(१)</sup> बभिरसि ना-  
रिरसि त्वया वयः सधस्य अग्निः शक्वेम खनितुं  
पुरीष्यं । जागतेन त्वा छन्दसाऽऽदेऽङ्गिरस्वत्<sup>(२)</sup> हस्त  
आधाय सविता विष्टदधिः हिरण्ययी । तया ज्यो-  
तिरजस्त्रमिदग्निं खात्वा न आभरानुष्टुभेन त्वा छन्द-  
साऽऽदेऽङ्गिरस्वत्<sup>(३)</sup> ॥ ४ ॥

इत् । यज्ञं प्रसुव । नारिः । आनुष्टुभेन त्वा छन्द-  
सा । चिणि च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके  
प्रथमोऽनुवाकः ॥ \* ॥

## श्रीगणेशाय नमः ।

यस्य निश्चयितं वेदा ये वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

तृतीयकाण्डे सोमस्य शेषः प्रायेण वर्णितः ।

चतुर्थे त्वग्निचित्यङ्गमन्त्राणां पाठ ईर्यते ॥

अवान्तरविशेषस्तु विनियोगेषु दर्शितः ।

चतुर्थकाण्डमन्याख्यं सप्तभिः पाठकैर्युतम् ॥

उखासम्भरणे मन्त्राः प्रथमे पाठके श्रुताः ।

एकादशानुवाकाः सुस्तदर्थस्तु क्रमादमी ॥

अभ्यादानं मृदाक्रान्तिः खननं हरणं तथा ।

उखानिर्वाणसंस्कारौ सामिधेन्यस्तथा प्रियः ॥

अग्न्युत्पादो धारणश्च याज्या इत्यनुवाकगाः । इति ।

तच्चाध्यादानप्रतिपादके प्रथमेऽनुवाके प्रथमं तावद्धोममन्त्रा  
उच्यन्ते ।

कल्पः,—‘जुह्वामष्टमृद्दीतं मृद्दीतां युञ्जानः प्रथमं मृग इति  
यजुरष्टमाभिर्ध्वग्भिरेकामाहुतिं जुहोति’ इति । तच्च प्रथमामृ-  
चमाह,—‘युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः । अग्निं  
ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्<sup>(१)</sup>’ इति । ‘सविता’ (प्रेरकः  
परमेश्वरः) ‘प्रथमम्’ अग्निचयनविषये ‘मनो’ ‘युञ्जानः’ (समाद-  
धानः) ‘धियः’ (इष्टकादिविषयाणि ज्ञानानि), ‘तत्त्वाय’ (तज्जित्वा  
त्रिस्तोत्रं) ‘अग्निं ज्योतिर्निचाय्य’ (चोद्यमानमग्निं सफलानां कर्मणां

प्रकाशवाधनभूतं निश्चित्य), 'वृद्धिः'—'अधि'—'आभरत्' (आ-  
हृतवान् भूमेरपरि आनीतवान्) । तदनन्तरमग्निम् उखासकम् \*  
वृद्ध्यां स्थापयितुम् उखानिर्वाणदौ इमं देहं कुरोतीति भावः ।

अथ द्वितीयामाह,—“युक्ताय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया  
दिवं । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान्<sup>(१)</sup>” इति ।  
'सविता' 'तान्' (इन्द्रियविशेषान्) प्रकर्षेण 'सुवाति' (प्रेरयति),  
किं कृत्वा?—'देवान्' (क्रीडापरत्वेन अपस्मान्) इन्द्रियविशेषान्  
'मनसा' 'युक्ताय' (विषयेभ्यो नियम्य) । कीदृशानिन्द्रियविशेषान्?—  
'सुवर्यतः' (स्वर्गं गच्छतः), स्वर्गप्राप्त्यर्थमुद्यतानित्यर्थः; 'बृह-  
ज्ज्योतिः' (प्रौढं शीघ्रमानमग्निं) 'धिया दिवं' 'करिष्यतः' (तत्त-  
दिष्टकादिविषयया प्रज्ञया द्योतमानं कर्तुमुद्यतान्) ।

अथ तृतीयामाह,—“युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।  
सुवर्गेवाय ब्रह्मै<sup>(१)</sup>” इति । यस्मात् पूर्वोक्तरीत्या सविता इन्द्रियाणि  
प्रेरयति, तस्मात् 'वयं' 'सवितुः' 'देवस्य' प्रेरणे संति 'युक्तेन' (वि-  
षयेभ्यो नियमितेन) 'मनसा' 'सुवर्गेवाय' (स्वर्गलोके गीयमान-  
स्वाग्नेः संपादनाय) 'ब्रह्मै' (ब्रह्मा) भूयास्वेति शेषः ।

अथ चतुर्थीमाह,—“युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा  
विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । विं देवा दधे वयुनाविदेक इत् मही  
देवस्य सवितुः परिष्टुतिः<sup>(१)</sup>” इति । 'विप्रस्य' (आश्चर्यस्य) अज-  
मानस्य समन्विनो 'विप्राः' अन्विजः 'मनो' 'युञ्जते' (प्रथमं  
स्वकीयं मनो विषयेभ्यो निकर्तय समाहितं कुर्वन्ति) । 'उत' (अपि च)

‘धिचः’ (दृष्टकादिविवंधाणि, ज्ञानानि) ‘युञ्जते’ (सम्पादयन्ति) ।  
 कीदृशस्य विप्रस्य ?—‘वृक्षतः’ (प्रभूताग्निचयनोद्योगेनाभिवृद्धस्य),  
 ‘विपश्चितः’ (विदुषुः प्रयोगाभिज्ञस्य) । कीदृशा विप्राः ?—‘होत्राः’  
 (होमशीलाः), कर्मण्यासस्यरहिता\* इत्यर्थः । ‘एक इत्’ (एक एव)  
 सविता ‘वि-’‘दधे’ (सर्वमिदं निर्मितवान्) । कीदृशः सविता ?—  
 ‘वयुनावित्’ (सत्त्वियजमानाभिप्रायाभिज्ञः) । कथम् एक एव  
 सर्वमिदं कृतवानिति न विस्मृतव्यं, यतः ‘सवितुः’ ‘देवस्य’ ‘परि-  
 टुतिः’ ‘मद्मि’ (परितः सर्वेषु देवेषु श्रूयमाणा स्तुतिर्महती) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“युजे वां ब्रह्म पूर्णं नमोभिर्वि होका  
 यन्ति पथ्येव स्रराः । ब्रह्मन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धा-  
 मानि दिव्यानि तस्यः<sup>(५)</sup>” इति । यजमानः पत्नी चेत्येतौ हे  
 दम्पती, ‘वां’ (युवयोरर्थे) ‘पूर्णं’ (पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं) ब्रह्म  
 (परिवृद्धं) अग्निचयनाख्यं कर्म ‘नमोभिः’ (नमस्कारपूर्वकैरिष्ट-  
 कोपधानादिभिः) ‘युजे’ (सम्पादयामि) । तस्मिन् सम्पादिते  
 सति ‘होकाः’ (यजमानस्य कीर्त्तयः) ‘वि-’‘यन्ति’ (भूमौ विविधं  
 प्रसरन्ति) । तच्च दृष्टान्तः,—‘पथ्या’ ‘स्ररा’ ‘देव’ (गोर्वाणमार्गे  
 अन्तरिक्षे सूर्यरश्मयो यथा प्रसरन्ति तदत्) । किञ्च ‘अमृतस्य’  
 (प्रजापतेः) ‘पुत्रा’ ‘ये’ ‘देवाः’ ‘दिव्यानि’ ‘धामानि’ ‘आ-’‘तस्युः’  
 (प्राप्तवन्तः), तेऽपि ‘विश्वे’ (सर्वे) ‘ब्रह्मन्ति’ यजमानस्य कीर्त्ति-  
 मिति शेषः ।

अथ षष्ठीमाह,—“यस्य प्रयाणमन्वस्य इत् ययुर्देवा देवस्य

\* यद्यत्रकर्मण्यासस्यरहिता इति J. पु० पाठः ।



महिमानमर्चतः । यः पार्थिवानि, विममे स एतन्नो रजाः५ हि देवः सविता महिलना<sup>(१)</sup>” इति । ‘यस्य’ सवितुः ‘प्रसाणं’ (प्रवृत्तिं) ‘अन्ये’ ‘देवाः’ ‘अनु’-‘ययुः’ ‘इत्’ (अव्ययमनुगच्छन्त्येव) । किं कुर्वन्तः ?—अस्य ‘देवस्य महिमानम्’ ‘अर्चतः’ (अर्चयन्तः) । किञ्च ‘यः’ सविता ‘पार्थिवानि’ ‘रजांसि’ ‘विममे’ (पृथिवोगतान् परमाणून् विशेषेण गणयित्वा निश्चितवान्), ‘स’ ‘सविता’ ‘देवः’ ‘महिलना’ (महत्त्वेन) ‘एतन्नः’ (व्याप्तवान्) । (एति सर्वत्र गच्छतीत्येतन्नः) ।

अथ सप्तमोमाह,—“देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव । यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः । केतपूः केतयः पुनातु वाचस्पतिर्वाचमय खदाति नः<sup>(२)</sup>” इति । हे ‘सवितः’ ‘देव’, ‘यज्ञं’ ‘प्रसुव’ (प्रकर्षेण प्रेरय), ‘यज्ञपतिं’ (यजमानञ्च) ‘प्रसुव’ । किमर्थं ?—‘भगाय’ (सौभाग्याय) । ‘दिव्यः’ (दिवि स्वर्गे भवः) कश्चिद् ‘गन्धर्वः’, ‘केतपूः’ (केतं परकीयचित्ते वर्त्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति केतपूः, स) च, ‘नः’ (अस्माकं) ‘केतं’ (चित्तवर्त्तिज्ञानं) ‘पुनातु’ (भ्रान्तिपरिहारेण शोधयतु) । ‘वाचस्पतिः’ ‘अय’ (अस्मिन् कर्मणि) ‘नः’ (अस्मादीयां) ‘वाचं’ ‘खदाति’\* (खदयतु) ।

इत्यष्टमः सप्तोक्ता अष्टमं यजुराह,—“इमं नो देव सवितं यज्ञं प्रसुव देवायुवः सखिविदः सचाजितं धनजितं सुवर्जितम्<sup>(३)</sup>” इति । हे ‘सवितः’ ‘देव’, ‘नः’ (अस्मादीयम्) ‘इमं’ ‘यज्ञं’ ‘प्रसुव’ । कीदृशं ?—(देवैर्यति मिश्रोभवतीति देवायुः, तं) ‘देवा-

धुवं', (सखायं सखिष्यादकं यजमानं वेत्तोति सखिवित्, तं), (सखाणि द्वादशादीनि जयति वशीकरोतीति सखाजित्, तं), तानि हि वीर्यज्ञानमग्निमपेक्षन्ते; (धनं जयति फलरूपेण सन्पादयतीति धनजित्, तं), (सुवः स्वर्गं फलरूपेण सन्पादयतीति सुवर्जित्, तम्) ।

अग्निचयनार्थानां चतुर्थकाण्डगतानां मन्त्राणां पञ्चमकाण्डे (१ प्र०।१ अ०) क्रमेणैव ब्राह्मणमाध्यातं । तत्रादौ 'युञ्जानः' इत्यादिभिर्मन्त्रैर्होमं विधत्ते,—“सावित्राणि जुहोति प्रसूत्यै” इति । सविता येषु मन्त्रेषु प्रतीयते, तानि सावित्राणि, तैर्होमे सति यजमानं सविता कर्मणि प्रसौति ।

॥ इत्थं विधत्ते,—“चतुर्गृहीतेन जुहोति चतुष्पादः पञ्चवः पशून्नेवावरुन्धे” इति ।

चतुःसङ्ख्यां धुनः प्रशंसति,—“चतस्रो दिशो दिक्ष्वेव प्रति-  
तिष्ठति” इति ।

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“हन्दाऽसि देवेभ्योऽपा-  
क्रामन् न वो भागानि हव्यं वक्ष्यामः” इति तेभ्य एतच्चतुर्गृहीतम-  
धारयन् पुरोऽनुवाक्यायै याव्यायै देवतायै वषट्काराय यच्चतु-  
र्गृहीतं जुहोति हन्दाऽस्येव तत्प्रीणाति तान्यस्य प्रीतानि दे-  
वेभ्यो हव्यं वहन्ति” इति । नानाविधहन्दायुक्तपुरोऽनुवाक्याद्य-  
भिमानिनो देवा हविर्भाग्यो देवेभ्योऽपरकाः समोऽन्वन्नाग-  
च्छन् । किं ब्रुवन्मो गताः ?—इति तदुच्यते,—हे देवा भागरहि-  
तानि वधं हन्दासि 'वः' (युञ्जदोयानि) हवीषि 'न' 'वक्ष्यामः' ।

(इविर्वहनं न करिष्याम इति ब्रुवन्तः) । तदानीं देवा विचार्य  
होमकाले चतुर्थ्यहणं तच्छन्दसी प्रीतिकरं भवत्विति तेषां  
भागमकल्पयन् ;—तत्र प्रथम्यहणं पुरोऽनुवाक्याख्याया गायत्री-  
देवतायास्तृष्टिकरं ; द्वितीयहणं याज्याख्यायास्त्रिष्टुब्देवताया-  
स्तृष्टिकरं ; तृतीयहणं देवताख्याया जगतीदेवतायास्तृष्टिकरं ;  
चतुर्थ्यहणं वषट्काराख्याया अनुष्टुब्देवतायास्तृष्टिकरं । अतश्चतु-  
र्गृहीतेन होमे सति हन्द्देवता याः, ताः प्रीणयति, तासु प्रीताः  
सत्यो हव्यं वर्हन्ति ।

सूत्रकारेण शास्त्रान्तरमाश्रित्य अष्टगृहीतमित्युक्तं, तच्चेदं  
चिन्तनीयं,—किमेकैकं मन्त्रमुच्चार्य जुहुयात्, आहोस्वित् सर्वाणि  
मन्त्राण्युच्चार्य ?—इति । तत्र हेयोपादेयावभौ पक्षौ क्रमेण  
दर्शयति,—“यं कामयेत पापीयान्त्यादित्येकैकं तस्य जुहुयादा-  
ज्जतीभिरेवैनमपगृह्णाति पापीयान् भवति यं कामयेत वभो-  
यान्त्यादिति सर्वाणि तस्यानुद्रुत्य जुह्यादाज्जतीवैनमभिक्रमयति  
वभोयान् भवत्यथो यज्ज्यैवैषाभिक्रान्तिः” इति । ‘पापीयान्’  
अतिशयेन पापो दरिद्रः इत्यर्थः । एकैकं मन्त्रमुच्चार्य होमे  
सति संक्षेपाभावात् परस्परमपरक्ताभिराजतिभिरेतं यजमानम्  
‘अपगृह्णाति’ (धनादपेतं करोति) ततो दरिद्रो भवति । ‘वभो-  
यान्’ वसुमत्तरः । सर्वाण्युच्चार्य होमे तु मन्त्राणां परस्परसंक्षेपा-  
देकैवाज्जत्या यजमानम् ‘अभिक्रमयति’ (अभिव्याप्तं करोति),  
ततो धनिको भवति । अपि च, येषमभिक्रमयतेतुरेका आजतिः ; एषा  
यज्ज्यैव अग्निचयनरूपस्यैव अभिक्रान्तिः । स्वाधीनो यज्ञो भवति ।

. मन्त्रगतामष्टसङ्ख्यां प्रशंसति,—“एति वा एष यज्ञमुखादृद्ध्या योऽग्नेर्देवताया एत्यष्टवेतानि सावित्राणि भवन्त्यष्टाक्षरा गायत्री गायत्रीऽग्निस्तेनैव यज्ञमुखादृद्ध्या अग्नेर्देवतायै नैति” (५।१।१ अ०) इति । यो यजमानोऽग्निरूपाया देवताया. ‘एति (अपगच्छति), ‘एष’ यजमानो यज्ञोपक्रमादारभ्य यज्ञफलरूपाया ‘ष्टद्ध्या’ ‘एति’ (अपगच्छति) । ‘अग्निर्वै यज्ञमुखम्’ इति श्रुत्यन्तरात् अग्नेरपगम एव यज्ञमुखादपगमः । कस्तर्ह्यग्नेः सकाशादपगमस्य परिहारः ? इति,—तदुच्यते, प्रारम्भे सावित्राणां मन्त्राणामष्टत्वे सति ‘अष्टाक्षरा गायत्री’ सम्पद्यते, ‘अग्निः’ च ‘गायत्रः’, उभयोर्मुखजन्यत्वात् ; ततो गायत्रीसम्पत्तिरेवाग्निसम्पत्तिरिति यज्ञमुखादग्निरूपादनपेतः सन् समृद्धेरपि नापैति ।

अष्टमन्त्रोपेतामेकामाहुतिं प्रशंसति,—“अष्टौ सावित्राणि भवन्त्याहुतिर्नवमी चित्तमेव यज्ञमुखे वियातयति” (५।१।१ अ०) इति । चित्तत्सोमे षष्ठो नवसङ्ख्याकाः, अतोऽष्टाष्टमन्त्रविशिष्टाहुतिगतया नवसङ्ख्याया चित्तत्सोममेव ‘यज्ञमुखे’ ‘वियातयति’ (विशेषेण प्रसारितवान् भवति) ।

. अत्रेदमपरं चिन्तनीयं,—किं षड्गुणान् षण्मन्त्रान् उच्यार्थं, ‘इमं नो देव सवितः’ इति यजुः सप्तमं कृत्वा, पश्चात् ‘देव सवितः’ इत्यष्टमम् अन्तिमां कुर्यात्, किं वा एतादृशं सप्तमीं कृत्वा, तत् यजुरन्तिमं कुर्यात् ? इति । तत्र हेतोपादेयपक्षौ क्रमेण दर्शयति,—“यदि कामयेत कृन्दाऽसि यज्ञयज्ञवे नार्पयेयमितृचं मत्तमां कुर्यात् कृन्दाऽस्येव यज्ञयज्ञवे नार्पयति यदि कामयेत्

यजमानं यज्ञयज्ञसे नार्पयेयमिति यजुरन्तमं कुर्यात् यजमान-  
मेव यज्ञयज्ञसे नार्पयति” (५।१।१० अ०) इति । ‘यज्ञयज्ञसं’ (यज्ञ-  
फलं) ‘अर्पयेयं’ (संयोजयेयम्), कन्दोबद्धायाः संचस्तु अन्तिमत्वे  
यज्ञफलं कन्दः सुगच्छेत् । यजुषस्तु कन्दोरहितत्वेन यज्ञफलं  
कन्दोगामि न भवति, किन्तु यजमानगाम्येव भवति ; तस्माद्  
यजुरेवान्तिमं कुर्यादित्यर्थः ।

कल्पः, ‘अथा सोमः समर्धयेत्यपरं चतुर्थ्यं गृहीत्वा’  
इति । पाठस्तु,—“अथा सोमः समर्धय गायत्रेण रथन्तरं ।  
बृहद्गायत्रवर्त्तनि<sup>(६)</sup>” इति । हे अग्ने, सोत्रहेतुमामाधारभूतया  
‘अथा’ ‘सोमं’ (सोत्रं, अगावृत्तिरूपं संघातं वा) ‘समर्धय’  
(समृद्धं कुरु) । ‘गायत्रेण’ साम्ना सह ‘रथन्तरं’ साम ‘समर्धय’ ।  
गायत्रसामैव वर्त्तनि मार्गो यस्य बृहत्सामः, तत् ‘गायत्रवर्त्तनि’,  
गायत्रसामसहितं ‘बृहत्’ साम ‘समर्धय’ ।

अस्मिन् मन्त्रे ‘समर्धय’ इतिपदस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अथा  
सोमः समर्धयेत्याह सम्बद्धौ” (५।१।१० अ०) इति ।

कल्पः, ‘देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इति चतुर्भिर्भिमांस्ते  
वैष्णवीं कल्पाषीं सुषिरामसुषिरां चोभयतः—पूष्णमन्यतरतः—पूष्णं वा  
प्रादेशमात्रीमरत्निमात्रीं व्याममात्रोमपरिमितां वा’ इति ।  
पाठस्तु,—“देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽग्निगोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां  
गायत्रेण कन्दसाऽऽददेऽङ्गिरस्त<sup>(१०)</sup> अधिरसि नारिरसि पृथिव्याः  
संधस्मादग्निं पुरीषमङ्गिरस्तदाभर जैष्टुमेन त्वा कन्दसाऽऽददे-  
ऽङ्गिरस्त<sup>(११)</sup> अधिरसि नारिरसि त्वया वयः सधस्व आऽग्निः

अकोम खनितुं पुरीथं जागतेन त्वा कन्दसाऽऽददेऽङ्गिरस्वत्<sup>(११)</sup>  
 हस्त आधाव सविता जिभर्दन्निः हिरण्यी । तथा ज्योति-  
 रजस्तमिर्दग्निं खात्वा न आभरानुष्टुभेन त्वा कन्दसाऽऽददेऽङ्गिर-  
 स्वत्<sup>(११)</sup>” इति । अत्रोक्तां निर्मातुं मृत् खननीया, खननहेतुः  
 काष्ठविशेषोऽग्निः । हे अग्ने, ‘सवितुः’ ‘देवस्य’ प्रेरणे सति ‘अग्निनोः’  
 सम्बन्धिभ्यां मणिवन्धपर्यन्ताभ्यां ‘बाहुभ्यां’, ‘पूष्णः’ सम्बन्धिभ्यां  
 साङ्गुलिभ्यां ‘हस्ताभ्यां’ साधनभूताभ्यां, सहायभूतेन ‘गायत्रेण  
 कन्दसा’ युक्तः सन् त्वा ‘आददे’ (स्वीकरोमि) । तच्च दृष्टान्तः,—  
 ‘अङ्गिरस्वत्’, अङ्गिरसः ऋषयः पूर्वं यथा स्वीकृतवन्तः तद्वत् ।  
 त्वं च ‘अभिरसि’ (खननहेतुः काष्ठविशेषोऽसि); तथा ‘नारि-  
 रसि’ (न विद्यते अरिर्दृष्ट्यास्तव सेयं नारिः) खननकाले पाषा-  
 णादिना तव नास्ति कुण्डीभाव इत्यर्थः ।

अङ्गिरस्वच्छब्देन प्रथमयजुषः समाप्तत्वात् ‘अभिरसि’ इत्या-  
 दिकं द्वितीयं यजुः । शत्रुदहिते हे अग्ने, ‘पृथिव्याः सधस्यात्’  
 ‘पुरीथम्’ ‘अग्निम्’ ‘आभर’ (आहर) ॥ पुरीषशब्देन पांसुरूपा  
 शुष्का मृदुच्यते, तदर्हतीति पुरीथोऽग्निः, मृदमादाय उखां  
 कृत्वा तस्यामग्निरवस्थाप्यते, अतो मृदग्न्योऽभेदोपचारेण मृदा-  
 हरणमेवान्धाहरणमिति विवक्षित्वा, ‘पुरीथमग्निमाभर’ इत्युच्यते ।  
 अयं चोपचारोऽग्निचयनप्रकरणे सर्वत्रानुवर्तिष्यते । अत एव पञ्चम-  
 काण्डान्ते चोद्यपरिहारौ भविष्यतः,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति  
 यन्मुदा चाग्निं चाग्निं स्वीयतेऽथ कस्मादग्निश्च्यते इति कन्दोभि-  
 स्विनोति अग्नयो वै कन्दोऽसि तस्मादग्निश्च्यते” (५।७।८.अ०)

इति । अतः पांसुरूपमग्निमाहर्तुं 'चैष्टुभेन छन्दसा' सहकारिणा युक्तः त्वाम् 'आददे' । 'अङ्गिरस्वत्' इति दृष्टान्तः पूर्ववत् । मृदा-  
हरणे अभ्यादाने च दृष्टान्तत्वाय द्विः 'अङ्गिरस्वत्' इत्युक्तम् ।

अथ ततोयं यजुरुच्यते, हे अग्ने, त्वं 'बभ्रिः' (भरणकुशला मृत्सम्पादनकुशला) 'असि' । 'नारिरसि' इति पूर्ववत् । 'त्वया' युक्ता 'वयं' 'सधस्ते' (पृथिव्या उत्सङ्गे) 'आ'(समन्तात्) 'अग्निं' 'पुरीष्यं' 'खनितुं' 'शक्वेम' (शक्ता भवेम), अतो 'जागतेन' 'छन्दसा' सह-  
कारिणा युक्तस्त्वाम् 'आददे' । 'अङ्गिरस्वत्' इति दृष्टान्तः पूर्ववत् ।

अथ चतुर्थं यजुरुच्यते, 'सविता' (प्रेरकः, परमेश्वरः) पुरा  
'हिरण्यो' (सुवर्णनिर्मिताम्) 'अग्निं' 'हस्ते' स्थापयित्वा 'बभ्रत्'  
(पोषितवान्), अतः 'तया' (हिरण्यया) अभ्या युक्तः त्वम्  
'अजस्रमि' (सर्वदैव) 'ज्योतिः' (प्रकाशमानं) 'अग्निं' 'खात्वा'  
(अग्नित्वेनोपचरितां मृदं खनित्वा) 'नः' (अस्मदर्थम्), 'आभर'  
(आनय) । 'आनुष्टुभेन' 'छन्दसा' सहकारिणा युक्तोऽहं त्वाम्  
'आददे' । 'अङ्गिरस्वत्' इति दृष्टान्तः पूर्ववत् ।

एतैर्मन्त्रैरभ्यादानं विधत्ते,—“चतुर्भिरग्निमादत्ते चत्वारि  
छन्दांसि छन्दोभिरेव” (५।१।१अ०) इति । गायत्री-चिष्टुब्  
जगद्यनुष्टुप् इति च्छन्दसां चतुष्टयं । मन्त्रेषु तेषां सहकारित्वेना-  
भिधानात् छन्दोभिरेवाभ्यादानं कृतवान् भवति ।

मन्त्रे प्रसवशब्दस्याभिप्रायं दर्शयति,—“देवस्य त्वा सवितुः  
प्रसव इत्याह प्रसूत्यै” (५।१।१अ०) इति ।

वंशनिर्मिताया अभ्येरन्तः सुषिरत्वं विधत्ते,—“अग्निर्देवेभ्योऽग्नि-

साध्यत स वेणुं प्राविशत् एतामूतिमनुसमचरत् स यद्वेणोः सुषिरः  
 सुषिराऽग्निर्भवति सयोनित्वाय” (५।१।१अ०) इति । पुरा कदा-  
 चित् केनापि भिसिन्नेन अपरतोऽग्निर्देवेभ्यो निरगच्छत्, निर्गत्य  
 देवानां दर्शनं वारयितुं वेणुं प्राविशत् । वेणोर्मध्ये ‘सुषिरं’ (स्थानं)  
 यदस्ति, एषैव मूषिकस्य अग्रविलवत् । ऊती, ताम् ‘एतामूतिं’  
 वेणुमध्यगतच्छिद्ररूपाम् अनुक्रमेण सम्यगनुचरत् । अतोऽग्नेः  
 सुषिरवेणुप्रियत्वात् ‘अग्निः सुषिरा’ कार्या । तच्च सुषिरत्वं ‘स-  
 योनित्वाय’ सम्पद्यते । योनिरग्नेः स्थानं, तत्सहितत्वं सयोनित्वम् ।

अथाग्नेः कृष्णविन्दुलाञ्छितत्वं विधत्ते,—“स यच्च-यत्रावसत्  
 तत्कृष्णमभवत् कल्माषी भवति रूपसमृद्धौ” (५।१।१अ०) इति ।  
 वेणुमध्ये सञ्चरन् अग्निर्यस्मिन्-यस्मिन् स्थाने वासमकरोत्, तत्-  
 स्थानदाहेन\* ‘कृष्णमभवत्’ । अतोऽग्निनिवासद्योतनाय अग्निः  
 ‘कल्माषी’ (कृष्णविन्दुलाञ्छिता) कर्त्तव्या । तथा सति अग्निरूपस्य  
 चित्रत्वात् समृद्धिर्दृश्यते, यजमानस्य च रूपसमृद्धिर्भवति ।

अग्नेरुभयोरन्तयोस्तीक्ष्णत्वं विधत्ते,—“उभयतः-क्षूण्भवती-  
 तस्यामुतसार्कस्यावरुध्यै” (५।१।१अ०) इति । ‘क्षूण् तेजने’ इत्यस्मा-  
 द्भातोऽव्ययः क्षूणशब्दस्तीक्ष्णत्वमाचष्टे, उभयोः अग्रमूलयोस्तीक्ष्णा  
 अग्निः ‘उभयतः-क्षूणः’, तादृशी कार्या । तदेतदुभयतस्तीक्ष्णत्वम्  
 ‘इतस्यामुतस’ (लोकद्वयेऽपि) ‘अर्कस्य’ ‘अवरुध्यै’ (पूजायाः सम्पत्तौ)  
 भवति ।

अग्नेर्दैर्घ्यपरिमाणं विधत्ते,—“व्याममाची भवत्येतावदै पुरुषं

तत्स्थानं दाहेन इति पाठो भवितुं युक्तः ।



वीर्यं वीर्यसन्निता” (५।१।१अ०) इति । चतुर्भिररन्निभिस्तृष्यो  
व्यामः ; एतावतो कार्या । उत्थिते ‘पुरुषे’ ‘वीर्यम्’ ‘एतावत्’  
एव । अत इयं ‘वीर्यसन्निता’ भवति ।

पक्षान्तरं विधत्ते,—“अपरिमिता भवत्यपरिमितस्यावरुध्यं”  
(५।१।१अ०) इति । नियतपरिमाणरहितत्वमपरिमितत्वं, तच्चा-  
परिमितस्य बल्ललानादेः सम्पत्त्यै भवति ।

तादृशा अभेर्वैणुकार्यत्वं विधत्ते,—“यो वनस्पतोर्नां फलयद्भिः  
स एषां वीर्यावान् फलयद्भिर्वैणुर्वैणवी भवति वीर्यस्यावरुध्यै” (५।  
१।१अ०) इति । फलानि बल्लनि गृह्णातीति ‘फलयद्भिः’ । ‘वन-  
स्पतीनां’ मध्ये यः ‘फलयद्भिः’ अस्ति, ‘एषां’ फलयद्भिणामपि मध्ये  
‘स’ वैणुरतिशयेन ‘फलयद्भिः’ । वीह्याद्ययवदेणूनां समाप्तिसंवल्लरे  
गोधूमसदृशैर्वज्रभिर्विजैरुपेतत्वात्, त्वच्च सारोपेतत्वेन वीर्यवांश्च ।  
तस्मादियमभिः ‘वैणवी’ कार्या । तच्च वैणुवत्वं वीर्यसम्पत्त्यै  
भवति ॥

अत्र विनियोगमङ्गुहः,—

युञ्जाऽऽष्टकैरेकहोम, ऋचा सोमं, पुनर्जतिः ।

देवैत्यभिं चतुष्केणादत्ते, मन्वास्तथोदश्च ॥

अथ मीमांसा,—द्वादशाध्यायस्य तृतीये पादे (अ० १४) चिं-  
न्तितम् ।

“चतुर्भिरन्निमित्यत्र विकल्पो वा समुच्चयः ।

विकल्पः पूर्ववत्तैवं समूहे करणत्वतः ॥

अग्नौ मूयते, ‘चतुर्भिरन्निमादत्ते’ इति; अत्र पूर्वोक्तवि-

भागमन्त्रवत् प्रतिमन्त्रं पृथक्कृतत्वं नास्ति, चतुःसङ्ख्याया समूहे  
करणत्वप्रतीतेः, तस्मान्मन्त्रान्ते कंसंस्त्रिपातस्य बाधेनैव समुच्चयः  
स्यात् । न च, पूर्वस्थैकैकस्य मन्त्रस्थान्ते स्त्रिपातेन स्यादिति  
शङ्कनीयं; वाचनिकसङ्ख्याया न्यायसिद्धस्य तस्य बाधितत्वात् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
चक्रुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥

इ॒माम॑गृ॒भ्णन् र॒श॒ना॒मृत॑स्य॒ पूर्वं॑ आ॒यु॒षि वि॒दथे॑षु  
क॒व्या । तया॑ दे॒वाः सु॒तमा॑ ब॒भूवु॑र्कृतस्य॒ साम॑न्त॒स-  
र॒सार॑पन्ती<sup>(१)</sup> । प्र॒तूर्तं॑ वाजि॒न्नाद्र॑व॒ वरि॑ष्ठामनु॒ संव-  
तं॑ । दि॒वि त॒जन्म॑ पर॒मम॑न्तरि॒क्षे नाभिः॑ पृथि॒व्या-  
मधि॒ योनिः॑<sup>(२)</sup> । यु॒ञ्जाथा॑ः रा॒संभं॑ यु॒वम॑स्मिन् यामे॒  
वृष॑ण्वस्त्र । अ॒ग्निं भ॑रन्तमस्म॒यु<sup>(३)</sup> । यो॒गे-यो॒गे त॒वस्तरं॑  
वाजे॒वाजे॑ हवामहे । सखा॒य इन्द्र॑भूतये<sup>(४)</sup> । प्र॒तूर्व॑न् ॥  
॥ १ ॥

ए॒ह्यव॑क्राम॒न्नश॑स्तीरुद्रस्य॒ गण॑पत्यान्म॒गोभू॑रेहि ।  
उ॒वन्तरि॑क्षमन्विहि स्व॒स्तिग॑व्यूतिर॒भयानि॑ कृ॒ण्वन्<sup>(५)</sup> ।  
पू॒ष्णा स॒युजा॑ सह । पृथि॒व्याः स॒धस्था॑दग्निं पु॒रोष्य॑-  
म॒ङ्गिर॑स्वद॒क्षेहि<sup>(६)</sup> अ॒ग्निं पु॒रोष्य॑म॒ङ्गिर॑स्वद॒क्षेमो<sup>(७)</sup> ।  
ऽग्निं पु॒रोष्य॑म॒ङ्गिर॑स्वद॒क्षिरि॑ष्यामो<sup>(८)</sup> ऽग्निं पु॒रोष्य॑म॒ङ्गिर॑-

स्वङ्गरामः<sup>(६)</sup> । अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो  
जातवेदाः । अनु सूर्यस्य ॥ २ ॥

पुरुचा च रुग्शीननु द्यावापृथिवी आ ततान<sup>(७)</sup> ।  
आगत्य वाज्यध्वनः सर्वा मृधो वि धूनुते । अग्निः सधस्ये  
महति चक्षुषा नि चिकीर्षते<sup>(८)</sup> । आक्रम्य वाजिन्  
पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वं । भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि  
यतः खनाम तं वयं<sup>(९)</sup> । द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्य-  
मात्मान्तरिक्षः समुद्रस्ते योनिः । विख्याय चक्षुषा  
त्वमभितिष्ठ ॥ ३ ॥

पृतन्यतः<sup>(१०)</sup> । उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्था-  
नाद्द्रविणोदा वाजिन् वयः स्याम सुमतौ पृथिव्या  
अग्निं खनिष्यन्त उपस्थे अस्याः<sup>(११)</sup> । उदकमीद्द्रवि-  
णोदा वाज्यर्वाकः स लोकः सुकृतं पृथिव्याः । ततः  
खनेम सुप्रतीकमग्निः सुवो रुहाणा अधि नाक  
उत्तमे<sup>(१२)</sup> । अपो देवीरुपस्तज मधुमतीरयक्ष्माय  
प्रजाभ्यः । तासां स्थानादुज्जिह्वतामोषधयः सुपि-  
प्यन्ताः<sup>(१३)</sup> । जिघर्मि ॥ ४ ॥

अग्निं मनसा धृतेन प्रतिक्ष्यन्तं भुवनानि विश्वा ।  
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्टमन्नं रभसं वि-  
दानं<sup>(१४)</sup> । आ त्वा जिघमि वचसा धृतेनारक्षसा

मनसा तज्जुषस्व । मय्यग्नीः स्पृहयद्दक्षो अग्निर्नाभिंश्च  
तनुवा जह्मिषाणः<sup>(१८)</sup> । परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्या-  
न्यक्रमीत् । दधद्रत्नानि दाशुषे<sup>(१९)</sup> । परि त्वाऽग्रे पुरं  
वयं विप्रः सहस्य धीमहि धृषदणं दिवेदिवे भेत्तारं,  
भङ्गुरावतः<sup>(२०)</sup> । त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमग्नास्त्व-  
मश्मनस्परि । त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते  
जायसे शुचिः<sup>(२१)</sup> ॥ ५ ॥

प्रतूवन् । सूर्यस्य । तिष्ठ । जिघर्षि । भेत्तारं ।  
विश्रुतिश्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके  
द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

प्रथमोऽनुवाके अख्यादानमुक्तम् । अथ द्वितीये ऋदाक्रान्ति-  
रुच्यते । कथ्यः, 'इमामगृभ्णन् रश्मनामृतस्येत्यग्नाभिधानीः  
'रश्मनामादाय' इति । पाठस्तु,—“इमामगृभ्णन् रश्मनामृतस्य  
पूर्व आयुषि विदधेयु कव्या । तथा देवाः सुतमा बभूवुर्नतस्य  
सामन्तरमारपन्तो<sup>(१)</sup>” इति । (कवयोः विदांसः कल्विजः,  
तामर्चनीति कव्याः) यज्ञाः कव्याः, 'विदधेयु' कथेषु यज्ञेषु  
ज्योतिष्टोमादिषु 'अतस्य' 'आयुषि' (आयुरागमने) (अथवा  
आगमने) निमित्तभूते सति, (अतस्येत्यो यागवाची सन् । तं  
साधनमयमुपलक्षयति) । 'पूर्वे' महर्षय 'इमां' 'रश्मां'

‘अमृभूषण’ (स्त्रीकृतवन्तः) । अथसूर्यः—रश्मयश्च बहुमन्त्रमा-  
कीय, मृत्युश्चनक्षत्राने तमन्त्रमाक्रमय, तथा मृदा निष्पन्नायाम्  
सखायामग्निमुत्पाद्य, दृष्टकाचिते देशे ज्योतिष्टोमादथ अग्निम्-  
भिरनुष्ठेयाः; एतत्सर्वं मनसि निधाय पूर्वं महर्षयोऽस्याममनं  
निमित्तीकृत्य रश्मनां स्त्रीकृतवन्त इति । ‘षो अन्तकर्मणि’  
इत्यस्माद्भातोऽत्यन्तत्वात् सामन्शब्दोऽवसानवाची; ‘अतस्य  
सामन्’ (यज्ञस्य परिचमाप्तये) ‘सरं’ (सरणे अतिगम्यमानानां  
प्रवृत्तिं) ‘आरपन्ती’ (कथयन्ती प्रापयन्तीत्यर्थः\*); या  
रश्मना पूर्वोक्तरीत्या यज्ञसमाप्तिपर्यन्तं प्रवृत्तिकारिणी भवति,  
‘तथा’ रश्मयश्च पुरा ‘देवाः’ ‘सुतम् आ-बभूवुः’ (सोमयागं  
प्राप्नुयुः), तादृशीम् इमां रश्मनां गृहीतवन्तः । ..

तमिमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“व्यूहं वा एतद्यज्ञस्य यदयजु-  
ज्येष्ठं क्रियते इमाममृभूषणं रश्मनामृतस्येत्यस्याभिधानीमादत्ते  
यजुज्येष्ठे यज्ञस्य समृद्धौ” (५।१।१ अ०) इति । ‘यत्’ अङ्गम्  
‘अयजुज्येष्ठ’ (मन्त्ररहितव्यापारेण) निष्पाद्यते, ‘यज्ञस्य’  
सम्बन्धि तत् ‘एतत्’ अङ्गम् अद्विहीनमेव, तस्मात् ‘इमाम्’—  
इति मन्त्रमुच्चार्य रश्मनामाददीत । अस्योऽभिधीयते, बध्वा  
धार्यते यथा रश्मयश्च, ‘वेद्यम्’ ‘अस्याभिधानी’ । अथपि  
‘इमाममृभूषण’ इति अजेवैवा, तथापि यजुर्वेदपठितत्वाद्यजुष्टे-  
ष्वचारः । तस्मिन्मन्त्रे पठिते सति रश्मनादानं यजुज्येष्ठत्वात्  
‘व्यूहं’ भवति ।

दानं

\* प्राचैथनीत्यर्थः इति B. पु० पाठः ।

कल्पः, 'प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रवेत्यश्मभिदधाति' इति । पाठश्च,  
 —“प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतं । दिवि ते जन्म  
 परममन्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि योनिः(१)” इति । संव-  
 न्यते, सम्यक् भव्यते नृद्वद्वर्णार्थं वेद्यत इति खननयोग्या भूमिः  
 संवत् ; सा च पाषाणाद्यभावेनातिप्रवृत्त्यादारिष्ठेत्युच्यते । चे  
 'वाजिन्' (अश्व), 'वरिष्ठां' 'संवतम्' 'अनु' (अभिसन्ध्या) 'प्रतूर्त्तं'  
 'आद्रव' (अतिशीघ्रमागच्छ) । 'ते' (तव) अश्वस्य 'दिवि' (द्युलोके)  
 'परमम्' (उत्कृष्टं) 'जन्म' (रोहितादिदेवस्वरूपेण द्युलोकमप्य  
 प्रविष्टम्, 'रोहितेन त्वाऽग्निर्देवतां गमयन्तित्याहेते वै देवाभ्याः'  
 इति अन्यचाक्षातम् । तथा तव 'नाभिः' 'अन्तरिक्षे' वर्त्तते,—  
 अग्नौर्नामका हि वायोरश्वा तदीयं रथं वदन्तोऽन्तरिक्षे स-  
 च्छरन्ति, तद्रूपेण अस्यान्तरिक्षवर्त्तितम् । नाभिग्रन्थेन कृत्स्नं  
 अतोर्मुपलक्ष्यते । तथा 'पृथिव्यामधि योनिः' (भूमेरुपरि तव  
 निवासस्थानं), तत्तु प्रत्यक्षमेव दृश्यते । एवंमहिमा त्वं शीघ्र-  
 मागच्छेति पूर्वान्वयः ।

‘एतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रवेत्यश्मभिदधाति  
 रूपमेवास्मैतन्महिमानं व्याचष्टे” (५।१।१अ०) इति । 'वाजिन्ना-  
 द्रवेत्येवं' शीघ्रमागमनमश्वस्य स्वरूपभूतमेव 'महिमानम्' एत-  
 न्मन्त्रवाक्यं प्रकाशयति । अथवा अस्मन्मन्त्र, एतद्रूपं वाक्प्रजातं  
 द्युजन्मादिरूपं 'महिमानम्' एव व्याचष्टे । वस्तुतो द्युजन्माभावे-  
 ऽपि प्रशंसार्थमेवोच्यत इत्यर्थः ।

कल्पः, 'तूर्त्तं गर्दभरश्मनामादाय द्युजन्माद्याः रासर्भं द्युव-

भिति गर्दभम्' इति । मन्त्रमन्त्रदेक्षैव गर्दभस्य रश्मनामादाय  
 'युञ्जाथा' इति मन्त्रेण गर्दभमभिदधात् । पाठस्तु,—“युञ्जाथाऽ  
 रासभं युवमस्मिन् यामे वृषणस्तु । अग्निं भरन्तमस्तुयुम्<sup>(१)</sup>”  
 इति । यजमानः पत्नी चेत्येतौ हे इत्यती, 'युवं' 'रासभम्'  
 'अस्मिन्' 'यामे' 'युञ्जाथा'—यामो मृद्वहनरूपो नियमविशेषः,  
 तस्मिन्निमित्तभूते सति, युवामुभौ गर्दभं रश्मनया वधीतं ।  
 कीदृशी युवं?—‘वृषणस्तु’ (यागनिष्पादनद्वारा फलाभिवर्षण-  
 निमित्तभूतं वसु धनं ययोस्तौ वृषणस्तु) । कीदृशं रासभं?  
 ‘अग्निं भरन्तं’ (अग्निहेतुं मृदं वोढुं समर्थं) ‘अस्तुयुं’ (अस्माना-  
 त्मन इच्छन्तम्) अस्मद्वितैषिणमिति यावत् ।

एतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“युञ्जाथाऽ रासभं युवमिति गर्दभम्-  
 मत्येव गर्दभं प्रतिष्ठापयति तस्मादश्वाङ्गर्दभोऽसत्तरः” (५।१।२ अ०)  
 इति । ‘गर्दभम्’ इत्यत्र ‘अभिदधाति’ इति शेषोऽनुवर्तते ।  
 ‘अस्मिन् यामे’ इति मन्त्रेऽभिहितं मृद्वहनम् ‘अस्तु’ इत्युच्यते,  
 भारवहनस्य निष्कृष्टव्यापारत्वात् । अत एतन्मन्त्रपाठेन ‘अस्त्येव’  
 निष्कृष्टव्यापारे ‘गर्दभं’ स्थापितवान् भवति । यस्मादत्र निष्कृष्ट-  
 कार्ये स्थापितः, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि ‘गर्दभो’ ‘अश्वात्’ निष्कृष्टतरः ।  
 रजकादय एव हि तमाद्रियन्ते, न तु राजामात्यादयः ।

कल्पः, ‘योगे-योगे’ इति तिसृभिरयप्रथमा अभि प्रव्रजन्ति  
 यश्च मृदं खनिष्यन्तः स्युः’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“योगे-योगे .  
 तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये<sup>(२)</sup>” इति । युञ्जते-  
 ऽनुष्ठीयते इति योगः कर्म, ‘योगे-योगे’ (तत्तत्कर्मणि) ‘तवस्तरं’

(वत्तत्तरम्) अयम् 'इन्द्रम्'. (इन्द्रियप्रदम्) 'ऊतये' (रक्षणाय) 'वाजे-वाजे' (तत्तद्वज्रप्राप्तिनिमित्ते) 'सखायः' (परस्परं सख्यं प्राप्ताः) चत्विर्गजमाणा वयं 'हवामहे' (आह्वयामः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्तीरुद्रस्य गाण-  
पत्यात् मयोभूरेहि । उर्वन्तरिचमन्विहि स्वस्ति-गव्यूतिरभयानि  
कृण्वन्<sup>(५)</sup>” इति । हे अश्व, त्वम् 'एहि' (आगच्छ) । किं कुर्वन्?—  
'प्रतूर्वन्' (विरोधिनः शत्रून् हिंसन्), 'अशस्तीः' 'अवक्रामन्'  
(भ्रातृव्यैः क्रियमाणा अपकीर्त्तीर्निवारयन्) । किञ्च 'रुद्रस्य'  
(क्रूरदेवस्य) यत् गाणपत्यं (पशुसमूहपतित्वं), तस्मात् 'गाणपत्यात्'  
आगत्य 'मयोभूः' (अस्माकं सुखं भावयन्) 'एहि' । 'उरु'  
(विस्तीर्णम्) 'अन्तरिचम्' 'अनु'-वीक्ष्य 'इहि' (विसन्तोषेण गच्छ) ।  
किं कुर्वन्?—गव्यूतौ (गोसमूहे) 'स्वस्ति' (श्रेयः) यथा भवति,  
तथा वर्त्तमानः 'स्वस्ति-गव्यूतिः', तादृशस्वम्; 'अभयानि कृण्वन्'  
(व्याघ्रादिभ्यो भयपरिहारं कुर्वन्) ।

अथ तृतीयामाह,—“पूष्णा संयुजा सह । पृथिव्याः सधस्या-  
'दग्निं पुरीष्यमङ्गिरंस्वदच्छेहि<sup>(६)</sup>” इति । सह युज्यते सहाबभूतो  
वर्त्तत इति संयुक्, तादृशेन 'पूष्णा' (पोषकेण) देवेन 'सह',  
हे अश्व, 'पृथिव्याः' 'सधस्यात्' 'पुरीष्यम्' 'अग्निम्' 'अच्छेहि'  
(प्राप्तुं गच्छ) । खनितुं योग्या कृत्स्नाऽपि मृत्तिका सह तिष्ठति,-  
भिक्षिता वर्ततेऽचेति सधस्यः प्रदेशविशेषः, तस्मात् प्रदेशादाप्त-  
मित्यन्वयः । 'अङ्गिरंस्वत्' इति दृष्टान्तः पूर्ववत् ।

अथ प्रथमाध्यायश्चि प्रथमभागे वीक्षायास्तात्पर्यं दर्शयति,—



“योगे-योगे तवस्वरमित्याह योगे-योग एवेनं युक्ते” (५।१।२अ०) इति । रथवहनं योद्धुवहनं वा चक्षदस्यस्य योग्यं कर्म, तच्च सर्वत्रैनमस्य योजयत्येव लौकिकः, तस्मादत्रापि ‘योगे-योगे’ इति वीक्ष्योच्यते ।

द्वितीयभागे वाजशब्दार्थं दर्शयति,—“वाजे-वाजे हवामह इत्याह्वानं वै वाजोऽन्नमेवावदन्धे” (५।१।२अ०) इति ।

तृतीयभागे इन्द्रशब्दतात्पर्यं दर्शयति,—“सखाय इन्द्रमूतय इत्याहेन्द्रियमेवावदन्धे” (५।१।२अ०) इति ।

अनेन मन्त्रेण साध्यम् अश्वपुरःसरं गमनं विधत्ते,—“अग्नि-देवेभ्योऽनिलायत तं प्रजापतिरन्विन्दत् प्राजापत्योऽस्योऽस्येन सम्भरत्यनुविष्टै” (५।१।२अ०) इति । केनाप्यपराधेन देवेभ्यो निर्गतमग्निं प्रजापतिरन्विष्य लब्धवान् । अश्वस्य प्रजापतिजन्यत्वात् ‘प्राजापत्यः’, तस्मादस्येन सहाग्निहेतुं मृदं सम्भरितुं गच्छेत् । तच्च गमनमग्रेरनुवेदनाय भवति ।

तत्राश्वस्य गर्दभात् पुरतो गमनं विधत्ते,—“पापवस्त्रसं वा एतत् क्रियते यच्छ्रेयसा च पापीयसा च समानं कर्म कुर्वन्ति, पापीयान् अश्वान्गर्दभोऽश्वं पूर्वं नयन्ति पापवस्त्रस्य व्यावृत्तौ तस्माच्छ्रेयाश्च पापीयान् पश्चादन्धेति” (५।१।२अ०) इति । ‘श्रेयसा’ (उत्तमेन) ‘च’ साधनेन, ‘पापीयसा’ (निकृष्टेनापि साधनेन) ‘समानं’ (तुल्यम्) एकं कार्यं कुर्वन्तीति यत्, तत् ‘इतत्’ ‘पापवस्त्रसम्’ एव क्रियते,—पापमेव वस्तु धनं यच्च कर्मण्यतः पापवस्तु, अतिशयेन पापवस्तु, तत् ‘पापवस्त्रसम्’, अत्यन्तं निकृष्ट-

मित्यर्थः । ‘गर्दभः’ ‘अश्वात्’ ‘पापयान्’ इति प्रसिद्धम् ; अतः  
 उभयोः समानं गमनं मां भूदिति ‘अश्वं’ ‘पूर्वं’ (पुरतो) गयेयुः ;  
 तथा सति पापवृत्तसं निवारितं भवति । यस्मादेवं, ‘तस्मात्’  
 लोकेऽपि विद्याधनादिभिः श्रेयान् पुरुषः पुरतो गच्छति,  
 निष्कृष्टः शिष्यः दरिद्रो वा ‘पश्चात्’ अनुगच्छति ।

द्वितीयमन्त्रगतस्य ‘अश्वस्तीरपक्रामन्’ इत्यस्य तात्पर्यं दर्श-  
 यति,—“वज्रैर्भवतो भ्रातृभ्यो भवतीव खलु वा एष योऽग्निं  
 चिनुते वज्रमश्वः प्रतूर्त्तं नेह्यवक्रामन्नश्वस्तीरित्याह वज्रेणैव पाप्मानं  
 भ्रातृभ्यमवक्रामति” (५।१।२अ०) इति । ‘भवतो’ (भूतिमैश्वर्यं  
 प्राप्तुवतः पुरुषस्य) ‘भ्रातृभ्यः’ (विघ्नकारी) ‘वज्रः’ ‘भवति’ एव,  
 ‘श्रेयांसि वज्रविघ्नानि’ इति न्यायात् । अतोऽत्र ‘योऽग्निं चिनुते’  
 ‘एष’ ‘भवतीव’ ‘खलु’ (भूतिं श्रेयः प्राप्नोत्येव खलु) । अतोऽनेन  
 भ्रातृभ्यपरिहारोऽन्वेषणीयः । अश्वस्य वज्रयुक्तेऽसमानः, अतोऽश्वं  
 सम्बोध्य, अश्वस्तीरित्युक्त्वा, अश्वरूपेण ‘वज्रेणैव’ विघ्नकारिणं  
 ‘पाप्मानं’ ‘भ्रातृभ्यं’ निराकरोति ।

‘तन्मन्त्रगतस्यैव’ ‘गाणपत्यात्’ इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“रुद्रस्य  
 गाणपत्यादित्याह रौद्रा वै पशवो रुद्रादेव पशून्मियाच्यात्मने  
 कर्म कुर्वते” (५।१।२अ०) इति । पशूनां रौद्रत्वं वरबलाद-  
 वगम्यते,—‘योऽब्रवीद् वरं दृष्ट्वा, अहमेव पशूनामधिपतिरस्यानि’  
 इत्यत्र रुद्रस्य वर आश्नातः । तस्मादत्र ‘रुद्रस्य’ ‘गाणपत्यान्मयो-  
 भूरेहि’ इत्युक्त्वा, पशून्स्वामिनो ‘रुद्रादेव’ तान् ‘पशून्’ निःशेषेण  
 याचित्वा, तैः पशूभिः स्वार्थं कर्म करोति इति ।

‘द्वितीयमन्त्रे ‘सयुजा’ इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“पूष्णा सयुजा सहेत्याह पूषा वा अध्वनाः सन्नेतः समर्थः” (५।१।२अ०) इति । पोषको देव एव उपद्रवपरिहारेण मार्गाणां सम्यक्-नेता भवति । अतस्तेन सह ‘समर्थे’ (सङ्गत्यै) ‘पूष्णा सयुजा’ इत्युच्यते ।

तस्मिन्नेव मन्त्रे ‘पुरीष्यम्’ इति विशेषणस्य ‘अङ्गिरस्वत्’ इति दृष्टान्तस्य च तात्पर्यं दर्शयति,—“पुरीषायतनो वा एष यदाग्निरङ्गिरसो वा एतन्मये देवतानाः समभरन् पृथिव्याः सधस्यादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेद्येत्याह सायतनमेदं देवताभिः सम्भरति” (५।१।२अ०) इति । पुरीषस्य पांशोः पूर्वाङ्गरीत्या परम्परया अग्न्यायतनत्वम्, अतः पुरीषशब्देनाग्निं सायतनमेव सम्पादयति । ‘अङ्गिरसः’ च पुरा तम् ‘एतम्’ अग्निं ‘देवतानां’ पुरतः सम्पादितवन्तः, अतः ‘अङ्गिरस्वत्’ इत्युक्त्वा देवताभिः संहितमेतं सम्पादितवान् भवति ।

कल्पः, ‘अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम<sup>(१)</sup> इति येन द्वेष्टेण सङ्गच्छते तमभिमन्त्रयते, पश्यन् निर्दिशति’ इति । मृत्युखननं प्रतिगच्छन्तः पुरुषाः मार्गमध्ये यदि केनापि द्वेष्टेण सङ्गच्छेरन्, तदानीम् इमं मन्त्रं पठेरन् । ‘इमः’ गच्छेम इत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । यदि द्वेष्टं न पश्यति, तदापि तं मनसा निर्दिश्या पठेत् ।

अनेन पाठेन द्वेष्टस्यस्य विनाशस्त इत्येतद्दर्शयति,—“अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम<sup>(२)</sup> इत्याह येन सङ्गच्छते वाजमेवास्मदङ्गं” (५।१।२अ०) इति ।

कल्पः, ‘अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदङ्गिरस्याम<sup>(३)</sup> इति वल्मीक-

वपाया सूर्यस्योदेतोऽस्मामुद्धृत्योपतिष्ठते' इति । वल्मीकस्य चोऽवयव उन्नतत्वेनाभिवृद्धः, सेयं वपा, तथाविधासु वपासु मध्ये चां वपा सूर्योदयस्याभिमुखा, तस्यां अयं किञ्चित् उद्धृत्य, तां वपाम् अनेन मन्त्रेण 'उपतिष्ठते' । 'भरिष्यामः' (सम्पादयिष्यामः) । शेषं विवृतम् ।

अनेन मन्त्रेण वपोपस्थानं विधत्ते,—“प्रजापतये प्रतिप्रोच्य अग्निः सम्भृत्य इत्याहु रियं वै प्रजापतिस्तस्या एतच्छ्रोत्रं यदल्मो-  
कोऽग्निं पुरीथ्यमङ्गिरस्वङ्गरिष्याम इति वल्मीकवपामुपतिष्ठते सा-  
क्षादेव प्रजापतये प्रतिप्रोच्याग्निं सम्भरति” (५।१।२ अ०) इति ।  
प्रजापतेः सकाशादेनुज्ञां लब्ध्वा, अयम् अग्निं सम्पादनीय इत्यभिज्ञा 'आहुः', तच्चोपपन्नं, प्रजापतिना पूर्वमग्नेर्लभ्यत्वात्, 'तं प्रजापतिरन्वविन्दत्' इति पूर्वमेवोक्तम् । कथं तर्हि प्रजापतये वक्तव्यमिति चेत् ? तदुच्यते,—प्रजापतिना सृष्ट्वात् 'इयं' (पृथिवी) एव 'प्रजापतिः', 'तस्याः' च वल्मीकवपैव 'श्रोत्रम्'; अतएवा-  
धानब्राह्मणे समाज्जातं, 'श्रोत्रं ह्येतत् पृथिव्याः यदल्मोकः' इति । 'तस्मात् तां वपामनेन मन्त्रेण 'उपतिष्ठते' । तेनोपस्थानेन व्यव-  
धानमन्त्रेणैव 'प्रजापतये' कथयित्वा 'अग्निं सम्भरति' ।

कल्पः, 'अत्वरमाणाः प्रत्यायन्त्यग्निं पुरीथ्यमङ्गिरस्वङ्गराम' (९) इति येन हेत्येण सङ्गच्छते तमभिमन्त्रयते पश्यन्निर्दिशति' इति । यदद् गमनकाले, तदद् आगमनकालेऽपि ; तत्र 'भरिष्यामः' इति पाठः, अत्र तु 'भरुमः' इति विशेषः । यद्यप्यागमनस्य नायं कालः, तथापि प्रसङ्गाद् बुद्धिस्तो मन्त्रोऽयमाज्जातः । तच्चोपरिष्ठादुत्कर्षेत् ।

गमनकालीनमन्त्रपदस्यापि तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्निं पुरी-  
क्षमङ्गिरस्वङ्गराम इत्याह येन सङ्गच्छते वाजमेवाह्य वृक्षे”  
(५।१।२अ०) इति ।

कल्पः, ‘अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदिति वल्गोक्तवपायाः प्रकामति’  
इति । पाठस्तु,—“अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जात-  
वेदाः । अनु सूर्यस्य पुरुचा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आ-  
ततान<sup>(१०)</sup>” इति । अयम् ‘अग्निः’, ‘उषसाम्’ (उषःकालानाम्)  
‘अग्रम्’ उपक्रमन् ‘अख्यत्’ (अनुक्रमेण प्रकाशितवान्) । अयं  
‘जातवेदाः’ ‘प्रथमः’ (मुख्यः) सन् ‘अहानि’ ‘अनु’-‘अख्यत्’ ।  
‘सूर्यस्य’ ‘पुरुचा’ (पुरुन् बहन्) ‘रश्मीन्’ अनुक्रमेण ‘अख्यत्’ ।  
किञ्च ‘द्यावापृथिव्यावुभे’ अयनक्रमेण ‘आ’-‘ततान’ (सर्वतो  
व्याप्तवान्) ।

अनेन मन्त्रेषोषःकालादीनां क्रमेणाविर्भावः सिध्यतीत्येतद्दर्श-  
यति,—“अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदित्याहानुख्यात्यै” (५।१।२अ०)  
इति ।

कल्पः, ‘आगत्य वाज्यध्वन आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमिति  
दाभ्यां मृतृखननमश्रमाक्रमय्य’ इति । तत्र प्रथमायाः पाठस्तु,—  
“आगत्य वाज्यध्वनः सर्वा मृधो वि धूनुते । अग्निं सधस्ये महति  
चक्षुषा नि चिकीषते<sup>(११)</sup>” इति । अयं ‘वाजी’ ‘अध्वनः’ (मार्गात्)  
‘आगत्य’ (प्राप्य) ‘सर्वा मृधः’ (मार्गश्रमादीन् सर्वान् बोधकान्[?])  
‘वि’-‘धूनुते’ (विविधं कम्पयति) विनाशयतीत्यर्थः । यत्र पांसवः  
सहावतिष्ठन्ते, तत् स्थानं सधस्यम् । ‘महति’ (विस्तीर्णे) ‘सधस्ये’ अयं

अथः ‘चक्षुषा’\* दृष्ट्वा ‘अग्निं’ (अग्निहेतुं मृदं) ‘नि-चिकीषते’ (नितरां चेतुं सम्पादयितुमिच्छति) ।

अथ द्वितीयामह,—“आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ  
रुचा त्वं । भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनाम तं वयम्<sup>(११)</sup>”  
इति । हे ‘वाजिन्’, ‘पृथिवी’ ‘आक्रम्य’ (पादस्पर्शेन परीक्ष्य) ‘त्वं’  
‘रुचा’ (स्वकीयेन तेजसा मानसज्ञानेनेत्यर्थः) ‘अग्निमिच्छ’  
(अग्निहेतुं मृदं निश्चिनु) । ‘भूम्या वृत्वाय’ (पृथिव्या सह चरणं  
कृत्वा पृथिवीं पृष्टेत्यर्थः [?]) ‘नः’ (अस्माकं) ‘ब्रूहि’ (अयं प्रदेशो-  
ऽग्निहेतुमृद्योग्य इति कथय) । यस्मात् प्रदेशात् तादृशी मृत्प्रभते,  
‘तं’, (प्रदेशं) ‘वयं’ ‘खनाम’ ।

अत्रैतयोर्मन्त्रयोः पृथगुपयोगं दर्शयति,—“आगत्य वाज्यध्वन  
आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमित्याहेच्छत्येवैनं पूर्व्या विन्दत्युत्तरया”  
(५।१।२अ०) इति । पूर्वस्यामृचि ‘नि-चिकीषते’ इत्यभिधाना-  
दिच्छामात्रं तथा सम्पद्यते । उत्तरस्यामृचि ‘नो ब्रूहि’ इत्युक्त्वात्  
तथा तं प्रदेशं लभते ।

विधत्ते,—“द्वाभ्यामाक्रमयति प्रतिष्ठित्या अनुरूपाभ्यां तस्मा-  
दनुरूपाः पशवः प्रजायन्ते” (५।१।२अ०) इति । मन्त्रयोर्द्वित्वं  
हि ‘द्वाभ्यां’ ‘प्रतिष्ठित्यै’ सम्पद्यते ; तत्र पूर्वा मन्त्र इच्छाया अनुरू-  
पः, उत्तरो मन्त्रो लाभस्थानुरूपः । तच्च पूर्वमुदाहृतं । यस्मात्  
‘अनुरूपाभ्यां’ मन्त्राभ्याम् ‘आक्रमयति’ । ‘तस्मात्’ यजमानस्य  
अग्निहोत्राद्यनुष्ठानस्य ‘अनुरूपा’ एव गवाद्याः ‘पशवः’ ‘प्रजायन्ते’ ।

कल्पः, ‘द्यौस्ते पृष्ठमित्यश्वस्य पृष्ठं समावृत्ति’ इति । पाठस्तु,

—दौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्यमात्मान्तरिक्षं समुद्रस्ते योजिः ।  
 विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यतः<sup>(११)</sup> इति । हे अश्व, द्युलोका-  
 स्त्व 'पृष्ठं', 'पृथिवी' 'सधस्यं' (तवाग्निना सहावस्थानप्रदेशः),  
 अन्तरिक्षलोकस्त्व शरीरमध्यवर्त्ति जीवात्मा । 'समुद्रः' तव  
 जन्मकारणम्, 'अस्ययोनिर्वा अश्वः' इति श्रुतेः । एवं स्तुयमानः  
 'त्वं' 'चक्षुषा' 'विख्याय' (उखायोग्यां मृदं विलोक्य) 'पृतन्यतः'  
 (सङ्ग्रामं कर्तुमिच्छतः) शत्रून् राक्षसादीन् तस्यां मृदि गूढरूपेणाव-  
 स्थितान् 'अभितिष्ठ' (पादेनाक्रम्य विनाशय) ।

मन्त्रोक्तद्युलोकादिमन्त्रमुपपादयति,—“दौस्ते पृष्ठं पृथिवी  
 सधस्यमित्याहैभ्यो वा एतं लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयद्रूपमेवास्यै-  
 तन्माहिमानं व्याचष्टे” (५।१।२अ०) इति । पुरा कदाचित्  
 प्रजापतिः ‘एतम्’ अश्वम् एतेषु लोकेष्वन्विष्य समानीतवान् ।  
 तस्मात् विद्यमानमेव द्युलोकादिमन्त्ररूपं ‘माहिमानं’ मन्त्रो  
 ‘व्याचष्टे’, अतो नास्माभिर्वक्तव्यं किञ्चिदस्ति ।

मृदाक्रमणवेलायामश्वपादस्यावस्ताद्देव्यविषयध्यानं विधत्ते,  
 —“वज्री वा एष यदशो दङ्गिरन्यतो-दङ्गो भूयां लोमभिरु-  
 भया-दङ्गोऽयं दिव्यात् तमधस्यदं ध्यायेदङ्गेणैवैनं स्तुनते” (५।  
 १।२अ०) इति । वज्रसमानदन्तपङ्क्तिद्वयमस्यास्तीति ‘अशो’ ‘वज्री’,  
 तस्मात् ‘अन्यतो’-‘दङ्गः’ (एकतो दन्तपङ्क्तियुक्तेभ्यो गवादिभ्यः)  
 अयम् ‘अश्वः’ ‘दङ्गिः’ ‘भूयान्’ (दन्तैरधिकः) । ‘उभया-दङ्गः’  
 (दन्तपङ्क्तिद्वययुक्तेभ्यश्च) गर्दभादिभ्यः ‘अयम्’ अश्वः ‘लोमभिः’  
 (केसरैः पुच्छगलैश्च) ‘भूयान्’ । अतस्तादृशस्य अश्वस्य ‘अधस्यदं’

(पादस्याधस्तात्) द्वेभ्ये भ्याते सति अश्वखुररूपेण 'वज्रैर्णैवैनं' द्वेभ्यं हि नस्ति ।

कल्पः, 'उत्क्रामोदक्रमोदिति द्वाभ्यां मृत्खनादुदक्षमश्वमुत्क्रमय' इति । मृद् यस्मिन् प्रदेशे खन्यते, स प्रदेशो मृत्खनः, तस्मादश्वम् उदक्षमुखत्वेन निर्गमयेत् । तत्र प्रथमामृत्चमाह,—  
“उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद्द्रविणोदा वाजिन् । वयं  
स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनिष्यन्त उपस्थे अस्याः<sup>(१४)</sup>” इति ।  
हे 'वाजिन्' 'द्रविणोदाः' (धनप्रदः सन्) यजमानस्य 'महते  
सौभगाय' (सौभाग्याभिवृद्ध्यर्थं) 'अस्मादास्थानात्' (खननप्रदेशात्)  
'उत्क्राम' (उद्गते भव) । 'वयं' 'पृथिव्याः' 'सुमतौ' (अनुग्रह-  
चित्ते) 'स्याम' (तिष्ठेम) । कीदृशा वयं?—‘अस्या’ ‘उपस्थे’ (पृथिव्या  
उपरि) ‘अग्निं’ (अग्निहेतुं मृदं) ‘खनिष्यन्तः’ (खनितुमुद्युक्ताः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“उदक्रमोद् द्रविणोदा वाज्यर्वाऽकः स  
लोकः सुकृतं पृथिव्याः । ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं सुवो रुहाणा  
अधि नाक उत्तमे<sup>(१५)</sup>” इति । ‘द्रविणोदाः’ (यागद्वारेण  
‘धनप्रदः’) ‘वाजो’ (तथैवान्नप्रदः) अतीति\* ‘अर्वा’ गमनकुशल  
इत्यर्थः । तादृशोऽयमश्वः स्थानादस्मात् ‘उदक्रमोत्’ । ‘स’ उत्क्राम-  
न्तोऽश्वः ‘सुकृतं’ (आक्रमणेन विरुद्धान् राक्षसादीनपहृत्य सुष्ठु-  
कृतं) ‘पृथिव्याः’ समन्धिनं ‘लोक’ (खननप्रदेश) ‘अकः’ (कृतवान्) ।  
‘ततः’ प्रदेशात् ‘अग्निम्’ (अग्नियोग्यां भूमिं) ‘खनेम’ । कीदृशम् ?  
—अग्निं ‘सुप्रतीकं’ (सुमुखम्) । ये खनितारो वयं, ते कीदृशाः ?—



‘सुवः’ ‘अधि’-‘रुहाणाः’ (स्वर्गे अधिरोहणकामाः) । कीदृशे स्वर्गे ?  
‘उत्तमे’ (सुखयुक्ते) ‘नाके’ (कं सुखम्, अ-कं दुःखं, तद्रहितं) ।

तदिदं मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“उत्कामोदक्रमोदिति द्वाभ्या-  
मुत्क्रमयति प्रतिष्ठित्या अनुरूपाभ्यां तस्मादनुरूपाः पञ्चवः प्रजा-  
यन्ते” (५।१।३अ०) इति । मन्त्रयोरादावुत्क्रमणाभिधानादनुष्ठे-  
यार्थं प्रत्यनुरूपत्वम् ।

कल्पः, ‘अपो देवीरुपसृजेत्यश्वस्य पदेऽप उपसृज्य’ इति ।  
पाठस्तु,—“अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयन्त्याय प्रजाभ्यः । तासां  
स्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः<sup>(१९)</sup>” इति । ‘देवीः’ (देवन-  
शोलाः) ‘अपः’ ‘उपसृज’ (अस्मिन् खननप्रदेशे अहमुपसृजामि) ।  
कीदृशीः अपः ?—‘मधुमतीः’ (मधुराः) । किमर्थं ?—‘अयन्त्याय  
प्रजाभ्यः’ (प्रजानामारोग्याय) ‘तासां’ (प्रक्षिप्तानामपां) ‘स्थानात्’  
(अस्मात् प्रदेशात्), ‘सुपिप्पलाः’ (शोभनफलाः) ओषधयः ‘उज्जि-  
हताम्’ (उत्पद्यन्ताम्) ।

अनेन मन्त्रेणोदकसेचनं विधत्ते,—“अप उपसृजति यत्र वा आप  
उपगच्छन्ति तदोषधयः प्रतितिष्ठन्त्योषधीः प्रतितिष्ठन्तीः पञ्चवो-  
ऽनु प्रतितिष्ठन्ति पशून् यज्ञो यज्ञं यजमानो यजमानं प्रजास्तस्मा-  
दप उपसृजति प्रतिष्ठित्यै” (५।१।३अ०) इति । अपामोषधीनां  
पशूनां यज्ञस्य यजमानस्य ‘प्रजानां चोत्तरोत्तरं प्रतिष्ठा पूर्व-पूर्वा-  
धीनेति प्रसिद्धम् । तस्मात् सर्वप्रतिष्ठार्थमप उपसृजेत् ।

कल्पः, ‘पदे हिरण्यं निधाय जिघर्म्यग्निमा त्वा जिघर्मीति  
मनस्वतोभ्यामेकामाहुतिः हिरण्ये हुत्वा’ इति । तत्र प्रथमाष्टच-

माह,—“जिघर्षाग्निं मनसा धृतेन प्रतिक्ष्यन्तं भुवनानि विद्या ।  
 पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्टमन्नं रभसं विदानम्<sup>(१०)</sup>” इति ।  
 अहम् ‘अग्निं’ ‘मनसा’ ध्यायन् ‘धृतेन’ ‘जिघर्षि’ (चारयामि दोषयामि  
 वा) । कीदृशमग्निं ?—विद्यानि ‘भुवनानि’ ‘प्रतिक्ष्यन्तं’ (सर्वेषु  
 लोकेषु प्रत्येकं निवसन्तं); ‘तिरश्चा’ ‘पृथुं’ (तिर्यक्क्रमणेन विस्तृतं),  
 ‘वयसा बृहन्तं’ (वय उपलक्षितेन कालेन प्रौढं) । ‘पृथुम्’ इत्यनेन  
 बज्रदेशव्याप्तिः, ‘वयसा’ इत्यनेन बज्रकालव्याप्तिरुक्ता । किञ्च यत्  
 ‘अन्नं’ ‘व्यचिष्टम्’ (अतिशयेन विविधमञ्चनं गमनं पूजनं वा यस्य  
 तद्व्यचिष्टं, भक्ष्यभोज्यादिरूपेण बज्रविधं स्वादुत्वेन पूज्यञ्चेत्यर्थः) ।  
 तादृशम् ‘अन्नं’ ‘रभसं’ (शीघ्रमेव) ‘विदानं’ (लभमानम्) ।

अथ द्वितीयमाह,—“आ त्वा जिघर्षि वचसा धृतेनारक्षसा  
 मनसा तज्जुषस्व । मर्यश्रोः स्पृहयदर्शो अभिर्नाभिमृशे तनुवा  
 जर्हषाणः<sup>(११)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वाम् ‘आ’-‘जिघर्षि’ ‘वचसा’ (मन्त्रेण  
 अग्नेन) ‘धृतेन’ (सर्वतः चारयामि) । ‘अरक्षसा’ ‘मनसा’ (क्रौर्यरहितेन  
 चित्तेन) ‘तत्’ (धृतम्) ‘जुषस्व’ । अयमग्निः ‘मर्यश्रोः’ (मर्त्यैः\*  
 आश्रयणीयः), ‘स्पृहयदर्शः’ (यजमानैः स्पृहणीयरूपः), ‘नाभिमृशे’  
 (अभिमर्शनं कर्तुं न शक्यः), ‘तनुवा जर्हषाणः’ (धृतपानपुष्टेन  
 शरीरेणात्यन्तं हृष्टः) ईदृशमग्निं त्वाम् ‘आ-जिघर्षि’ इति योजना ।

आभ्यां मन्त्राभ्यां हिरण्ये होमं विधन्ते,—“युद्धध्वर्युरनग्नावा-  
 ङ्गतिं जुहुयादन्धोऽध्वर्युः । स्वाद्रक्षांसि यज्ञः हन्युर्हिरण्यमुपास्य  
 जुहोत्यग्निवत्येव जुहोति नान्धोऽध्वर्युर्भवति न यज्ञः रक्षांसि

घ्नन्ति” (५।१।३अ०) इति । अग्निरहिते भूप्रदेशे होमेन ‘अभ्वर्युः’ ‘अभ्वो’ भवति । होमाधिकरणस्याग्नेरदर्शनात् । एतदेव हिद्रमुप-  
सभ्य रक्षांसि ‘यज्ञं’ विनाशयेयुः । अत एतद्दोषपरिहाराय भूमौ  
‘हिरण्यं’ निधाय तस्मिन् जुहुयात् । तथा सति हिरण्यस्याग्निसदृश-  
त्वादयं प्रदेशोऽग्निमान् भवतीति नोक्तदोषद्वयम् ।

प्रथममन्त्रस्य प्रथमपादे मनःशब्दस्योपयोगं दर्शयति,—“जिघ-  
र्ष्यं मनसा घृतेनेत्याह मनसा हि पुरुषो यज्ञमभिगच्छति”  
(५।१।३अ०) इति । मनसा यज्ञाभिगमनं नाम ‘यज्ञं करिष्ये’  
इत्येवं रूपः सङ्कल्पः ।

द्वितीयपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“प्रतिच्छन्तं भुवनानि विश्वे-  
त्याह सर्वं ह्येष प्रत्यङ्मेति” (५।१।३अ०) इति । ‘एषः’ अग्निः  
‘सर्वं’ यजमानमुद्दिश्य ‘प्रत्यङ्’ (अभिमुखं) ‘मेति’ (निवसति) ।

तृतीयपादे ‘पृथुं बृहन्तं’ इत्यनयोस्तात्पर्यं दर्शयति,—“पृथुं  
तिरस्त्रा वयसा बृहन्तमियाहाल्पो ह्येष जातो महान् भवति”  
(५।१।३अ०) इति । ‘एषः’ अग्निः जातमात्रेण ‘अल्पः’, पश्चादा-  
ज्जतिभिर्वर्द्धमानो देशव्याप्या कालव्याप्या च ‘महान् भवति’ ।

चतुर्थपादे ‘व्यचिष्टम्’ इतिपदेन सूचितं पूजार्थत्वलक्षणं स्वादुत्वं  
दर्शयति,—“व्यचिष्टमन्नं रभसं विदानमित्याहान्नमेवास्मै खद-  
यति” (५।१।३अ०) इति ।

वेदनं प्रशंसति,—“सर्वमस्मै खदते य एवं वेद” (५।१।३अ०).  
इति ।

द्वितीयमन्त्रस्य प्रथमपादे ‘वचसा’ इतिपदस्याभिप्रायं दर्शयति,—

“आ त्वा जिघर्षि वचसा घृतेनेत्याह तस्मात् यत् पुरुषो मनसा-  
भिगच्छति तदाचा वदति” (५।१।३अ०) इति । यस्मात् प्रथम-  
मन्त्रे मनसेत्युक्ता द्वितीयमन्त्रे वचसेत्युक्तं, तस्मात् लोकेऽपि पुरुषो  
मनसा यत् कार्यं चिन्तयति, तत्पश्चात् वाचा वदति ।

द्वितीयपादे अरक्षो-निषेधवाचिशब्दस्य\* तात्पर्यं दर्शयति,—

“अरक्षसेत्याह रक्षसामपहत्यै” (५।१।३अ०) इति ।

तृतीयपादे मनुष्यैराश्रयणीयत्वेन वर्षस्य स्पृहणीयत्वेन चाग्नौ  
पूज्यत्वं सन्पाद्यते इति दर्शयति,—“मर्यग्नौः स्पृहयदणो अग्निरि-  
त्याहापचितिमेवास्मिन् दधाति” (५।१।३अ०) इति ।

वेदनं प्रशंसति,—“अपचितिमान् भवति य एवं वेद” (५।  
१।३अ०) इति ।

मन्त्रयोरुभयोर्मनःशब्दोपेतत्वं प्रशंसति,—“मनसा त्वैतामाप्नु-  
मर्हति यामध्वर्युरनग्नावाज्जति जुहोति मनस्वतीभ्यां जुहोत्याज्जत्यो-  
राग्न्यै” (५।१।३अ०) इति । अग्नौ ह्ययमाना आज्जतिर्मनसैव  
प्राप्नुमर्हा, अग्नौ जुतेत्येवं सङ्कल्पयितुं शक्यत्वात्, तस्मादाज्जत्योः  
प्राप्तये मनःशब्दयुक्ताभ्यामग्न्यां जुह्यात् ।

मन्त्रद्वित्वं प्रशंसति,—“द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।१।३अ०) इति ।

कल्पः, ‘अपादाय हिरण्यं परि वाजपतिः कविरग्निरिति  
तिसृभिरभ्रिया मृतृस्वननं प्रत्यृचं परिलिखति वृद्धां वर्षीयसीम्’  
इति । तच्च प्रथमामाहुः,—“परि वाजपतिः कविरग्निर्यथाऽन्यक-  
मीत् । दधद्रत्नानि दाशुवे<sup>(१९)</sup>” इति । अयम् ‘अग्निः’ ‘हव्यानि’

\* अरक्षो निषेधवाचीशब्दस्य इति सर्वस्मिन् पुस्तके पाठो न सम्यक् ।

परितः 'अन्नमीत्' (स्वीकृतवान्) । 'कीदृशोऽग्निः ?—'वाजपतिः' (अन्नस्य पालयिता) । किं कुर्वन् ?—'दाशुषे' (हविर्दत्तवते) यज्ञ-  
मानाय 'रत्नानि' 'दधत्' (रमणीयानि धनानि सम्पादयन्) ।

अथ द्वितीयामाह,—“परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रः सहस्य  
धीमहि । धृषदणं दिवे-दिवे भेत्तारं भङ्गुरावतः(१०)” इति ।  
सहसि बले भवः 'सहस्यः', 'सहसस्युत्रो अद्भुतः' इति श्रुत्यन्तरात् ;  
तादृश (बलवान्\*) हे 'अग्ने', 'वयं' त्वां 'परि'-'धीमहि' (पन्थितः  
स्वीकुर्मः) । कीदृशं त्वां ?—'पुरं' (असह्यदपेक्षितफलानां पूरयितारम्),  
'विप्रं' (ब्राह्मणजात्यभिमानिनं देवं), 'धृषदणं' (धृषत् † वैरिणां  
धर्षयिता वर्णः स्वरूपविशेषो यस्यासौ धृषदणः तं), 'दिवे-दिवे'  
(प्रतिदिनं) 'भङ्गुरावतः' 'भेत्तारं' (भञ्जनीयं पापं भङ्गुरं, तदस्मा-  
त्सोति भङ्गुरावान् विधातको राजमादिः, तस्य विनाशयितारम्) ।

अथ तृतीयामाह,—“त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुर्क्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्व-  
मश्मनस्पति । त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे  
शुचि(११)” इति । हे 'अग्ने', 'त्वं' 'द्युभिः' (स्वर्गैः) निमित्तभूतै-  
स्तत्र "तत्र यागशालासु 'जायसे' । किञ्च 'त्वमाशुशुर्क्षणिः'  
(आर्द्रां भूमिं शीघ्रमेव शोषयिता) 'जायसे' । 'त्वमद्भ्यः' (वर्ष-  
धाराभ्यः) अश्वनिरूपेण 'जायसे' । 'त्वमश्मनस्पति' (पाषाणस्रो-  
परि) पाषाणान्तरसङ्घटनेन 'जायसे' । 'त्वं वनेभ्यः' दावाग्नि-  
रूपेण 'जायसे' । 'ओषधीभ्यः' (ओषधिकार्येभ्यो भेषजेभ्यः) 'त्वं'

\* बलवान् इति पाठो भवितु युक्तः ।

† धृषन् इति पाठो भवितु युक्तः ।

‘जायसे’, यद्वा वंशद्वयसङ्घर्षणादिभ्यो ‘जायसे’ । ‘नृणां’ ‘नृपते’, (सर्वेषामपि मनुष्याणां पालकः), ‘त्वं गृहे-गृहे’ ‘शुचिः’ (शुद्धिहेतुः सन्) ‘जायसे’, ‘पुनर्दाहेन मृण्मयम्’ इत्यादिश्रुते ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यं परिलेखनं विधत्ते,—“यज्ञमुखे-यज्ञमुखे वै कियमाणे यज्ञः रचांसि जिधाः सन्धेतर्हि खलु वा एतद्यज्ञमुखं यर्हन्नादाहुतिरश्रुते परिलिखति रक्षामपहत्यै” (५।१।३अ०) इति । यज्ञस्य मुखं (प्रारम्भः) ‘यज्ञमुखं’ । यदा यज्ञः प्रारभ्यते, तदा ‘रचांसि’ आगत्य यज्ञं हन्तुमिच्छन्ति । एवञ्च सति अत्रापि अश्वपदाङ्कितम् ‘एतत्’ स्थानम् ‘आहुतिः’ यदा प्राप्नोति, तदानीम् एतदेवाश्वपदस्थानं यज्ञप्रारम्भरूपं भवति । अतोऽत्र प्राप्तानां ‘रक्षामपहत्यै’ परिलेखनं कुर्यात् ।

मन्त्रत्रयं विनियुक्ते,—“तिसृभिः परिलिखति चिष्टदा अग्नि-र्यावानेवाग्निस्तस्माद्रचाः स्वपहन्ति” (५।१।३अ०) इति । आहव-नीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निरूपेणाग्नेस्तिगुणवत् । सर्वस्मादप्येतस्मादग्नेः रक्षामपघातो मन्त्रात्रित्वेन\* सम्यङ्द्यते ।

परि वाजपतिरित्येतां विशेषाकारेण विधत्ते,—“गायत्रिया परि लिखति तेजो वै गायत्री तेजसैवैनं परिगृह्णाति” (५।१।३अ०) इति । पादत्रयोपेतत्वादियं गायत्री, तस्याश्चाग्निना सह प्रजापति-मुखादुत्पन्नत्वात् तेजस्त्वम् । ‘एनम्’ (अग्निप्रदेशम्) ।

‘तमग्ने द्युभिः’ इत्येतां विधत्ते,—“चिष्टुभा परि लिखतीन्द्रियं वै चिष्टुगिन्द्रियेणैवैनं परिगृह्णाति” (५।१।३अ०) इति ।

\* मन्त्रात्रित्वेन इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‘परि त्वाग्ने’ इत्येतां विधत्ते,—“अनुष्टुभा परिलिखत्यनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि परिभूः पर्याप्त्यै” (५।१।३अ०) इति। अयूपे-  
यमनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि (परितो भवति व्याप्नोतीति) ‘परिभूः’,  
अतः मेयं ‘पर्याप्त्यै’ सम्यच्यते।

अस्या अनुष्टुभः पाठप्राप्तं मन्त्रद्वयमध्यवर्त्तित्वं प्रशंसति,—  
“मध्यतोऽनुष्टुभा वाग्वा अनुष्टुप् तस्मान्मध्यतो वाचा वदामः” (५।  
१।३अ०) इति। ‘अनुष्टुभा’ परिलिखतीति शेषः। यस्मात् वायूपा  
अनुष्टुप् मध्यतः पठिता, तस्माद्वयमपि मुखमध्यवर्त्तिजिह्वासाध्यया  
‘वाचा’ सम्भाषणं कुर्मः।

गायत्रीत्रिष्टुभोः पाठप्राप्तमाद्यन्तरूपत्वं प्रशंसति,—“गायत्रिया  
प्रथमया परि लिखत्यथानुष्टुभाय त्रिष्टुभा तेजो वै गायत्री यज्ञो-  
ऽनुष्टुगिन्द्रियं त्रिष्टुप् तेजसा वै चेन्द्रियेण चोभयतो यज्ञं परि-  
गृह्णाति” (५।१।३अ०) इति। पूर्वं प्रशस्तापि मध्यवर्त्तिनो अनुष्टुप्,  
पुनरपि पार्श्वस्थाभ्यां सह प्रशस्यते॥ यज्ञनिष्पादकवायूपत्वादनु-  
ष्टुभो यज्ञत्वम्। तस्मात् उभयतो गायत्रीत्रिष्टुभोः पाठेन मध्य-  
वर्त्तिनं यज्ञमेव ‘तेजसा वै चेन्द्रियेण चोभयतः’ परिगृहीतवान्  
भवति॥

अत्र त्रिनियोगसङ्ग्रहः,—

इमां, रज्जु समादाय, प्रत्न, तुरगबन्धनम्।

युञ्जा, गर्दभमाबध्य, योगे, यान्ति त्रिभिर्मृदा\*॥

‘इमां’ऽन्तादग्निमित्यादेगेमने द्रव्यमन्त्रणम्।

‘रामो’ऽन्तेन वपा जप्या, ‘रामो’ऽन्ताद्देव्यमन्त्रणम् ॥

अश्वमि, गच्छेदागत्य द्वाभ्यामाक्रमयेद्ब्रुवम् ।

द्यौस्तो,ऽश्वपृष्ठं संमार्ष्टि द्वात्का-द्वाभ्यां तदुद्गमः ।

अपः, पदेऽपो गिनयेज्जिघ-द्वाभ्यां जुहोति हि ॥

परि त्रिभिः परिलिखेदेकविंशतिरोरिताः ॥

इति श्रीसायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो  
हस्ताभ्यां पृथिव्याः सधस्येऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खना-  
मि<sup>(१)</sup> । ज्योतिष्मन्तं त्वाम् सुप्रतीकमजसेण भानुना  
दीद्यानं\* । शिवं प्रजाभ्योऽहिः सन्तं पृथिव्याः सधस्ये-  
ऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि<sup>(२)</sup> । अपां पृष्ठमसि स-  
प्रथां उर्वग्निं भरिष्यदपरावपिष्ठं । वर्धमानं मह आ च  
पुष्करं दिवो माचया वरिणा प्रथस्व<sup>(३)</sup> । शर्म च  
स्थः ॥ १ ॥

वर्म च स्थो अष्टिद्रे बहुले उभे । व्यचस्वतीं संव-  
साथां भर्त्तमग्निं पुरीष्यं<sup>(४)</sup> । संवसाथाः सुवर्विदा



समीची उरसात्मना । अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योति-  
षन्तमजस्रमित्<sup>(५)</sup> । पुरीष्योऽसि विश्वभराः । अथर्वा  
त्वा प्रथमो निरमन्यदग्ने<sup>(६)</sup> । त्वामग्ने पुष्करादध्ययर्वा  
निरमन्यत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः<sup>(७)</sup> । तमु त्वा दध्य-  
ङुषिः पुत्र ईधे ॥ २ ॥

अथर्वणः । वृत्रहणं पुरन्दरं<sup>(८)</sup> । तमु त्वा पाथ्यो  
वृषा समीधे दस्युहन्तमं । धनञ्जयं रणे-रणे<sup>(९)</sup> । सीद  
हेतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञः सुकृतस्य  
योनौ । देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने  
वयो धाः<sup>(१०)</sup> । नि हेता हेतृषदने विदानस्त्वेषो दी-  
दिवाः असदत्सुदक्षः । अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सह-  
सम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः<sup>(११)</sup> । सःसीदस्व महाः  
असि शोचस्व ॥ ३ ॥

देववीतमः । दि धूमर्मग्ने अरुषं मियेध्य सृज  
प्रशस्त दर्शतं<sup>(१२)</sup> जनिष्ठा हि जेन्यो अग्ने अह्नाः हितो  
हितेष्वरुषो वनेषु । दमे-दमे सप्त रत्ना दधानोऽग्नि-  
र्होता नि षसादा यजीयान्<sup>(१३)</sup> ॥ ४ ॥

स्थः । ईधे । शोचस्व । सप्तविंशतिश्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथम-  
प्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

द्वितीये मृदाक्रमणमुक्तम्, अथ तृतीये खननमभिधीयते ।  
कल्पः, 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इति द्वाभ्यां खनति' इति ।  
प्रथममन्त्रपाठस्तु,—“देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो  
हस्ताभ्यां पृथिव्याः सधस्येऽग्निं - पुरीथ्यमङ्गिरस्वत् खनामि<sup>(१)</sup>”  
इति स्पष्टोऽर्थः ।

द्वितीयमन्त्रपाठस्तु,—“ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्त्रेण  
भानुना दीद्यानं । शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्येऽग्निं  
पुरीथ्यमङ्गिरस्वत् खनामि<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘पृथिव्याः’ ‘सधस्ये’  
(उपरिप्रदेशे) ‘पुरीथ्यं’ (पांसुयोग्यम्) अग्निं त्वाम् अङ्गिरस इव अहं  
‘खनामि’ । कीदृशं त्वां ?—‘ज्योतिष्मन्तं’ (ज्वालायुक्तं), ‘सुप्रतीक’  
(सुमुखं), ‘अजस्त्रेण भानुना दीद्यानं’ (निरन्तरं वर्त्तमानेन रश्मिना  
प्रकाशमानं), ‘प्रजाभ्यः’ (प्रजापकारार्थं) ‘शिवं’ (शान्तं), अत एव  
‘अहिंसन्तं’ (हिंसामकुर्वन्तम्) ।

एतन्मन्त्रद्वयसाध्यं खननं विधत्ते,—“देवस्य त्वा सवितुः प्रसव  
इति खनति प्रसूत्या अथो धूममेवैतेन जनयति ज्योतिष्मन्तं  
त्वाग्ने सुप्रतीकमित्याह ज्योतिरेवैतेन जनयति” (५।१।४ अ०)  
इति । प्रथममन्त्रे सवितुः प्रसव इत्युच्चारणं प्रेरणाय सम्पद्यते,  
किञ्चित्तेन मन्त्रेण धूममेवात्पादयति, न तु ज्वालां; तस्मात्  
द्वितीयमन्त्रादौ ज्योतिष्मन्तमित्येतेन शब्देन ज्योतिर्जनयत्येव ।

तस्य मन्त्रस्य द्वितीयाह्ने शिवशब्दतात्पर्यं दर्शयति,—“सो-  
ऽग्निर्जातः प्रजाः शुचार्पयन्तं देवा अर्द्धर्चेनाश्रमयच्छिवं प्रजाभ्योऽ-  
हिंसन्तमित्याह प्रजाभ्य एवैनं शमयति” (५।१।४ अ०) इति ।

ज्वासासहित उत्पन्नः 'अग्निः' उत्पत्तिमात्रेणैव 'प्रजाः' सर्वाः तदप्ये-  
नायोजयत्, 'तं' (तादृशम्) अग्निं शिवमिथावर्द्धयेन 'देवाः'  
शान्तिमकुर्वन्, तस्मादस्य अर्द्धचस्य पाठेन प्रजोपकाराय 'एव'  
'एन' शान्तं करोति ।

मन्त्रद्वित्वं प्रशंसति,—“दाभ्यां खनति प्रतिष्ठित्यै” (५।१।  
४ अ०) इति ।

कल्पः, 'अपां पृष्ठमसीति पुष्करपर्णमाहृत्यैतथैव विचेष्ट्य' इति ।  
मृदं प्रचेष्टुं पुष्टिकां कृतेत्यर्थः । पाठस्तु,—“अपां पृष्ठमसि स-  
प्रथा उर्वग्निं भरिष्यदपरावपिष्ठं । वर्धमानं मह आ च पुष्करं  
दिवो माचया वरिणा प्रथस्व(१)” इति । हे पुष्करपर्ण, त्वम्  
'अपां पृष्ठमसि' (पृष्ठवदुपरिभागे वर्तमानमसि) । कोदृशं?—  
'सप्रथाः' (सविस्तारं) अत एव 'उर्वग्निं भरिष्यत्' (अग्निसाधनं मृदं  
वज्रसं यथा भवति, तथा भरितुं समर्थम्, 'अपरावपिष्ठं' (परा-  
वपो विनाशः, अतिशयेन तद्रहित), 'वर्धमानं' (अप्रमत्तत्वाद्दिने-  
दिने वृद्धियुक्तं), 'महः' (निर्लेपत्वाद्युक्त्वा पूजनीयं), 'पुष्करं'  
(अग्निनिष्पादनद्वारा पुष्टिकरं), तादृशं त्वं, 'माचया' (परि-  
माणेन) 'दिवो' 'वरिणा' (आकाशादप्याधिक्येन) 'आ' (समन्तात्)  
'प्रथस्व' (विस्तृतं भव) ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“अपां पृष्ठमसीति पुष्करपर्णमाहर-  
त्यपां वा एतत् पृष्ठं यत्पुष्करपर्णं रूपेणैवैतदाहरति” (५।१।  
४ अ०) इति । 'अपाम्' उपरि-वर्तमानलस्य विद्यमानदैवार्थस्य  
अभिधायित्वादनूपेणैव मन्त्रेणैव पुष्करपर्णमाहरति ।

कल्पः, 'शर्म च खो वर्म च ख इति द्वाभ्यामुत्तरेण मृत्स्नननं  
 कृष्णाजिनं प्राचीनयोवमुत्तरलोसास्तृणात्युपरिष्ठात् पुष्करपर्णमु-  
 त्तानम्' इति । प्रथममन्त्रपाठस्तु,—“शर्म च खो वर्म च खो ।  
 अच्छिद्रे बज्जले उभे । व्यचस्वती संवसाथां भर्त्तमग्निं पुरोव्यम्<sup>(४)</sup>”  
 इति । हे कृष्णाजिन-पुष्करपर्णे, 'उभे' (युवां) 'शर्म च खः' (अग्नेः  
 सुखकारिणी अपि भवथः) । तथा 'वर्म च खः' (कवचवद्रचके अपि  
 भवथः) । कीदृशे ?—‘अच्छिद्रे’ (क्षिद्ररहिते), ‘बज्जले’ (विस्तीर्णे),  
 ‘व्यचस्वती’ (आच्छादनप्रकारवती) पुटिकादिसदृशे इत्यर्थः । तथा-  
 विधे युवां 'संवसाथां' (सम्यक् मृदमाच्छादयतम्) । ततः 'पुरो-  
 व्यम्' 'अग्निं' 'भर्त्त' (धारयतम्) ।

द्वितीयमन्त्रपाठस्तु,—“संवसाथाः सुवर्विदा समीची उरसा-  
 त्मना । अग्निमन्तर्भरिष्यन्तो ज्योतिषन्तमजस्रमि<sup>(५)</sup>” इति ।  
 हे कृष्णाजिन-पुष्करपर्णे, युवां 'आत्मना' (स्वयमेव परनिरपेक्षे  
 सति\* 'उरसा' (उरःसदृशेन) भवदीयस्वरूपेण 'संवसाथां' (सम्य-  
 गाच्छादयतम्) । कीदृशे युवां ?—‘सुवर्विदा’ (स्वर्गविदे स्वर्ग-  
 लाभसाधने इत्यर्थः), 'समीची' (मृदन्वनायानुकूले), 'अजस्रमि'  
 (निरन्तरमेव) 'ज्योतिषन्तम्' 'अग्निम्', 'अन्तः' (खोदरे) 'भरि-  
 ष्यन्तो' (धारयिष्यन्तो) ।

अनेन मन्त्रद्वयेन साध्यं पुष्करपर्णस्य प्रसारणमुत्तरत्र विधातु-  
 मादौ पुष्करपर्णे मृदः सत्प्रारणं विधत्ते,—“पुष्करपर्णेन सत्प्ररति'  
 योनिर्वा अग्नेः पुष्करपर्णः सयोनिमेवाग्निः सत्प्ररति” (५।१।

\* सती इति पाठो भवितुं युक्तः ।

४ अ०) इति । पुष्करपर्णस्याग्निस्थानीयत्वम् आरण्यकेतुक-चयने समा-  
 ष्णातम्,—‘जानुदन्नोमुत्तरवेदीं कृत्वा । अर्पां पूरयित्वा गुल्फद्वयं ।  
 पुष्करपर्णैः पुष्करदण्डैः पुष्करैश्च सप्तस्यैर्य । तस्मिन् विहायसे ।  
 अग्निं प्रणीयोपसमाधाय’ इति । अतः पुष्करपर्णस्याग्नियोगित्वात्  
 ‘संयोगिमेवाग्निं’ समृतवान् भवति ।

पुष्करपर्णवत् तेनैव मन्त्रद्वयेन कृष्णाजिनस्याखरणं विधातुमादौ  
 कृष्णाजिने मृदः स्थापनं विधत्ते,—“कृष्णाजिनेन सम्भरति यज्ञो  
 वै कृष्णाजिनं यज्ञेनैव यज्ञः सम्भरति” (५।१।४अ०) इति ।  
 कृष्णाजिनस्य यज्ञरूपत्वं दर्शपूर्णमासब्राह्मणेऽवगम्यते,—‘यज्ञो देवेभ्यो  
 ऽनिष्ठायत । कृष्णो [?] रूपं कृत्वा । यत्कृष्णाजिने हविरध्ववहन्ति ।  
 यज्ञादेव तद्यज्ञं प्रयुक्ते’ इति । तद्वदपि कृष्णाजिनरूपेण ‘यज्ञे-  
 नैव’ अग्निरूपं ‘यज्ञं सम्भरति’ ।

चर्मन्तरपरित्यागेन कृष्णाजिनस्त्रीकारे हेतुं दर्शयति,—  
 “यद्वाग्याणां पशूनां चर्मणा सम्भरेद्वाग्यान् पशूञ्कुचार्पयेत्  
 कृष्णाजिनेन सम्भरत्यारण्यानेव पशूञ्कुचार्पयति तस्मात् समावत्  
 पशूनां प्रजायमानानामारण्याः पशवः कनीयूः सः शुचा  
 क्षृताः” (५।१।४अ०) इति । घाम्यपशूनां गवादीनां चर्मणि अग्नि-  
 सम्भरणे गवादयः सन्तापेन संयोजिता भवन्ति ; कृष्णाजिनेन  
 सम्भरणे तु आरण्या एव पशवः सन्तापेन योज्यन्ते ; यस्मादेवं,  
 “तस्मात्” लोकेऽपि चतुष्पात्पाद्याकारसाम्येन प्रजायमानानां पशूनां  
 चर्मा घाम्याः श्रेष्ठाः, आरण्या एव कनिष्ठाः, यस्मात् ते ‘शुचा’  
 ‘क्षृताः’ (शुचं प्राप्ताः), तस्मात् तेषां कनिष्ठत्वं युक्तम् । न हि

ग्राम्यगवाक्ष्य इव ज्ञासाप्रवेश-भक्ष्यप्रदानादिभिरारण्याः पोष्यन्ते,  
अतस्तेषां शोकप्राप्तिः ।

तस्य कृष्णाजिनस्य लोत्तामुपरि सम्भरणं विधत्ते,—“लोमतः  
सम्भरत्यतो ह्यस्य मेध्यम्” (५।१।४ अ०) इति । यस्मात् ‘अस्य’  
(कृष्णाजिनस्य) ‘अतः’ (इदं) लोमद्युक्तं स्थानं ‘मेध्यं’, तस्मात्  
तत्र सम्भरेत् ।

इदानीमुक्तसम्भरणसिद्धये पूर्वोक्तमन्त्रद्वयसाध्यमुभयास्तरणं वि-  
धत्ते,—“कृष्णाजिनश्च पुष्करपर्णश्च सः स्मृणातीयं वै कृष्णाजिन-  
मसौ पुष्करपर्णमाभ्यामेवैनमुभयतः परिगृह्णाति” (५।१।४ अ०)  
इति । कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोरधरोत्तरभावेन लोकद्वयरूपत्वम् ।

कल्पः, ‘पुरीषोऽसि विश्वभरा इति मृत्स्वननमभिमन्य’ इति ।  
पाठस्तु,—“पुरीषोऽसि विश्वभराः । अथर्वा त्वा प्रथमो निर-  
मन्यदग्ने(१)” इति । हे स्वननप्रदेश, त्वं ‘पुरीषोऽसि’ (पुरीषस्य  
बहुलपांसोर्योग्योऽसि), अत एव ‘विश्वभरा’ ‘असि’ (विश्वं हस्तन्म  
उत्सारूपं विभर्त्तीति विश्वभराः) । हे अग्ने, अथर्वास्व्य ऋषिः,  
‘प्रथमः’ (इतरेभ्यः पूर्वभावी) सन् त्वां ‘निरमन्यत्’ (विशेषेण  
मथितवान्) ।

अथर्वणः प्रथमनिर्मन्यन्\* नाम प्रथमदर्शनमित्यभिप्रायं दर्श-  
यति,—“अग्निर्देवेभ्योऽनिस्त्रायत तमथर्वाऽन्वपश्यदथर्वा त्वा प्रथ-  
मो निरमन्यदग्ने इत्याह य एवैनमन्वपश्यत् तेनैवैनं सम्भरति”  
(५।१।४ अ०) इति । ‘अन्वपश्यत्’ (अन्विष्य दृष्टवान्) ।

\* प्रथमनिर्मन्यन् इति B. J. एवं आदर्शपुस्तके पाठः ।

कचपः, 'त्वामग्ने पुष्करादधीति क्षणाग्निने पुष्करपर्णे. च सम्भरति चतसृभिस्त्रिभिर्वा, गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्य त्रिषुगभी-  
राजन्यस्य' इति । यद्यप्यत्र 'त्वामग्ने'-इत्यादिकास्त्रि एव  
गायत्र्य आस्ताः, तथापि चतुष्कपत्वे 'पुरीव्योऽसि विश्वभराः'  
इत्यनेन पूर्वोक्तेन मन्त्रेण सह सङ्ख्या पूरणीया । 'पुरीव्योऽसि'  
इत्ययं मन्त्रः पूर्वं व्याख्यातः । द्वितीयमन्त्रपाठस्तु,—“त्वामग्ने  
पुष्करादध्यथर्वा निरमन्यत । मूर्ध्ना विश्वस्य वाघतः<sup>(१)</sup>” इति ।  
हे 'अग्ने', 'अथर्वा' मुख्य ऋषिः 'पुष्करादधि' (पद्मपत्रस्योपरि)  
'त्वां' 'निरमन्यत' (निःश्लेषेण मथितवान्) । अत एव पद्ममकाख्ये  
ब्राह्मणमाश्नातम्, 'पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितमविन्दत्' (१।४ अ०) इति ।  
कीदृशात् पुष्करात् ?—'मूर्ध्ना' (उत्तमाङ्गवत्प्रशस्तात्) । 'विश्वस्य  
वाघतः' (सर्वस्य जगतो वाहकात्) । इदं हि पुष्करपर्णमग्नि-  
मन्यननिष्पादनादिद्वारा सर्वं जगन्निर्वहति ।

द्वितीयमन्त्रपाठस्तु,—“तमु त्वा दध्यदृषिः पुच ईधे अथर्वणः ।  
वृचद्वणं पुरन्दरम्<sup>(२)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'अथर्वणः' 'पुचः' 'दध्यदृ-'  
नामक ऋषिः 'तमु त्वा' 'ईधे' (त्वामेव प्रज्वालितवान्) । की-  
दृशं त्वां ?—'वृचद्वणं' (वैरिनाशनं), 'पुरन्दरं' (सद्गुरूपेणासुर-  
सम्बन्धिनां चक्षाणां पुराणां विदारितारम् [?]) ।

चतुर्थमन्त्रपाठस्तु,—“तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्यु-  
हन्तमं । धनञ्जयः रणे-रणे<sup>(३)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'पाथ्य'-नामकः  
कसिदृषिः, 'तमु त्वा' 'समीधे' (तमेव त्वां प्रज्वालितवान्) ।  
कीदृशः पाथ्यः ?—'वृषा' (श्रेष्ठः) । कीदृशं त्वां ?—'दस्युहन्तमं'

(तत्स्माराणामतिशयेन हन्तारं), 'रणे-रणे' 'धनञ्जयं' (तेषु-तेषु  
सङ्ग्रामेषु धनस्य जेतारम्) । इत्यमिमा गाथयः उक्ताः ।

अथ त्रिष्टुभीं चतुष्टुभीं मध्ये प्रथमामाह,—“सीदं हेतः स्व  
उ लोके चिकित्वात्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ । देवावीर्दे-  
वान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः<sup>(१०)</sup>” इति । हे  
'हेतः' (होमनिष्पादक), 'चिकित्वा' (अभिज्ञः) त्वं, स्वकीय एव  
स्थाने उत्तरवेदिरूपे 'सीद' (उपविश) । 'यज्ञं' च, इमं 'सुकृतस्य  
योनौ' (पुण्यकर्मणो योग्यस्थाने) 'सादय' (स्थापय) । (देवान्  
वेति कामयत इति) 'देवावीः' (देवप्रिय इत्यर्थः) । तादृशस्त्वं  
देवान् 'हविषा' 'यजासि' (पूजयसि) । हे अग्ने, 'यजमाने'  
'बृहत्' 'वयः' (दीर्घमायुः) 'धाः' (स्थापय) ।

अथ द्वितीयामाह,—“निं हेता होतृषदने विदानस्त्वेषो  
दीदिवान् असदत् सुदक्षः । अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः  
शुचिजिह्वो अग्निः<sup>(११)</sup>” इति । 'होतृषदने' (होमनिष्पादकस्य  
योग्यस्थाने) उत्तरवेदिरूपे 'अग्निः' नितरामू 'असदत्' (सम्यगुपविष्ट-  
वान्) । कीदृशोऽग्निः ?—'हेता' (देवानामाह्वाता), 'विदानः'  
(स्नानाभिज्ञः) 'त्वेषः' (दीप्तिमान्), 'दीदिवान्' (देवेभ्यो हविषो  
दाता) । 'सुदक्षः' (अत्यन्तकुशलः), 'अदब्धव्रतप्रमतिः' (अदब्धे  
अविनाशिते व्रते कर्मणि प्रकृष्टा मतिर्यस्य, स तथाविधः), 'वसिष्ठः'  
(अतिशयेन वासयिता), (सहस्रसङ्ख्याकानि हवींषि भरति पोष-  
यतीति) 'सहस्रम्भरः', (शुचिः शुद्धा होमयोग्या जिह्वा ज्वाला  
यस्यासौ) 'शुचिजिह्वः' ।



अथ तृतीयामाह,—“स॒सीदस्व म॒हाऽ॒ अ॒सि शोचस्व  
देववीतमः । वि धूममग्ने अ॒रुषं भि॒येथ्य सृज प्र॒शस्त दर्श॑तम्<sup>(११)</sup>”  
इति । हे ‘अग्ने’, त्वम् अस्मिन् पुष्करपर्षे ‘सं-सीदस्व’ (सम्यगुप-  
विश) । त्वम् अनेकक्रतुहेतुत्वात् ‘महानसि’, (देवान् वेति गच्छ-  
तीति, देववीः, अतिशयेन देववीः) ‘देववीतमः’, तादृशस्त्वं  
‘शोचस्व’ (दीप्यस्व) । हे ‘भियेथ्य’ (मेधाई), ‘प्रशस्त’ (उत्कृष्ट) ‘अग्ने’,  
‘अरुषं’ (अरोषणं अनुयं) ‘दर्शतं’ (द्रष्टुं शक्यं ज्ञान्तं) ‘धूमं’  
विशेषेण ‘सृज’ ।

अथ चतुर्थीमाह,—“जनि॒ष्या हि जे॒न्यो अ॒ग्ने अ॒ङ्गां ह॒तो  
ह॒तेष्व॒रुषो वने॑षु । द॒मे-द॒मे स॒प्त र॒त्ना द॒धानोऽग्नि॑र्होता निष-  
सा॒दा यजी॒यान्<sup>(१२)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, त्वम् ‘अङ्गाम्’ ‘अग्ने’  
(प्रभातकाले) ‘जनिष्य’ (उत्पद्यस्व) । कीदृशस्त्वं?—‘जेन्यः’ (जय-  
शीलः) ‘हितेषु’ ‘हितः’ (हविर्भुजो ये देवास्तुभ्यं हितमाचरन्ति,  
ये च मनुष्या ऋत्विग्यजमानास्तुभ्यं हितमाचरन्ति तेषु सर्वेषु  
हितेषु त्वमपि हितो भवसि), ‘वनेषु’ ‘अरुषः’ (नानाविधफल-  
वृक्षोमेतेषु वनेषु कोपरहितः), कोपे च दावाग्निरूपेण वनानि  
दहतीत्यर्थः\* । अयम् ‘अग्निः’ ‘दमे-दमे’ (यजमानानां गृहे-गृहे)  
‘नि-षसाद्’ (उपविष्टः) । कीदृशोऽग्निः?—‘सप्त रत्ना दधानः’ (रत्न-  
समानान् ज्वालाविशेषान् सप्तसङ्ख्याकान् धारयमाणः) । अत एव  
‘सप्तजिह्वः’ इति सर्वत्र प्रसिद्धः । आचर्याणिकाद्यामनन्ति,—

\* न दहतीत्यर्थः इति J. पु० पाठः । दहतीति तु पाठो भवितुं  
युक्तः ।

‘काली कराली म्र मनोजवा च  
 सुलोहिता या च सुधूसवर्णा ।  
 सुलिङ्गिणी विश्वरूपी च देवी  
 लेखायमाना इति सप्त जिह्वाः’ ॥ इति ।

स च ‘अग्निः’ ‘होता’ (देवानामाह्वता), ‘यजीयान्’ (अति-  
 शयेन यष्टा) ।

उक्तासु गायत्रीषु ‘लामग्ने’ इत्यस्यां पुष्करादधीत्यस्य अंशस्य  
 तात्पर्यं दर्शयति,—“लामग्ने पुष्करादधीत्याह पुष्करपर्णे ह्येन-  
 मुपश्रितमविन्दत्” (५।१।४अ०) इति । अथवा यदा अग्निम-  
 न्विष्टवान्, तदानीं कस्मिंश्चित्पुष्करपर्णेऽवस्थितमेनमग्निं लब्धवान् ।  
 तस्मात् पुष्करादधीत्युक्तिरुक्ता ।

अनन्तरमन्त्रे परित्यज्यान्वमृषिं, दधीच एव स्त्रीकारे का-  
 रणं दर्शयति,—“तमु त्वा दध्यङ् ऋषिरित्याह दध्यङ् वा  
 आथर्वणस्येजस्माधीत् तेज एवास्मिन् दधाति” (५।१।४अ०)  
 इति । अन्यत्र मन्त्रान्तरे दधीचो महिमा प्रपञ्चितः,—‘दध्यङ् ह  
 यंमध्वाथर्वणो वीमश्वस्य शीर्ष्णा’ इत्यादौ\* तस्मात् दधीच-  
 स्येजस्वित्वम् ।

उपरितनमन्त्रेण पाथ्यशब्देन दध्यङ् एव विवक्षितो मान्य  
 इत्येतद्दर्शयति,—“तमु त्वा पाथ्यो वृषेद्याह पूर्वमेवोदितमुत्तरे-  
 णाभिष्टणाति” (५।१।४अ०) इति । यः पूर्वमन्त्रोक्तो दध्यङ्,

स एवात्र सम्मार्गवर्त्तितात् पाथ्य इत्युच्यते । अतः पूर्वमन्त्रो-  
दितमेवार्थमुत्तरमन्त्रेण प्रतिपादयति ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमग्निसम्भरणं विधत्ते,—“चतसृभिः सम्भरति  
चत्वारि कन्दाऽसि कन्दोऽभिरेव” (५।१।४अ०) इति ।  
‘लामग्ने’ इत्याद्यास्त्रिस्तः, ततः पूर्वा ‘पुरोव्योऽसि’ इत्येका, तदेवं  
चतस्रः । गायत्री त्रिष्टुप् जगत्यनुष्टुप् इति कन्दसां चतुष्टुम् । अतः  
सङ्ख्यासाम्याच्छन्दोभिरेवाग्निः सम्भृतो भवति । ‘सीद हेतः’  
इत्यादीनां त्रिष्टुभां चतुष्टुम् । अत्रापि ‘चतसृभिः सम्भरति’  
इति विधिर्योजनीयः ।

गायत्रीणां त्रिष्टुभां चाधिकारिभेदेन व्यवस्थां विधत्ते,—  
“गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्य गायत्री हि ब्राह्मणस्त्रिष्टुग्भी-राजन्यस्य  
त्रैष्टुभो हि राजन्यः” (५।१।४अ०) इति । मुखजत्वसाम्येन ब्रा-  
ह्मणो गायत्रः । बाहुजत्वसाम्येन राजन्यस्त्रैष्टुभः ।

अथ काम्यं समुच्चयं विधत्ते,—“यं कामयेत वसीद्यान्त्या-  
दितुभयीभिस्तस्य सम्भरेत् तेजस्यैवास्मा इन्द्रियञ्च समीची  
दधाति” (५।१।४अ०) इति । तच्च गायत्रीभिस्तेजः प्राप्तिः,  
त्रिष्टुब्भिरिन्द्रियप्राप्तिः ।

समुच्चितमन्त्रगतामष्टसङ्ख्यां प्रशंसति,—“अष्टाभिः सम्भरत्यष्टा-  
क्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानेवाग्निस्तः सम्भरति” (५।१।४अ०)  
इति ।

चतस्रः त्रिष्टुभः प्रत्येकं प्रशंसति,—“सीद हेतारित्याह देवता  
एवास्मै सः सादयति निहोतेति मनुष्यान्तःसीदस्वेति वयाऽग्नि

जनिष्या हि जेत्यो अये अङ्गामित्याह देवमनुष्यानेवासौ संस-  
 आन् प्रजनयति” (५।१।४ अ०) इति । ‘सीद होताः’ इत्येतस्यां  
 प्रथमायां त्रिष्टुभिः ‘देवावीः’ इतिपदेन देवतानां संसादनं  
 सूचितम् । यद्वा ‘देवान् हविषा यजासि’ इत्यनेन तत्सूचितम् ।  
 ‘नि होता’ इत्यस्यां द्वितीयायां त्रिष्टुभिः ‘होत्वषदने’ इतिपदेन  
 होत्रादीनां मनुष्याणां संसादनं सूचितं भवति । ‘सं-सीदस्व’  
 इत्यस्यां तृतीयायां त्रिष्टुभिः ‘धूमं वि सृज’ इत्येवमन्तरिक्षगामिना  
 धूमेनान्तरिक्षचारिणां पक्षिणां सूचितत्वात् तेषां संसादनं  
 ‘स-सीदस्व’ इत्यस्यां तृतीयायामुक्तम् । ‘जनिष्व’ इत्यस्यां चतुर्थ्यां  
 त्रिष्टुभिः ‘जनिष्व’ इत्युत्पादनस्य सूचितत्वात् पूर्वोक्तान् सन्नाह  
 देवमनुष्यान् तदुपलक्षितानि वर्यासि च प्रकर्षेण जनयति ॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

देव-द्वाभ्यां खनेचापां पद्मपत्रं समाहरेत् ।

शर्म-द्वाभ्यां चर्मपत्रे स्तूणात्यथ पुरीत्यतः ॥

चतुष्टयात् सम्भरति विप्रस्य, चत्रियस्य तु ।

सीदेत्यादिचतुष्केण मन्त्रा द्वादश वर्णिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
 यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सन्ते वायुमीतरिश्वा दधातूत्तानायै हृदयं यदि-  
लिष्टं । देवानां यश्चरति प्राणयेन तस्मै च देवि वर्ष-  
हस्तु तुभ्यं<sup>(१)</sup> । सुजातो ज्योतिषा सह शर्मं वरूयमा  
सदः सुवः । वासो अग्ने विश्वरूपं सं व्ययस्व विभा-  
वसो<sup>(२)</sup> । उद्गुत्तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या कृपा । दृशे च  
भासा दृहता सुशुकनिराऽऽग्ने याहि सुशस्तिभिः<sup>(३)</sup> ॥ १ ॥

जड्वं जषु णं जतये तिष्ठा देवो न सविता । जड्वो  
वाजस्य सविता यदज्जिभिर्वाघद्विर्विह्वयामहे<sup>(४)</sup> । स  
जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विमृत ओष-  
धीषु । चिचः शिशुः परि तमास्यक्तः प्र मातृभ्यो अधि-  
कनिक्रदन्नाः<sup>(५)</sup> । स्थिरो भव वीद्वज्ज आशुर्भव वा-  
ज्यर्वन् । पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहनः<sup>(६)</sup> ।  
शिवो भवः ॥ २ ॥

प्रजाम्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवी  
अभि श्रूशुचो मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्<sup>(७)</sup> । प्रेतु  
वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं  
मा पाद्यायुषः पुरा<sup>(८)</sup> । रासभो वां कनिक्रदत्त सुयुक्तो  
दृषणा रथे । स वामग्निं पुरीष्यमाशु दतो वहा-  
दितः<sup>(९)</sup> । दृषाग्निं दृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियं ।  
अम आ याहि ॥ ३ ॥

वीतयः कृतः सत्यं<sup>(१०)</sup> । ओषधयः प्रतिगृह्णीताग्नि-  
मेतः शिवमायन्तमभ्यच युष्मान् । व्यस्यन् विश्वा  
अमतीररार्तीर्निषीदन्ने अप दुर्मतिः हनत्<sup>(११)</sup> ।  
ओषधयः प्रति मोदध्वमेन पुष्पावतीः सुपिप्यलाः ।  
अयं वो गर्भं कृत्वियः प्रत्नः सधस्थमासदत्<sup>(१२)</sup> ॥ ४ ॥  
सुशस्तिभिः । शिवो भव । याहि । षट्चिः शच्च ॥  
॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके  
चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ० ॥

तृतीयेऽनुवाके मृत्खननमुक्तम् । अथ चतुर्थे मृदाहरणम्  
उच्यते । कल्पः, 'सन्ते वायुरिति मृत्खननेऽप आनीय' इति ।  
पाठस्तु,—“सन्ते वायुर्मातरिश्वा दधात्वत्तानायै हृदयं यद्वि-  
लिष्टं । देवानां यश्चरति प्राणथेन तस्मै च देवि वषडस्तु  
तुभ्यम्<sup>(१)</sup>” इति । हे पृथिवि, 'उत्तानायै' (जर्द्धाभिमुखेनावस्थि-  
तायाः) तव 'हृदयं' (हृदयसदृशं) 'यत्' (खननस्थानं) 'विलिष्टं'  
(विशेषेणात्पीकृतं), तत् खननस्थानं 'वायुः' 'सं'-'दधातु' (हृणादि-  
पूरणसहितेनानेन जलप्रक्षेपेण वायुर्यथापूर्वं सम्यक् करोतु) ।  
कीदृशो वायुः ?—'मातरिश्वा' (मातरि अन्तरिक्षे सर्वप्राणिनाम्  
इत्यन्तापरिच्छेदकारिणि श्रेतेऽवतिष्ठते इति मातरिश्वा) ; यो वायुः  
'देवानां' 'प्राणथेन' (प्राणभावेन) 'चरति' (व्यवहरति) । हे 'देवि'

(पृथिवि), 'तुभ्यं', 'तस्मै' (वायवे च) 'वषट्स्तु' (इदं दृष्टव्यं इति जलं इतमस्तु) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं जलप्रर्चनं विधत्ते,—“क्रूरमिव वा अस्या एतत् करोति यत् खनत्यप उपसृजत्यापो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्यै शुचः शमयति” (५।१।५अ०) इति । भूप्रदेशं खनतीति यत्, तदेतत् पृथिव्याः ‘क्रूरम्’ एव ‘करोति’ इति, हस्तादि-च्छेदेवत् व्यथाहेतुत्वात् । तत्कौर्यपरिहाराय मृत्खननप्रदेशे अपोऽवनयेत् । ‘आपः’ च शीतलत्वेन ‘शान्ताः’, एतादृशीभिरेव अस्याः पृथिव्याः खननजन्यं शोकं ‘शमयति’ ।

मन्त्रे देवतान्तरपरित्यागेन वायुकथने प्रयोजनमाह,—“सन्ते वायुर्मातरिश्वा दधात्वित्याह प्राणो वै वायुः प्राणेनैवास्यै प्राणः सन्दधाति” (५।१।५अ०) इति । वायोर्देवप्राणत्वात् तेनैवास्याः पृथिव्याः प्राणमन्वानं सम्पद्यते ।

पुनरपि वायोरन्यप्रयोजनमाह,—“सन्ते वायुर्नित्याह तस्माद्वायुप्रच्युता दिवो दृष्टिरोर्त्ते” (५।१।५अ०) इति । यस्मात् प्रयोजनान्तरमपि विवक्षितमिति वायुशब्दः प्रयुक्तः, ‘तस्मात्’ एव कारणात् ‘दृष्टिः’ ‘दिवः’ सकाशात् ‘वायुप्रच्युता’ सती प्रवर्त्तते ।

मन्त्रस्य चतुर्थपादे वषट्शब्दान्तर्गतेन षट्शब्देन स्मारिताम् ऋतुसंख्यामुपजीव्य प्रशंसति,—“तस्मै च देवे वषट्स्तु तुभ्यमित्याह षड्वा ऋतव ऋतुष्वेव दृष्टिं दधाति तस्मात् सर्वान् ऋतून् वर्धति” (५।१।५अ०) इति । अत्रास्मात्पाठानुसारेण षकारमभ्युपेत्य ‘षड्वा ऋतवः’ इति व्याख्यातम् ।

अथ शाखान्तरपाठानुसारेण षकार परित्यज्य व्यासृष्टं,—  
 “यदषट्कुर्याद्यातयामास्य वषट्कारः स्याद्यन्न वषट्कुर्याद्वाचांसि  
 यज्ञः हन्युर्वडित्याह परोक्षमेवं वषट्कारेति नाम्न यातयामा  
 वषट्कारो भवति न यज्ञः रक्षाः सि घ्नन्ति” (५ १।५ अ०) इति ।  
 अत्रेदं चिन्तनीयम् । विमस्मिन् मन्त्रे वषट्शब्दः प्रयोक्तव्यः, न  
 वा ? इति । नाद्यः, अत्रैव वषट्कारस्य प्रयोगे सति गतसारत्वेन  
 वक्ष्यमाणवाच्य-पश्चादौ वषट्कारासम्भवप्रसङ्गात् । न द्वितीयः,  
 वज्ररूपस्य वषट्कारस्याभावे रक्षोभिर्ध्वजहननप्रसङ्गात् । तद्दोषद्वय-  
 परिहाराय षकारं परित्यज्य ‘वड्’ इत्येवं ब्रूयात्, तथा सति  
 वषट्कारस्य सम्पूर्णस्यानुकूलान्न गतसारत्वम् । एकदेशस्योक्तत्वान्न  
 यज्ञघातोऽपि । तदेवं ब्राह्मणेनैव पाठविरुध्यस्य व्याख्यातत्वा-  
 न्नित्यकाम्यप्रयोगविषयतया पाठद्वयं व्यवस्थापनीयम् ।

कल्पः, ‘समुद्यम्य कृष्णाजिनस्थान्तान् सुजातो ज्योतिषा सहेति  
 चौमेण मौञ्जेनार्कमयेन वा दाक्षोपनक्षति’ इति । पठसु,—  
 “सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथ आः सदः सुवः । वाशे अग्ने  
 विश्वरूपं मं व्यथस्व विभावसो(१)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘सुजातः’  
 (सुद्युत्पन्नः) त्वं, ‘ज्योतिषा’ (त्वदीयेन ज्योतिषा) ‘सह’ ‘शर्म’  
 (सुखं) यथा भवति, तथा ‘सुवः’ (स्वर्गसदृशं) ‘वरूथ’ (कृष्णा-  
 जिननिर्मितं गृहम्) ‘आ-सदः’ (प्राप्नुहि) । हे ‘विभावसो’ (विभैव  
 दीप्तिरेव वसुधनं\* यस्यासौ विभावसु) तादृशं हे ‘अग्ने’, ‘विश्व-



रूपं' (बहुप्रकाररूपं) 'वासः' (कृष्णाजिनरूपं वस्त्रं) 'सं-व्ययस्त्र' (परिधत्स्व) ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“संजातो ज्योतिषा सहेत्यनुष्टुभो-  
ऽप-नक्षत्यनुष्टुप् सर्वाणि कन्दांसि कन्दांसि खलु वा अग्नेः  
प्रिया तनुः प्रिययैवेनं तनुवा परि दधाति” (५।१।५अ०)  
इति । अत्यन्तरे 'वाग्वा अनुष्टुप्' इत्युक्तत्वात् वाग्द्वारा सर्व-  
श्चन्द्रोरूपत्वम् । शाखान्तरे आधानप्रकरणे, 'या ते अग्ने पशुषु  
पवमाना प्रिया तनुः' इत्यारभ्य, 'या गायत्रे या जैष्टुभे या  
जागते' इति कन्दःसु प्रियशरीरावस्थानकथनाच्चन्द्रसामग्नि-  
प्रियशरीरत्वम्, अतः 'प्रिया' एव, अनन्या अनुष्टुप् रूपया 'तनुवा'  
परिधानं कृतवान् भवति ।

एतद्देदनं प्रशंसति,—“वेदुको वासो भवति य एवं वेद”  
(५।१।५अ०) इति । 'वेदुकः' (लाभशीलः) 'वासः' प्रति 'भवति',  
एतद्देदिता वस्त्रं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

कल्पः, 'उदुत्तिष्ठ स्वधरोर्द्ध्वं ऊषु ण ऊतय इति सावित्रीभ्या-  
मुत्तिष्ठति' इति । तयोः प्रथमामाह,—“उदुत्तिष्ठ स्वधरावा नो'  
देव्या कृपा । दृष्टे च भासा बृहता सुश्रूकनिराऽऽग्ने याहि  
सुशस्त्रिभिः<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'स्वधर' (सुष्टु यागनिर्वाहक),  
'उदुत्तिष्ठ' (उत्तिष्ठैव), उत्थाय च 'नः' (अस्मान्) 'देव्या कृपा'  
(देवस्य स्वभावया क्रोडापरया कृपया) 'अव' (पालय) । हे 'अग्ने'  
'बृहता' 'भासा' (प्रौढेन तेजसा) 'सुश्रूकनिः' (सुष्टु श्रूचां रक्षिणीं  
वनितां यः, सोऽयं सुश्रूकनिः, तादृशः) सन्, 'सुशस्त्रिभिः'

(शोभनकीर्त्तिभिः सह) 'दृग्ने' (सर्वैः प्राणिभिर्द्रष्टृभिर्द्रष्टुम्)  
'आ'- 'याहि' ।

अथ द्वितीयामाह,—“जर्द्धं जषु ण जतये तिष्ठा देवो न  
सविता । जर्द्धा वाजस्य सविता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विक्कयामहे(४)”  
इति । हे अग्ने, ‘नः’ (अस्माकं) ‘जतये’ (रक्षणाय) ‘जर्द्धं जषु’  
‘तिष्ठ’ (जर्द्ध एव सन् अवस्थितो भव) । क इव ?—‘देवो न सविता’  
(यथा सविता देव ऊर्ध्व एव सन् अस्मान् रक्षति, तदत्) । यस्त्वम्  
‘जर्द्धः’ स त्वं, ‘वाजस्य सविता’ (अवस्य दाता भव) । ‘यत्’  
(यस्मात् कारणात्) ‘अञ्जिभिः’ (मन्त्रादिभिर्यज्ञकैः) ‘वाघद्भिः’  
(हव्यवाहकैर्हविर्गुभिः) ‘वि-क्कयामहे’ (वयं त्वां विविधमाह्वयामः) ।  
तस्माद्जर्द्ध एव तिष्ठेति सर्वचान्वयः ।

एतन्मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“वारुणो वा अग्निरुपनद्ध उदु-  
त्तिष्ठ खध्वरोर्द्धं जषु ण जतय इति सावित्रीभ्यामुत्तिष्ठ त सविह-  
प्रसूत एवास्योर्द्धां वरुणमेनिमुत्तृजति” (५।१।५ अ०) इति । योऽयं  
‘अग्निः’ अत्र कृष्णाजिनेनोपनिबद्धः, योऽयं ‘वारुणः’, (उपद्रव-  
कारिणी वरुणस्याधोः) । अतस्तत्परिहाराय सविहलिङ्गकाभ्याम्  
एताभ्याम् ऋग्भ्यां बद्धमग्निं हस्ते गृह्यत्वा उत्तिष्ठेत् । द्वितीयमन्त्रे,  
‘देवो न सविता’ इत्युक्तत्वादेते सावित्र्यौ, एताभ्यामुत्थाने सति  
सवित्रैवानुज्ञातः ‘अस्य’ (अग्नेः) ‘वरुणमेनि’ (वरुणकृतां बाधां)  
परिहरति ।

‘मन्त्रद्वित्वं प्रशंसति,—“द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।१।५ अ०) इति ।

कल्पः, ‘स जातो गर्भो असीति हरति’ इति । पाठस्तु,—

“स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्रे चारुर्विभृत ओषधीषु चित्रः  
 शिशुः परि तमाहृत्यक्तः प्र माहृत्यो अधि कनिकदङ्गाः<sup>(५)</sup>” इति ।  
 हे ‘अग्ने’, ‘स’ त्वं द्यावापृथिव्योः ‘गर्भः’ सन् इदानीं ‘जातः’ ‘असि’,  
 कीदृशस्त्वं ?—‘चारुः’ (पूजनोयः), ‘ओषधीषु’ ‘विभृतः’ (भुज्य-  
 मानास्त्रोषधीषु उदरग्निरूपः सन् विशेषेण पोषितः), ‘चित्रः’  
 (नानावर्णाभिर्ज्वालाभिर्विचित्ररूपः), इदानीमुत्पन्नत्वात् ‘शिशुः’,  
 ‘तमांसि’ ‘परि’-‘अक्तः’ (परिहर्तुमभिव्यक्तः) । तादृशस्त्वं, ‘माहृत्यः’  
 (ओषधयः) ‘अधि-कनिकदत्’ (अधिकं क्रन्दन्) ‘प्र’-‘गाः’ (प्रकर्षणं  
 गच्छ) । यथा लोके शिशुर्मातरमुद्दिश्य क्रन्दन् स्वसदने गच्छति  
 तद्वत् ।

अस्य मन्त्रस्य प्रथमपादेऽभिहितद्यावापृथिवीगर्भत्वं विशद-  
 यति,—“स जातो गर्भो असि रोदस्योरित्याद्येमे वै रोदसो तयो-  
 रेष गर्भो यदग्निस्तस्मादेवमाह” (५।१।५ अ०) इति । ‘इमे’  
 (द्यावापृथिव्यौ) एव रोदःशब्दाभिधेये, तयोर्मध्ये समुत्पन्नत्वात्  
 तद्गर्भस्त्वं, यस्मादेव, ‘तस्मात्’ मन्त्रो युक्तमेव ‘आह’ ।

द्वितीयपादे, ‘विभृतश्चारुः’ इतिपदयोर्निमित्तनैमित्तिकभावेन  
 अन्वयं दर्शयति,—“अग्ने चारुर्विभृत ओषधीष्वित्याह यदा ह्येतं  
 विभरन्त्यथ चारुतरो भवति” (५।१।५ अ०) इति । यस्मिन्  
 काले जठरे प्रविष्टा ओषधयः एतमुदरग्नं विशेषेण पोषयन्ति,  
 तदानीम् अयम् अग्निः ‘चारुतरः’ (पटुतरः) भवति ।

चतुर्थपादे, ‘प्र माहृत्यः’ इत्येतस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“प्र माहृत्यो  
 अधि कनिकदङ्गा इत्याहोषधयो वा अस्य मातरस्ताभ्य एवैनं

प्रथमवचति” (५।१।५अ०) इति । ओषधीनाम् उक्तरीत्या जाठराग्निजनकत्वान्माहृतम्, अतो माचर्यमेवैनमग्निं प्रकर्षेण गमयति । अत एवात्तरत्र ‘ओषधयः प्रतिगृह्णीत’ इति मन्त्रेण ओषधीषु स्थापनं विधास्यति ।

कल्पः, ‘स्थिरो भव वीङ्मङ्ग इति गर्दभस्य पृष्ठ आदधाति’ इति । पाठस्तु,—“स्थिरो भव वीङ्मङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन् । पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरोषवाहनः(१)” इति । अग्नेर्हेतुभूतं पुरोषं यो गर्दभो वहति, तादृश चे गर्दभः, (इयति\* गच्छतीति अर्वा) चे ‘अर्वन्’ (गमनकुशल), त्वं ‘स्थिरः’ (चलनरहित) ‘भव’; ‘वीङ्मङ्गः’ (दृढकायः), ‘आशुः’ (वेगवान्), ‘वाजो’ (अन्नहेतुश्च) ‘भव’ । तथा ‘पृथुः’ (विस्तीर्णपृष्ठः), ‘सुषदः’ ‘अग्नेः’ (सुखासनश्च) ‘भव’ ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“स्थिरो भव वीङ्मङ्ग इति गर्दभ आसादयति सन्नह्यत्येवैनमेतया स्थेन्ने” (५।१।५अ०) इति । गर्दभस्योपरि स्थैर्यार्थम् ‘एतया’ चंचा ‘एनम्’ अग्निं सम्यक् बद्धवान् भवति । अग्निरूपां मृत् यथा भूमौ न पतति, तथा स्थापनीया ।

गर्दभस्थापनं प्रशंसति,—“गर्दभेन, सन्नरति तस्माद् गर्दभः पशूनां भारभारितमः” (५।१।५अ०) इति । यस्मादत्र बलीवर्दादीन् अनादृत्य गर्दभेनैव मृदं वाह्यन्ति, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि मवादीनां पशूनां मध्ये ‘गर्दभ एव ‘भारभारितमः’ (बोद्धव्यो

द्रव्यविशेषो भारः, तं भरति धारयतीति भारभारी, अतिशयेन भारभारी भारभारितम्) प्रौढभारं वहतीत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण तदेव प्रशंसति,—“गर्दभेन सम्भरति तस्माद् गर्दभोऽप्यनालेशेत्यन्यान् पशून् मेदत्यन्नं ह्येनेनार्कं सम्भरति”\* (५।१।५अ०) इति । यस्मात् ‘एनेन’ (गर्दभेन) ‘अर्कं’ ‘अन्नं’ ‘सम्भरति’ । यागद्वारा अन्नहेतुत्वादियं मृदेवान्नं, तस्यार्चनीयत्वादंर्कशब्दाभिधेयत्वम् । यस्मादन्नं वहति, तस्मात्लोके गर्दभो भक्ष्यस्याल्पत्वेऽपि अन्यान् पशून् अतिक्रम्य मेदस्वी भवति । ‘अना’-शब्दो वर्णविकारेणान्नवाचो, तस्य लेशोऽल्पत्वम् । जीर्णतुषट्पणादि-भक्षणेनैव गर्दभो जीवति, न तु बलीवर्दाद्यादीनामिव तत्तत्काले घृततैलादिपानं वा चणककुलत्यादिखाद्यभक्षणं वा तस्यऽस्ति, तथापि मेदस्त्वित्त्वम्, एतदन्नसम्भरणाल्लभ्यते ।

पुनरपि प्रकारान्तरेण तदेव प्रशंसति,—“गर्दभेन सम्भरति तस्माद् गर्दभो द्विरेताः सन् कनिष्ठं पशूनां प्रजायतेऽग्निर्ह्यस्य योनिं निर्दहति” (५।१।५अ०) इति । यस्मादुपरि धार्यमाणो मृद्रूपः ‘अग्निः’ ‘अस्य’ गर्दभस्य प्रजात्यादनसामर्थ्ये निर्दग्धं करोति, ‘तस्मात्’ लोके ‘गर्दभो द्विरेताः’ अपि ‘सन्’ ‘पशूनां’ मध्ये ‘कनिष्ठम्’ अपत्यमुत्पादयति । अस्यादिवद्बहुमूल्यानर्हत्वात् कनिष्ठत्वम् । गर्दभस्य स्वकीयं रेत एकम्, अश्वतरस्य रेतो द्वितीयमिति द्विरेतस्त्वम् । एतच्च सप्तमकाण्डे स्पष्टमान्नातम्,—“तासां परि-ग्रहीतानामश्वतरोऽत्यप्रवर्त्तत तस्यानुद्याय रेत आदत्त तद्गर्दभे-

ऽन्यमार्दं तस्माद्गर्दभो द्विरेताः” (१।१२अ०) इति । यद्यपि कजिष्ठो-  
त्पादनं निन्दाहेतुः, तथाप्यग्निभरणस्य लिङ्गत्वेन प्रशंसैव सम्यच्यते ।

कल्पः, ‘शिवो भव प्रजाभ्य इत्याहितमभिमन्त्रयते’ इति ।

पाठस्तु,—“शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा  
द्यावापृथिवी अभि शूशुचो मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्<sup>(१)</sup>” इति ।  
अङ्गिरोभिर्हविभिः पूर्वं सम्पादितत्वादङ्गसौष्टवाद्वा अयमग्निः  
अङ्गिराः । हे ‘अङ्गिरः’ अग्ने, त्वं ‘मानुषीभ्यः’ ‘प्रजाभ्यः’ ‘शिवः’  
(शान्तः) ‘भव’ । किञ्च द्यावापृथिव्यौ ‘अभि’-लक्ष्य ‘मा’ ‘शूशुचः’  
(शोकं सन्तापं मा कार्षी.) । तथा ‘अन्तरिक्षम्’ ‘अभि’ ‘मा’  
‘शूशुचः’ । तथा ‘वनस्पतीन्’ ‘अभि’ ‘मा’ ‘शूशुचः’ ।

प्रजानामर्थे शिवो भवेत्युक्तायाः शान्तेः प्रसङ्गं दर्शयति,—  
“प्रजासु वा एष एतर्ह्यारूढः स ईश्वरः प्रजाः शुचा प्रदहः  
शिवो भव प्रजाभ्य इत्याह प्रजाभ्य एवैनं शमयति” (५।१।  
५ अ०) इति । न्यदा अयमग्निः गर्दभमारोहति, ‘एतर्हि’ (एतस्मिन्  
काले) ‘एषः’ अग्निः ‘प्रजासु’ एवं ‘आरूढः’ भवति । गर्दभस्य  
प्रजाभ्यःपातित्वात्, मनुष्यवच्चेतनत्वेन प्रजापतेरुत्पन्नत्वात् तदन्तः-  
पातित्वम् । ततः प्रजास्वारूढोऽग्निस्ताः ‘प्रजाः’ सन्तापेन प्रदग्धं  
समर्थः स्यात् । तस्मात् ‘शिवो भव’-मन्त्रपाठेन प्रजार्थम् एनम्  
अग्निं शान्तं करोति ।

तस्य मन्त्रस्य द्वितीयपादे ‘मानुषीभ्यः’ इति विशेषणं मनूत्पा-  
दितमृगगवादिहस्तप्रजाविषयम्-इत्येतद्दर्शयति,—“मानुषीभ्यस्त्व-  
मङ्गिर इत्याह मानव्यो हि प्रजाः” (५।१।५ अ०) इति ।

यथा प्रथमार्द्धे चेतनविषया शान्तिः प्रार्थिता, तद्योत्तरार्द्धे-  
ऽप्यचेतनविषया शान्तिः प्रार्थिता-इत्येतद्दर्शयति,—“मा आवा-  
पृथिवी अभि शूशुचो मान्तरिचं मा वहस्यतीनित्याहैभ्य एवैनं  
लोकेभ्यः शमयति” (५।१।५ अ०) इति ।

कल्पः, ‘प्रैतु वाजो कनिकददिति तिसृभिरत्वरमाणा अश्व-  
प्रथमाः प्रत्यायन्ति’ इति । तच्च प्रथमामाह,—“प्रैतु वाजो  
कनिकदन्वानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः  
पुरा<sup>(८)</sup>” इति । अयं ‘वाजो’ (तुरगः) ‘कनिकदत्’ (हर्षेण  
हेषाशब्दं कुर्वन्) ‘प्रैतु’ (प्रथमं गच्छतु) । अथ ‘रासभः’ (गर्दभः)  
‘नानदत्’ (हर्षेण शब्दं कुर्वन्) ‘पत्वा’ (गमनशीलः), ‘पुरीष्यम्’  
अग्निं दातृकं भरन्नपि स्वकीयात् ‘आयुषः पुरा’ ‘मा पादि’  
अपमृत्युना मृतो मा भूत् ।

अथ द्वितीयामाह,—“रासभो वां कनिकदत् सुयुक्तो वृषणा  
रथे । स वामग्निं पुरीष्यं माशुर्दूतो वहादितः<sup>(९)</sup>” इति । हे  
‘वृषणा’ (सेचनसमर्थाश्चगर्दभौ), ‘वां’ (युवयोः) मध्ये ‘रासभः’  
(गर्दभोऽयं) ‘कनिकदत्’ (हर्षेण मृशं क्रोडयन्) ‘रथे’ ‘सुयुक्तः’  
(रथसदृशे मृङ्गागे सुष्टु प्रयुक्तः) । ‘वां’ (युवयोः) मध्ये ‘स’  
(तादृशः) गर्दभः ‘दूतः’ (राजप्रेषितदूतवत्) ‘आशुः’ (शीघ्रगामी  
सन्) ‘इतः’ (अस्मात्, स्थानात्) ‘पुरीष्यम्’ ‘अग्निं’ ‘वहात्’  
(वहतु) ।

अथ तृतीयामाह,—“वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समु-

द्रियं । अग्न आ याहि वोतय ऋतः सत्यम्<sup>(१०)</sup>” इति । ‘वृषा’  
(वर्षणे सेचने समर्थः) गर्दभः, ‘वृषणं’ (फलाभिवर्षणसमर्थम्)  
‘अग्निं’ ‘भरन्’ (वृद्धं) गच्छत्विति शेषः । कीदृशमग्निम् ?—  
‘अपां गर्भं’ (सेचन्यानां जलानां मध्ये विद्युद्रूपम्), ‘समुद्रियं’  
(समुद्रे वड्वाग्निरूपेणोत्पन्नम्) । तादृश हे ‘अग्ने’, ‘वोतये’ (प्र-  
जनाद्यर्थम्), ‘ऋतं सत्यं’ च गत्वा ‘आ-‘याहि’ । ऋत-सत्य-  
शब्दाभ्यां मन्त्रब्राह्मणानुसारेण द्यावापृथिव्यौ विवक्ष्येते । अवश्य-  
म्भाविनः कृत्यादिफलहेतुत्वात् पृथिव्या ऋतत्वम् । अवश्य-  
म्भाविनः कर्मफलस्य हेतुत्वात् स्वर्गस्य सत्यत्वम् ।

तत्र प्रथममन्त्रस्य प्रथमपादे, वाजीशब्देनाश्वो विवक्षितः-  
इत्येतद्दर्शयति,—‘प्रैतु वाजो कनिकददित्याह वाजो ह्येषः”  
(५।१।५ अ०) इति । हिशब्देन श्लोकप्रसिद्धिर्दर्शिता ।

द्वितीयपादे, गर्दभशब्दपरित्यागेन रासभशब्दप्रयोगः ऋषि-  
व्यवहारानुसारी-इत्येतद्दर्शयति,—“नानदद्रासभः पत्नेत्याह रासभ  
इति ह्येतद्वृषयोऽवदन्” (५।१।५ अ०) इति ।

तृतीयपादार्थं प्रत्यक्षप्रसिद्धि\* दर्शयति,—“भरन्नग्निं पुरीव्य-  
मित्याग्निः ह्येष भरति” (५।१।५ अ०) इति ।

चतुर्थपादे, अग्निवहनप्रयुक्तापमृत्युपरिहारार्थं आयुः-प्रार्थनं  
दर्शयति,—“मा पाद्यायुषः पुरेत्याह आयुरेवास्मिन् दधाति तस्माद्  
गर्दभः सर्वमायुरेति तस्माद्गर्दभे पुराऽऽयुषः प्रमीते विभ्यति” (५।१।

\* तृतीयपादे अतिप्रत्यक्षप्रसिद्धिमिति B. पु० पाठः । तृतीयपादे  
अतिप्रत्यक्षप्रसिद्धिमिति J. पु० पाठः ।



५०) इति । यस्मात् अनेन मन्त्रेण आयुः स्थापितं, तस्मात्  
 'तुषादिदुराहारं'\* भक्षयन्नपि गर्दभोऽश्वच्छूलादिना न क्षियते,  
 किन्तु सर्वमायुरेति । यस्माच्च गर्दभस्य सर्वायुःप्राप्तिः स्वाभा-  
 विकी, 'तस्मात्' लोके तिर्यग्विषये वैद्यशास्त्रप्रसिद्धात् आयुषः  
 'पुरा' (कदाचित्) अकस्मात् 'गर्दभे' मृते सति उत्पातोऽयमिति  
 प्रजा 'विभ्रति' ।

तृतीयमन्त्रस्य प्रथमपादे, गर्दभस्यापत्योत्पादकत्वेन वृषत्वम्,  
 अग्नेः फलाभिवर्षकत्वेन वृषत्वं प्रसिद्धम्-इत्येतद्दर्शयति,—“वृषाग्निं  
 वृषणं भरन्नित्याह वृषा ह्येष वृषाग्निः” (५।१।५०) इति ।

द्वितीयपादे, वैद्युतरूपेण जलगर्भत्वमग्नेः प्रसिद्धम्-इति  
 दर्शयति,—“अपां गर्भं समुद्रियमित्याहापा ह्येष गर्भो  
 यदग्निः” (५।१।५०) इति ।

तृतीयपादे, 'वीतये' इतिशब्देन प्रजननाद्यर्थः साक्षाद्वि-  
 क्षितः, द्यावापृथिव्योर्वियोगस्तु अग्निकृतप्रजननार्थः-इत्येतदभि-  
 प्रायं दर्शयति,—“अग्न आ याहि वीतय इति वा इमौ लोकौ  
 चैतामग्न आ याहि वीतय इति यदाहानंयोर्लोकयोर्वीत्यै”  
 (५।१।५०) इति । पुरा द्यावापृथिव्याख्यौ 'लोकौ' एकीभाव-  
 मापन्नौ सन्तौ यदा विद्युन्नौ भवतः, तदानीम् आवयोर्मध्ये  
 प्रजननाद्यर्थं हे 'अग्ने', सम्-‘आ’-‘याहि’ इत्यनेनाभिप्रायेण  
 अग्निकृतप्रजननादिव्यापारस्यावकाशं दातुं विद्युन्नौ अभूतां ।

तस्मादयं मन्त्रः प्रजननाद्यर्थमग्न्यागमनं वदन् तदवकाशप्रदाद्यो-  
द्यावापृथिव्योर्वियोगाय सम्यङ्मते ।

अस्य मन्त्रस्य चतुर्भान्ते गन्तव्यत्वेन निर्दिष्टयोर्ऋतसत्ययो-  
स्तात्पर्यं दर्शयति,—“प्रच्युतो वा एष आयतनादगतः प्रतिष्ठाः  
स एतर्द्धध्वर्युञ्ज यजमानञ्च ध्यायत्यृतः सत्यमित्याद्येयं वा  
ऋतमसौ सत्यमनयोरेवैनं प्रतिष्ठापयति नार्त्तिमार्च्छत्यध्वर्युर्न  
यजमानः” (५।१।५ अ०) इति । एषोऽग्निः खननप्रदेशात् स्वकीयात्  
‘आयतनात्’ ‘प्रच्युतः’ अन्यत्रापि न क्वचित् प्रतिष्ठां गतः ; ‘सः’  
अग्निरेतस्मिन् काले कुपितोऽध्वर्युयजमानौ हन्तुं ‘ध्यायति’, अतोऽस्य  
प्रतिष्ठार्थं द्यावापृथिवीविवक्षया मन्त्रे ऋतसत्यशब्दौ प्रनियुक्ते ।  
तेन अनयोर्लोकयोरग्नेः स्थापनादध्वर्युयजमानौ न विनश्यतः ।

कल्पः,—‘उत्तरेण विहारं परिश्रित ओषधयः प्रतिगृह्णीता-  
ग्निमेतमिति दाभ्यामोषधीषु पुष्पवतीषु फलवतीषु पावहरति’ इति ।  
तत्र प्रथमामाह,—“ओषधयः प्रति गृह्णीताग्निमेतः शिवमायन्त-  
मभ्यत्र युष्मान् । व्यस्यन् विश्वा अमतीररातीर्निषीदन्त्रो अप  
दुर्मतिः हनत्<sup>(१९)</sup>” इति । हे ‘ओषधयः’, ‘अत्र’ (अस्मिन् परि-  
श्रिते देशे) ‘युष्मान्’ अभिमुखीकृत्य ‘आयन्तम्’ (आगच्छन्तं)  
‘शिवं’ (शान्तं) ‘एतम्’ अग्निं ‘प्रति’-‘गृह्णीत’ (स्वीकुरुत) । अयं  
चाग्निर्युष्मासु ‘निषीदन्’ ‘नः’ (अस्माकं), ‘दुर्मतिम्’ ‘अप’-‘हनत्’  
(प्रमादालस्यादियुक्तां बुद्धिं ‘अपहनत्’ अपहरतु) । किं कुर्वन् ?—  
‘विश्वा’ ‘अरातीः’ ‘अमतीः’ ‘व्यस्यन्’ (शत्रुसमाना रोगजनिता  
बाधाः सर्वाः परिहरन्) ।

अथ द्वितीयामाह,—“ओषधयः प्रति मोदध्वमेन पुष्यावतीः सुपिप्पलाः” अयं वो गर्भं ऋत्विजः प्रत्नः सधस्यमासदत्(११)” इति । ‘पुष्यावतीः’ (प्रश्नस्तपुष्यापेताः), ‘सुपिप्पलाः’ (शोभन-फलोपेताः) हे ‘ओषधयः’, ‘एनम्’ (अग्निं) ‘प्रति’ ‘मोदध्वं’ (हृष्टा भवत) । ‘अयम्’ अग्निः ‘वः’ (युष्माकम्) ‘ऋत्विजः’ (ऋतु-कालीनः) ‘गर्भः’ भूत्वा ‘प्रत्नं’ (पुरातनं) ‘सधस्यं’ (गर्भयोग्यं स्थानम्) ‘आसदत्’ (प्राप्तवान्) ।

अथ प्रथममन्त्रप्रथमपादे ओषधिप्रतिग्रहणप्रार्थनया सूचितां वरुणशान्तिं दर्शयति,—“वरुणो वा एष यजमानमभ्येति यदग्नि-रूपनद्ध ओषधयः प्रतिगृह्णीताग्निमेतमित्याह शान्त्यै” (५।१। ५ अ०) इति । कृष्णाजिने बद्धो योऽग्निः, स एष बन्धकेन वरुण-पद्मेन युक्तत्वात् ‘वरुणः’ सन् ‘यजमानम्’ ‘अभि’-लक्ष्य बाधितुम् आगच्छति । अतस्तच्छान्त्यर्थम् ओषधीभिः प्रतिग्रहः ।

तृतीयपादे, अरातिशब्देन राक्षसाः सूचिताः-इति दर्शयति,—“व्यस्यन् विश्वा अमतीररातीरित्याह रक्षसारूपहत्यै” (५।१। ५ अ०) इति ।

चतुर्थपादे, दुर्बुं द्रुपृग्हारोऽनुष्ठानप्रतिष्ठार्थः-इति दर्श-यति,—“निषीदं नो अप दुर्मतिः हनदित्याह प्रतिष्ठित्यै” (५।१।५ अ०) इति ।

द्वितीयमन्त्रप्रथमपादे, ओषधिप्रतिमोदप्रार्थनया जाठराग्नि-संभृद्धिः-इत्येतद्दर्शयति,—“ओषधयः प्रति मोदध्वमेनमित्या-होषधयो वा अग्नेर्भागधेयं ताभिरेवैनः समर्द्धयति”(५।१।५ अ०)

इति । ‘ओषधयः’ अन्नरूपेण जाठराग्नेर्भागः, पुरोडाशरूपेणाग्नेर्देवतायाः भागः, अतः ओषधिस्थापनेनाग्निद्वयसमृद्धिः ।

द्वितीयपादे सुपिप्पला इत्यादि तात्पर्यं दर्शयति,—“पुष्पावतीः सुपिप्पला इत्याह तस्मादोषधयः फलं गृह्णन्ति” (५।१।५ अ०) इति । यस्मादत्र ‘सुपिप्पला’ इत्युक्तं, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि ‘ओषधयः’ स्वकाले सम्पूर्णे ‘फलं गृह्णन्ति’ ।

द्वितीयाद्धे ‘सधस्यमासदत्’ इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अयं वो गर्भं ऋत्विजः प्रत्नः सधस्यमासददित्याह याभ्य एवैनं प्रच्यावयति तास्त्रेवैनं प्रतिष्ठापयति” (५।१।५ अ०) इति । मृतस्वननभूमौ पूर्वमेवां याभ्यो ‘याभ्यः’ ओषधीभ्यः प्रच्याव्य अयमग्निरानीतः, तम् अग्निम् उपावहरणप्रदेशे ‘तासु एव’ ओषधीषु स्थापितवान् भवति ।

‘ओषधयः प्रतिगृहीत’ इत्यादिकं मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“द्वाभ्यामुपावहरति प्रतिष्ठित्यै” (५।१।५ अ०) इति ।

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

सं, मृतस्वनेऽपो निनयेत्, सुजातो, हतबन्धनम् ।

उदु-द्वाभ्यां समुत्थाय, स जातस्त्राहरेन्मृदम् ॥

स्थिरो, गर्दभ आधाय, शिव, आहितमन्त्रं ॥

प्रेतु-त्रिभिः शनैर्याति ह्योष-द्वाभ्यामिमां मृदम् ॥

उपाहरेदोषधीषु मन्त्रा द्वादश वर्णिताः ।

इति ओसायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
चतुर्थसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधेस्व द्विषो रक्ष-  
 सो अमीवाः । सुशर्मणो बृहत्तः शर्मणि स्यामग्ने-  
 रहः सुहवस्य प्रणीतौ<sup>(१)</sup> । आपो हि स्नां मयोभुव-  
 स्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे<sup>(२)</sup> । यो वः  
 शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मा-  
 तरः<sup>(३)</sup> । तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।  
 आपो जनयथा च नः<sup>(४)</sup> । मित्रः ॥ १ ॥

सः सृज्य पृथिवीं भूमिञ्च ज्योतिषा सह । सुजातं  
 जातवैदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्<sup>(५)</sup> अथक्ष्माय त्वा सः-  
 सृजामि प्रजाभ्यः । विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः सः-  
 सृजन्वाऽऽनुष्टुमेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(६)</sup> । रुद्राः सम्भृत्य  
 पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे । तेषां भानुरजस्र  
 इच्छुक्रो देवेषु रोचते<sup>(७)</sup> सः सृष्ट्वां वसुभीरुद्रैर्धीरैः  
 कमण्यां मृदं । हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली क-  
 रोतुं ॥ २ ॥

तां<sup>(८)</sup> । सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वापुशा ।  
 सा तुभ्यमदिते मह आखां दधातु हस्तयोः<sup>(९)</sup> । उखां  
 करोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया । माता पुत्रं  
 धेयोपस्थे साग्निं बिभर्तु गभ आ<sup>(१०)</sup> । मखस्य शिरो-  
 ऽसि<sup>(११)</sup> यज्ञस्य परे स्थः<sup>(१२)</sup> । वसवस्त्वा कृण्वन्तु गाय-

येण॑ छन्द॑साऽङ्गिर॑स्वत् पु॒त्रि॒व्यसि॑<sup>(११)</sup> रु॒द्रास्त्वा॑ क॒ष्वन्तु॑  
च॒ष्टु॒मेन॑ छन्द॑साऽङ्गिर॑स्वद॒न्तरि॑क्षमसि<sup>(१२)</sup> ॥ ३ ॥

आदित्या॑स्त्वा॒न्क॒ष्वन्तु॑ जा॒गते॑न॒ छन्द॑साऽङ्गिर॑स्वद॒  
द्यौर॑सिः<sup>(१३)</sup> वि॒श्वे॑ त्वा दे॒वा वै॒श्वान॑राः क॒ष्वन्त्वानु॑ष्टु॒  
मेन॑ छन्द॑साऽङ्गिर॑स्वदि॒शोऽसि॑ ध्रु॒वासि॑ धार॒या मयि॑  
प्रजा॑ः रा॒यस्यो॑षं गौ॒पत्य॑ः सु॒वीर्य॑ः स॒जा॒तान् यज॑मा॒  
नाय॑<sup>(१४)</sup> अ॒दित्यै॑ रा॒ज्ञासि॑<sup>(१५)</sup> अ॒दिति॑स्ते बि॒स्रं य॒ज्ज्ञातु॑  
पा॒ङ्क्तो॑न॒ छन्द॑साऽङ्गिर॑स्वत्<sup>(१६)</sup> । क॒त्वाय॑ सा म॒हो॒  
मु॒खां मृ॒न्मयी॑ योनि॑म॒ग्रये॑ । तां पु॒त्रेभ्यः॑ सम्प्रा॒येच्छ॑  
द॒दितिः॑ अ॒पयानि॑ति<sup>(१७)</sup> ॥ ४ ॥

मि॒त्रः । क॑रोतु । अ॒न्तरि॑क्षमसि । प्र । च॒त्वारि॑ च ॥५॥

इति॑ तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथम॒  
प्रपाठ॑के पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

• चतुर्थानुवाके मृदाहरणमुक्तम् । अथ पञ्चमे उखानिर्माण॒  
मुच्यते । कल्पः, ‘वि पाजयेति विस्वस्य’ इति । पाठस्तु,—“वि  
पाजसा पृथुना शोऽगुचानो बाधस्य द्विषो रक्षसो अमीवाः ।  
सुशर्मणो बृहतः प्रमीणि स्यामग्रेरहः सुहवस्य प्रणीतो<sup>(१)</sup>” इति ।  
हे अग्ने, ‘पृथुना’ (विस्तृतेन) ‘पाजसा’ (बलेन) ‘शोऽगुचानः’  
(दीप्यमानः) त्वं ‘द्विषः’ (अचून्) ‘रक्षसः’ (राक्षसान्) ‘अमीकः’  
(रौगाश्च) विशेषेण ‘बाधस्य । ‘अहं’ ‘सुशर्मणः’ (शोभनसुखश्च)

‘सुहृत्तः’ (प्रौढस्य) ‘सुहृवस्य’ (सुखेनाङ्गातुं शक्यस्य) ‘अग्नेः’ ‘प्र-  
णेतौ’ परिचर्यायां सत्यां यत् शर्म (सुखं), तस्मिन् सुखे ‘स्या’  
(सर्वदा अवतिष्ठेयम्) ।

तमिमं विनियुक्ते,—“वारुणो वा अग्निरुपनद्धो वि पाजसेति  
विस्त्रस्यति सविहप्रसूत एवास्य विषूचीं वरुणमेनिं विस्त्रजति”  
(५।१।६अ०) इति । यद्यपि अमन्त्रकेण लौकिकविस्त्रंसनेन  
लौकिकबन्धो निवर्त्तते, तथापि सविहप्रेरणमन्त्रेण वरुणपाशस्य  
निवृत्त्यभावेन सविहप्रेरणाय मन्त्रपाठः । अस्य मन्त्रस्य बन्धवि-  
मोचनायैव सवित्रा परमेश्वरेण निर्मितत्वात् तत्पाठे सति सविह-  
प्रेरितो भवति । वरुणस्य सम्बन्धिनी पाशबन्धकृता बाधा  
‘वरुणमेनिः’ सा च ‘विषूची’ (सर्वतः प्रसूता), बद्धधा रज्जु-  
भिरावेष्ट्य धृतत्वात्, अस्याग्नेस्तादृशीं वरुणमेनिं मन्त्रेण विमोचि-  
तवान् भव ।

कथम्, ‘आपो हि ष्ठा मयो भुव इति तिसृभिरप उपसृज्य’  
इति । तच्च प्रथमामाह,—“आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे  
दधातज्ञ । महे रणाय चक्षसे(१)” इति । ‘हि’-शब्द एवकारार्थः,  
प्रसिद्धार्थो वा । हे ‘आपः’, यूयमेव ‘मयोभुवः’ ‘स्य’ (सुखस्य  
भावयित्रो भवंत) । स्नानपानादिहेतुत्वेन सुखोत्पादकत्वं प्रसि-  
द्धम् । ‘ताः’ (तादृशे यूयं) ‘नः’ (अस्मान्) ‘ऊर्जे’ (रसाय  
भवदीयरसानुभवार्थे) ‘दधातन’ (स्थापयत) । अथ ‘महे’ (महते) .  
‘रणाय’ (रमणीयाय) ‘चक्षसे’ (दर्शनीयाय) ‘दधातन’, अस्मान्  
परतत्त्वात्कारणयोग्यान् कुरुतेत्यर्थः ।

अथ द्वितीयामाह,—“योः वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । । उग्रतीरिव मातरः<sup>(१)</sup>” इति ‘वः’ (युष्माकं) ‘शिवतमः’ (शान्ततमः सुखैकहेतुः) ‘यः’ ‘रसः’ अस्ति, ‘इह’ (अस्मिन् कर्मणि) ‘नः’ (अस्मान्) ‘तस्य भाजयत’ (रसं प्रापयत) । तत्र दृष्टान्तः,— ‘उग्रतीरिव मातरः’ इति, ‘उग्रतीः’ (क्रामयमानाः प्रीतियुक्ताः) ‘मातरः’, यथा वत्सान् स्वीयस्तन्यरसं\* प्रापयन्ति तद्वत् ।

अथ तृतीयामाह,—“तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जि-  
न्वथ । आपो जनयथा च नः<sup>(४)</sup>” इति । ‘यस्य’ (रसस्य) ‘क्षयाय’ (क्षयेण निवासेन) ‘जिन्वथ’ (यूयं प्रीता भवथ) । ‘तस्मै’ (रसाय) ‘वः’ (युष्मान्) ‘अरङ्गमाम’ (अलं मृगं प्राप्नुमः) । किञ्च हे ‘आप्तः’, यूयं ‘नः’ (अस्मान्) ‘जनयथ’ (प्रजोत्पादकान् कुरुथ) ।

एतैर्मन्त्रैः साधं जलसेचनं विधत्ते,—“अप उपसृजत्यापो वै शान्ताः शान्ताभिरैवास्य शुचः५ शमयति” (५।१।६ अ०) इति । अस्याग्नेः ‘शुचं’ शोकं दाहमित्यर्थः ।

‘आपो हि धा’ इत्याद्यृचस्तत्र विनियुक्ते,—“तिसृभिरुपसृजति चित्वा अग्निर्यावानेवाग्निस्तस्य शुचः५ शमयति” (५।१।६ अ०) इति । आहवनीयादिरूपेणाग्नेस्त्वेगुण्यम् । तस्य सर्वस्याग्नेर्मन्त्रचयेण दाहयन्ति ।

कैष्यः, ‘मित्रः सः५सृज्य पृथिवीमिनि द्वाभ्याः५ सः५सर्जनीयेः  
सः५सृजत्य मर्मपात्रैः पिष्टैर्वैष्णवैर्ब्रह्मिण्यैः पलाशकषायेण शर्करा-  
भिः पिष्टाभिः कृष्णाजिनलोमभिरजलोमभिः’ इति । तत्र

\* स्त्रियस्तन्यरसम् इति सर्वत्र पाठो न सन्धिविव प्रतिभाति ।



प्रथमामाह,—“मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिञ्च ज्योतिषा सह ।  
सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्<sup>(५)</sup>” इति । मित्रनामकः  
सर्वेषामाप्तो देवः, ‘पृथिवी’ (विस्तृतामिमां) ‘भूमिं’ (मृदं)  
चशब्दादृक्षां मृदि उपसृष्टा अपश्य, ‘ज्योतिषा’ (ज्योतिःशब्दोप-  
लक्षितेन दार्ढ्यहेतुना वक्ष्यमाणार्मकपालादिना ‘संसृज्य’ अग्निं  
‘सुजातम्’ अकरोदिति शेषः । अग्निशब्दोपलक्षिताम् उक्षां  
निर्मितवानित्यर्थः । कीदृशमग्निं ?—‘जातवेदसं’ (उत्पन्नप्राण्य-  
भिज्ञं), ‘वैश्वानरं’ (सर्वपुरुषोपकारकत्वेन तत्सम्बन्धिनं), ‘विभुं’  
(सर्वेषु यजमानगृहेषु व्याप्तम्) ।

अथ द्वितीयामाह,—“अयन्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्यः ।  
विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः सꣳसृजन्त्वानुष्टुभेन हृन्दसाऽङ्गिर-  
स्वत्<sup>(६)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वां ‘प्रजाभ्यः’ (प्रजानाम्) ‘अयन्माय’  
(रोगाभावाय) ‘संसृजामि’ (अर्मकपालादिभिः संयोजयामि) ।  
‘वैश्वानराः’ (सर्वपुरुषोपकारिणः), ‘विश्वे’ (सर्वेऽपि) ‘देवाः’  
‘आनुष्टुभेन हृन्दसा’ सहकारिणा युक्ताः त्वां ‘संसृजन्तु’ ।  
किन्तु ?—यथा अङ्गिरसः\* पूर्वं संयोजितवन्तस्तद्वत् ।

मन्त्रे देवतान्तरपरित्यागेन मित्रस्यैव स्त्रीकारे कारणं दर्श-  
यति,—“मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीमित्याह मित्रो वै शिवो देवानां  
तेनैवैतꣳ सꣳसृजति श्रान्त्यै” (५।१।६अ०) इति । ‘देवानां’  
मध्ये ‘मित्रः’ ‘शिवः’ (श्रान्तः), अतोऽग्नेः ‘श्रान्त्यै’ मित्रस्य  
स्त्रीकारः ।

अथ दार्ढ्यहेतुभिः कपालैः संसर्गे विधत्ते,—“यद्वास्याणां पाचाणां कपालैः सःसृजैद् वास्याणि पाचाणि शुचार्पयेदर्म-  
कपालैः सःसृजत्येतानि वा अनुपजीवनीयानि तान्येव शुचा-  
र्पयति” (५।१।६अ०) इति । पाकसाधनानां भाण्डानां कपालैः  
संसर्गे सति सर्वाणि ‘पाचाणि’ ‘शुचा अर्पयेत्’ (विलतगृहदाहादि-  
कृतेन भङ्गेन योजितानि भवेयुः) । अतस्तत् मा भूदिति ‘अर्म-  
कपालैः’ संयोजयेत् । चिरकालशून्ययामे भूमौ अवस्थितानि  
पुरातनानि अर्मकपालानि ; तेषां प्राणिभिः अनुपजीवनीयत्वात्  
तान्येव भङ्गेन योजितानि भवन्ति, न तु गृहोपकरणानि  
भाण्डानि ।

अथ भूमिष्ठैः क्षुद्रपाषाणैस्सूर्णीकृतैः संसर्गे विधत्ते,—“शर्करा-  
भिः सःसृजति धृत्या अथोशन्वाद्य” (५।१।६अ०) इति । ‘धृत्यै’  
निर्माणकाले भङ्गराहित्येन दाह्याय । ‘अथोशन्वाद्य’ इति  
पाककालेऽपि भङ्गराहित्येन सुखावस्थानाय ।

द्रव्यान्तरसंसर्गे विधत्ते,—“अजलोमैः सःसृजत्येषा वा अग्नेः  
प्रियया तनूर्यदजा प्रिययैवेनं तनुवा सःसृजत्ययो तेजसा” (५।  
१।६अ०) इति । अजत्वजातेरग्नेस्य प्रजापतिमुखजत्वसाम्यादजा  
इयम् अग्नेः ‘प्रिया तनूः’ । न केवलं प्रियत्वं किन्तु अग्निसम्बन्धात्  
तेजोरूपत्वमपि, अतः ‘प्रियया’ तन्वा ‘तेजसा’ चाग्निं समर्धयति ।

युवरपि द्रव्यान्तरसंसर्गे विधत्ते,—“कृष्णाजिनस्य लोमभिः  
सःसृजति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञेनैव यज्ञः सःसृजति” (५।  
१।६अ०) इति । अन्यच्च, ‘यज्ञो देवेभ्योऽनिलायत कृष्णो रूपं

हस्ता' इत्युक्तात्वात्, यज्ञस्य ह्यष्टाजिनत्वम् । अतः ह्यष्टाजिनरूपेण 'यज्ञेन' अग्निरूपं 'यज्ञं' 'संसृजति' इति ।

कल्पः, 'रुद्राः समृत्य पृथिवीमिति मृदं सङ्क्षिप्य' इति । पाठस्तु,—“रुद्राः समृत्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समोधिरे । तेषां भानुरजस इच्छुक्रो देवेषु रोचते<sup>(७)</sup>” इति । रुद्रनामका देवाः 'पृथिवीम्' (उखानिष्यादिकां मृदं) 'समृत्य' (सम्यक् भरणं हस्ता) उखाकरणाय यथा मृदु भवति, तथा हस्ताभ्यां सङ्घट्टनं हत्वेत्यर्थः । तथा हस्ता 'बृहज्ज्योतिः' 'समोधिरे' (प्रौढमग्निं दीपितवन्तः) । 'तेषां' (रुद्राणाम्) अयमग्निः 'भानुः' (भासमानः) 'अजस इत्' (निरन्तर एव), 'शुक्रः' (दीप्तियुक्तः), 'देवेषु' 'रोचते' (शोभते) ।

कल्पः, 'सष्टष्टां वसुभिरिति तिसृभिः कर्त्तुं प्रयच्छति' इति । तत्र प्रथमामाह,—“सष्टष्टां वसुभिरुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदं । हस्ताभ्यां मृदो हस्ता सिनीवाली करोतु तास्<sup>(८)</sup>” इति । पूर्वमन्त्रे रुद्रशब्देन वसवोऽप्युपलक्षिताः । अतः 'धीरैः' (बुद्धिमद्भिः) 'वसुभिरुद्रैः' च या मृत् कपालादिभिः संयोजिता सतो कर्मण्यां (उखाकर्मयोग्या सम्यक्ता जाता) तां 'मृदं' 'सिनीवाली' देवी पुनरपि स्व-‘हस्ताभ्यां' 'मृदो हस्ता' 'करोतु' (उखां निष्यादयतु) ।

अथ द्वितीयामाह,—“सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्त्रौपशा । सा तुभ्यमदिते महे ओखां दधातु हस्तयोः<sup>(९)</sup>” इति । यो 'सिनीवाली सुकपर्दा' (कपर्दोऽत्र स्त्रोणामुचितः केशबन्धविशेषः, शोभनः कपर्दो यस्याः, सा 'सुकपर्दा') । कुरीरशब्देन

स्त्रीभिः शृङ्गारार्थं शिरसि\* धार्यमाणं जालकम् उच्यते, शोभनं  
 कुरीरं यस्याः सा 'सुकुरीरा'†। उपशेते (सम्यक् ग्रथनं कुरुते)  
 यैरवयवविशेषैस्ते सर्वे उपशाः, तेषां समूहः औपशः, शोभन  
 औपशो यस्याः सा 'सौपशम्'। हे 'महे' (प्रौढे) 'अदिते' देवि,†  
 'सा' 'सिनीवाली' 'तुभ्यं' (तव) 'हस्तयोः' 'उखां' (मृदम्)  
 'आ'-दधातु' ।

अथ तृतीयामाह,—“उखां करोतु शक्त्या बाहुभ्यामदिति-  
 धिया । माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं विभर्तुं गर्भं आ(१०)” इति ।  
 इयम् 'अदितिः' 'धिया' (बद्धिकौशलेन), 'बाहुभ्यां' (हस्त-  
 कौशलेन), 'शक्त्या' (शरीरबलेन) च दमाम् 'उखां' 'करोतु' । 'यथा'  
 लोके 'माता' स्वकीयं 'पुत्रं' 'उपस्थे' (उत्सङ्गे) विभर्ति, तथा  
 सा अदितिः 'गर्भं' (स्वोत्सङ्गे) तम् 'अग्निं' 'आ' कर्मसमाप्तेः,  
 'विभर्तु' ।

उक्तस्य मन्त्रचतुष्टयस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“रुद्राः समृत्य  
 पृथिवीमित्याहेता वा एतं देवतां अये समभरं ताभिरेवैनं स-  
 म्भरति” (५।१।६ अ०) इति । रुद्राः, वसवः, सिनीवाली,  
 अदितिश्चेत्येतच्छब्दपरागम्यष्टा देवताः ।

कल्पः, 'मखस्य शिरोऽसि' इति पिण्डं कृत्वा इति । पाठः,—  
 “मखस्य शिरोऽसि(११)” इति । हे मृत्पिण्ड, त्वं 'मखस्य' (यज्ञस्य)  
 'शिरः'-स्थानम् 'असि' ।

\* शिरसा इति J. पु० पाठः ।

† भूमिदेवि इति B. एवं J. पु० पाठः ।

तच्च मखञ्जदार्थं दर्शयति,—“मखस्य त्रिरोऽधीत्याह यज्ञो वै मखसस्यै तच्छिरो यदुखा तस्मादेवमाह” (५।१।६अ०) इति ।

कल्पः,—“यज्ञस्य पदे स्य इति कृष्णाजिनं पुष्करपर्णञ्चाभिमृशति’ इति । पाठः,—“यज्ञस्य पदे स्यः<sup>(१९)</sup>” इति । हे कृष्णाजिनपुष्करपर्णे, युवाम् उभे ‘यज्ञस्य’ पादरूपे ‘स्यः’ ।

कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोर्यज्ञप्राप्तिहेतुत्वाद्यज्ञपदत्वं प्रसिद्धमित्येतद्दर्शयति,—“यज्ञस्य पदे स्य इत्याह यज्ञस्य ह्येते पदे अथो प्रतिष्ठित्यै” (५।१।६अ०) इति ।

कल्पः,—‘वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण कन्दसंति चतुर्भिर्महीयुखां करोति यज्ञभार्यस्याध्वर्युरेकभार्यस्य क्रियमाणामेतैर्यजुर्भिरेव यजमानोऽनुमन्त्रयते’ इति । पाठस्तु,—“वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण कन्दसाऽङ्गिरस्वत् पृथिव्यसि<sup>(१९)</sup> रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु चैष्टुभेन कन्दसाऽङ्गिरस्वदन्तरिक्षमसि<sup>(२०)</sup> आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन कन्दसाऽङ्गिरस्वद्द्यौरसि<sup>(२१)</sup> विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन कन्दसाऽङ्गिरस्वद्दिशोऽसि भ्रुवाऽसि धारया मयि प्रणां रायस्योषं गोपत्यः सुवीर्यः सजातान् यजमानाय<sup>(२२)</sup>” इति । हे उखे, वस्त्राख्या देवाः सहकारिणा ‘गायत्रेण कन्दसा’ सह, अङ्गिरस इव त्वं ‘कृण्वन्तु’ (निष्पादयन्तु) । त्वञ्च पृथिवीरूपा ‘असि’ । एवमुत्तरेषु त्रिष्वपि योज्यम् । ‘वैश्वानराः’ (सर्वमनुष्योपकारिणः) । हे उखे, त्वं ‘भ्रुवाऽसि’ (दृढाऽसि), अतो ‘मयि’ अध्वर्यौ अन्यस्मिन् वा उखाकर्त्तरि प्रजादिक ‘धारय’ (स्थापय,

वज्रमानार्थमपि प्रजादिकं यस्यादय) । भ्रुवासीत्यादिरन्यभागः  
पूर्वेष्वपि चिह्नमुपज्यते ।

‘संसृष्टाम्’ इत्याद्यृग्भिः कर्त्तुं प्रदानं, ‘वसवस्त्वा’ इत्यादि-  
भिर्यजुर्भिर्यजमानानुमन्त्रणञ्च क्रमेण विधत्ते,—“प्रान्याभिर्यज-  
त्वन्त्यैर्मन्त्रयते मिथुनत्वाय” (५।१।६अ०) इति । ‘अन्याभिः’  
‘वसवस्त्वा’ इत्यादियजुर्भ्यो विलक्षणाभिर्हृग्भिः । ‘अन्यैः’ ‘संसृष्टाम्’  
इत्याद्यृग्भ्यो विलक्षणैः । ‘वसवस्त्वा’ इत्यादियजुर्भिः । अत्रां  
स्त्रीलिङ्गत्वाद्यजुषाम् अतथात्वान्मिथुनत्वम् ।

निर्मातव्याया उखायाः कक्ष्यात्रयं विधत्ते,—“अ्युद्धिं करोति  
त्रय इमे लोका एषां लोकानामाप्त्यै” (५।१।६अ०) इति ।  
‘उद्धिः’ ऊर्द्धमवस्थितोऽवयवविशेषः । यथा भाण्डस्य उपरि  
अन्यद्भाण्डं, तस्याप्युपरि पुनरन्यद्भाण्डमिति कक्ष्यात्रयं, तथेयमेकैव  
उखा कक्ष्यात्रययुक्ता कार्या ।

‘वसवस्त्वा’ इत्यादिभिर्मन्त्रैर्यजमानस्यानुमन्त्रणं पूर्वं विहितम् ।  
इदानीं तैरेव मन्त्रैः कर्तुं कर्मनिष्पादनं विधत्ते,—  
“हृन्दोभिः करोति वीर्यं वै हृन्दाप्सि वीर्येणैवैनां करोति”  
(५।१।६अ०) इति । ‘हृन्दोभिः’ हृन्दोलिङ्गकैः ‘वसवस्त्वा’  
इत्यादिभिर्मन्त्रैः ।

कल्पः,—“अदित्यैरास्त्रासि<sup>(१७)</sup>” ‘इति रास्त्रा करोति’ इति ।  
रश्मनासदृशी भाण्डस्य गलगता रेखा ‘रास्त्रा’ । हे रेखे, त्वम्  
‘अदित्यै’ (भूमिरूपाया उखाया) ‘रास्त्रा’ (काञ्चीगुणस्थानी—  
रश्मना) ‘असि’ ।

कल्पः, 'अदितिस्ते बिलं गृह्णात्विति बिलं कृत्वा' इति । पाठस्तु,—“अदितिस्ते बिलं गृह्णातु पाङ्क्तेन कृन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(१८)</sup>” इति । हे उखे, 'अदितिः' भूमिः सहकारिणा 'पाङ्क्तेन कृन्दसा' सह अङ्गिरस इव 'ते' (तव) 'बिलम्' (अन्तर्गृह्णन्) 'गृह्णातु' (करोतु) ।

तं मन्त्रं विनियुक्ते,—“यजुषा बिलं करोति व्यावृत्त्यै” (५।१।६अ०) इति । लौकिकस्य हि भाण्डस्यान्तरेणैव यजुः, बिलं क्रियते, अत्र तु 'यजुषा'\* इति तद्व्यावृत्तिः ।

उखायाः प्रादेशपरिमाणं विधत्ते,—“इयतीं करोति प्रजापतिना यज्ञमुखेन सम्मिताम्” (५।१।६अ०) इति । यज्ञपुरुषस्य मुखम् ऊर्द्धचुवुकयोर्मध्यवर्त्तीं प्रादेशमात्रं, तच्च प्रजापतिमृष्टत्वात् प्रजापतिस्वरूपं, तेन मुखेन परिमिता भवति; तत्परिमाणं हस्तेन अभिनीय प्रदर्शनार्थम् 'इयतीम्' इत्युच्यते ।

अथ विधत्ते,—“द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय” (५।१।६अ०) इति । यथा योषितः स्तनौ, एवमस्या उखाया द्वौ स्तनाकारौ मृदा निष्पाद्यौ, तथा सति द्वितसाभ्यां द्यावापृथिव्योः सारांशदोहं सम्पद्यते ।

पचान्तरं विधत्ते,—“चतुस्तनां करोति पशूनां दोहाय” (५।१।६अ०) इति ।

पुनरप्यन्यं पचं विधत्ते,—“अष्टास्तनां करोति कृन्दसा ।

धैर्कैः \* समन्त्रकमिति J. पु० पाठः ।

अध्वर्यौ † मूर्द्धचिबुकयोर्मध्यवर्त्ति इति पाठो भवितुं युक्तः ।

दोहाय” (५।१।६ अ०) इति । अष्टसङ्ख्याकानि कृन्दांसि मन्त्रा-  
न्तरे समाज्जातानि, ‘गायेत्री चिष्टुप् जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह  
बृहत्युष्णिहा ककुत्’ इति ।

अष्टसङ्ख्यासाम्याच्छन्दस्य सारदोहनं सम्यद्यते । तदेतत् सर्वं  
सूत्रकारेण सङ्गृहीतम्,—‘अग्नीणां रास्त्रायाश्च सन्धौ द्वौ चतुरः  
षडष्टौ वा रुनान् करोति’ इति ।

अधिकारिविशेषेणाग्निषु सङ्ख्याविशेषं विधत्ते,—“नवाश्रिम्  
अभिचरतः कुर्यात् चिष्टतमेव वज्रं सम्भृत्य भ्रातृव्याय प्रहरति  
सृत्यै” (५।१।६ अ०) इति । चिष्टत्सोमस्य नवभिर्हर्गभिरुपेत-  
त्वादश्रिसङ्ख्यायास्त्रिवृत्त्वं सम्यद्यते । स च चिष्टत्सोमो वैरि-  
विनाशकत्वात् वज्रसमानः । अतो नवसङ्ख्याया भ्रातृव्याय वज्र-  
प्रहरणं सम्यद्यते ।

अभिचाराभावे तु अश्रिसङ्ख्यां सूत्रकारो दर्शयति,—‘कुर्वं-  
श्चतस्रोऽग्नीः प्रतिदिशमुन्नयत्यष्टाश्रिर्वा’ इति ।

कल्पः, ‘हत्वाय सा महीमुखामित्युत्तरतः सिकतासु प्रति-  
ष्ठाप्य’ इति । पाठंस्तु, “हत्वाय सा महीमुखाम् मृण्मयीं चोनि-  
मग्रधे । तां पुचेभ्यः सम्रायच्छददिति, अपयानिति<sup>(१८)</sup>” इति ।  
‘सा’ इयम् ‘अदितिः’ ‘मृण्मयी’ (मृत्कार्या) ‘अग्रधे’ ‘चोनि’  
(अग्नेः कारणभूता) ‘महीम्’ (महतीम्) ‘उखां’ ‘हत्वाय’ (निष्पाद्य),  
ततस्तान् ‘उखां’ ‘पुचेभ्यः’ (स्वपुत्रसदृशेभ्यः) अपणकारिभ्यः  
‘सम्रायच्छत्’ (सम्यक् दत्तवतो) । किं कुर्वतो?—इति, तदुच्यते—  
‘अपयानिति’ (अपयन्तु भवन्त इति) ब्रुवती ।



तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“कृत्वा च सा महीमुखामिति वि-  
दधाति देवतास्त्रैवेणां प्रतिष्ठापयति” (५।१।६अ०) इति ।  
अदितिपुत्राणां देवतारूपत्वाद्देवतासु प्रतिष्ठापनं सम्पद्यते ॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

वि पा, विस्त्रंसयेदापोस्तभिर्मुदि जलं क्षिपेत् ।

मित्रे-द्वाभ्यां शर्करादिद्योगो रुद्रेति सङ्क्षिपेत् ॥

संसृ-चिभिर्मुत्तिकां तामुखा कर्त्रे प्रयच्छति ।

मखपिण्डकृतिर्यज्ञ-चर्मपर्णाभिमर्शनम् ॥

कुर्यादसु-चतुर्भिस्तां भ्रुवासीत्यनुषज्यते ।

अदि, रास्त्रामदि, बिलं कुर्यात्कृत्वा च, तामुखाम् ॥

षिकतासु स्थापयति मन्त्रा एकोनविंशतिः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

वसंवत्स्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(१)</sup>  
रुद्रास्त्वा धूपयन्तु चैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(२)</sup> आ-  
दित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(३)</sup>  
विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयत्वानुष्टुभेन छन्दसा-  
ङ्गिरस्वत्<sup>(४)</sup> इन्द्रास्त्वा धूपयत्वङ्गिरस्वत्<sup>(५)</sup> विष्णुस्त्वा  
धूपयत्वङ्गिरस्वत्<sup>(६)</sup> वरुणस्त्वा धूपयत्वङ्गिरस्वत्<sup>(७)</sup>

अदितित्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्ये-  
ऽङ्गिरस्वत् खनत्ववट<sup>(८)</sup> देवानां त्वा पत्नोः ॥ १ ॥

देवीविश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्येऽङ्गिरस्वदधतू-  
खे<sup>(९)</sup> धिषणात्त्वा देवीविश्वदेव्यावतोः पृथिव्याः  
सधस्येऽङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे<sup>(१०)</sup>ऽमात्त्वा देवीविश्वदे-  
व्यावतीः पृथिव्याः सधस्येऽङ्गिरस्वच्छपयन्तूखे<sup>(११)</sup> वरू-  
चयो जनयत्त्वा देवीविश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सध-  
स्येऽङ्गिरस्वत् पचन्तूखे<sup>(१२ १३)</sup> । मिचैतामुखां पचैषा  
मा भेदि । एतां ते परि ददाम्यभित्यै<sup>(१४)</sup> । अभी-  
मां ॥ २ ॥

महिना दिवं मिचो बभूव सप्रथाः । उत अवसा  
पृथिवी<sup>(१५)</sup> । मिचस्य चर्षणीधृतः अर्वा देवस्य । सा-  
नसिं । दुष्मं चिचअवस्तमं<sup>(१६)</sup> । देवत्वा सवितोदपतु  
सुपाणिः स्वङ्गुरिः । सुबाहुरुत शक्त्या<sup>(१७)</sup> । अपद्यमाना  
पृथिव्याशा दिश आ पृण । उत्तिष्ठ बृहती भवोर्ध्वा  
तिष्ठ ध्रुवा त्वं<sup>(१८)</sup> । वसवत्त्वाऽऽहृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा-  
ऽङ्गिरस्वत्<sup>(१९)</sup> रुद्रात्त्वाऽऽहृन्दन्तु, चैष्टुभेन छन्दसा-  
ऽङ्गिरस्वत्<sup>(२०)</sup> आदित्यात्त्वाऽऽहृन्दन्तु जागतेन छन्द-  
साऽङ्गिरस्वत्<sup>(२१)</sup> विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आ हृन्द-  
न्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(२२)</sup> ॥ ३ ॥

पत्नीः । इमाः । रुद्रास्वा कृन्दन्तु । एकान्वविंश-  
श्रुतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथम-  
प्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पञ्चमेऽनुवाके उखानिर्माणमुक्तम् । अथ षष्ठे तत्संस्कारोऽभि-  
धीयते । कल्पः, ‘वसवस्वा धूपयन्तु गायत्रेण कृन्दसेति सप्तभि-  
रश्वशकेनोखां धूपयन्ति’ इति । पाठस्तु, “वसवस्वा धूपयन्तु  
गायत्रेण कृन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(१)</sup> रुद्रास्वा धूपयन्तु वैष्टुमेन कृन्दसा-  
ऽङ्गिरस्वत्<sup>(२)</sup> आदित्यास्वा धूपयन्तु जागतेन कृन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(३)</sup>  
विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वाष्टुमेन कृन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(४)</sup>  
इन्द्रास्वा धूपयत्वाङ्गिरस्वत्<sup>(५)</sup> विष्णुस्वा धूपयत्वाङ्गिरस्वत्<sup>(६)</sup> वरुणस्वा  
धूपयत्वाङ्गिरस्वत्<sup>(७)</sup>” इति । हे उखे, त्वाम् अष्टौ ‘वसवः’ सह-  
कारिणा ‘गायत्रेण कृन्दसा’ सह, अङ्गिरस इव ‘धूपयन्तु’  
(अश्वशकजन्येन धूमेन संस्कुर्वन्तु) । एवमुत्तरेष्वपि षट्सु योजं-  
नीयम् ।

एतान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“सप्तभिर्धूपयति सप्त वै शीर्ष-  
ण्याः प्राणाः शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा शीर्षन्नेव यज्ञस्य प्राणां  
दधाति तस्मात् सप्त शीर्षन् प्राणाः” (५।१।७अ०) इति ।  
‘शिरोवर्त्तिषु सप्तषु किद्रेषु सञ्चरन्तः ‘प्राणाः’ सप्तसङ्ख्याकाः ।  
उखा च यज्ञशिरःस्थानोया, तस्मात् सप्तभिर्धूपने सति यज्ञस्य

अग्निरस्येव प्राणानवस्थापयति; यस्मादेवं, 'तस्मात्' प्रतिपूरुषं अग्निरग्नि-  
विद्रुभेदेन 'सप्त' 'प्राणा' वर्तन्ते ।

धूपसाधनं विधुमे;—“अश्वशक्नेन धूपयति प्राजापत्यो वा  
अश्वः सयोनित्वाच” (५।१।७अ०) इति । अश्वस्य शक्तत्वं  
अश्वशकः । अश्वस्य प्राजापत्यत्वमसकृदुक्तम्, अग्निरपि प्राजा-  
पत्यः, 'प्राजापतिरग्निमचिनुत' इति श्रवणात्; अत उभयोः  
समानयोनित्वम् ।

कल्पः, 'अदितिस्त्वा देवीत्यग्रेण गार्हपत्यमवटं खात्वा' इति ।  
पाठस्तु,—“अदितिस्त्वा देवी विश्वदेव्यावतो पृथिव्या सधस्येऽङ्गिर-  
स्तत् खनत्ववट<sup>(५)</sup>” इति । विशेषां देवानां योग्या उपचारा  
'विश्वे देव्याः',\* ते अस्यां सन्तीति 'विश्वदेव्यावतो'; तादृशो  
इयम् 'अदितिः' 'देवी' 'पृथिव्याः सधस्ये' (भूम्या उपरि) हे  
'अवटः' त्वम् अङ्गिरस इव 'खनतु' ।

अस्मिन् मन्त्रे खननकर्तृत्वमदितेरुपपादयति,—“अदितिस्त्वे-  
त्याहेयं वा अदितिरदित्यैवादित्यां खनत्यस्या अक्रूरं काराय  
न हि स्वः स्वः हि नस्ति” (१।५।७अ०) इति । 'इयं' भूमिरेवात्र  
अदितिशब्देन विवक्षिता, अवटखननं हि भूम्यामेव; ततो-  
ऽदितेः खननकर्तृत्वे सति भूमेर्हिंसा न भवति । 'न हि' लोके  
कश्चिदपि स्वयं स्वात्मानं 'हिनस्ति' । तस्मात् खननलक्षण-क्रूर-  
कार्यकरणाभावाय इदम् अदितिकर्तृत्वं सम्याद्यते† ।

\* विश्वदेव्या इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† सम्यद्यते इति B. एवं J. पु० पाठः ।

कल्पः, 'लोहितपचनीयैः सम्भारैरवसीर्य देवानां त्वा पत्नी-  
रिति तस्मिन्नुखामवदधाति' इति । पाठस्तु,—“देवानां त्वा  
पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतोः पृथिव्याः सधस्येऽङ्गिरस्वद्धत्स्वे(९)” इति ।  
'विश्वदेव्यावतोः' (समस्तदेवार्होपचारयुक्ताः) या 'देवानां' पत्न्यो  
देव्यः ताः 'पृथिव्याः' 'सधस्ये' (उपरि) अङ्गिरस इव हे 'उखे'  
त्वां 'दधतु' (स्थापयन्तु) ।

देवपत्नीनाम् उखाकर्तृत्वं पुरातनमित्येतद्दर्शयति,—“देवानां  
त्वा पत्नीरित्याह देवानां वा एतां पत्नयोऽग्रे कुर्वन्तीभिरेवैनां  
दधाति” (५।१।७अ०) इति । पुरा देवपत्नीभिर्ह्वायाः हत-  
त्वात् इदानीमपि ताभिरेव स्थापिता भवति ।

कल्पः, 'लोहितपचनीयैः सम्भारैः प्रक्ष्वाद्य धिषणास्त्वा देवो-  
रिति चतुर्भिर्ह्वायामग्निमभ्यादधाति' इति । पाठस्तु,—“धिषणा-  
स्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतोः पृथिव्याः सधस्येऽङ्गिरस्वदभीन्वतामुखे(१०)  
अग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतोः पृथिव्याः सधस्येऽङ्गिरस्वपचन्मुखे(११)  
वरूचयो जनयस्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतोः पृथिव्याः सधस्येऽङ्गिरस्वत्  
पचन्मुखे(११।१२)” इति । विद्याभिमानिन्यो देवता 'धिषणाः' । हे  
'उखे', त्वां ता देवताः 'अभीन्वताम्' (अभितो ज्वालयन्तु) ।  
हन्तोभिमानिन्यो देवता 'अग्नाः'; ताः त्वां 'अपयन्तु' (तव पच्य-  
मानतां सम्पादयन्तु) । 'वरूचयो जनयः' इति पदभेदेन मन्त्र-  
भेदः । षोडशपञ्चादिषु सप्तसु षोडशकेष्वभिमानिन्यो देवता  
'वरूचयः'; “सेनेन्द्रस्य” इत्याद्यनुवकैर्नोक्ता देवपत्न्यो 'जनयः' । तत्र  
'वरूचयः' त्वां 'पचन्तु' (तव पक्तां सम्पादयन्तु) । तथा 'जनयः' त्वां

‘पचन्तु’ (पक्त्वपरोक्षां कुर्वन्तु)। ‘वरुचयः’ इति मन्त्रे ‘त्वा देवीः’ इत्याद्युत्तरभागोऽनुषज्यते ।

एतेषु मन्त्रेषु धिषणादिशब्दानामस्मदुक्तार्थपरतां दर्शयति, धिषणास्वेत्याह विद्यां वै धिषणा विद्याभिरेवैनामभोन्वेऽग्रास्वेत्याह कृन्दाऽसि वैऽग्राश्चकृन्दोभिरेवैनाऽपयति वरुचयस्वेत्याह होत्रा वै वरुचयो होत्राभिरेवैनां पचति जनयस्वेत्याह देवानां वै पत्नीर्जनयस्ताभिरेवैनां पचति” (५।१।७अ०) इति । स्पष्टोऽर्थः ।

अदितिस्त्वा देवीत्यादीनामुक्तानां मन्त्राणां सङ्ख्यां प्रशंसति,—“षड्भिः पचति षड्त्रां चतव चतुभिरेवैनां पचति” (५।१।७अ०) इति । अवटखननादीनामपि पाकाङ्गत्वेन ‘षड्भिः पचति’ इत्युच्यते ।

‘वरुचयो जनयः’ इत्यनयोः स्वाभिप्रेतं मन्त्रभेदं दर्शयितुं ‘पचन्तु’ इति मन्त्रभागस्यानुषङ्गरूपामावृत्तिं दर्शयति,—“द्विः पचन्वित्याह तस्मात् द्विः संवत्सुरुस्य सस्यं पचते” (५।१।७अ०) इति । वरुचयः पचन्तु, जनयः पचन्वित्येवं द्विः प्रयोगः ।

कल्पः, ‘मित्रैतामुखां पचेति पच्यमानां तिसृभिर्मैत्रोभिरुपचरन्ति’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“मित्रैतामुखां पचैषा मा भेदि । एतां ते परि ददाम्यभित्यै<sup>(१४)</sup>” इति । हे ‘मित्रं’ (सर्वप्राणिहितकारिन्) देव, त्वम् ‘एताम्’ ‘उखां’ ‘पच’ (पक्वां कुरु) । ‘एषा’ च उखा ‘मा भेदि’ (भिन्ना मा भवतु) । ‘एताम्’ (उखाम्) ‘अभित्यै’ (भेदाभावाय) ‘ते’ (तुभ्यं) ‘परि ददामि’ (परित्राणाय ददामि) ।

‘अथ द्वितीयामाह,—“अभीमां महिना दिवं मिचो बभूव सप्रथाः । उत अवसा पृथिवीम्<sup>(१५)</sup>” इति । ‘मिचः’ ‘इमाम्’ (उखाम्) ‘अभि’-‘बभूव’ (अभितः प्राप्तवान्) । कीदृशो मिचः ?—‘सप्रथाः’ (सविस्तारः, प्रचुरकीर्तिरित्यर्थः) । कीदृशोभिमां ?—‘महिना दिवं’ (महिम्ना द्युलोकसदृशो ‘उत’ (अपि च) ‘अवसा पृथिवी’ (अवणेन पृथिवीसदृशीम्) ।

अथ तृतीयामाह,—“मित्रस्य चर्षणीधृतः अवा देवस्य । सानसिं द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्<sup>(१६)</sup>” इति । ‘चर्षणीधृतः’ (मनुष्याणां धारयितुः) ‘मित्रस्य’ ‘देवस्य’ ‘अवः’ (श्रोतुं योग्यं यशो महदस्तीति शेषः), ‘सानसिं’ (फलदानशीलं), ‘द्युम्नं’ (द्रविणप्रदं), ‘चित्रश्रवस्तमम्’ (चित्रं श्रवः कीर्तिर्यस्यासौ चित्रश्रवाः, अतिशयेन तादृशः, तम्) एतादृशमुखारूपं स मित्रः पचत्विति शेषः ।

देवतान्तरपरित्यागेन मित्रदेवताकमन्त्रस्वीकारे कारणं दर्शयति,—“वारुण्युखाऽभीद्धा मैत्रियोपैति शान्त्यै” (५।१।७अ०) इति । ‘अभीद्धा’ (प्रज्वलिता) ‘या इयम् ‘उखा’, सेयं दुःखार्थाद् ‘वारुणी’, तस्या मैत्र्या ऋचा शान्तिर्भवति ।

कल्पः, ‘पक्वां देवस्त्वा सवितोदपलित्युदास्य’ इति । पाठस्तु,—“देवस्त्वा सवितोदपलु सुपाणिः खजुरिः । सुबाह्वत शक्त्वा<sup>(१७)</sup>” इति । हे उखे, ‘सविता’ ‘देवः’ तां खकीयया ‘शक्त्वा’ ‘उदपलु’ (अवटादूर्द्धमानयतु) । कीदृशः सविता ?—‘सुपाणिः’ (शोभनौ पांशो यस्यासौ) ‘सुपाणिः’, (शोभनाः अङ्गुलयो यस्यासौ) ‘खजुरिः’, हान्दसो रेफः । ‘उत’ (अपि च) (शोभनौ बाह्व यस्यासौ)

‘सुवाङ्गः’ । मणिवन्धस्योभयतोऽवस्थितौ\* भागौ पाणिशब्देन च उच्येते ।

अस्मिन् मन्त्रे सविद्वशब्दतात्पर्यं दर्शयति,—“देवस्त्वा सवितो-  
दपलित्याह सविद्वप्रसूत एवैनां ब्रह्मणा देवताभिरुदपति” (५।  
१ ७अ०) इति । सविच्च प्रेरितः सन् ‘एनां’ ‘ब्रह्मणा’ (मन्त्रेण)  
‘देवताभिः’ च सहोदपनं कृतवान् भवति ।

कल्पः, ‘अपद्यमाना पृथिव्याशा दिश आ पृणेत्युत्तरतः  
सिकतासु प्रतिष्ठाप्य’ इति । पाठस्तु, “अपद्यमाना पृथिव्याशा दिश  
आ-पृण । उत्तिष्ठ बृहती भवोर्द्धा तिष्ठ भ्रुवा त्वम्<sup>(१८)</sup>” इति ।  
हे उखे, ‘पृथिवि’ (पृथिव्यां, भूमौ) ‘अपद्यमाना’ (भङ्गमप्राप्नु-  
वतो) ‘लं’, ‘आशाः’ (प्राच्याद्या दिशो मुख्यः), ‘दिशः’ (आग्नेय्याद्या  
विदिशः) च ‘आ-पृण’ (सर्वतः पूरय, सर्वत्र प्रसिद्धा भव) । ‘उत्तिष्ठ’  
(अवट्टादहिरागत्य उत्थिता भव), उत्थाय च ‘बृहती’ (प्रौढा)  
‘भव’ । तादृशी लं, ‘ऊर्द्धा’ सती ‘भ्रुवा’ (स्थिरा) ‘भव’, ‘ऊर्द्धा’  
(ऊर्द्धमुखी) स्थिरा ‘तिष्ठ’ ।

अस्य मन्त्रस्य यद्विशामापूरणमुक्तं, सेचमग्नेः प्रभवाया व्याप्तिः†  
इत्येतत्तात्पर्यं दर्शयति,—“अपद्यमाना पृथिव्याशा दिश आ-  
पृणेत्याह तस्मादग्निः सर्वा दिशाऽनु विभाति” (५।१।७अ०) इति ।  
तस्मादुखायाः सर्वदिक्पूर्तिः प्रार्थ्यते, ‘तस्मात्’ उखया मिश्रितः  
‘अग्निः’ स्वतेजसा ‘सर्वा दिशः’ प्रकाशयति ।

‘ऊर्द्धा तिष्ठ’ इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“उत्तिष्ठ बृहती भव”

\* मणिवन्धस्योभयतोऽवस्थितौ इति J. पु० पाठः ।

† प्रभया व्याप्तिः इति पाठो भवितुं युक्तः ।



जज्ञा तिष्ठ भुवा तमित्याह प्रतिष्ठित्यै” (५।१।७अ०) इति ।

कल्पः, ‘वसवस्त्वाऽऽकृन्दन्तु गायत्रेण कन्दसैति चतुर्भिरजा-  
क्षीरेणोखामाकृणन्ति’ इति । पाठस्तु,—“वसवस्त्वाऽऽकृन्दन्तु गाय-  
त्रेण कन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(१८)</sup> रुद्रास्त्वाऽऽकृन्दन्तु त्रैष्टुभेन कन्दसा-  
ऽङ्गिरस्वत्<sup>(१९)</sup> आदित्यास्त्वाऽऽकृन्दन्तु जागतेन कन्दसाऽङ्गिरस्वत्<sup>(२०)</sup>  
विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आ-कृन्दन्त्वानुष्टुभेन कन्दसाऽङ्गिर-  
स्वत्<sup>(२१)</sup>” इति । हे उखे, वसुनामका देवाः, अङ्गिरस इव त्वां  
सिञ्चन्तु । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यं सेचनं विधत्ते,—“असुर्यं पात्रमनाकृणमा-  
कृणन्ति देवत्राऽकः” (५।१।७अ०) इति । यज्ञसाधनं पात्रमग्नि-  
दग्धं सत् द्रवद्रव्येण यदि न सिक्तं भवति, तदानीमसुरयोग्यं  
भवेत्, तत्परिहाराय आसिञ्चेत् । सिक्तं पात्रं ‘देवत्रा’ (देवेषु)  
‘अकः’ (करोति) देवयोग्यं भवतीत्यर्थः ।

सेचनसाधनं विधत्ते,—“अजक्षीरेणाकृणन्ति परमं वा एतत्  
पयो यदजक्षीरं परमेष्ठैवेनां पयसाऽऽकृणन्ति” (५।१।७अ०)  
इति । लोके अजक्षीरस्य सर्वव्याधिपरिहारहेतुत्वात्, वेदेऽपि  
“आग्नेयो वा एषा यदजा” इत्युक्तत्वात् परमत्वम् । लोके दग्धस्य  
पात्रस्य सेचनं मन्त्ररेणैव सेवनं कुर्वन्ति । अतस्तद्वावृत्त्यर्थमिह  
मन्त्रेण सेचनं विधत्ते,—“यजुषा व्यावृत्त्यै” (५।१।७अ०) इति ।

सामान्येन मन्त्रं विधाय विशेषेण कन्दोऽलिङ्गकान् मन्त्रान्  
विधत्ते,—“कन्दोभिराकृणन्ति कन्दोभिर्वा एषा क्रियते कन्दोभि-  
रेव कन्दाऽऽकृणन्ति” (५।१।७अ०) इति । पूर्वं (५अ०) ‘वसवस्त्वा

कृष्णन्तु गायत्रेण कन्दसा' इति कन्दोलिङ्गकैर्मन्त्रैः 'एषा क्रियते',  
अत इयं कन्दोर्हपा; तस्मादुखारूपाणि कन्दासि, मन्त्ररूपैः  
'कन्दोभिरेव' सिकताणि भवन्ति ।

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

वसवः सप्तभिर्धूपोऽदितिस्त्वेत्यवटं खनेत् ।  
देवोखां तत्र संस्थाप्य, धिषणेत्युच्यते ।  
अग्निं क्षिपेन्मन्त्रभेदो वरू-जन-पदद्वयात् ।  
मित्रत्रयेणोपचारो देव, उदासयेदुखाम् ।  
अपेति सिकतास्त्रेतां निधाय, वसवेत्यतः ।  
चतुष्टयादजाक्षीरं सिञ्चेद् द्वाविंशतिर्मताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
यज्ञःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

समास्तांश्च कृतवो वर्जयन्तु संवत्सरा ऋषयो  
यानि सत्या । सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा  
आभाहि प्रदिशः पृथिव्याः<sup>(१)</sup> । सञ्चेद्यस्वाम्ने प्र च  
बोधयेन्मुञ्चतिष्ठ महते सौभगाय । मा च रिषदुप-  
सत्ता ते अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये<sup>(२)</sup> । त्वा-  
मग्ने दृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने ॥ १ ॥

सं वरणे भवा नः । सपत्न्या नो अभिमातिजिह्व  
स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्<sup>(३)</sup> । इहैवाम्ने अधि धारया

\* कन्दोभिरेव इति आदर्शपुस्तकपाठे । न सम्यक् ।

रयिं मा त्वा निक्कन् पूर्वचित्तो नि कारिणः । क्षच-  
मग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसृतां वर्द्धतां ते अनिष्टृतः<sup>(४)</sup> ।  
क्षचेणाम्ने स्वायुः सः रभस्व मिचेणाम्ने मिचधेये यत-  
स्व । सजातानां मध्यमस्था एधि राक्षामग्ने विह्व्यौ  
दोदिहोह<sup>(५)</sup> । अति ॥ २ ॥

निहो अतिस्त्रिधोत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने । विश्वा  
क्षमे दुरिता सहस्वाथास्मभ्यः सहविराः रयिं  
दाः<sup>(६)</sup> । अनाधृष्यो जातवेदा अनिष्टृतो विराड्भमे  
क्षचभृद्दीदिहोह । विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्मानुषी-  
र्भियः शिवाभिरद्य परि पाहि नो वृधे<sup>(७)</sup> । वृहस्पते  
सवितर्बोधयन्ः सः शितंचित्सन्तराः सः शिशधि ।  
वर्द्धयैनं महते सौभगाय ॥ ३ ॥

विश्व एनमनुमदन्तु देवाः<sup>(८)</sup> । अमुञ्चभूयादध  
यद्यमस्य वृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः । प्रत्यौहताम-  
श्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः<sup>(९)</sup> ।  
उद्वयं तमसस्परिपश्यन्तो ज्योतिरुत्तरं । देवं देवचा  
सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्<sup>(१०)</sup> ॥ ४ ॥

इमे शिवो अग्ने । अति । सौभगाय । चतुस्त्रि-  
शच्च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथम-  
प्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पठेऽनुवाके उखासंस्कार उक्तः । अथ सप्तमेऽनुवाके पञ्च-  
यशस्कृता आग्निषः सामिधेन्य उच्यन्ते । कस्य, 'एकविंशतिं  
चतुर्विंशतिं वा पराचीः, सामिधेनोरन्यात्रैकादश प्राकृतीः समा-  
ख्याय इति दशाग्निर्को.' इति । तत्र प्रथमामाह,—“समा-  
ख्याय चतस्रो वर्द्धयन्तु संवत्सरा चषयो यानि सत्या । सं दिव्येन  
दीदिहि रोचनेन विश्वा आभाहि प्रदिशः पृथिव्याः(१)” इति ।  
'समा'-शब्दः संवत्सरावाची, संवत्सराशब्देन तु तदवयवा मासा  
अर्द्धमासाद्योपलक्ष्यन्ते । हे 'अग्ने', 'संवत्सरः' 'चतस्रः' मासा  
अर्द्धमासास्येत्येते कालविशेषाः, तथा 'चषयः' (मन्त्रद्रष्टारः),  
तथा 'यानि' सत्यानि (सत्यवचनानि) सन्ति, ते सर्वेऽपि त्वां  
'वर्द्धयन्तु' तैर्वर्द्धितस्त्वं 'दिव्येन' (द्युलोकार्हेण) 'रोचनेन' (तेजसा)  
'सं-दिदीहि' (सम्यक् दीप्यस्व) । किञ्च तदीयया दीप्या  
'पृथिव्या' सम्बन्धिनीः 'प्रदिशः' (सर्वा दिशो विदिशस्य) 'आभाहि'  
(सर्वतो भासय) ।

अथ द्वितीयामाह,—“सं चेध्वस्वाग्ने प्र च बोधयेन्मम तिष्ठ  
महते सौभगाय । मा च रिषदुपसत्ता ते अग्ने ब्रह्माणसो यमसः  
सन्तु माऽन्ये(१)” इति । हे 'अग्ने' त्वं 'ह्रस्व'-‘इध्यस्व’ ‘च’ (स्वयमपि  
दीप्तो भव) । ‘एनं’ ‘प्र’-‘बोधय’ ‘च’ (यजमानं कर्मानुष्ठानाय  
प्रबुद्धं कुरु) । ‘महते सौभगाय’ ‘उत्’-‘तिष्ठ’ ‘च’ (यजमानस्या-  
त्यन्तसौभगार्थमुद्युक्तोऽपि भव) । हे ‘अग्ने’ ‘ते’ (तव) ‘उपसत्ता’  
(परिचारकः) ‘मा’ ‘रिषत्’ ‘च’ (मा हिंसातां) । किञ्च ‘ते’

\* दीदिहि इति सांहितानुसारी पाठो भावतुं युक्तः ।

(सदीया) 'ब्रह्माणः' (ब्राह्मणाः) अतिगम्यमानाः 'यज्ञस्यः सन्तु' (यज्ञ-  
स्त्रिणो भवन्तु) । 'अन्ये' (वत्परिचर्याविमुखाः) यज्ञस्त्रिणो मा भूवन् ।

अथ तृतीयामाह,—“त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो  
अग्ने संवरणे भवा नः । सपत्नहा नो अभिमातिजिघ्र्खे गये  
जागृह्यप्रयुच्छन्(१)” इति । हे 'अग्ने'; 'इमे' 'ब्राह्मणा' अतिग-  
म्यमानाः त्वां 'वृणते' (सम्भजन्ते, आराधयन्ति) । हे 'अग्ने' 'नः'  
(अस्माकं) 'संवरणे' (अपराधानामाच्छादने) निमित्तभूते सति  
'शिवः' (शान्तः) 'भव', अपराधं मा प्रकटयेत्यर्थः । किञ्च 'नः'  
(अस्माकं) 'सपत्नहा' (वैरिघातो) 'अभिमातिजिघ्र्खे' (पापजय-  
कारी च) भूत्वा 'खे गये' (स्वकीये गृहे) 'अप्रयुच्छन्' (प्रमाद-  
मकुर्वन्) 'जागृहि' (सावधानो भव) अस्मद्वित्तं विचारयेत्यर्थः ।

अथ चतुर्थीमाह,—“इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा  
निक्कन् पूर्वचितो निकारिणः । चचमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता  
वर्धतां ते अनिष्टृतः(२)” इति । हे 'अग्ने' 'इहैव' (गृहे एव) 'रयिं'  
(धनम्) 'अधि'-'धारया' (आधिकेन सम्पादय) । 'पूर्वचितः' (ये  
अस्माकंऽपि पूर्वमग्नेसेतारः, ते) अस्मान् प्रति 'निकारिणः'  
(निराकर्त्तारो भूत्वा) त्वाम् अस्माभिश्चीयमानमग्निं 'मा' 'निक्कन्'  
(मैव निराकुर्वन्तु) । हे 'अग्ने' 'तुभ्यं' (तव) 'चचं' (बलं) 'सुयम-  
मस्तु' (सुखिरं, भवतु) । 'ते' (तव) 'उपसत्ता' (परिचारकः)  
'अनिष्टृतः' (केनापि नितरामाहंभितः सन्) 'वर्धताम्' ।

अथ पञ्चमीमाह,—“चक्षेणाग्ने स्वायुः सूरभस्व मिक्षेणाग्ने  
मिक्षधेये यतस्व । सजातानां मध्यमस्या एधि राज्ञामग्ने विष्टो

दीदिहीह<sup>(५)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘सचेण’ (त्वदीयेन बलेन) ‘स्वायुः’ (अस्मदीयं शोभनमायुः) ‘संरभस्व’ (संरक्ष, आयुःसंरक्षणे अप्रमत्तो भव) । हे ‘अग्ने’, ‘मिचधेये’ (मित्राणामस्माकं धारणे) ‘मिचेण’ (अनुग्रहयुक्तेन चित्तेन) ‘यतस्व’ (प्रयत्नं कुरु) । अग्निना सह प्रजापतेर्मुखतो जातत्वाद् ब्राह्मणा अग्नेः सजाताः, तेषां ‘मध्यमस्था एधि’ (मध्यमे प्रदेशे अवास्थितो भव) सर्वदा ब्राह्मणान् याजयेत्यर्थः । ऋयतेऽचेति हवा यज्ञाः; विविधाश्च ते हवाश्च विहवाः, विहवान् अर्हतीति ‘विहव्यः’ । हे ‘अग्ने’, त्वं ‘इह’ (भूमौ) ‘राज्ञां’ ‘विहव्यः’ (विविधयज्ञप्रवर्त्तकः सन्) ‘दीदिहि’ (अतिशयेन दीप्यस्व) ।

अथ षष्ठीमाह,—“अति निहेऽति स्त्रिधोऽत्यचिन्तिमत्यरा-  
तिमग्ने । विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथासभ्यः सह वीराः  
रथिं दाः<sup>(६)</sup>” इति । निहृष्टानि श्व-शूकरादिजन्मानि जिहीते  
प्राप्नोति यैर्दुरितैः, तानि दुरितानि हकारान्तेन निहृ-शब्देनो-  
च्यन्ते । शरीरशोषणादिहेतवो रोगविशेषाः स्त्रिध-शब्देनो-  
च्यन्ते । हे ‘अग्ने’, ‘निहे’ (दुरितानि) ‘अति’-‘सहस्व’ (अतिशयेन  
विनाशय) । ‘स्त्रिधः’ (रोगांश्च) ‘अज्ञि’-‘सहस्व’ । ‘अचिन्ति’  
(कर्मानुष्ठानविषयमज्ञानं) च ‘अति’-‘सहस्व’ । ‘अंराति’ (कर्म-  
विघ्नकारिणं शत्रुं) च ‘अति’-‘सहस्व’ । हिशब्दोऽपिशब्दार्थः ।  
किं वज्रना, हे ‘अग्ने’, विश्वान्यपि दुरितानि (अनिहृष्टैराणि)  
‘सहस्व’ (विनाशय) । ‘अथ’ (अनन्तरम्), ‘अस्माभ्यं’ ‘सहवीरां’  
(वीरैः पुनैः सहितां) ‘रथिं’ (धनं) ‘दाः’ (देहि) ।

अथ सप्तमीमाह,—“अनाष्टयो जातवेदा अगिष्टतो विराट्  
 कुप्ते चक्षुद्दीदिहि । विद्या आशाः प्रमुञ्चमानुषीर्भियः  
 शिवाभिरय परि-पाहि नो वृधः<sup>(७)</sup>” इति । हे ‘अग्रे’, त्वम्  
 ‘इह’ (कर्मणि) ‘दीदिहि’ (दीप्यस्व) । ‘अनाष्टयः’ (इतः परं  
 केनाप्यधर्षणीयः), ‘जातवेदाः’ (उत्पन्नसमस्तजगदभिन्नः), ‘अगिष्टतः’  
 (इतः पूर्वमपि केनाप्यहिंसितः), ‘विराट्’ (विविधं राजमानः),  
 (सर्वं वक्षं विभर्त्तीति) ‘चक्षुत्’ । किञ्च यथोक्तविशेषणविशिष्टत्वं  
 ‘शिवाभिः’ (ज्ञानाभिरनुग्रहवृष्टिभिः) ‘अय’ (अस्मिन् कर्मणि)  
 ‘नः’ (अस्मान्) ‘वृधे’ (अभिष्टुभ्ये) ‘परि-पाहि’ (सर्वतः  
 पासय) । किं कुर्वन्?—‘विद्या आशाः’ (निविद्धाचरणविषया  
 सर्वास्तृष्णाः) ‘मानुषीर्भियः’ (मनुष्येषु प्रसक्ताः व्याधादिभीभीत्य)  
 ‘प्रमुञ्चन्’ (प्रकर्षेण निवारयन्) ।

अथाष्टमीमाह,—“बृहस्पते सवितर्बोधयैनं सञ्ज्ञितंचित्  
 सन्नराः सञ्ज्ञिशाधि । वर्धयैनं महते सौभगाय विश्व एनमनु-  
 मदन्तु देवाः<sup>(८)</sup>” इति । अत्र बृहस्पतिसविद्विश्वावप्तिपरैः,  
 सामिभेनीनामाग्नेयत्वात् । बृहस्पतिसविद्वर्था तुल्य हे ‘अग्रे,  
 ‘एनं’ (यजमानं) ‘बोधय’ (कर्मणि बुद्धिमन्तं कुरु) । ‘सञ्ज्ञितंचित्’  
 (पूर्वमेव निश्चितबुद्धिमपि) ‘एनं’ ‘सन्नरा’ ‘सञ्ज्ञिशाधि’ (पुनर-  
 प्यतिशयेन सम्यग्नुप्रासजवन्तं कुरु) । ‘एनं’ (यजमानं) ‘महते’  
 ‘सौभगाय’ ‘वर्धय’ । ‘विश्वे’ (सर्वेऽपि) ‘देवाः’ ‘एनं’ (यजमानम्)  
 ‘अनुमदन्तु’ (समीचीनोऽयमिति हव्यन्तु) ।

अथ नवमीमाह,—“अमचभूयाद्ध्य यद् यमस्य बृहस्पते अभि-

अक्षरेरनुद्धः । प्रत्यूहतामग्निना मृत्युमस्मात् देवानामग्ने भिषजा  
 शचीभिः<sup>(९)</sup> इति । 'भूयः' (भावः), 'अमुच' (स्वर्ग) 'भूयः', 'अमुचभूयः',  
 स्वर्गे चिरावस्थानमित्यर्थः । पञ्चमी निमित्तार्था । अधश्चन्द्रो  
 धकारयुक्त इदानीमित्यस्मिन्नर्थे वर्तते । हे बृहस्पतितुष्ट अग्ने,  
 'अमुचभूयात्' (स्वर्गे चिरावस्थानं निमित्तोक्त्य) 'अध' (इदानीं)  
 'यमस्त्राभिश्चस्तेः' (यमसम्बन्धिहिंसानिमित्तात् पापात्) अस्मात्  
 'अमुच्चः' (मोचितवानसि) इति 'यत्', तेन अस्माकं पारलौकिक-  
 विषये चिन्ता नास्तीति शेषः । हे 'अग्ने', 'देवानां' भिषजौ  
 अग्निनौ देवौ 'शचीभिः' (स्वकीयशक्तिभिः) 'अस्मात्' (यजमानात्)  
 'मृत्यु' 'प्रत्यूहतां' (अपमृत्युमिह लोके निराकुरुताम्) ।

अथ दशमीमाह,—“उदयं तमसस्परिपश्यन्तो ज्योतिरुत्तरं ।  
 देवं देवचा सूर्यमगम्य ज्योतिरुत्तमम्<sup>(१०)</sup>” इति । 'वयं' 'तमसः'  
 'उत्तरं' 'ज्योतिः' (तमसे विनाशकत्वेनोत्कृष्टमग्निसम्बन्धि ज्योतिः)  
 'उत्'-'परिपश्यन्तः' (उत्कर्षेण सर्वतोऽवलोकयन्तः), 'देवचा'  
 (देवेषु मध्ये) 'सूर्ये' 'देवं' (सूर्यरूपेण वर्त्तमानमग्निसम्बद्धमेव)  
 'उत्तमं' 'ज्योतिः' 'अगम्य' (प्राप्ताः स्तः) ।

अथ विनियोगसङ्ग्रहः—

समास्ता सामिधेन्यः स्युर्दशैता आग्निके पशौ ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
 शत्रुघ्नहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥



ऊर्द्धा अस्य समिधो भवन्त्यूर्द्धा शुक्रा शोचीः श्व-  
मेः । द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः<sup>(१)</sup> । तनूनपादसुरो  
विश्ववेदा देवो देवेषु देवः । पशु आनक्ति मध्वा  
धृतेन<sup>(२)</sup> । मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशंसौ  
अग्ने । सुरुदेवः सविता विश्ववारः<sup>(३)</sup> । अच्छायमेति  
शवसा धृतेनेडानो वह्निर्नमसा । अग्निः सुचो अध्व-  
रेषु प्रयत्सु<sup>(४)</sup> । स यक्षदस्य महिमानमग्नेः सः ॥  
॥ १ ॥

ई मन्द्रासु प्रयसः । वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च<sup>(५)</sup> ।  
हारो देवीरन्वस्य विश्वे ब्रता ददन्ते अग्नेः । उरुव्य-  
चसो धाम्ना पत्यमानाः<sup>(६)</sup> । ते अस्य योषणे दिव्ये न-  
योनावुषासानक्ता । इमं यज्ञमवतामध्वरं नः<sup>(७)</sup> ।  
दैव्या होतारावूर्द्धमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतं ।  
क्षणतं नः स्विष्टिं<sup>(८)</sup> । तिस्रो देवीर्बर्हिरेदः सदन्विडा  
सरस्वती ॥ २ ॥

भारती मही गृणाना<sup>(९)</sup> । तन्नस्तुरीपमङ्गुतं पु-  
रुक्षु त्वष्टा सुवीरं रायस्योषं विष्यतु नाभिमस्ते<sup>(१०)</sup> ।  
वनस्पतेऽवसृजा रराणस्तमना देवेषु । अग्निर्हव्यः  
अमिता हृदयाति<sup>(११)</sup> । अग्ने स्वाहा क्षणुहि जातवेद  
इन्द्राय हव्यं । विश्वे देवा इविरिदं जवन्तां<sup>(१२)</sup> ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक  
आसीत् । स दाधारं पृथिवीं द्यां ॥ ३ ॥

उतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> । यः प्रा-  
णतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।  
य ईशे अस्य द्विपदंश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा  
विधेम<sup>(१९)</sup> । य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते  
प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य ह्यायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै  
देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> । यस्येमे हिमवन्तो महि-  
त्वा यस्य समुद्र रसया सह ॥ ४ ॥

आहुः । यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय  
हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> । यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अग्नै-  
क्षेतां मनसा रेजमाने । यत्राधि सूर उदिता व्येति  
कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> । येन द्यौरुग्रा पृथिवी  
च हृदं येन सुवः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे  
रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> । आपो  
ह यन्महतीर्विश्वं ॥ ५ ॥

आयन् दक्षं दधाना जनयन्तीरग्निं । ततो देवा-  
नां निरवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> ।  
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यदक्षं दधाना जनयन्ती-  
रग्निं । यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय  
हविषा विधेम<sup>(१९)</sup> ॥ ६ ॥

अग्नेः सः सरस्वती । आ । सह । विश्वं । अत-  
स्त्रिंशच्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके  
अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अष्टमोऽनुवाके अग्निचयनाङ्गभूते पशौ समिधेभ्योऽभिहिताः ।  
अथाष्टमे प्रयाजयाज्या आग्नी-नामका उच्यन्ते । कल्पः, ‘ऊर्ध्वा  
अस्य समिधो भवन्तीति प्रयाजानामाग्निप्रियो भवन्ति’ इति । तत्र  
प्रथमामाह,—“ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्तूर्ध्वा शुका घोषोऽ-  
अग्नेः । शुमन्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः<sup>(१)</sup>” इति । प्रयाजानां  
सर्वेषामग्निविशेषा एव देवताः । तत्र प्रथमप्रयाजदेवतामग्निविशेष-  
रूपामयं समिच्छब्द आचष्टे, सम्यगिन्धे (प्रकाशते) इति व्युत्पत्तेः ।  
वस्तुवचनं पूजार्थम् । ‘अस्य’ ‘अग्नेः’ स्वरूपविशेषभूताः ‘समिधः’  
समिन्नामका देवाः, ‘ऊर्ध्वा’ ‘भवन्तु’ (अस्यच्छेयोऽर्थमुद्युक्ता  
भवन्तु) । तद्योगात् ‘घोषोषि’ (ज्वालास्वरूपाणि) ‘ऊर्ध्वा’  
‘भवन्तु’ (उन्नतानि भवन्तु) । कीदृशानि घोषोषि ?—  
‘शुका’ (भास्वराणि), ‘शुमन्तमा’ (अतिव्रयेन दीप्तिमन्ति) ।  
कीदृशस्याग्नेः ?—‘सुप्रतीकस्य’ (सुमुखस्य) । ‘सूनोः’ (पुत्रवत्  
क्षितकारिणः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवा देवेभ्यु-  
देवः । पथ आगन्ति मध्वा घृतेषु<sup>(१)</sup>” इति । ‘तनूनपात्’ (तनू-  
पातयति \*विनाशयतीति ‘तनूनपात’, शरीरपातक इत्यर्थः) ।

एतन्नामकः कश्चिदग्निविशेषो 'मध्वा' (मधुरेण) 'घृतेन' 'पय' 'आनक्ति' (खर्गसाधनत्वेन तप्तमार्गभूतानि हवींषि घृतेन आक्तानि करोतु) । . कीदृशः तनूनपात् ?—(असृन् प्राणान् राति ददातीति) 'असुरः', अत एव शरीरपालक इति युक्तम् । (विश्वं वेत्तीति) 'विश्ववेदाः', 'देवः' (द्योतनात्मकः, मनुष्ये पूजनीयो वा) । न केवलं मनुष्येष्वेव 'देवः', अपि तु 'देवेषु' अण्यधिको 'देवः' ।

अथ तृतीया माह,—“मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराग्रंसे अग्ने । सुहृदेवः सविता विश्ववारः(१)” इति । नरैः ग्रंसनीयः 'नराग्रंसः' । एतन्नामकः कश्चिदग्निविशेषः । हे 'अग्ने', त्वं 'नराग्रंसे' भूत्वा 'मध्वा' (मधुरेण) घृतेन 'प्रीणानः' (हृष्यन्) इमं 'यज्ञं' 'नक्षसे' (प्राप्नोषि निर्वर्तयिष्यसीत्यर्थः) । कीदृशो नराग्रंसः ?—(सुहृ कुरोति, वैकुण्ठं परिहरतीति) 'सुहृत्', 'देवः' (द्योतनात्मकः), 'सविता' (कर्मण्यस्माकं प्रेरकः), (विश्वानि दुरितानि वारयतीति) 'विश्ववारः' ।

अथ चतुर्थी माह,—“अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वज्रिर्नमसा । अग्निश्च सुचो अध्वरेषु प्रयत्सु(२)” इति । 'ईडानः' इत्यग्निविशेषस्य वाचकं नामदेयं, स्तुतिप्रियत्वात् ईडान इत्युच्यते । एतन्नामकः 'अथं' 'वज्रिः' 'शवसा' (कलेन) युक्तः सन् 'अच्छ' (यज्ञं प्राप्तुम्) 'एति' (गच्छति) । तम् 'अग्निं' 'अध्वरेषु' 'प्रयत्सु' (यज्ञेषु प्रवर्तमानेषु) 'सुचः' 'घृतेन' (जुह्वनिष्ठेनाण्येन) 'नमसा' (नमस्कारेण) च परिचरेतीति शेषः ।

अथ पञ्चमीमाह,—“स यच्चदस्य महिमानमग्नेः सः । ई मन्त्रासु प्रयसः । वसुस्वेतिष्ठो वसुधातमस्य<sup>(५)</sup>” इति । बर्हिर्नामकः कश्चिदग्निविशेषः । प्रकृते, बर्हिरग्न आज्यस्य वेत्विति मन्त्रे प्रसिद्धत्वादिह प्रसिद्धनामकन\* तच्छब्देन परामृश्यते । ‘सः’ (तादृशः) बर्हिर्नामकोऽग्निविशेषः, ‘अस्य’ सामान्यरूपस्याग्नेर्महिमानं ‘यच्चत्’ (यजतु, पूजयतु) । ‘स ई’ (स एव बर्हिर्नामको वज्रिः) ‘मन्त्रासु’ (हर्षजनिकासु स्तुतिरूपासु ऋचु) ‘प्रयसः’ (प्रयासवान् अधिकपरिचर्यायुक्त इत्यर्थः) । किञ्च अयं बर्हिर्नामको वज्रिः ‘वसुः’ (प्राणिनां वामयिता) ‘चेतिष्ठः’ (अतिशयेनाभिज्ञः), ‘वसुधातमस्य’ (यजमानार्थं धनस्य धारयिता) ।

अथ षष्ठीमाह,—“द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रता दृदन्ते अग्नेः । उरव्यचसो धाम्ना पत्यमानाः<sup>(६)</sup>” इति । द्वारशब्देन स्त्रीमूर्तिधरः कश्चिदग्निविशेष उच्यते । पूजार्थं वज्रवचनम् । या देव्यो द्वारशब्दाभिधेयाः प्रथममग्नेर्ऋतमाचरन्ति, तत् ‘द्वारो देवीरनु’ ‘विश्वे’ (सर्वे यजमानाः) ‘अस्य’ अग्नेः सम्बन्धीनि व्रतानि कर्माणि ‘ददन्ते’ (हविः प्रयच्छन्ति) । कीदृशी-द्वारः ?—‘उरव्यचसः’ (विस्तीर्णगतीः), ‘धाम्ना पत्यमानाः’ (धाम्ना तेजसां पत्यमानाः, प्राप्यमाणाः) तेजस्विनोरित्यर्थः ।

अथ सप्तमीमाह,—“ते अस्य घोषणे दिव्ये न व्येनावुषासानक्ता । इमं यज्ञमवतामध्वरन्<sup>(७)</sup>” इति । ‘उषासा’ इत्युषः-कासरूपा काचिदग्नेर्मूर्तिः; ‘नक्ता’ इति च रात्रिरूपा काचि-

\* प्रसिद्धवाचकेन इति पाठो भवितुं युक्तः ।

इग्नेर्मूर्त्तिः, उवासा च नक्ता च 'उवासानक्ता' । एतन्नामके ये 'अस्य' अग्नेर्मूर्त्ति, ते 'नः' (अस्यदीयं) 'इमं यज्ञं' 'द्यौनौ' (अस्मिन् स्थाने) 'अध्वरं' (हिंमारहितं) यथा भवति, तथा 'अवतां' (रक्षतां) । कीदृशौ ते ?—'योषणे' (परस्परमिश्रिते) । तच्च दृष्टान्तः,—'दिव्ये न' (दिव्ये इव) यथा दुलोकस्थे मूर्त्तौ भासमाने भवतः, एवमेते मूर्त्तौ ।

अथाष्टमीमाह,—“दैव्या हेतारावूर्द्धमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतं । कृणुतं नः खिष्टिम्<sup>(८)</sup>” इति । हेतवशब्दाभिधेयौ द्वावग्निविशेषौ । हेतवश्च द्विविधः, दैव्यं मानुषश्च ; तत्रैतौ हेतारौ दैव्यौ । हे दैव्यौ 'हेतारौ' 'अग्नेः' 'जिह्वां' (ज्वालाम्) 'अभि'-लक्ष्य प्रवृत्तं, 'जर्द्धं' (अत्युच्छ्रितं) 'नः' 'अध्वरं' (अस्यदीयमिमं यज्ञं) 'गृणीतं' (प्रख्यापयतं) । किञ्च 'नः' (अस्यदर्थं) 'खिष्टिं' 'कृणुतं' (वैगुण्यं प्ररिह्य एतामिष्टिं शोभनां\* कुरुतम्) ।

अथ नवमीमाह,—“तिस्रो देवोर्बर्हिर् इदं स दन्विडा सरस्वती भारती । महो गृणाना<sup>(९)</sup>” इति । 'इडा-सरस्वती-भारती'-त्यादिशब्दवाच्यास्तिस्रो देव्योऽग्निमूर्त्तयेऽं याः सन्ति, तन् 'इदं' 'बर्हिः' (इमं यज्ञं) 'आ-' 'सदन्तु' (प्रीप्नुवन्तु) । इडा-सरस्वती-भारतीत्यादीनां प्रत्येकं विशेषणमुच्यते, 'महो' (महती), 'गृणाना' (यज्ञं प्रख्यापयन्ती) ।

अथ दशमीमाह,—“तत् नस्तुरोपमहृतं पुरुषु लघा सुवीरं । रायस्योषं विष्यतु नाभिमस्ते<sup>(१०)</sup>” इति । 'लघा'—इति कश्चि-

\* इष्टिशोभनामिति सर्वत्र पाठो न सत्यम् ।

दग्निविशेषः । सोऽयम् 'अग्ने' (अस्मात्सु) 'तत्' ऐश्वर्यं 'विष्पतु' (विशेषेणावसितं करोतु) मन्पूर्णे करोत्वित्यर्थः । कोदृशमैश्वर्यं ?—'नः' (अस्मादर्थं), 'तुरोप' (तृष्णमेव प्राप्यमाणं), 'अहुत' (गवाश्वादि-बाहुल्येनाश्चर्यरूपं), 'पुरुचु' (बहुभिर्मनुष्यैः क्षूयते शब्दगते प्रशस्यते इति 'पुरुचु'), (शोभना वीराः पुत्रा यस्मिन्, तत्) 'सुवीरं', (रायो धनस्य, पोषः पुष्टिर्यस्मिन् तत्) 'रायस्योषं' । 'नाभिं' (रथचक्रगतानामगाणां नाभिमिव\* सर्वेषां बन्धूनामाग्र्यभूतम्) ।

अथैकादशीमाह,—“वनस्पतेऽवसृज जा रराणः त्मना देवेषु । अग्निर्हव्यं शमिता सृदयाति<sup>(११)</sup>” इति । वनस्पतिनामकः कश्चिदग्निविशेषः । हे 'वनस्पते', त्वं 'रराणः' (दानशीलः सन्, रममाणो वा) 'देवेषु' (अस्माभिर्दृष्टव्येषु) 'त्मना' 'अवसृज' (अस्मादत्तं हविः स्वयमेव स्थापय) । अस्माभिः प्रार्थितोऽयम् 'अग्निः' 'शमिता' (दरितोपशमस्य कर्त्ता सन्) 'हव्यं' 'सृदयाति' (अस्मादीयं हविर्देवेषु सृदयतु) ।

अथ द्वादशीमाह,—“अग्ने स्वाहा छणुहि जातवेद इन्द्राय हव्यं विष्णे देवा हविरिदं जुषन्ताम्<sup>(१२)</sup>” इति । स्वाहा-काराभिमानो कश्चिदग्निविशेषः । तादृश हे 'जातवेदः' 'अग्ने', इन्द्रार्थम् इदं 'हव्यं' 'स्वाहा छणुहि' (स्वाहुतं क्षुह) । 'विष्णे देवाः' (सर्वेऽपि देवाः), तदा-तदा मया दीयमानम् 'इदं' 'हविः' 'जुषन्ताम्' । यद्यथैकादशैव प्रयाजाः, तथापि द्वितीयतृतीययो-

मन्त्रयोः पुरुषभेदेन व्यवस्थितत्वान्मन्त्राणां द्वादशसङ्ख्या न वि-  
रुध्यते । सा च व्यवस्था सूचकारेण दर्शिता,—‘नराश्र५ सो द्वितीयः  
प्रयाजो वसिष्ठ३ नृनकानां, तनूनपादितरेषां गोत्राणाम्’ इति ।

कल्पः, ‘हिरण्यगर्भः समवर्त्तताये इति सूचामाधारयति’ इति ।  
पाठस्तु,—“हिरण्यगर्भः समवर्त्तताये भूतस्य जातः पतिरेक  
आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा  
विधेम<sup>(१९)</sup>” इति । हिरण्ये ब्रह्माण्डरूपे गर्भरूपेणावस्थितः  
प्रजापतिः ‘हिरण्यगर्भः’, स च ‘भूतस्य’ (प्राणिजातस्य) ‘अग्रे’  
‘समवर्त्तत’ (प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा ‘स्वयं शरीरधारो बभूव) । स  
च ‘जातः’ (उत्पन्नमात्रः) ‘एक’ एव उत्पत्त्यमानस्य सर्वस्य जगतः  
‘पतिः’ ‘आसीत्’ । स एव ‘पृथिवीं’ ‘द्यां’ (विस्तीर्णां दिवं)  
‘दाधार’ (धृतवान्) । ‘उत’ (अपि च) ‘इमां’ (भूमिं) ‘दाधार’,  
तादृशाय ‘कस्मै’ (प्रजापतये) ‘देवाय’ (आधाररूपेण) ‘हविषा’  
‘विधेम’ (परिचरेम) ।

कल्पः, ‘यः प्राणतो य आत्मदा इति प्राजापत्यस्य’ इति ।  
यः पण्डुः प्राजापत्यस्तस्यैते याज्यानुवाक्ये इत्यर्थः । तच्चूवपायां  
दे अचौ, पुरोडाशे दे अचौ, हविषि दे अचाविति षड् अचो  
याज्यानुवाक्याः । तच्च प्रथमामाह,—“यः प्राणतो निमिषतो  
महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव । य ईशे अस्य द्विपदस्तुष्यदः  
कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup>” इति । ‘यः’ (प्रजापतिः) ‘एक  
इत्’ (एक एव) ‘प्राणतः’ (आसयुक्तस्य), ‘निमिषतः’ (चक्षुर्निमेष-  
युक्तस्य) सर्वस्य ‘जगतः’ ‘महित्वा’ (समहिता) ‘राजा’ ‘बभूव’ ।



अत एव 'यः' (प्रजापतिः) 'अस्य' 'द्विपदः' (मनुष्यादेः) 'चतु-  
ष्पदः' (पश्यादेः) च 'ईदमे' (नियमनाय समर्थो भवति), तादृशाव  
'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ।

अथ द्वितीयामाह,—“य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपा-  
सते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य क्वाथामृतं यस्य मृत्युः कस्मै  
देवाय हविषा विधेम<sup>(१५)</sup>” इति । 'यः' (प्रजापतिः) 'आत्मदाः'  
(शरीरेषु जीवरूपेणात्मप्रदः), 'बलदाः' (सामर्थ्यप्रदश्च) । 'यस्य'  
(प्रजापतेः) 'प्रशिषं' (आज्ञां) 'विश्वे' (सर्वे मनुष्याः) 'उपासते'  
(जातिवर्त्तने) । किञ्च 'यस्य' 'प्रशिषं' 'देवाः' अयुपासते ।  
'अमृतं' (मोक्षरूपं) 'यस्य क्वाथा' (यस्य प्रजापतेः क्वाथावत् स्वाधीनं),  
'मृत्युः' (प्राणिनां मरणमपि) यस्य क्वाथेव स्वाधीनः; तादृशाव  
'कस्मै देवाय हविषा विधेम' इति ।

अथ तृतीयामाह,—“यस्येमे हिमवन्तो महिषा यस्य  
समुद्रः रम्या सह । आहुः यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाह्व कस्मै  
देवाय हविषा विधेम<sup>(१६)</sup>” इति । 'इमे हिमवन्तः' (हिमवत्प्र-  
मुखाः पर्वताः) 'यस्य' 'महिषा' (महिम्ना) वर्त्तन्ते । 'रम्या'  
(भूम्या) 'सह' अवस्थितं 'समुद्रं' 'यस्य' स्वाधीनम् 'आहुः' ।  
'यस्येमाः प्रदिशः' (इमा दृश्यमानाः, प्रदिशः प्राच्यादिदिशः) ।  
यस्य अधोना 'आहुः' । 'यस्य' (प्रजापतेः) 'बाह्व' धर्माधर्माविति  
शेषः । तादृशाव 'कस्मै' इत्यादि ।

अथ चतुर्थीमाह,—“यं क्रन्दसी अवसा तस्तुभाने अयैज्ञेतां  
मगसा रेजमाने । यत्राभि सूर उदितौ वोति कस्मै देवाय

हविषा विधेम<sup>(१०)</sup>” इति । प्रजापतेः क्रन्दनाद्देवनादुत्पन्ने  
 द्यावापृथिव्यौ ‘क्रन्दसी’, अत एवान्यत्राद्यातम्, ‘यदरोदीत्  
 तदनयोः रोदस्त्वम्’ इति । ते ‘द्यावापृथिव्यौ’ ‘अवसा’ (रक्षणेन  
 निमित्तेन) ‘यं’ (प्रजापतिं) ‘मनमा’ ‘अभ्यैचेतां’ (अभित ईक्षणं  
 कृतवत्यौ) अयमावां रक्षत्वित्याशासनं कृतवत्यावित्यर्थः । कीदृश्या  
 द्यावापृथिव्यौ ?—‘तस्तुभाने’ (देवानां मनुष्याणाञ्चावस्थानाय  
 स्तुभिते), ‘रेजमाने’ (दीप्यमाने), ‘सूरः’ (सूर्यः) ‘यत्राधि’  
 (यस्मिन् प्रजापतावधिकृत्य) ‘उदितौ व्येति’ (उदयविषये विविधं  
 गच्छति), तादृशाय ‘कस्मै’ इत्यादि ।

अथ षष्ठ्यमीमाह,—“येन द्यौरद्या पृथिवी च दृढे येन  
 सुवः स्तुभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै  
 देवाय हविषा विधेम<sup>(१८)</sup>” इति । ‘उद्या’ (पुष्करहितैः प्राणि-  
 भिरुप्रापा) ‘द्याः’ ‘पृथिवी’ चेत्येते उभे ‘येन’ (प्रजापतिना)  
 ‘दृढे’ कृते । ‘सुवः’ (स्वर्गसुखं) ‘येन’ (प्रजापतिना) ‘स्तुभितं’  
 (पुष्पकृतसु व्यवस्थापितं) । ‘नाकः’ (दुःस्वरहितो मोक्षः) ‘येन’  
 (प्रजापतिना) ज्ञानिषु स्तुभितः । ‘यः’ च प्रजापतिः अन्तरिक्ष-  
 लोके ‘रजसः’ (राजसस्य यच्चगन्धर्वादे) ‘विमानः’ (विमाता,  
 निर्माता) । तादृशाय ‘कस्मै’ इत्यादि ।

अथ षष्ठ्यमीमाह,—“आपो ह यन्महतीर्विश्वं । आयन् दक्षं  
 दधाना जनयन्तीरग्निः । ततो देवानां निर्वर्त्ततासुरेकः कस्मै  
 देवाय हविषा विधेम<sup>(१९)</sup>” इति । ‘यत्’ (यस्य प्रजापतेरनुग्रहात्)  
 ‘महतीः’ (महत्यः) ‘आपः’ ‘विश्वम्’ ‘आयन्’ (विश्वाकारं प्राप्ताः) ।

अत एव स्मर्यते, 'अप एव ससर्जादौ तासु धीर्यमवाहजत्\*' । तदण्डमवद्वैमम्' इति । कीदृश्य आपः ?—'दक्षं' (अग्निचयने कुशलं यजमानं) 'दधानाः' (धारयन्त्यः, उत्पादयन्त्यः), तथा चेत्तद्यं 'अग्निं' 'जनयन्तोः' (उत्पादयन्त्यः) । 'ततः' (तस्मात् प्रजापतेः) 'देवानां' (सर्वेषां) 'असुः' (जीवनहेतुः प्राणः) 'एकः' 'निरवर्त्तत' (निष्पन्नः), तादृशाय 'कस्मै' इत्यादि । सेयमृक् षष्ठी, हविषो याज्या ।

तत्रैवान्यां विकल्पितां याज्यामाह,—“यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तोरग्निं । यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१०)</sup>” इति । 'आपः' इति द्वितीयावज्जवचनं । 'यश्चित्' (य एव प्रजापतिः) पूर्वाक्तस्तीत्या विश्वाकारेण परिणता महतीरपः 'स्वमहिना' (महिम्ना) 'पर्यपश्यत्' (अपां तथाविधमामर्थ्याय कटाक्षेण वीक्षितवान्) । कीदृशीरपः ?—'दक्ष दधाना' 'अग्निं' 'जनयन्तोः'; पूर्ववद्वाख्येयम् । 'यः' (प्रजापतिः) 'देवेषु' (सर्वेष्वधिकः) 'देवः' 'आसीत्' । तादृशाय 'कस्मै' इत्यादि ।

एतस्मिन् “ऊर्द्धा अस्त्रं” इत्यादावष्टमानुवाके प्रयाजयाज्या आप्री-नामिकाः, आचारमन्त्रो, याज्यानुवाक्याश्चोक्ताः । पूर्वस्मिंस्तु सप्तमानुवाके सामिधेन्योऽभिहिताः । तासामेतासामुभयविधानाभ्यां पशुप्रयोगान्तःपातित्वेन पशुविधिमन्तरेण व्याख्यातुमशक्यत्वात् पशुविधिरादौ च वक्तव्यः । तेभ्योऽपि पशुभ्यः पुरुषशीर्षस्य पूर्वे

\* मुद्रितमनुकृतौ धीममवाहजत् इति पाठः ।

सम्पादनीयत्वादादौ तत्सम्पादनं विधत्ते,—“एकविंशत्या माषैः  
 पुरुषशीर्षमच्छेत्त्यमेध्या वै माषा अमेध्यं पुरुषशीर्षममेधैरेवास्त्रा-  
 मेध्यं निरवदाय मेध्यं कृत्वा हरति” (५।१।८अ०) इति ।  
 एकविंशतिसङ्ख्याकानि माषबीजानि स्वीकृत्य तैर्युक्तं ‘पुरुषशीर्षं’  
 ‘अच्छ’ (प्राप्नुम्) ‘एति’ (गच्छेत्) । तथा च सूत्रकारेणोक्तम्,  
 ‘सप्तैकविंशतिं वा माषानादाय पुरुषशिरोऽच्छेति वैश्वस्व  
 राजन्यस्य च द्रुह्यतस्याग्निहतस्य वा माषानुपन्युष्य अयं योऽसि  
 यस्य न इदं शिर इति पुरुषशिरः प्रच्छिद्यैतेन त्वमच शीर्षणा-  
 नेधीति सप्तधा विट्पां बल्लोकवपां शिरसः स्थाने प्रति-  
 निदधाति’ इति । माषास्तावदपूतत्वात् यज्ञानर्हाः, पुरुषशीर्षश्च  
 अस्पृश्यत्वात् यज्ञानर्हम् । ततो यथा रजका मलरूपेण ऊषेण  
 वस्त्रमलमपनीय शोधयन्ति, एवमत्रापि ‘अमेधैः’ ‘माषैः’ शिरो-  
 निष्ठम् अमेध्यभागं निःसार्य तच्छिरो यज्ञयोग्यं कृत्वा समा-  
 नयति ।

माषसङ्ख्यां प्रशंसति,—“एकविंशतिर्भक्त्येकविंशो वै पुरुषः  
 पुरुषस्तास्यै” (५।१।८अ०) इति । एकविंशतिसङ्ख्यापूरकत्वं  
 पुरुषस्यान्यत्रास्मात्, ‘दश हस्त्या अङ्गुलदौ दश पद्या\* आत्मैक-  
 विंशः’ इति । अत्रापि माषसङ्ख्या पुरुषप्राप्तौ सम्यङ्गते ।

शिरोच्छेदादूर्ध्वं † शिरोरहिते कबन्धे वल्लोकवपास्थापनं  
 विधत्ते,—“व्यूहं वा एतत् प्राचीरमेध्यं यत् पुरुषशीर्षं सप्तधा

\* पाद्या इति J. पु० पाठः ।

† शिरुच्छेदादूर्ध्वम् इति पाठो भवितुं युक्तः ।

विहृणां वस्तीकवपां प्रतिनिदधाति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणैरेवैनत् समर्द्धयति मेध्यत्वाद्य” (५।१।८अ०) इति । यत् किञ्च शिरसदेतत् प्राणैर्वियुक्तत्वादमेध्यम्, अतस्तदपनीय अन्तस्थितसप्तच्छिद्रोपेतां वस्तीकस्य काञ्चिदपाकारां मृत्संहतिं शिरसः स्थाने प्रतिनिदधाति, जीवतः पुरुषस्य शिरोगतच्छिद्रेषु सप्तसु सञ्चरन्तः प्राणा अपि सप्तैव । अतः सप्तच्छिद्रोपेताया वपाया-  
कोच स्थापनेन एतच्छिरोऽपि प्राणैः समर्द्धं भवत्येव । तच्च प्राणोपेतत्वं ‘मेध्यत्वाद्य’ सम्यद्यते ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘योऽस्य कौष्ठ्य (?) जगत इति तिस्र ऋचः षड्विंशति अन्ते यदुक्तं तिस्रभिर्धमगाथाभिः परिगायति’ इति, तदेतद्विधत्ते,—“यावन्तो वै मृत्युबन्धवस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय यमगाथाभिः परिगार्यति यमादेवैनद् वृक्ले” (५।१। ८अ०) इति । ‘हिरण्यकक्ष्यान् सुधुरान्’ इत्यादिमन्त्रेणाज्ञाताः, अन्यत्रापि कालान्तकादिशब्दैरज्ञाता ‘मृत्युबन्धवः’ ‘यावन्तः’ सन्ति, ‘तेषां’ सर्वेषाम् ‘आधिपत्यं’ ‘यमः’ प्राप्तवान् । यमो गीयते यासु ऋचु ता ‘यमगाथाः’, तासां पाठेन यमसंकाशात् ‘एनत्’ (पुरुषशिरः) ‘वृक्ले’ (वर्जितं करोमि\*) । तासु यमगाथाः ‘योऽस्य कौष्ठ्य’-इत्याद्याः आरण्य-काण्डे पितृमेधप्रपाठके समाज्ञाताः ।

अत्रापेक्षितानां गाथानां सङ्ख्यां विधत्ते,—“तिस्रभिः परि-  
गायति चय इमे लोका एभ्य एवैनत् लोकेभ्यो वृक्ले” (५।१।८अ०)

\* करोति इति पाठो भवितुं युक्तः ।

इति । 'एनत्' (शिरः) 'लोकेभ्यः' पृथक्कृत्य स्वाधीनं करोतीत्यर्थः ।

प्रसङ्गात् पुरुषार्थे कश्चिन्निषेधं दर्शयति,—“तस्माद्वायते न देयं  
गाथा हि तद् दृष्टे” (५।१।८अ०) इति । यस्तु ब्राह्मणो ब्रह्म-  
नाथ्यापनप्रतिपदादीन् परित्यज्य गानेनैव जीविकां सम्पादयति,  
तादृशाय ब्राह्मणाय शास्त्रीयं 'देयं' किमपि न दद्यात् । 'हि'  
(यस्मात्) 'गाथा' (गानविद्यैव) 'तत्' द्रव्यम् अनेधं कृत्वा 'दृष्टे'  
(देवपितृकार्येभ्यो वर्जयति) । 'तस्मात्' तादृशाय 'न देयम्' ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, 'अग्निभ्यः कामाय पशूनालभते मुष्करान्  
प्राजापत्यमजं' परमुपाकृत्याश्वर्षभवृष्णिबस्तान् इति, तदेतद्  
विधत्ते,—“अग्निभ्यः पशूनालभते कामा वा अग्नयः कामानेवाव-  
बन्धे” (५।१।८अ०) इति । काम्यन्ते इति 'कामाः' पुत्रपश्वा-  
दयः, तद्धेतवः 'अग्नयः', तस्मात् 'कामान्' प्राप्नोत्येव ।

एतेषु पशूषु कश्चिद्विशेषं विधत्ते,—“यत्पशूनालभेतामवरुद्धा  
अस्य पशवः स्युर्यत् पर्यग्निकृतानुसृजेद् यज्ञवेशसं कुर्याद् अस्य-  
स्थापयेद् यतयामानि शीर्षाणि स्युर्यत् पशूनालभते तेनैव  
पशून्वरुन्धे यत्पर्यग्निकृतानुसृजति शीर्षामयातयामत्वाय आज्ञा-  
पत्येन सः स्थापयति यज्ञो वै प्रजापतिर्यज्ञ एव यज्ञं प्रतिष्ठाप-  
यति” (५।१।८अ०) इति । अत्रेदं चिन्तनीयम्,—किमाग्नेयाः  
पशव एव न आलभ्याः, किंवा तान् पशून्पाकृत्य पर्यग्निकरणा-  
द्वृद्धमुसृजेत्, आद्येऽस्मिन् संमार्तिपर्यन्तमनुतिष्ठेत्? इति । नाद्यः,  
पशून्प्राप्त्यभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, मध्ये परित्यागेन यज्ञभ्रंश-  
प्रसङ्गात् । न तृतीयः, अत्रैव अश्वर्षभ-वृष्णिबस्तानां गतसारत्वेन ।

भाविन्यां चित्यामनुपधेयत्वप्रसङ्गात् । एतद्दोषत्रयपरिहारायेत्यं  
कर्त्तव्यम्,—आलम्बेन, उत्सर्गेण च प्रथमद्वितीयदोषौ न भविष्यतः ।  
प्रजापत्येन तूपरेण पशुना समापनाद्यञ्चभ्रंशरूपो मध्यमदोषो  
ऽपि न भविष्यति; यज्ञोत्पादकत्वात् ‘प्रजापतिः’ ‘यज्ञः’ एव, ततो  
यज्ञरूपे प्रजापतावेव क्रियमाणं ‘यज्ञं’ ‘प्रतिष्ठापयति’ (समा-  
पयति) । इत्यमुपोद्घातत्वेन पशवो विहिताः । अथानुवाकद्वयोक्ता  
मन्त्रा व्याख्यातव्याः ।

यद्यपि सामिधेन्यः पूर्वानुवाकोक्ताः, पूर्वानुष्ठेयाश्च ; तथापि  
“अभ्यर्हितं पूर्वम्” (१।२।३४ सू०वा०) इति वैयाकरणोक्तन्यायेन  
प्रयाजयाज्यानां प्रीतिहेतूनामभ्यर्हितत्वात् सूचीकटाह्न्यायेनाप्य-  
वक्तव्यत्वाद्वा ता एव आप्रीः प्रथमं विधत्ते,—“प्रजापतिः प्रजा  
असृजत स रिरिचानोऽमन्यत स एता आप्रीरपश्यत् ताभिर्वै स  
मुखत आत्मानमाप्रीणीत यदेता आप्रियो भवन्ति यज्ञो वै  
प्रजापतिर्यज्ञमेवैताभिर्मुखत आप्रीणाति” (५।१।८ अ०) इति ।  
प्रजासृष्टौ सामर्थ्यस्योपिचीणत्वात् रिक्तोऽहमिति ‘स’ ‘प्रजापतिः’  
‘अमन्यत’, ततः सामर्थ्यपूरका ‘एता’ ‘आप्रीः’ (मनसा विचार्य  
निश्चितवान्) । ततः ‘ताभिः’ एव (आप्रीभिः) ‘स’ (प्रजापतिः)  
यज्ञप्रारम्भ एव स्वात्मानं प्रीतमकरोत् । तथा प्रयाजानुष्ठानार्थम्  
‘एता’ आप्रीनामका ऋचो भवेयुः । आत्मानम् आप्रीणा-  
त्येताभिरिति “ऊर्द्धा अस्व” इत्याद्यां ऋचः ‘आप्रियः’ । प्रजा-  
पतिजन्यत्वात् ‘यज्ञः’ ‘प्रजापतिः’ एव ; अतः प्रजापतिवत् एतमेव  
‘यज्ञम्’ ‘एताभिः’ ऋग्भिः ‘मुखतः’ एव प्रीतं करोति ।

तासामाग्रीणां वज्रप्रकारच्छन्दस्त्वं पाठप्राप्तं प्रशंसति,—  
 “अपरिमितकृन्दसो भवन्त्यपरिमित. प्रजापतिः प्रजापतेराष्ट्यै”  
 (५।१।८अ०) इति । वज्रप्रकारच्छन्दस्त्वं चेवं द्रष्टव्यं, सर्वाद्येता-  
 स्त्रिपदाः, आसामाद्या अन्याश्च - पादा एकादशाक्षराः ; मध्यमः  
 पञ्चाक्षरः, षडक्षरः सप्ताक्षरोऽष्टाक्षरश्च पादः । ता एताः  
 पिपीलिकामध्यास्त्रिपदा उष्णिहः । “दैव्या होतारावूर्द्ध्वं” “तिस्रो  
 देवीः” इति च गायत्र्याविति ।

एषां कृन्दसां मध्यमपदेषु यदेतत्तारतम्यं, तदिदं प्रशंसति,—  
 “जनातिरिक्ता मिथुनाः प्रजात्यै” (५।१।८अ०) इति ।  
 पञ्चाक्षरत्वमारभ्य अष्टाक्षरत्वपर्यन्तेषु उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वस्य  
 जननम्, पूर्वपूर्वापेक्षया तत्तरोत्तरस्य अतिरिक्तत्वम् । एवं  
 कोटिद्वयात्मकत्वान्मिथुनत्वम् । तच्च प्रजननाय सम्यद्यते ।

आद्यन्तपादापेक्षया मध्यमपादस्य यदल्पत्वं तदिदं प्रशंसति,—  
 “लोमशं वै नमिषेच्छन्दः प्रजापतेः पशवो लोमशाः पशून्नेवाव-  
 दन्ते” (५।१।८अ०) इति । लोमसदृशं सूक्ष्मं मध्यं यस्य कृन्दसः  
 तदिदं ‘लोमशं’, यथा हस्तपादतदङ्गुल्याद्यपेक्षया “लोमः  
 सूक्ष्मत्वम्, एवमाद्यन्तपादापेक्षया मध्यमपादस्य सूक्ष्मत्वमित्यर्थः ।  
 ‘प्रजापतेः’ सृष्टा ये ‘पशवः’ ते सर्वे ‘लोमशाः’, अतोऽस्य कृन्दसो  
 लोमशत्वसाम्येण पशुप्राप्तिर्भवति ।

एतासु आग्रीषु कृन्दसां नानाविधत्वं प्रशंसति,—“सर्वाणि-  
 वा एता रूपाणि सर्वाणि रूपाण्यग्नौ चित्ये क्रियन्ते तस्मादेता  
 अग्नेश्चित्यस्य भवन्ति” (५।१।८अ०) इति । “ऊर्ध्वा अस्त्र” इत्याद्या-



या आप्रियः, ताः 'सर्वाणि' 'रूपाणि' (न्यूनातिरिक्तभावेन वज्रविधिरूपयुक्ता) भासन्ते । यच्च वक्ष्यमाणप्रकारेण चेतयोऽग्निः तस्मिन्नपि 'अग्नौ' 'सर्वाणि' 'क्रियन्ते' । पृथिवीनिष्यत्तथे पञ्च-पुष्पादीनि बहूनि रूपाणि, कामनाभेदेन श्वेनकङ्कादिरूपाणि च । यस्मादाग्नीषां चित्याग्नेश्चास्ति सादृश्यं; 'तस्मादेता' 'अग्नेश्चित्यस्य' आप्रियो भवितुं योग्याः ।

तदेवमष्टमानुवाकोक्ता आप्रोर्व्याख्याय, वज्रवक्तव्यतया पूर्व-मुपेक्षिताः सप्तमानुवाकोक्ताः सामिधेन्यः प्राप्ता दशाग्निक्यो व्याख्यायन्ते । तत्रैतासां सामिधेनोनां प्राकृतीभिः सामिधेनोभिः सह समुच्चयमभ्युपेत्य सङ्ख्याविशिष्टाः सामिधेनोर्विधत्ते,— “एकविंशतिं सामिधेनीरन्वाह रुग्वा एकविंशो रुचमेव गच्छत्यथो प्रतिष्ठामेव प्रतिष्ठा ह्येकविंशः” (५।१।८अ०) इति । सूचकारेण, 'एकादश प्राकृतीः समास्त्राग्ने' इति 'दश आग्निकीः' इति ह्युक्तं । सप्तमकाण्डे, “य एवं विद्वांस एकविंशतिराचमासते रोचन्त एव” (२।१०) इत्येकविंशतिसङ्ख्याया दोप्तिहेतुत्वश्रवणादचत्यया सङ्ख्याया बुद्धिस्तु एकविंशस्तोमो दोप्तिरूपः, तथा प्रकृतौ काम्यसामिधेनोप्रस्तावे एकविंशस्तोमानां प्रतिष्ठेत्युक्तत्वात् प्रतिष्ठा-रूपश्च ; अतस्तथा सङ्ख्याया रुचं प्रतिष्ठाञ्च प्राप्नोति ।

तत्रैव विलक्षितं पञ्चान्तरं विधत्ते,— “चतुर्विंशतिमन्वाह चतुर्विंशतिरर्द्धमासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः साक्षादेव वैश्वानरमवदन्त्ये” (५।१।८अ०) इति । तत्र शाखान्तरोक्ता 'उपेम-कृत्वा वा ऋगुः(१)' इत्याद्यास्तिस्रो धाव्याः प्रक्षिप्य चतुर्विंशतिसङ्ख्या

पूरणीया । विश्वेष्वां नराणां हितः 'वैश्वानरः', दाहपाकादिकृति-  
त्वात् हितत्वम् । तादृशोऽग्निः संवत्सररूपः । 'संवत्सरमुखं भूत्वा'  
इत्यग्नेः संवत्सरसम्बन्धस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ततश्चतुर्विंशतिसंख्याया  
वर्द्धमाससंवत्सरद्वारेण मुख्यमेव वैश्वानरं प्राप्नोति ।

प्रकृतौ यदुक्तं 'त्रिःप्रथमामन्वाह चिरुत्तमाम्' इति,  
तदेतदपवादितुं विधत्ते,—“पराचीरन्वाह पराडिव हि सुवर्गो  
लोकः” (५।१।८अ०) इति । 'पराचीः' अनादृताः । स्वर्गलोको-  
ऽपि पराडेव न कदाचिदावर्तते । तदेतत् सर्वं सूत्रकारेण  
सङ्गृहीतम्,—‘एकविंशति चतुर्विंशति वा पराचीः सामिधेनी-  
रन्वाह’ इति ।

तत्राग्निकीषु प्रथमाया ऋचः प्रथमपादे संवत्सरवाचिनः  
समाशब्दस्य ऋतुशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“समास्त्वाम् ऋतवो  
वर्द्धन्वित्याह समाभिरेवाग्निं वर्द्धयत्युतुभिः संवत्सरम्” (५।१।  
८अ०) इति । 'ऋतवः प्रवर्त्तमानाः संवत्सरं पूरयन्ति ; संवत्सरं  
च उखाग्निधारणेनाग्निं वर्द्धयन्ति (?) ।

एवमृत्तनां संवत्सरस्य चाभिवृद्धिसमर्थनत्वं प्रतिपाद्य 'चतुर्थ-  
पादे 'आभाहि' इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“विश्व आभाहि  
प्रदिशः पृथिव्या इत्याह तस्मादग्निः सर्वा दिशोऽनुविभाति”  
(५।१।८अ०) इति ।

नवम्या ऋचस्कृतीयपादे 'प्रत्यौहताम्' इति पदस्य तात्पर्यं  
दर्शयति,—“प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मादित्याह मृत्युमेवास्मा-  
दपनुदति” (५।१।८अ०) इति ।

दशमसूचः प्रथमपादे तमःशब्दार्थं दर्शयति,—“उदयं तमसस्यगीत्याह पाप्मा वै तमः” पाप्मानमेवास्मादपहन्ति” (५। १। ८ अ०) इति ।

चतुर्थपादे ज्योतिःशब्दार्थं दर्शयति,—“अगन्म ज्योतिरुत्तम-  
मित्याहसौ वा आदित्यो ज्योतिरुत्तममादित्यस्यैव सायुज्यं  
गच्छति” (५। १। ८ अ०) इति । सायुज्यं सहभावम् ।

“उदयं तमसस्यरि” इत्यस्या सूचः पाठप्राप्तं चरमभावित्वं  
प्रशंसति,—“न संवत्सरस्तिष्ठति नास्य श्रीस्तिष्ठति यस्यैताः  
क्रियन्ते ज्योतिभतीमुत्तमामन्वाह ज्योतिरेवास्मा उपरिष्ठाद्धाति  
सुवर्गस्य लोकस्यानुख्यातौ” (५। १। ८ अ०) इति । ‘यस्य’  
(यजमानस्य) ‘एताः’ “समास्वाग्ने” इत्याद्याः सास्रिधेयः  
‘क्रियन्ते’, तस्य स्वर्गाधिगत्यर्थमुख्याग्निः। धरणहेतुः ‘संवत्सरो’ वा,  
एतर्दाग्निसाधनसमूहरूपा ‘श्रीः’ वा ‘न तिष्ठति’ (न पर्याग्नेति),  
ज्योतिर्विरहात् ताभ्यां स्वर्गो नाधिगम्यत इत्यर्थः । अथ  
स्वर्गाधिगतिचमां ‘ज्योतिभतीम्’ क्वचम् ‘उत्तमां’ ब्रूयात् ।  
‘पश्यन्तो ज्योतिः’ इत्येवं ज्योतिःशब्दस्य विद्यमानत्वात् “उदयं  
तमसस्यरि” इत्येषा ज्योतिभतो, ‘अस्मै’ (यजमानार्थं), ज्योतिष  
उपरि-धारणादूर्द्धदेशवर्त्ती स्वर्गलोकोऽनुख्यातो भवति ॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

उर्ध्वाः प्रयाजयाज्याः सुर्द्धाद्ग्राऽऽश्रोतिनामकाः ।

हिर, सुवाऽऽचारहोमो, यः प्राणेति इयं इयम् ॥

याज्यानुवाक्ये हि वपा-पुरोडाशहविष्यताः\* ।

यश्चित्, विकल्पितो मन्त्र इति विंशतिरोरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठकेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

— ४१ —

आ॑कू॒तिम॑ग्निं प्र॒युज॑स्व स्वाहा॑ म॒नो मे॒धाम॑ग्निं प्र॒यु-  
ज॑स्व स्वाहा॑ चि॒त्तं वि॒ज्ञात॑म॒ग्निं प्र॒युज॑स्व स्वाहा॑ वा॒चो  
वि॒धृति॑म॒ग्निं प्र॒युज॑स्व स्वाहा॑ प्र॒जाप॑तये॒ मन॑वे स्वाहा॑-  
ऽग्नये॑ वैश्वान॒राय॑ स्वाहा॑ विश्वे॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्म॑त्तो वृ॒णीत  
स॒ख्यं विश्वे॑ रा॒य इ॑षु॒ध्यसि॑ द्यु॒म्नं वृ॒णीत पु॒ष्यसे॑ स्वाहा<sup>(१०)</sup>  
मा सु॑ भि॒त्या मा सु॑ रि॒षो ह॑स्व वी॒र्य॑ इ॒स्व सु॑ ।  
अ॒म्ब धृ॑ष्णु वी॒र्य॑स्व ॥ १ ॥

अग्निश्च॒दं क॑रिष्यथः<sup>(८)</sup> । ह॑स्व दे॒वि पृ॒थिवि॑  
स्व॒स्त्वये॑ । आ॒सुरी॑ मा॒या स्व॒धया॑ कृ॒तासि॑ । जुष्टं॑ दे॒वा-  
नामि॒दम॑स्तु ह॒व्यम॑रि॒ष्टा त्वमु॑द्दि॒हि यज्ञे॑ अ॒स्मिन्<sup>(९)</sup> ।  
मि॒त्रैता॑मु॒खां तपै॑षा मा भे॒दि । ए॒तां ते॒ परि॑द॒दाम्य॑-  
भि॒त्यै<sup>(१०)</sup> । द्र॒व्नः स॒र्पिरा॑सु॒तिः प्र॒तो हे॒ता वरे॑ण्यः ।

\* याज्यानुवाक्ये हि, वपा पुरोडाशहविष्यताः ॥-

इति पाठो भवितुं युक्तः ।

सहसस्पुत्रो अद्भुतः<sup>(११)</sup> । परस्या अधि स्वतोऽवराः  
अभ्या ॥ २ ॥

तर । यचाहमस्मि ताः अत्र<sup>(१२)</sup> । परमस्याः पराव-  
तो रोहिदश्च इहागृहि । पुरीषः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं  
तरा मृधः<sup>(१३)</sup> । सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने  
वयुनानि विद्वान् । मैनामर्चिषा मा तपसाभि शूशु-  
चोऽन्तरस्याः शुक्रज्योतिर्विभाहि<sup>(१४)</sup> । अन्तरग्ने रुचा  
त्वमुखायै सदेने स्वे । तस्यास्त्वः हरसा तपः, जात-  
वेदः शिवो भव<sup>(१५)</sup> । शिवो भूत्वा सद्यमग्नेऽयौ सीद  
शिवस्त्वं । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वां योनिमिहा-  
सदः<sup>(१६)</sup> ॥ ३ ॥

वीरयस्व । अभ्या । तपन् । विश्वं श्रुतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथम-  
प्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अष्टमोऽनुवाके आप्रोयो वाज्यानुवाक्याशोक्ताः । अथ नवमे-  
ऽनुवाके अग्न्युत्पादनमभिधत्ते । कल्पः, 'यत्प्राग्दीचाकृतोभ्यस्तत्क-  
त्वाऽऽकृत्यै प्रयुजोऽग्नये स्वाहेति पञ्चाध्वरिकीर्जत्वा आकूतिमग्निमिति  
षडाग्निकीर्विंशे देवस्य नेतुरिति पूर्णः कृतिः सप्तमीम्' इति ।  
पाठस्तु,—“आकूतिमग्निं प्रयुजः स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजः

\*

खाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजः खाहा वाचो विधृतिमग्निं  
 प्रयुजः खाहा प्रजापतये मनवे खाहा अग्नये वैश्वानराय खाहा  
 विश्वे देवस्य नेतुर्मर्त्ता वृणोत सख्यं विश्वे राय इषुध्यासि द्युजं  
 वृणोत पुष्यसे खाहा<sup>(१-०)</sup> इति । 'आकूतिः' सङ्कल्पोऽस्मादनुष्ठान-  
 विषयः, तां 'प्रयुजं' (प्रेरकम्) 'अग्निम्' उद्दिश्य खाज्जतमिदम् असु ।  
 अनुष्ठेयस्मरणसाधनं यत् मनः, स्मृतस्य धारणसामर्थ्यरूपा या  
 मेधा, तदुभयं प्रति प्रयोजकम् 'अग्निम्' उद्दिश्य खाज्जतमिदमसु ।  
 अविज्ञातस्यानुष्ठानस्य ज्ञानसाधनं यत् चित्तं, यदपि तेन चित्तेन  
 ज्ञातम्\* अनुष्ठानं, तदुभयं प्रति प्रेरकम् 'अग्निम्' उद्दिश्य खाज्जतमिद-  
 मसु । 'वाचः' मन्त्रपाठरूपायाः विधृतिः (विधारणं), तां प्रति  
 प्रेरकम् 'अग्निम्' उद्दिश्य खाज्जतमिदमसु । 'मनवे' (मनुष्याणां  
 जनकाय) 'प्रजापतये' खाज्जतमिदमसु । विश्वेषां नराणाम्  
 अनुग्रहीतृत्वेन 'वैश्वानराय' अग्नये खाज्जतमिदमसु । 'विश्वे'  
 (विश्वात्मकस्य) 'नेतुः' (जगन्निर्वाहकस्य) 'देवस्य' 'सख्यम्' (अनुग्रहं)  
 'मर्त्तः' (मरणवान्) यजमानः सहसा 'वृणोत' । तच्च सख्यम् ईदृशेन  
 स्तोत्रेण लभ्यते । 'विश्वे' (हे विश्वात्मक), 'रायः' (धनस्य)  
 'इषुध्यासि' (देविषे, त्वं नियन्तासि)\* इति स्तुत्या 'पोषसे'<sup>†</sup>  
 (यज्ञपोषणाय) 'द्युजं' (धनं) 'वृणोत' (याचेत)-इदं हविस्त्वं  
 ज्ञतमसु ।

\* ज्ञातमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† पुष्यसे इति पाठो भवितुमुचितः ।

‘आकूतिम्’ इत्यादिभिः ‘वैश्वानराय स्वाहा’ इत्यन्तैर्मन्त्रैः साध्यं होमं विधत्ते—“षड्भिर्दीक्षयति षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवेनं दीक्षयति” (५।१।६अ०) इति । होमेन दीक्षाख्यं संस्कारं कुर्यादित्यर्थः ।

कल्पः, ‘विश्वे देवस्य नेतुरिति पूर्णाहुतिः सप्तमीम्’ इति । विधिमभिप्रेत्य विधेयगतां सप्तसङ्ख्यां प्रशंसति,—“सप्तभिर्दीक्षयति सप्त कन्दाः ऋषि कन्दोभिरेवेनं दीक्षयति” (५।१।६अ०) इति । गायत्रीचिष्टुपजगतोत्यादिमन्त्रोक्तेषु कन्दः सु अत्यष्टसु (?) अन्यथो-  
दृष्टिक्कुभोरेकीकारेण कन्दां सप्तवत् ।

‘विश्वे देवस्य’ इति मन्त्रे यदनुष्टुप्कन्दः, यच्चास्य मन्त्रस्य उत्तमत्वं चरमरूपत्वं, तदुभयं प्रशंसति,—“विश्वे देवस्य नेतुरित्यनुष्टुभा उत्तमया जुहोति वाग्वा अनुष्टुप् तस्मात् प्राणानां वागुत्तमा” (५।१।६अ०) इति । यस्मादिह ‘अनुष्टुप्’ वागूपा सर्वमन्त्रेषु व्याप्ता च, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि ‘प्राणानां’ (चक्षुरादीन्द्रियाणां मध्ये) ‘वाग्’ (उत्कृष्टा), वाचा हि विदत्सभावां राजसंभावां च पूज्यो भवति ।

अष्टेषजगद्व्यवहारसमर्थत्वेन मन्त्रं प्रशंसति,—“एकस्मादक्षरा-  
दनाप्तं प्रथमं पदं तस्माद्यद्वाचोऽनाप्तं तन्मनुष्या उपजीवन्ति पूर्णया जुहोति पूर्णं इव हि प्रजापतिः प्रजापतेराद्यै न्यूनया जुहोति न्यूनाद्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजत प्रजानां सृष्ट्यै” (५।१।६अ०) इति । यस्मादस्यामृचि ‘प्रथमं पदं’ (प्रथमः पादः) एकेनाक्षरेण न्यूनं, ‘तस्मात्’ ‘मनुष्याः’ ‘वाचः’ स्वरूपम् ‘अनाप्तम्’ (असम्पूर्णम्) ‘उपजीवन्ति’ (मूलाधारादुत्पन्नो वायुर्मूर्द्धपर्यन्तं

प्रसृतः सन् वक्त्रे तत्तत्स्थानेषु कर्णान् उत्पादयति) ; तदिदं वर्षा-  
भिद्यक्त्रिलक्षणं वाचश्चतुर्थं पदं । पूर्वाणि तु त्रीणि पदानि  
कण्ठादध एव गूढत्वाच्च अभिव्यञ्जयितुं शक्यन्ते । तथा चास्मायते,  
'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति ।  
'तुरीयं' (वैखरीत्याख्यवाचेन रूपं) । एतेनासम्पूर्तेः वाग्व्यवहार-  
साम्यं दर्शितं । किञ्चेयमृक् उत्तरेषु पादेषु अक्षरसम्पूर्णा, सृष्ट्या  
तेन पूर्णप्रजापतिसाम्यात् तत्प्राप्तये भवति । प्रथमपादे यदक्षरन्यूनत्वं,  
तेन सृष्टिप्रान्यजगद्वीजसाम्यात् प्रजात्पत्तये भवति । 'हि' (यस्मात्)  
नितराम् 'जनात्' (प्रकृतेरविकारात्) 'उपादानात्, 'प्रजा  
असृजत' ।

कृत्स्नः, 'यत्प्राक्पृष्टिकर्मणस्तत्कृत्वा शणकुलायेन मुञ्चकुलायेन  
चोखां\* प्रच्छाद्य मासु भित्त्या इति द्वाभ्यामाहवनीये प्रवृणक्ति' इति ।  
पाठस्तु,—“मा सु भित्त्या मा सु रिषो दृ५ ह्रस्व वीङ्यस्व सु ।  
अम् धृष्णु वीर्यस्वाग्निश्चेदं करिष्यथः<sup>(५)</sup>” इति । हे उखे, त्वं  
'मा' 'भित्त्याः' (भिन्ना मा भव) । 'तदिदमभिन्नत्वं सुष्टु कर्त्तव्यम् ।  
तथां 'मा रिषः' (स्फुटनेनापि हिंसिता मा भव) । तदेतदुस्फुटनं  
सुष्टु कर्त्तव्यम् । सर्वात्मना द्वैधीभावो भेदः, लेशस्य पृथग्भावः  
स्फुटनं ; तदुभयं तव मा भूदित्यर्थः । 'दृ५ ह्रस्व' (भेदाभावाय  
दृढा भव) । 'सु'- 'वीङ्यस्व' (स्फुटनाभावाय स्वाङ्गानि सुष्टु दृढी-  
कुरु) । हे 'धृष्णु' (धर्षणयुक्ते), हे 'अम्' (मातृसदृशे), 'वीर्यस्व' ।



(वीरवदाचर) । ‘अग्निश्च’ त्वञ्च मिलित्वा दृढमस्मदीयं कर्म ‘करिष्यथ’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“दृ५ हस्व देवि पृथिविं स्वस्तये आसुरी माया स्वधया कृतासि । जुष्टं देवानामिदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन्<sup>(६)</sup>” इति । हे ‘पृथिवि’ ‘देवि’, (मृत्कार्यत्वात् पृथिवीरूपत्वं, मन्त्रैर्निष्पाद्यत्वाद्देवतात्वं ; तथाविधे) हे उखे, ‘स्वस्तये’ (यजमानार्थे) ‘दृ५ हस्व’ (दृढा भव) । ‘आसुरी माया’ (शम्भराद्यसुरनिर्मितमायेव) ‘स्वधया कृतासि’ (कथ्यप्रदानवाचिना स्वधाशब्देनान्नमात्रमुपलक्ष्यते, अन्नेन निमित्तभूतेन तद्धेतुर्याग-<sup>\*</sup> सिद्ध्यर्थं त्वं निष्पादितासि), आसुरी माया यददक्षिण्यरचना-रूपं चित्रं वस्तु, सहसा भूत्वा प्रतिभाति, तदत् त्वमसि ; दिक्षन्त्वादिरचनायुक्ता निष्पन्नासीत्यर्थः । त्वमुखान्निष्पत्त्यमानम् ‘इदं’ ‘हव्यं’ ‘देवानां’ ‘जुष्टं’ (प्रियम्) ‘अस्तु’ । त्वमपि ‘अरिष्टा’ (केनाप्यहिंसिता सतो) ‘अस्मिन्’ ‘यज्ञे’ ‘उदिहि’ (उद्गता भव) ।

अस्यामुखायां परितोऽङ्गारानारोप्य तापनं विधत्ते,—“यदर्निषि प्रवृज्याद्भूतमवरन्धीत यदङ्गारेषु भविष्यदङ्गारेषु प्रवृणक्त भविष्यदेवावरन्धे भविष्यद्वि भूयो भूतात्” (५।१।६ अ०) इति । यदि ज्वालायाम् उखां प्रतपेत्, तदानीं ‘यत्’ अस्म्यगृहे ‘भूतं’ (पूर्वं विद्यमानं) धनमस्ति, तदेव स्वाधीनं भवति, न तु भविष्यत् । ‘यदि’ ‘अङ्गारेषु’ प्रतपेत्, तदानीं गृहे ‘भविष्यत्’

\* तद्धेतुयामसिद्ध्यर्थमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

(अविद्यमानं) धनं प्राप्नोति । 'हि' (यस्मात्) जना 'भविष्यत्' धनं 'भूतात्' 'भूयः' (अधिकं) 'मन्यन्ते' । न खलु कश्चिदपि भूतार्थं प्रतीयते, भविष्यदर्थन्तु सर्वोऽपि प्रयतते । अङ्गारेषु काष्ठैः समिन्धनेन ज्वाला भाविनी, अतोऽङ्गाराणां भाविधनहेतुत्वं युक्तम् ।

तस्मिन् प्रतापने 'मा सु भित्था' इत्यादिमन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—  
“द्वाभ्यां प्रवृणक्ति द्विपाद्यजमानः प्रतिष्ठित्यै” (५।१।८ अ०) इति ।

कल्पः, 'मित्रैतामुखां तपेति प्रदक्षिणमङ्गारैः परीन्धे' इति ।  
पाठस्तु,—“मित्रैतामुखां तपैषा मा भेदि । एतां ते परिददाम्य-  
भित्यै(१०)” इति । हे 'मित्र', 'एताम्' 'उखां' 'तप' (तप्तां कुरु) ।  
'एषा' (उखा) 'मा भेदि' (मा भिद्यताम्) । 'अभित्यै' (भङ्गा-  
भावार्थम्) 'एताम्' 'उखां' 'ते' (तव) हस्ते 'परिददामि' ।

देवतान्तरपरित्यागेन मित्राद्यैव उखायाः परिदाने कारणं दर्शयति,—“ब्रह्मणा वा एषा यजुषा सम्भृता यदुखा सा यद् भिद्येतार्त्तिमार्च्छेद्यजमानो हन्येतास्य यज्ञो मित्रैतामुखां तपेत्याह ब्रह्म वै मित्रो ब्रह्मन्नेवैनां प्रतिष्ठापयति नार्त्तिमार्च्छति यजमानो नास्य यज्ञो हन्यते” (५।१।८ अ०) इति । येयम् 'उखा', 'सा' 'एषा' परब्रह्मस्वरूपेण “वसवस्त्वा क्षीर्षन्तु” इत्यादिना यजुषा सम्पादिता, परब्रह्मण उत्पन्नत्वाद्यजुषो ब्रह्मत्वं । तथाविधेन 'यजुषा' उत्पन्नाया उखायाः कदाचिदपि भेदो न युक्तः, कुक्षालेन निर्मिताद्यजुष्मात् घटादिसंघत्वात् । एवं सति यदि कदाचित् प्रमादात् 'भिद्येत', तदानीं यजमानो भिद्येत, यज्ञोऽपि विनश्येत् । मित्राय उखायाः परिदाने तु मित्रस्य

परब्रह्मरूपत्वात् ब्रह्मण्येवोखा प्रतिष्ठिता भवति । ततो यज-  
मानस्य यज्ञस्य च नास्ति हानिः ।

अथ भेदे सति प्रायश्चित्तिं विधत्ते,—“यदि भिद्येत तैरेव  
कपालैः सः सृजेत् सैव ततः प्रायश्चित्तिः” (५।१।६ अ०) इति ।  
यज्ञाया उखाया भेदे तदीयैः ‘एव’ ‘कपालैः’ सृदन्तरं मिश्र-  
यित्वा पुनरप्युखां निष्पादयेत्, ‘सैव’ पुनर्निष्पादिता उखा  
‘ततः’ (अभेदरूपादपराधात्) ‘प्रायश्चित्तिः’ विमोचनहेतुः ।

पूर्वं सामान्याकारेणोखायाः प्रतपनम् आहवनीये विहितम्,  
अथ गतश्रियो विशेषं विधत्ते,—“यो गतश्रीः स्यान्मथित्वा  
तस्यावदध्याङ्गुतो वा एष स स्वां देवतामुपैति” (५।१।६ अ०)  
इति । ‘यः’ अग्निचयने प्रवृत्ते ‘गतश्रीः’ शुश्रुवान्\*, घामणीः,  
राजन्यो वा भवेत्, तस्य मथितमग्निम् उखाया ‘अवदध्यात्’,  
न त्वाहवनीये उखायाः प्रवृत्तनं कर्त्तव्यम् । ‘एषः’ त्रयाणां  
गतश्रियां मध्ये अन्यतमो ‘भूतः’ (भूतिमान् श्रैश्र्योपापेतः),  
अतः प्रभुत्वात् ‘सः’ स्वकीयामेव मथिताग्निरूपां देवताम्  
उपेत्य† पूर्ववत्प्रवृत्तनम् (?) ।\*

अन्यमग्निं विधत्ते,—“यो भूतिकामः स्याद् य उखायै सम्भ-  
वेत् स एव तस्य स्यादतो ह्येष सम्भवत्येष वै स्वयम्भूर्नाम भवत्येव”  
(५।१।६ अ०) इति । आहवनीये प्रतप्तायाम् उखायां ‘यः’  
अग्निः ‘सम्भवेत्’, ‘स’ ‘एव’ ‘तस्य’ भूतिकामस्य गतश्रियः कार्यो

\* शुश्रुवान् इति J. पु० पाठः । शुश्रुवान् इति B. पु० पाठः ।

† उपेतुम् इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

न तु मयितः, 'हि' (यस्मात्) 'अतः' (उखायाम्) 'एष' 'सम्भवति', तस्मान्मथनापेक्षामन्तरेण स्वयमेवोत्पन्नत्वात् 'एष' 'स्वयम्भूः' इत्युच्यते । एवं सति यजमानः 'भवत्येव' (भूतिं प्राप्नोत्येव) ।

यजमानदेषिणोऽध्वर्योः प्रकारान्तरं विधत्ते,—“यं कामयेत भ्रातृव्यमस्मै जनयेद्यमित्यन्यतस्तस्याहत्यावदध्यात् साक्षादेवास्मै भ्रातृव्यं जनयति” (५।१।६ अ०) इति । ‘यं’ उद्दिश्य शत्रुम्, ‘अस्मै’ ‘जनयेद्यम्’ इति ‘कामयेत’ अध्वर्युः, ‘तस्य’ ‘अन्यतः’ (गृहान्तरादिप्रदेशात्) अग्निमानोय उखायां प्रक्षिपेत् ; तथा सति विलम्बमन्तरेणैव ‘भ्रातृव्यं जनयति’ ।

अथ कामनाविशेषेणान्यमग्निं विधत्ते,—“अम्बरीषादन्नकाम-  
स्यावदध्यादम्बरीषे वा अन्नं भ्रियते सयोन्येवान्नं अवहन्ते”  
(५।१।६ अ०) इति । घृतादिना शाकादिभर्जनार्थं यस्मै किं  
लौहादिपात्रं, तदम्बरीषं भ्राष्ट्रं, तस्मिन् प्रतप्ते घृतप्रक्षेपात् प्रौढा  
ज्वाला उत्पद्यते, ततोऽग्निमाहृत्योखायाम् ‘अवदध्यात्’ । लोके हि  
तस्मिन् ‘अम्बरीषे’ शाकादिकमन्नं धार्यते । अतः काम्यमानेनान्नेन  
तस्याग्नेः समानयोगित्वाद्यजमानोऽन्नं प्राप्नोत्येव ।

तदेवं प्रवृत्तान्प्रसङ्गागतान् विधीन् परिसमाप्य प्रकृतप्रवृत्तानो-  
पयुक्तं द्रव्यं विधत्ते,—“मुञ्चान् अवदधात्यूर्ध्वं मुञ्चाः ऊर्जमेवास्मा  
अपि दधाति” (५।१।६ अ०) इति । शुष्कान् मुञ्चांस्तान् दण-  
विशेषान् उखायां प्रक्षिपेत्, महिषादिभक्ष्यत्वान्मुञ्चा ऊर्गूपाः ।  
अन्नमेव यजमानाय सम्पादयति इति ।

कल्पः, 'द्वन्नः सर्पिरासुतिरिति तस्यां क्रमुकमुल्लिखितं घृते-  
नाक्का अवदधाति मुञ्चाः' इति । पाठस्तु,—“द्वन्नः सर्पिरासुतिः  
प्रजो होता वरेण्यः । सहसस्यो अहुतः<sup>(११)</sup>” इति । अत्रो-  
त्पद्यमानोऽग्निरेतैर्विशेषणैः प्रशस्यते । द्रुशब्देन वृक्ष उच्यते ।  
'द्रुषदमित्याह । वनस्यतयो वै द्रु । वनस्यतीनामेवैतेन सूयते'  
इति श्रुत्यन्तरात् । द्रुशब्दाभिधेया वृक्षा अन्नं यस्य असौ  
'द्वन्नः' । सर्पिरेव आहारत्वेन सूयते प्रेर्यतेऽस्मिन्निति 'सर्पिरा-  
सुतिः', 'प्रजः' (पुरातनः), 'होता' (देवानामाकाङ्क्षाता), 'वरेण्यः'  
(वरणीयः), 'सहसः' (बलस्य) 'पुत्रः' (धनहेतुना बलेनोत्पद्यमान-  
त्वात्), 'अहुतः' (आश्चर्यरूपः) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं क्रमुकावधानं विधत्ते,—“अग्निर्देवेभ्यो-  
ऽनिलायत स क्रमुकं प्राविशत् क्रमुकमवदधाति यदेवास्य तत्र  
न्यक्तं तदेवावहन्ते” (५।१।८ अ०) इति । 'क्रमुकं' अल्पं काष्ठ-  
शकलं । 'न्यक्तं' निखीनमग्निरूपं । 'तत्र' (तस्मिन्नेव काष्ठशकले)  
'अस्य' (अग्नेः) 'यदेव' रूपं 'न्यक्तं' (निखीनं), तत् प्राप्नोति ।  
चूर्णरूपं\* क्रमुकमिति तत्सूचकारेणोक्तम् ।

अस्य क्रमुकस्य घृताक्तत्वं विधत्ते,—“आज्येन संयौत्येतद्वा  
अग्ने प्रियं धाम यदाज्यं प्रियेणैवेनं धाम्ना समर्द्धयत्यथो तेजसा”  
(५।१।८ अ०) इति । 'संयौति' (तत् क्रमुकं सम्मिश्रयेत्),  
आज्यस्याग्निस्थानत्वम् 'आप्यायतां घृतयोनिरग्निः' इत्यादिमन्त्र-

वर्णात्, धृतेन ज्वालोत्पत्तेस्त्रात्रगन्तव्यं । ज्वालोत्पत्तिरेवात्र 'अथो तेजसा' 'समर्द्धयति' इत्युच्यते ।

कल्पः, 'परस्या अधि संवत' इति वैकङ्कतोऽ समिधमादधाति' इति । पाठस्तु,—“परस्या अधि संवतोऽवराऽ अभ्या । तर । यचाहमस्मि ताऽ अव<sup>(१९)</sup>” इति । सम्यक् वनुते देवान् भजते यस्यां क्रियायां सा क्रिया संवत्; 'परस्याः' 'संवतः' 'अधि' (उत्कृष्टाया इष्टेरधिष्ठानम्) त्वम् 'अवरान्' (निष्ठष्ठानयस्मान्) 'अभ्या'—'तर' (आभिमुख्येनागत्य दुःखात्तारय) । 'यच' (येषु बन्धुषु) 'अहमस्मि' (तानपि बन्धून्) 'अव' (रक्ष) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं समिदाधानं विधत्ते,—“वैकङ्कतोमादधाति भा एवावहन्ते” (५।१।८ अ०) इति । आग्नेयी दीप्तिर्विकङ्कत-वृक्षेऽस्ति, अत एवाधानब्राह्मणे श्रूयते, 'अग्नेः सृष्टस्य यतः । विकङ्कतं भा आर्च्छत्' इति । अतो वैकङ्कतसमिधा दीप्तिः प्राप्यते ।

कल्पः, 'परमस्याः परावत इति शमीमयीम्' इति । पाठस्तु,—“परमस्याः परावतो रोहिदस्य इहागहि । पुरीषः पुरप्रिग्नोऽग्ने त्वं तरा मृधः<sup>(१९)</sup>” इति । परावच्छब्दे दूरदेशवाची । हे 'अग्ने', 'परमस्याः परावतः' (अत्यन्त-दूरदेशात्) 'इह' (अस्मिन् कर्मणि) 'त्वम्' 'आगहि' (आगच्छ) । कीदृशत्वं ?—'रोहिदस्यः', लोहितवर्णोऽस्यो यस्यामौ 'रोहिदस्यः' । अत एवान्यत्रास्माद्यते, 'रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयतु' इति । पुरीषम् उखाहेतुभूतं पांसुमर्हतीति 'पुरीषः' । पुरुषां यजमानानां प्रियः 'पुरप्रियः', तादृशः, 'त्वं' 'मृधः' (श्रूयन्) 'तर' (अतिशयय) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं समिदाधानं विधत्ते,—“अमीमयी-  
मादधाति शान्त्यै” (५।१।८ अ०) इति । अमीमयस्य अग्निदाह-  
अमनचेतुत्वात् तदीयसमिधा शान्तिर्भवति । अतएवाधानब्राह्मणे  
पद्यते, ‘प्रजापतिरग्निमसृजत । सो बिभेत् प्र मा धक्ष्यतीति । तः  
अम्याऽअमयत् । तच्छम्यै अमित्वम्’ इति ।

कल्पः, ‘सोद त्वं मातुरस्या उपस्य इति तिसृभिर्जातमुख्यमुप-  
तिष्ठते’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“सोद त्वं मातुरस्या उपस्ये  
विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् । मैनामर्चिषा मा तपसाभि शूशु-  
चाऽन्तरस्थाः शूक्रज्योतिर्विभाहि(१५)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘मातुः’  
इव ‘अस्या’ (उखाया) ‘उपस्ये’ (उत्सङ्गे) ‘त्वं’ ‘सोद’ (उपविश) ।  
कीदृशत्वं ?—‘विश्वानि’ ‘वयुनानि’ (सर्वान् ज्ञानोपायान्)  
‘विद्वान्’ । ‘एनाम्’ (उखाम्) ‘अर्चिषा’ (तदीयदीप्त्या) ‘मा’  
‘शूशुचः’ (अत्यन्तं मा दीपय) । ‘तपसा’ (सन्तापेन) ‘अभि’  
‘मा शूशुचः’,—अर्चिः कारणं, तपः कार्यं ; कारणेनैव तापो  
भवति, कार्येण तु भूयान्, तदुभयं मा कुर्वित्यर्थः । ‘अखाम्’  
(उखायाम्) ‘अन्तः’ ‘शूक्रज्योतिः’ (निर्मलप्रकाशः सन्) ‘विभाहि’  
(विशेषेण दीप्यते) ;

अथ द्वितीयामाह,—“अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायै सद्ने स्वे ।  
तस्यास्त्वः हरसा तपं जातवेदः शिवो भव(१५)” इति । हे ‘अग्ने’,  
‘उखायै’ (तस्या उखायाः) ‘अन्तः’ (मध्ये) ‘स्वे’ ‘सद्ने’ (स्वकीये स्थाने)  
‘रुचा’ (दीप्त्या) दीप्यस्वेति शेषः । हे ‘जातवेदः’, ‘त्वं’ ‘तस्याः’  
(उखायाः) ‘शिवो भव’ (सुखप्रदो भव) । किं कुर्वन् ?—‘हरसा’  
(तेजसा) ‘तपन्’ (ज्वलन्) ।

अथ तृतीयामाह,—“शिवो भूत्वा मङ्गमग्नेऽथो सीद शिवस्त्वं ।  
 शिवाः कृत्वा दिग्भः सर्वाः स्त्रां योनिमिहासदः<sup>(१९)</sup>” इति । हे  
 ‘अग्ने’, ‘मङ्ग’ (मदर्थे) ‘शिवः’ (शान्तः) ‘भूत्वा’ ‘अथो’ (अनन्तरं)  
 ‘त्वं’ ‘शिवः’ सन् ‘सीद’ (सर्वान् प्रति शान्तः सन्नुपविश) । ‘सर्वाः’  
 ‘दिग्भः’ ‘शिवाः’ (शान्ताः) ‘कृत्वा’ ‘इह’ (अस्याम् उखायां)  
 ‘स्त्रां योनिं’ (स्वकीयं स्थानम्) ‘आसदः’ (आगत्योपविश) ।

एतान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“सीद त्वं मातुरस्या उपस्थ इति  
 तिसृभिर्जातमुपतिष्ठते, त्रय इमे लोका एष्वेव लोकेष्वाविदं  
 गच्छत्यथो प्राणानेवात्मन्वते” (५।१।८ अ०) इति । ‘आविदं’  
 (स्थितिं) । किञ्च प्राणपानव्यानानां त्रित्वात् तानपि त्रित्वसङ्ख्याया  
 स्वात्मनि स्थापयति ।

अथ विनियोगसङ्ग्रहः,—

आकूतिं, सप्तभिर्दीक्षाज्जतिर्मास्त्रिति च दद्यात् ।

पूर्वाग्नौ प्रवृणक्तोखां, मित्राऽङ्गारैः समिधते ॥

द्वयः, क्रमुकमाधत्ते, पर, वैकङ्कतीं, परम्, ।

शमोमयीं, सीद, जातं, तिसृभिश्चोपतिष्ठते ॥

नवमे त्वनुवाकेऽस्मिन् मन्त्राः षोडश वर्णितः ॥

अथ मीमांसा,—दशमाध्यायस्य तृतीयपादे (४अ०) चिन्तितम्,—

षड्भिर्दीक्षयतीत्यग्निगतं प्राकृतबाधकं ।

समुच्चितं वा ? बाधः स्यात् कार्यैक्यात् पाठवश्यकतः ॥

अग्नौ होमाङ्गताङ्गुत्तेरतिदिष्टेन तुल्यता ।

विनाऽऽवृत्तिं द्वादशलसिद्धये स्यात् समुच्चयः ॥



अग्निचयने दीक्षाहुतयः श्रूयन्ते, 'षड्भिर्दीक्षयति' इति ;  
 प्रकृतावपि 'सुवेण चतस्रो जुहोति दीक्षितत्वाच्च' इत्यादिना  
 दीक्षाहुतयः षड् विहिताः । ते तु भिन्ना भिन्ना मन्त्राः,—'आकृत्यै  
 प्रयुजेऽग्नये स्वाहा' इत्यादयः प्राकृता मन्त्राः ; 'आकृतिमग्निं  
 प्रयुज५ स्वाहा' इत्यादयो वैकृताः । तत्र वैकृतमाहुतिमन्त्रषट्कं  
 प्राकृतस्य बाधकं, किं वा प्राकृतेन समुचितम् ? इति संशये,  
 बाधकमिति तावत् प्राप्तम् । कुतः ? । कार्यैक्यात्, दीक्षणीयाङ्ग-  
 भूताहुत्युपकारलक्षणं यत् कार्यं प्राकृतानां मन्त्राणां, तदेव  
 वैकृतानामपि, न च, विहृतौ तन्न प्रतीयते इति शङ्कनीयं ;  
 स्वाहान्तपाठरूपेण लिङ्गेन मन्त्राणामाहुत्युपकारकत्वप्रतीतिः,  
 आहुतीनाञ्च 'षड्भिर्दीक्षयति' इति वाक्ये तद्दीक्षणीयाङ्गत्व-  
 प्रतीतिः । तस्मादुपदिश्यमानैर्मन्त्रैरतिदिष्टानां बाध इति पूर्वः  
 पक्षः । अग्नौ मन्त्राणां स्वरूपं यद्यपि अतिसिद्धं, तथापि  
 होमाङ्गत्वं लिङ्गेन कल्पनीयं । तथा चातिदेशकल्पैर्मन्त्रैस्तुल्य-  
 बलत्वाच्च बाध्यबाधकता । एवमपि न समुच्चये प्रमाणमस्तीति  
 चेत् । अस्त्येव, 'द्वादश जुहोति' इति सङ्ख्याविधानेन तत्सिद्धेः ।  
 न च, वैकृतोऽनेनैव षष्ठामावृत्त्या सङ्ख्या सिध्यतीति वाच्यम् ;  
 आवृत्तेरश्रुतत्वात् । न च, सा कल्पयितुं शक्यते, अन्यथापि  
 सङ्क्षोपपत्तेः । तस्मात् समुच्चय इति राङ्गान्तः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
 यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके नवमोऽङ्गवाकः ॥ ० ॥

यदग्ने यानि-कानि चा ते दारुणि दधसि । तदस्तु  
 तुभ्यमिदृतं तज्जुषस्व यविद्य<sup>(१)</sup> । यदत्युपजिज्ञिका  
 यद्वस्रो अतिसंपति । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व  
 यविद्य<sup>(१)</sup> । राचिः-राचिमप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव  
 तिष्ठते घासमस्मै । रायस्पोषेण संमिषा मदन्तोऽग्ने मा  
 ते प्रतिवेशा रिषाम<sup>(१)</sup> । नाभा ॥ १ ॥

पृथिव्याः समिधानमग्निः रायस्पोषाय बृहते  
 हवामहे । इरमदं बृहदुक्थं यजचं जेतारमग्निं  
 पृतनासु सासहिं<sup>(२)</sup> । याः सेना अभीत्वरोरा-  
 व्याधिनीरुगणा उत । ये स्तेना ये च तत्करास्ताः स्ते  
 अग्नेऽपि दधाम्यास्ये<sup>(३)</sup> । दःष्ठाभ्यां मलिम्बून् जम्भै-  
 स्तत्कराः उत । इनूभ्याः स्तेनान् भगवस्ताः स्त्वं खाद  
 सुखादितान्<sup>(४)</sup> । ये जनेषु मलिम्बवस्तेनासस्तत्करा  
 वने ये ॥ २ ॥

कक्षेष्वायवस्ताः स्ते दधामि जम्भयो<sup>(५)</sup> । या  
 अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः । निन्दाद्यो  
 अस्मान् दिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु<sup>(६)</sup> । सःशितं मे  
 ब्रह्म सःशितं वीर्यं बलं । सःशितं श्वचं जिष्णु यस्या-  
 हमस्मि पुरोहितः<sup>(७)</sup> । उदेषां बाह्व अतिरमुदचं  
 उदू बलं । श्लिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानु-नयामि ॥ ३ ॥

स्वा५ अहं<sup>(१०)</sup> । ह॒श॒नो रु॒क्म उ॒र्वा व्य॒द्यौर्दु॒र्मर्ष॑-  
 मायुः श्रिये रु॒चानः । अ॒ग्निर॒मृतो॑ अ॒भव॒दयो॑भि-  
 र्यदे॒न द्यौर॑ज॒नय॑त्सुरे॒ताः<sup>(११)</sup> । ति॒ग्धा रू॒पाणि॑ प्र॒ति-  
 मु॒च्यते॑ क॒विः प्रा॒सावी॒द्भद्रं॑ द्वि॒पदे॑ चतु॒ष्पदे॑ । वि॒ नाकं॑-  
 म॒स्थत् स॒विता॑ वरे॒ण्योऽनु॑ प्र॒याणं॑मु॒षसो॑ वि॒राज॑ति<sup>(१२)</sup> ।  
 न॒क्तोषा॑सा॒ सम॑न॒सा वि॒रूपे॑ धा॒पये॑ते शि॒शुमे॑क५  
 समी॒ची । द्या॒वा क्षा॒मा रु॒क्मः ॥ ४ ॥

अ॒न्तर्वि॑भाति दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन् द्रवि॒णोदाः<sup>(१३)</sup> ।  
 सु॒पर्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न् चि॒दृत्ते॑ शि॒रो गाय॑त्रं चक्षुः स्तोमं  
 आ॒त्मा सा॑म ते त॒नूवी॑मदे॒व्यं दृ॒हद्र॑थन्त॒रे प॒क्षौ य॑ज्ञा-  
 य॒ज्ञियं॑ पु॒च्छं छ॒न्दाः॑स्य॒ङ्गानि॑ धि॒ष्णि॒याः श॒फा यजू॑-  
 षि॒ नाम<sup>(१४)</sup> । सु॒पर्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न् दि॒वं गच्छ॑ सु॒वः  
 प॒त॑<sup>(१५)</sup> ॥ ५ ॥

ना॒भा । व॒ने॒ ये । न॒यामि॑ । क्षा॒मा रु॒क्मः ।  
 अ॒ष्टादि॑-गच्छ ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके  
 दशमोऽनुर्वाकः ॥ ० ॥

नवमेऽनुवाके अग्न्युत्पादनमुक्तम् । अथ दशमे अग्निधारणम् उच्यते । कल्पः, 'यदग्ने यानि-कानि चेति पञ्चभिरौदुम्बर-मपरःशुद्धकणमुख्यं दध्ममभ्यादधाति' इति । तत्र प्रथमामाह,—  
“यदग्ने यानि-कानि चा ते दारुणि दध्मसि । तदस्तु तुभ्यमिदधृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'ते' (त्वर्थे) 'यानि-कानि च' 'दारुणि' (दारुशब्देन कुठारच्छेदरहितमवि-दारितं काष्ठमुच्यते); तादृशानि यानि-कान्यप्यरण्ये पतितानि काष्ठान्यानीय 'दध्मसि' (धारयामः) इति 'यत्', 'तत्' सर्वे 'तुभ्यं' (त्वर्थे) 'घृतम्'-'इत्' (घृतमिव, घृतवत् प्रियम्) 'अस्तु' । हे 'यविष्ठ्य' (युवतम) 'तत्' दारुजातं 'जुषस्व' ।

अथ द्वितीयामाह,—“यदत्युपजिह्विका यदसौ अतिसर्पति । सर्वे तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य<sup>(१)</sup>” इति । जिह्वाः प्रधानज्वालाः तत्समीपवर्तिनी चुद्रज्वाला 'उपजिह्विका' । अस्माभिररण्यादानीतेषु दारुषु मध्ये 'यत्' दारु महारण्ये दावाग्नेः 'उपजिह्विका' (स्वल्पज्वाला) 'अति'-भक्षयति, ईषद् ह-तीत्यर्थः । 'वक्ष'-शब्दः पिपीलिकासदृशं चुद्रजीवमाज्ये स च यत् काष्ठम् 'अतिसर्पति' (अतिशयेन सर्पति प्राप्नोति), काष्ठा-वयंवेषु तत्र-तत्र सारं भक्षयतीत्यर्थः; तत्सर्वमित्यादि\* पूर्ववत् ।

अथ तृतीयामाह,—“रात्रिः-रात्रिमप्रयावं भूरन्तोऽश्वाथेषु तिष्ठते घासमस्मै । रायस्योषिण समिधा मदन्तोऽग्ने भा ते प्रति-वेशां रिषाम<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'ते' (तव) 'प्रतिवेशाः'

\* 'सर्वं यत्' इत्यादि—इति पाठो भवितु युक्तः ।

(प्रत्यासन्नाः) वयं 'मा' 'रिषाम' (हिंसां न प्राप्तुमः) । किं कुर्वन्तः?—  
 'रायस्योषेण' (धनपुष्पा, धनपोषेण) 'दृषा' (अन्नेन) च सम्यक्  
 'मदन्तः' । तथा 'रात्रि-रात्रि' (प्रतिदिनं) 'अप्रयावं' (पृथग्-  
 भावमकृत्वा), एकमपि दिनमत्यक्तेत्यर्थः । 'अस्मै' (अग्नये) 'घासं'  
 (समिद्रूपं भक्ष्य) 'भरन्तः' (सम्पादयन्तः) । तत्र दृष्टान्तः,—  
 'तिष्ठते' 'अश्यायेव' । वाजिष्ठास्त्रायां बद्धा स्थापिताय प्रौढाय  
 अश्याय एकमपि दिनमवर्जयित्वा यथा घासं प्रयच्छन्ति, तद्वत् ।

अथ चतुर्थीमाह,—“नाभा पृथिव्याः समिधानमग्निं  
 रायस्योषाय बृहते हवामहे । इरंमदं बृहदुक्थं यजत्र जेतार-  
 मग्निं पृतनासु सासहिम्<sup>(४)</sup>” इति । 'बृहते' (प्रौढाय) 'राय-  
 स्योषाय' 'अग्निम्' इमं वयं 'हवामहे' (आकृत्यामः) । कीदृशमग्निं?—  
 'पृथिव्याः' 'नाभा' 'समिधानं' (उखाया मध्ये सम्यक् दीप्यमानं),  
 (इरया समिद्रूपेण अन्नेन माद्यतीति 'इरंमदः'), तं, (बृहन्ति  
 उक्त्यानि प्रशंसनानि यस्यासौ 'बृहदुक्थः'), तं, 'यजत्रं' (याग-  
 हेतुं), 'जेतारं' (राक्षसादिविषयजयशीलं), 'पृतनासु' 'अग्निं'  
 (सङ्ग्रामेषु अग्रे गच्छन्तं), 'सासहिम्' (अस्मदपराधानामतिशयेन  
 सौदारम्) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“याः सेना अभीलरीराव्याधिनीरुगणा  
 उत । ये स्तेना ये च तस्करास्तास्ते अग्नेऽपिदधान्यास्ते<sup>(५)</sup>”  
 इति । 'याः' (काश्चित् परकीयाः) 'सेनाः' 'अभीलरीः' (अस्मदां-  
 भिमुखेन गमनशीलाः), 'आव्याधिनीः' (सर्वतोऽस्मान् पीडयन्त्यः),  
 'रुगणाः' (उत्कृष्टगुणोपेताः) बह्वस्तीमा इत्यर्थः, एवंविधा याः

सेनाः सन्ति । ‘उत’ (अपि च) ‘ये स्तेनाः’ (गुप्तचोराः) ‘ये च तस्कराः’ (प्रकटचोराः) तान् सर्वान् तत्र ‘आस्ये’ (मुखे) ‘अपि-’ ‘दधामि’ (प्रक्षिपामि) ।

एतान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“न ह स्म वै पुराग्निरपरशुवृक्णं दहति तदस्मै प्रयोग एवर्षिरस्वदयद् यदग्ने यानि-कानि चेति समिधमादधात्यपरशुवृक्णमेवास्मै स्वदयति” (५।१।१० अ०) इति । ‘पुरा’ (एतन्मन्त्रप्रयोगात् पूर्वं) कदाचिदपि ‘अग्निः’ ‘अपरशुवृक्णं’ (परशुच्छेदरहितं काष्ठं) ‘न ह स्म वै दहति’ (सर्वथा न दहति), अविदारितं काष्ठमग्नौ प्रक्षिप्तमपि न भस्मीभवति, किन्तु ज्वालाया क्वचित् कृष्णं भवतीत्यर्थः । एवं सति ‘प्रयोगः’ (प्रयुज्यमानः) ‘अग्निभिः’ एव (‘यदग्ने यानि’ इति मन्त्र एव) ‘अस्मै’ अग्नये तत्काष्ठमविदारितम् ‘अस्वदयत्’ (स्वादूकृतवान्) । एतदर्थमेव, यद्वाङ्, तद्घृतमुत्खिति मन्त्रे पद्यते । तस्मात् ‘यदग्ने यानि-कानि’ इत्यादिमन्त्रैः समिध\* आदध्यान्, तेन ‘अस्मै’ अग्नये परशुच्छेदरहितं काष्ठं ‘स्वदयति’ ‘एव’ ।

एतद्वेदनं प्रशंसति,—“सर्वमस्मै स्वदते य एवं वेद” (५।१।१० अ०) इति ।

यत्काष्ठम् अपरशु-वृक्णमभ्याधेयं, तस्य जातिविशेषं विधत्ते,—“औदुम्बरीमादधात्यूर्वा उदुम्बर ऊर्जमेवास्मा अपिदधाति” (५।१।१० अ०) इति ।

‘यदग्ने’ इत्यादि मन्त्रसङ्घरूपं सूक्तं प्रशंसति,—“प्रजापतिरग्नि-

\* समिधमिति संहितानुसारी । पाठो भवितुं युक्तः ।

मसृजत त५ सृष्ट५ रचा५स्यजिघा५सनत्स एतद्राचोन्नमपश्यत् तेन  
वै स रचा५स्यपाहत यद्राचोन्नं भवत्यग्नेरेव तेन जाताद्रचा५-  
स्यपहन्ति” (५।१।१०अ०) इति । रचोन्नोऽयमग्निः, तत्सूक्तं  
‘राचोन्नम्’ ‘यदग्ने यानि-कानि च’ इत्यारभ्य ‘अमित्रानुक्षयामि  
स्त्रा५ अहम्-इत्येतदन्तम् । अनेन सूक्तेन रचांसि प्रजापति-  
र्हतवान् । तस्मादनेन सूक्तेनात्रापि तथैव भवितव्यं । तेन  
सूक्तेनोत्पन्नादग्नेः सकाशाद्रचा५सि विनश्यन्ति\* ।

कल्पः, ‘द५द्राभ्यां मलिच्छूनित्याश्रत्यो५ समिधमादधाति’  
इति । पाठस्तु,—“द५द्राभ्यां मलिच्छून् जम्यैस्तस्करा५ उत ।  
हनूभ्या५ स्नेनान् भगवस्ता५स्त्वं खाद सुखादितान्<sup>(१)</sup>” इति ।  
गुप्ता प्रकटाश्चेति द्विधाश्चोराः । प्रकटा अपि पुनर्द्विविधाः,—  
अरण्येषु मार्गमध्येऽपहृत्य प्रत्यक्षमेव पलायमानाः प्रकटाः,  
ततोऽप्यतिप्रकटा निर्भया ग्रामेस्त्वेव आगत्य बन्दीकाराः । न एते  
अत्र मलिच्छव इत्युच्यन्ते, (मलं पापाधिक्यमेषामस्तीति मलिनाः,  
तथाविधा भूत्वा स्त्रोचयन्ति चैर्यं कुर्वन्तीति मलिच्छवः) तान्,  
दन्तपल्लियस्ये याभ्यां तोक्ष्णदन्ताभ्यां क्रमुकादिकं भक्ष्यते, ते  
दंष्ट्रे, ततः पुरोवात्तनो बहिर्दृश्यमाना दन्ता जम्याः, अन्त-  
र्लानि तु हनू । तत्र ‘मलिच्छून्’ ‘द५द्राभ्यां’ पोडयित्वा, ‘जम्यैः’  
‘तस्करान्’ पोडयित्वा ‘हनूभ्यां’ ‘स्नेनान्’ पोडयित्वा, हे ‘भगवः’  
(पूजनीय अग्ने), ‘तान्’ सर्वान्, सुष्टु खादिताः (पुनर्जीवनरहिताः)  
यथा भवन्ति, तथा ‘त्वं’ ‘खाद’ (भक्षय) ।

\* विनाशयति इति आदर्शपुस्तकपाठः । विनाशयति इति B.पु०पाठः ।

एतन्मन्त्रसाध्यं समिदाधानं विधत्ते,—“आश्वत्योमादधात्यश्वत्यो  
वै वनस्पतीनां सपत्नसाहो\* विजित्यै” (५।१।१० अ०) इति ।  
सपत्नान् सहन्ते अभिभवन्तीति ‘सपत्नसाहः’ । अश्वरूपधारिणो-  
ऽग्नेरस्मिन् वृक्षेऽवस्थितत्वादश्वत्यस्य सपत्नसाहत्वं । तत्रावस्थानञ्च  
आधानब्राह्मणे श्रूयते, ‘अग्निर्देवेभ्योऽग्निस्त्रायत । अश्वो रूपं कृत्वा ।  
सोऽश्वत्ये संवत्सरमतिष्ठत् । तदश्वत्यस्याश्वत्यत्वम्’ इति । अत-  
स्तदीया समित् विजयाय सम्यद्यते ।

कल्पः, ‘ये जनेषु मलिक्त्व इति वैकङ्कतीम्’ इति,  
आदधातीति शेषः । पाठस्तु,—“ये जनेषु मलिक्त्वस्तेनासः तस्करा  
वने । ये कच्छेष्वघायंवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः<sup>(७)</sup>” इति ।  
यामवर्त्तिषु ‘जनेषु’ वनेषु गच्छत्सु च ‘ये’ त्रिविधाः पूर्वोक्ताश्चोराः  
सन्ति, ‘ये’ चान्ये व्याघ्रादयः ‘कच्छेषु’ स्थित्वा ‘अघायवः’  
भवन्ति, (अघं हिंसनमिच्छन्तीति ‘अघायवः’), ‘तान्’ सर्वान्  
तव ‘जम्भयोः’ ‘दधामि’ ।

एतन्मन्त्रसाध्यं समिदाधानं विधत्ते,—“वैकङ्कतीमादधाति  
भा एधावहन्ते” (५।१।१० अ०) इति ।

कल्पः, ‘यो अस्माभ्यमरातीयादिति शममियोम्’ इति ।  
पाठस्तु,—“यो अस्माभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः ।  
निन्दाद् यो अस्मान् दिष्ठाच्च सर्वं तं ममसा कुरु<sup>(८)</sup>” इति ।  
पूर्वं चोरभेदा दर्शिताः, इदानीं शत्रुभेदा उच्यन्ते । ते च

\* सपत्नसाह इति आदर्शपुस्तके पाठः एव परच ।

† वनेषु इति आदर्शपुस्तके नास्ति ।



त्रिभिधा,—अरातयो द्वेषिणो निन्दकाश्चेति; तच्च दातव्यत्वेन प्राप्तं धनं यो न ददाति, सोऽयम् अरातिः, कार्यविघातं यः करोति स द्वेषी, वाग्दौर्जन्यमात्रं यः करोति, स निन्दकः, हनुकामश्रुत्यर्थः । तत्र ‘यः’ ‘अस्मभ्यं’ (अस्माकं) ‘अरातीयात्’ (अरातित्वमिच्छति); ‘यो’ यजमानान् ‘अस्मान्’ ‘द्वेषते’ (कार्यनाशेन बाधते); ‘यः’ अप्यन्यः ‘अस्मान्’ ‘निन्दात्’ (निन्दति) । ‘यश्च’ अपरः ‘अस्मान्’ ‘दोषात्’ (दम्भितुं, हिंसितुमिच्छति), ‘तं’ ‘सर्वं’ जनं ‘मस्मसा कुरु’, (चूर्णजन्यशब्दस्यानुकरण मस्मसेति) चूर्णोक्त्वित्यर्थः ।

एतन्मन्त्रसाध्यं समिदाधानं विधत्ते,—“शमीमयोमादधाति शान्त्यै” (पु। १। १० अ०) इति ।

कल्पः, ‘संश्रितं मे ब्रह्म उदेषां बाह्व अतिरमित्युत्तमे यजमानं वाचयन् तूष्णीमौदुम्बर्यौ समिधाद्वादधाति’ इति । तच्च प्रथमामाह, संश्रितं मे ब्रह्म संश्रितं वीर्यं बलं । संश्रितं चत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः (९)” इति । ‘मे’ (मदीयं) ब्रह्मण्यं ‘संश्रितं’ (सम्यक् तीक्ष्णोक्तं), शीघ्रवीर्यमार्गवर्त्ति हतमित्यर्थः, तथा, ‘वीर्यं’ (इन्द्रियशक्तिः), ‘बलं’ (शरीरशक्तिः), तदुभयं ‘संश्रितं’ (सम्यक् स्वकार्यक्षमं), तथा ‘यस्य’ (चत्रस्य राज्ञः) ‘अहं’ ‘पुरोहितः’ ‘अस्मि’, ‘मे’ (मदीयं) तत् ‘चत्रं’ ‘जिष्णु’ (जयशीलं) यथा भवति, तथा ‘संश्रितम्’ अस्तु इति शेषः ।

अथ द्वितीयामाह,—“उदेषां बाह्व अतिरमुदेष उदू बलं ।

क्षीणेमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाः अहम्<sup>(१०)</sup>” इति ।  
 ‘एषां’ (स्वकीयानां) राजब्राह्मणादीनां मध्ये एकैकस्य ‘बाह्व’  
 ‘उत्’-‘अतिरं’ (उत्कर्षेण वर्द्धितवानस्मि) लौकिकोक्तिरियं;  
 लोके हि योऽन्यस्मादुत्कृष्टो भवति, तं जना एवमाहुः—  
 स्वकीयहस्तमुपरितनं हतवानिति । ‘वर्चः’ (कान्तिः) तामपि  
 ‘उत्’-‘अतिरं’ । ‘बलं’ (शरीरं) तदपि ‘उत्’-‘अतिरं’ । ‘ब्रह्मणा’  
 (मन्त्रसामर्थ्येन) ‘अमित्रान्’ ‘क्षीणेमि’ (क्षीणान् करोमि) । ‘स्वान्’  
 (स्वकीयान्) पुरुषान् ‘अहम्’ ‘उन्नयामि’ (उत्कर्षं प्रापयामि) ।

एतन्मन्त्रसाध्यं यजमानवाचनं विधत्ते,—“संश्रितं मे ब्रह्मो-  
 देषां बाह्व अतिरमित्युत्तमे औदुम्बरी वाचयति ब्रह्मणैव चत्रः  
 संश्रयति चत्रेण ब्रह्म तस्माद् ब्राह्मणो राजन्यवानत्यन्य ब्राह्मण  
 तस्माद् राजन्यो ब्राह्मणवानत्यन्यः राजन्यम्” (५।१।१० अ०)  
 इति । ‘उत्तमे’ (राक्षोघ्नसूक्तस्थान्तिमे) ऋचौ यजमानं वाचयेत् ।  
 औदुम्बर्यौ द्वे \* समिधौ तूष्णीस्मादध्यादिति शेषः । प्रथममन्त्रे  
 ब्रह्मचत्रयोः संश्रितत्वं यदुक्तं, तत्रं परस्पररोपकारो विज्ञायते ।  
 ब्राह्मणेनैव पुरोहितेन राजा धर्मं तोत्तुणीकृतो भुङ्क्ते, राज्ञा  
 नियामकेन ब्राह्मणेऽपि संश्रितः स्वाचारे नियमितो भवति ;  
 यस्मादेवं, ‘तस्माद्’ राजन्येन स्वामिना युक्तो ‘ब्राह्मणः’ स्वामि-  
 रद्वितं ‘ब्राह्मणं’ \* अत्येति । राजापि धर्मबोधकेन पुरोहितेन  
 ब्राह्मणेन युक्तस्तद्वद्वितमधार्मिकम् ‘अन्यं’ राजानम् ‘अति’ (अत्येति) ।

कल्पः, 'एकविंशतिनिर्वाधो रुक्मः सूचोक्तसं दृशानो रुक्म इति तमासीनो यजमानोऽन्तर्निर्वाधं प्रतिमुच्य बहिर्निर्वाधान् कुरुते' इति । पाठस्तु,—“दृशानो रुक्म उर्या व्यद्यौदुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः । अग्निरमृतो अभवदयोभिर्घदेनं शौरजनयत्सुरेताः<sup>(११)</sup>” इति । ‘दृशानः’ (दर्शनीयरूपः) ‘रुक्मः’ (सुवर्णनिर्मितः फलकाकार आभरणविशेषः) ‘उर्या’ (महत्या दीप्या) ‘व्यद्यौत्’ (विद्योतते स्म) । किं कुर्वन्?—‘दुर्मर्षम्’ (अतिरस्कृत्यम्) ‘आयुः’ (जीवनं) ‘श्रिये’ (अयितुं) ‘रुचानः’, (वाष्कन्); तथाविधः ‘अग्निः’ ‘वयोभिः’ (अनैर्हविर्भिः) ‘अमृतो-ऽभवत्’ ‘यत्’ (यस्मात्) ‘एनं’ (अग्निं) ‘द्यौः’ (द्युलोकवासी देव-गणः) ‘सुरेताः’ सन् ‘अजनयत्’, तस्मादमृतत्वं युक्तम् । अत्र रुक्मस्याग्निधारणाङ्गत्वादग्नित्वमुपचरितम् ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं रुक्मप्रतिमोक्तं विधत्ते,—“मृत्युर्वा एष यदग्निरमृतः हिरण्यः रुक्ममन्तरं प्रति मुञ्चतेऽमृतमेव मृत्यो-रन्तर्द्धत्ते” (५।१।१०।अ०) इति । अग्नेर्दाहेन विनाशकत्वान्मृत्युत्वं, हिरण्यस्य अमृत्युत्वं अपि भस्मीभावाददर्शनादमृतत्वं । एवं सति धारयिष्यमाणस्याग्नेः स्वीयस्य उरसश्च ‘अन्तरं’ (मध्यवर्त्ति) यथा भवति, तथा ‘रुक्मं’ दीर्घस्वरेण प्रोक्तं गले प्रतिमुञ्चेत् । तेन प्रतिमुक्तेन दाहकादग्निरूपात् ‘मृत्योः’ ‘अमृतं’ (रुक्मं) व्यवधानरूपं कृतवान् भवति ।

तस्य रुक्मस्य विन्दुसदृशानाकारविशेषान् विधत्ते,—“एक-विंशतिनिर्वाधो भवत्येकविंशतिर्वै देवलोका द्वादश मासाः

पञ्चर्त्तवस्तय इमे लोका असावादित्य एकविंश एतावन्तो वे  
देवलोकास्तेभ्य एव भ्रातृव्यमन्तरेति” (५।१।१०अ०) इति ।  
सुवर्णफलके निम्नोन्नतभावमापद्य स्पर्शकारिणं पुरुषं निःशेषेण  
बाधन्ते इति ‘निर्बाधाः’ स्फोटसदृशा अवयवविशेषाः, ते च एक-  
विंशतिसङ्ख्याका यस्मिन् रूक्मे सोऽयम् ‘एकविंशतिनिर्बाधः’,  
तादृशं रूक्मं कुर्यात् । लोक्यन्ते भुज्यन्ते यैर्देशकालादिसाधन-  
विशेषैः, ते लोकाः, मामादयश्च देवानां भोगसाधनानीति ते  
एव लोका इत्युच्यन्ते । अतो निर्बाधगतैकविंशतिसङ्ख्याया मासा-  
दिकेभ्य आदित्यान्तेभ्य एकविंशतिलोकेभ्यो ‘भ्रातृव्यम्’ अन्तरितं  
करोति ।

सिहितान् निर्बाधान् प्रशंसति,—“निर्बाधैर्वै देवा असुरान्  
निर्बाधे कुर्वत तत् निर्बाधानां निर्बाधत्वं निर्बाधा भवति भ्रातृ-  
व्यानेत्र निर्बाधे कुरुते” (५।१।१०अ०) इति । चर्मखड्गधारिणो  
‘देवाः’ चर्मणो बहिर्भागे खचितैः कांस्यादिमयैः प्रौढस्फोटाकारैः  
‘निर्बाधैः’ स्वर्धहणार्थमागतान् ‘असुरान्’ अस्फाल्यभूमिपतनादिरूपे  
निश्चितबाधे अवस्थितान् ‘कुर्वत’ । यस्मान्निश्चितबाधा एते,  
तस्मात् ‘निर्बाधाः’ । अतोऽत्र रूक्मस्य निर्बाधत्वेन ‘भ्रातृव्यान्’  
सर्वान् निश्चितबाधे पतितान् ‘कुरुते’ ।

कल्प, ‘विश्या रूपाणोति शिष्यपाशं प्रतिमुञ्चते’ इति ।  
पाठस्तु,—“विश्या रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावोद्भट्ट द्विपदे  
चतुष्पदे । वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि-  
राजति(११)” इति । ‘कविः’ (विद्वान्) ‘वरेण्यः’ (श्रेष्ठः) ‘सविता’,

‘विश्वं रूपाणि’ (समस्तानि जगद्रूपाणि) ‘प्रतिमुञ्चते’ (स्वस्मिन् स्वीकरोति) प्रकाशयतीत्यर्थः । ‘द्विपदे चतुष्पदे’ (मनुष्याणां पशूनाञ्च) ‘भद्रं’ (स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूप, अर्थः) ‘प्रासावोत्’ (सम्पादितवान्); ‘नाकं’ (स्वर्गं) विशेषेण ‘अख्यत्’ (प्रकाशितवान्); ‘उषसः’ ‘प्रयाणम्’ ‘अनु’ (उषःकालेऽतीते) सति ‘विराजति’ (विशेषेण प्रकाशते) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं शिष्यपात्रप्रतिमौकं विधत्ते,—“सावित्र्या प्रतिमुञ्चते प्रसूत्यै” (५।१।१०अ०) इति । ‘सविता वरेण्यः’ इति मन्त्रलिङ्गादियं सावित्री सम्यक्प्रेरणाय सम्यद्यते ।

कल्पः, ‘नक्तोषामेति कृष्णाजिनमुत्तरम्’ इति, प्रतिमुञ्चते इत्यनुवर्तते । पाठस्तु,—“नक्तोषामा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची । द्यावा चामा रुक्मः अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः<sup>(११)</sup>” इति । नक्तञ्च उषाञ्च ‘नक्तोषामा’ (रात्रिदिवसावित्यर्थः), ‘समनसा’ (परस्परमेकमतियुक्ते) ‘विरूपे’ (रात्रिः कृष्णा, दिवसस्तु शुक्लरूपः,—इत्येवं विलक्षणरूपे) ‘समीची’-‘समीची’ अनुकूले सत्यौ), ‘एकं’ ‘शिशुम्’ ‘अग्निं’ ‘धापयेते’ (यजमानकर्तृकमग्निधारणं सम्पादयतः) । ‘द्यावा’ (द्युलोके), ‘चामा’ (चितौ भूलोके), ‘अन्तः’ (तदुभयमध्यवर्त्तिनि अन्तरिक्षे) ‘विभाति’ अर्थं ‘रुक्मः’ अग्निः (विशेषेण प्रकाशते) । दीव्यन्ति<sup>\*</sup> विहरन्तीति ‘देवाः’ प्राणाः, ते च ‘द्रविणोदाः’ (यागद्वारेण द्रविणं धनरूपं फलं प्रयच्छन्ति, तादृशाः) यजमानस्य प्राणाः ‘अग्निम्’ एतं ‘धारयन्’ (धृतवन्तः) ।

एतन्मन्त्रसाध्यं कृष्णाजिनप्रतिमोकं विधत्ते,—“नक्तोषामेत्यु-  
त्तरयाहोरात्राभ्यामेवैनमुद्यच्छन्ते” (५।१।१० अ०) इति । पूर्वं  
सावित्रीमृचमपेक्ष्य इत्यमुत्तरा । तथा कृष्णाजिनं प्रतिमुञ्चते  
इति शेषः । तथा सति तन्मन्त्रप्रतिपादिताभ्याम् ‘अहोरात्राभ्यामे-  
वैनम् ऊर्द्धं धृतवान् भवति ।

तस्य मन्त्रस्य चतुर्थपादे देवशब्देन प्राणा विवक्षिता इति  
दर्शयति,—“देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इत्याह प्राणा वै  
देवा द्रविणोदा अहोरात्राभ्यामेवैनमुद्यत्य प्राणैर्दाधार” (५।१।  
१० अ०) इति । उद्यमनमात्रमहोरात्रयोः कृत्यं, धारणन्तु  
प्राणानामित्यर्थः ।

रुक्म-शिक्षपात्र-कृष्णाजिनानां यः प्रतिमोकः, तस्य काशे  
उपवेशनं विधत्ते,—“आसीनः प्रतिमुञ्चते तस्मादासीनाः  
प्रजाः प्रजायन्ते” (५।१।१० अ०) इति । ‘तस्मात्’ ‘आसीनः’  
प्रतिमोकात् । लोकेऽपि ‘प्रजाः’ ‘आसीनाः’ एवोत्पद्यन्ते,  
नद्वत्यिताः ।

‘कृष्णाजिनस्य’ शिक्षात् बहिर्देशवर्त्तित्वं विधत्ते,—“कृष्णा-  
जिनमुत्तरं तेजो वै हिरण्यं ब्रह्म कृष्णाजिनं तेजसा चैवैनं  
ब्रह्मणा बोभयतः परिगृह्णाति” (५।१।१० अ०) इति । शिक्षास्य  
एकतो रुक्मम्, अन्यतः कृष्णाजिनम् इति, तेजोरूपेण रुक्मस्य,  
वेदरूपेण कृष्णाजिनेन ‘स’ ‘उभयतः’ शिक्षं परिगृह्णीतुं भवति ।  
कृष्णाजिनस्य ब्रह्मरूपत्वं दीक्षाप्रकरणे समाज्जातम्, ‘ब्रह्मक्षो वा  
एतद्रूपं यत्कृष्णाजिनम्’ इति ।

शिक्ष्यस्योद्यमनहेतुरज्जुसङ्ख्या • विधत्ते,—“षड्दशामः शिक्ष्यं भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनमुद्यच्छते” (५।१।१० अ०) इति ।

पचान्तरं विधत्ते,—“यद्वादशोद्यमः संवत्सरेणैव” (५।१।१० अ०) इति । ‘द्वादश मासाः संवत्सरः’ इत्युक्तत्वात् ‘संवत्सरेणैव एनमुद्यच्छते’ ।

शिक्ष्यस्य प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते,—“मौञ्जं भवत्यूर्ध्वं मुञ्जां ऊर्ध्वं त्रैलोक्यं समर्द्धयति” (५।१।१० अ०) इति ।

कल्पः, ‘सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्युख्यमवेक्ष्य’ इति । पाठस्तु,—“सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत्ते शिरो गायत्र चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वामदेव्यं बृहद्रथान्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञिय पुच्छं छन्दाः स्यद्गानि धिष्ण्याः शफा यजूंषि नाम<sup>(१४)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वं ‘सुपर्णः’ पक्षिरूपः ‘असि’, पक्ष्याकारेण चेत्यमाणत्वात्; अत एवास्मायते, ‘त्रयसां वा एष प्रतिमया चोयते यदग्निः’ इति । तच्च दृष्टान्तः,—‘गरुत्मान्’ यथा पक्षिराजस्तद्वत् । पक्ष्याकार-स्यावयवाः सम्पद्यन्ते\*—‘त्रिवृत्ते शिरः’ (बहिष्पवमानस्तोत्रे योऽयं त्रिवृत्स्तोमः स एव स्तोमः शिरस्थानीयः); प्रजापतिमुखजगन्मूर्तेन उक्तत्वात् । यज्ञायत्राख्यं ‘साम’, तत् त्वदीयं ‘चक्षुः’, यः पञ्च-दशादिस्तोमः, स एव जीवात्मा । यद्वामदेवाख्यं ‘साम’, सा ‘तनूः’ (शिरोऽव्यतिरिक्तशरीरस्थानीयं) । ये बृहद्रथान्तराख्ये सामानो ‘ते’ तव पक्षस्थानीये । यद् यज्ञायज्ञियाख्यं साम, तत् तव

पुच्छस्थानीयम् । यानि गायत्र्यदीनि च्छन्दांसि, तानि हृदयाद्य-  
 पुच्छस्थानीयानि । ये सैमिकवेद्यां हेत्रियादि—‘धिष्ण्याः’,  
 ‘ते’ तव शफस्थानीयाः । यानि ‘यजूंषि’, तानि तव नाम-  
 स्थानीयानि ।

एतन्मन्त्रं विनियुक्ते,—“सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यवेक्षते रूप-  
 मेवास्यैतन्माहिमानं व्याचष्टे” (५।१।१०अ०) इति । ‘अवेक्षते’  
 उच्यमिति शेषः । मन्त्रस्वरूपेणैवार्थप्रतीतेर्नात्र पृथग्व्याख्यातव्य-  
 मस्ति ।

कल्पः, ‘सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यादयोत्याय’ इति । पाठस्तु,—  
 “सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ सुवः पत<sup>(१५)</sup>” इति । हे अग्ने,  
 त्वं ‘गरुत्मान्’ (गरुड इव पक्षिरूपः) ‘असि’ । अत आकाशं  
 प्रति ‘गच्छ’, ततोऽपि ‘सुवः पत’ (स्वर्गलोकं प्राप्नुहि) ।

मन्त्रस्य स्वर्गप्राप्तिपरत्वं दर्शयति,—“दिवं गच्छ सुवः पते-  
 त्याह सुवर्गमेवैनं लोकं गमयति” (५।१।१०अ०) इति ।  
 ‘एनं’ यजमानमात्मानम्॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

यदग्ने,—पञ्चभिः काष्ठं वक्त्रावौदम्बरं क्षिपेत् ।

दंष्ट्राश्चतुर्मादधाति, ये, च वैकङ्कतीं तथा ॥

यो अस्मभ्यं, शमोकाष्ठं, संशित-द्वयवाचनम् ।

दृशा, रुक्मं निजे कण्ठे बद्ध्वा, विश्रेति मन्त्रतः ॥

साग्न्युखाशिक्षपाशं तु स्वाम्यत्र प्रतिमुञ्चते ।



नक्तो, ऽजिनं चोपरिष्ठान्, सुपर्णोऽग्निमवेक्षते ।

सुपर्णः साग्निहृत्तिष्ठेन्मन्त्राः पञ्चदशेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्रुतः परिभूरसि । स इद्  
देवेषु गच्छति<sup>(१)</sup> । सोम यास्ते मयो-भुव ऊतयः सन्ति  
दाशुषे । ताभिर्नोऽविताभव<sup>(२)</sup> । अग्निर्मूर्धा भुवः<sup>(३-४)</sup> ।  
त्वन्नः सोम यो ते धामानि<sup>(५-६)</sup> । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो  
देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्<sup>(७)</sup> ।  
अचित्ती यच्चक्रमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुष-  
त्वता ॥ १ ॥

देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वन्नो अच सुवताद-  
नागसः<sup>(८)</sup> । चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां ।  
यज्ञं दधे सरस्वती<sup>(९)</sup> । पावीरवी कन्या चिचायुः  
सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् । माभिरच्छिद्रः शरणः  
सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यः सत्<sup>(१०)</sup> । पूर्षा गा  
अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः । पूषा वाजः सनोतु  
नः<sup>(११)</sup> । शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यत् ॥ २ ॥

त्रिषुरूपे अहनी द्यौरिवासि । विश्वा हि माया  
अवसि-स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु<sup>(१९)</sup> ।  
तेऽवर्द्धन्त स्वतवसेः महित्वनाऽऽनाकं तस्युरु चक्रिरे  
सदः । विष्णुर्यज्ञावदृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि  
बर्हिषि प्रिये<sup>(२०)</sup> । प्रचित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय  
स्वतवसे भरध्वं । ये सहासि सहसा सहन्ते ॥ ३ ॥

रेजते अग्ने । पृथिवी मखेभ्यः<sup>(२१)</sup> । विश्वे देवा विश्वे  
देवाः<sup>(२२ २३)</sup> । द्यावा नः पृथिवी इमं सिधमद्य  
दिविस्पृशं । यज्ञं देवेषु यच्छतां<sup>(२४)</sup> । प्र पूर्वजे पितरा  
नव्यसीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सद्ने कृतस्य । आ नो  
द्यावापृथिवी दैव्येन जनेन यातं महि वां वरूथं<sup>(२५)</sup> ।  
अग्निं स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्ये । हव्या  
देवेषु नो दधत्<sup>(२६)</sup> । स हव्यवाङ्मर्त्य उशिगदूत-  
श्चनोहितः । अग्निर्धिया समृण्वति<sup>(२७)</sup> । शन्नो भवन्तु  
वाजे-वाजे<sup>(२८ २९)</sup> ॥ ४ ॥

पुरुषत्वता । यजतं तं अन्यत् । सहन्त । चना-  
हितः । अष्टौ च ॥ ११ ॥

युञ्जानः । इमागृभणन् । देवस्य । सं ते । विपाजसा ।  
वसवस्त्वा । समास्त्वा । ऊर्द्धा अस्य । आकूतिं । यदग्ने  
यानि । अग्ने यं यज्ञम् । एकादश ॥ ११ ॥ \* ॥ ० ॥

युञ्जानः । वर्मं च स्थं । आदित्यास्त्वा । भारती ।  
स्वा॥ अ॥ ५॥ षट्चत्वारिंशत् ॥ ६४ ॥

युञ्जानः । वाजे वाजे ॥

॥०॥ हरिः औम् ॥०॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे प्रथम-  
प्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

॥ \* ॥ समाप्तश्च प्रथमः प्रपाठकः ॥ \* ॥

दशमेऽनुवाके वज्रधारणमुक्तम् । अथैकादशे चातुर्मास्यगते  
वैश्वदेवाख्ये प्रथमपर्वणि विहितानां हविषां याज्यानुवाक्या  
उच्यन्ते । तत्र प्रथमस्याज्यभागस्य चोदकप्राप्तमपवादितुमन्यां  
पुरोऽनुवाक्यामाह,—“अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।  
स इद्देवेषु गच्छति<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘अध्वरं’ (हिंमारहितं),  
‘यं’ ‘यज्ञं’ ‘विश्वतः’ ‘परिभूरसि’ (सर्वतः प्राप्तवानसि) । ‘स  
इत्’ (स एव) यज्ञं ‘देवेषु’ ‘गच्छति’ ।

अथ द्वितीयाज्यभागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“सोम यास्ते  
मयो-भुव जतयः सन्ति दाशुषे । ताभिर्नोऽविता भव<sup>(१)</sup>” इति ।  
हे ‘सोम’, ‘दाशुषे’ (हविर्दत्तवते) यजमानाय ‘मयो-भुवः’  
(सुखं भावयितुः) ‘ते’ (तव) ‘या’ ‘जतयः’ (रक्षणप्रकाराः)  
‘सन्ति’, ‘ताभिः’ (जतिभिः) ‘नः’ (अस्माकं) ‘अविता’ (रचकः)  
‘भव’ ।

अथ 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति' इत्यस्मिन् हविषि याज्या-  
पुरोनुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“अग्निर्मूर्द्धा, भुवः(१-४)” इति ।  
'अग्निर्मूर्द्धा' इति पुरोनुवाक्या, 'भुवो यज्ञस्त्र' इति याज्या ।  
एतद्योभयमैष्टिके होचकाण्डे समास्नातम्, तच्च अस्माभिर्हृदा हृत्य,  
“चक्षुषी वा एतद्यज्ञस्त्र” (१ का०।६ प्र०।२ अ०) इत्यस्मिन्ननुवाके  
व्याख्यातम् ।

अथ 'सौम्यं चरुम्' इत्यस्मिन् हविषि याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके  
दर्शयति,—“त्वन्नः सोम, या ते धामानि(१-१)” इति । 'त्वन्नः सोम  
विशतः' इति पुरोनुवाक्या, 'या ते धामानि' इति याज्या;  
एतद्योभयं “स पत्नवन्नि काव्या” इत्यनुवाके (१ का०।३ प्र०।  
१४ अ०) व्याख्यातम् ।

अथ 'सावित्रं द्वादशकपालम्' इत्येतस्य हविषः पुरोनुवाक्या-  
माह,—“तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धोमहि । धियो यो नः  
प्रचोदयात्(१)” इति । 'यः' सविता अस्माकं बुद्धोः प्रेरयति,  
'तत्सवितुः' 'देवस्य' वरणीयं 'भर्गः' (तेजो) आयेम ।

तत्रैव याज्यामाह,—“अचित्ती यच्चक्रमा दैव्ये जने दोनै-  
र्दक्षैः प्रभृती पुरुषत्वा । देवेषु च सवितर्मानुषेषु च तन्नो अन्न  
सुवतादनागसः(५)” इति । पुरुषस्य भावः पुरुषत्वं, पुरुषत्वमेव  
'पुरुषत्वा', सा 'च' 'प्रभृती' (अतिबहुला); देवेन्द्रियादिसङ्गातेषु  
पुरुषोऽहमस्मीत्यादितादात्म्याभिमानभ्रान्तिरत्यन्तं दुर्देत्यर्थः ।  
तथा सति, चे 'अचित्ती', कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोरज्ञानेन 'दोनैर्दक्षैः'  
(विषयसम्यग्गतयः दोनत्वं प्राप्तिः, सत्यव्यापारकुत्रैरिन्द्रियैः)

‘दैव्ये जने’ (देवतासम्बन्धिनि शरीरे) ‘यत् चक्षुः’ (यत् पापं वयं कृतवन्तः), हे ‘सवितः’, ‘त्वं’ ‘देवेषु’ मनुष्येषु ‘च’ ‘अत्र’ (अस्मिन् कर्मणि) ‘नः’ (अस्मान्) ‘अनागसः’ (पापरहिताः) यथा भवामः, तथा ‘सुवतात्’ (प्रेरय) ।

अथ ‘सारस्वतं चक्षुः’ इत्यस्य पुरोनुवाक्यामाह,—“चोदयत्री स्रुतानां चेतन्ती सुमतोनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती<sup>(९)</sup>” इति । ‘स्रुतानां’ (प्रियवाक्यानां) ‘चोदयत्री’ (प्रेरयत्री) ‘सुमतोनां’ (शोभनबुद्धीनाम्) अस्माकं कृत्यं ‘चेतन्ती’ (जानन्ती) ‘सरस्वती’ ‘यज्ञम्’ इमं ‘दधे’ (धारितवती) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् । ग्राभिर्च्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यः सत्<sup>(१०)</sup>” इति । ‘सरस्वती’ ‘धियं धात्’ (अस्मदीये कर्मणि सावधानां बुद्धिं धारयतु) । कीदृशी ?—‘पा-वीर-वी’ (पाद्वन् वीरांश्च वयति जनयतीति ‘पा-वीरवी’), ‘कन्या’ (कमनीया), ‘चित्रायुः’ (विचित्रं जीवनं यस्याः सा), ‘वीरपत्नी’ (वीराणां पालयित्री), ‘ग्राभिः’ (कुन्दोभिः) युक्ता, ‘सरस्वती’ ‘सजोषाः’ (यजमानेन समानप्रीतिः) सती ‘गृणते’ (स्तुवते) यजमानाय ‘शर्म यंसत्’ (सुखं प्रयच्छतु) । कीदृशं ‘शर्म’ ?—‘अच्छिद्रम्’ (अविच्छिन्नं), ‘शरणं’ (रक्षकं), ‘दुराधर्षं’ (अन्यैर्धर्षयितुमशक्यम्) ।

अथ ‘पौषां चक्षुः’ इत्यस्य पुरोनुवाक्यामाह,—“पूष गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वतः । पूषा वाजं सनोतु नः<sup>(११)</sup>” इति । अयं ‘पूषा’ ‘नः’ (अस्माकं) ‘गा अन्वेतु’ (रक्षणाय गृह्यतो जच्छतु) ।

किञ्च, अयं 'पूषा' सर्वतोऽश्वान्, 'रक्षतु' । 'पूषा' 'नः' (अस्मभ्यं) 'वाजम्'-(अन्नं) 'सनेतु' (सम्पादयतु) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“शृङ्गं ते अन्यत् यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि । विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु<sup>(११)</sup>” इति । हे 'पूषन्', 'ते' (तव) 'शृङ्गं' (शृङ्गस्वरूपम्) 'अन्यत्' (अनेकप्रकारं), उदयकाले रक्तवर्णं रूपं 'अन्यत्', मध्याह्नकाले श्वेतवर्णं रूपम् 'अन्यत्',-इत्येवमनेकप्रकार-त्वम् । 'ते' (तव) 'यजतं' (पूजनमपि) 'अन्यत्',—प्रातःकाले “मित्रस्य चूर्षणीष्टतः” इत्यादिभिर्मन्त्रैः पूज्यसे, मध्याह्ने तु “आ सत्येन” इत्यादिभिः । तथा, त्वया निष्पादिते 'अहनी' अपि 'विषुरूपे' (नानारूपे) । अहःशब्दश्चन्द्रिन्यायेन रात्रिमप्युपलक्षयति । अहः प्रकाशोपेतं, रात्रिस्तमोयुक्तेति नानारूपत्वं । एवं विचित्र-कार्ययुक्तोऽपि त्वं । 'द्यौरिवासि',-आकाशं यथा एकरूपं, तद्वत्त्वमपि पञ्चपातरादित्यादेकरूपोऽस्मि । (मीयन्ते पदार्था याभि-स्थित्तृत्तिभिस्ताः चित्तवृत्तयोः 'मायाः' । 'कव्यदानवाचिना च स्वधाशब्देन कृत्स्नमण्यन्नमुपलक्ष्यते । हे 'स्वधावः' (अन्नवत्), 'विश्वा हि' 'मायाः' सर्वा अण्यन्यदीयचित्तवृत्तयोः 'अवसि' (रक्षसि) । हे 'पूषन्' 'इह' (कर्मणि) 'ते' (तव) 'रातिः' 'भद्रा' 'अस्तु' (फलप्रदानं समीचीनं भवतु) ।

अथ 'माहृतं सप्तकपालम्' इत्यस्य पुरानुवाक्यामाह,—“ते-  
ऽवर्द्धन्त स्वतवसो महिलना आ नाकं तस्युरु चक्रिरे सदः ।  
विष्णुर्यत् ह आब्रह्मणं मह्य्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि ।

प्रिये<sup>(१२)</sup>” इति । ‘तवः’ बलं, ‘स्वं’ (स्वाधीनं) तवो जेयः, ते ‘स्वतवसः’, तादृशाः ‘ते’ (मरुतः) ‘महिलना’ (महत्त्वेन) स्वकीयेन ‘अवर्द्धन्त’; ‘ते’ (मरुतः) ‘गाक्’ (स्वर्गे) ‘आ’-‘तक्षुः’ (प्राप्तवन्तः); ‘उरु’ ‘सदः’ ‘चक्रिरे’ (स्वर्गे यजमानाश्च स्वानं कृतवन्तः) । ‘वृषणं’ (कामानां वर्षकं), ‘मदच्युतम्’ (हर्षचारकम्) अत्यन्तहर्षकारणमित्यर्थः, तादृशं यद् बर्हिः (मरुत्सम्बन्धि कर्म) ‘विष्णुः’ ‘ह’ (विष्णुरेव) ‘यत्’ ‘आवत्’ (पाक्षितवान्), तस्मिन् ‘प्रिये’ ‘बर्हिवि’ मरुतोऽधिष्ठातृ वयो न’ (वय इव) ‘सीदन्’, यथा पक्षिणः सायंकाले वृक्षे सीदन्ति, तद्वत् अवतिष्ठन्तीति ।

तत्रैव व्याख्यामाह,—“प्र चिचमर्के गृणते तुराय मारुताश्च स्वतवसे भरध्वं । ये सहस्रांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मुखेभ्यः<sup>(१३)</sup>” इति । हे अस्त्रियजमानाः, ‘चिचमर्के’ (विविध-मर्षणं) ‘मारुताय’ (मरुत्समूहाय) ‘प्र’-‘भरध्वं’ (प्रकर्षेण संपादयत) । कीदृशाय ‘मारुताय?’, ‘गृणते’ (हविर्दानाश्च गृणते), ‘तुराय’ (ग्रीष्मनामिने), ‘स्वतवसे’ (स्वाधीनबलाय) । ‘ये’ भवन्तः, अस्त्रियजमानाः, ‘सहसा’ (मरुतां बलेन) ‘सहस्रांसि’ (वैरिबलाणि) ‘सहन्ते’ (अभिभवन्ति) इति पूर्ववान्वयः । हे ‘अग्ने’, त्वमेव तत्पश्येत्यव्याहारः । किन्तु द्रष्टव्यमिति ?—तदुच्यते, इयं ‘पृथिवी’ ‘मुखेभ्यः’ (‘मारुतयज्ञेभ्यः’) ‘रेजते’ (कम्पते),—कथं नामैतदोथां यज्ञा निर्विघ्नेन समाप्यन्ते ?—इति प्रयत्नं करोति,—तदिदमिति ।

अथ ‘वैश्वदेवीमामिषाम्’ इत्यस्मिन् हविषि व्याख्यापुरोजु-

वाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“विश्वे देवा विश्वे देवा (१५.१९)” इति ।  
 ‘विश्वे देवा अतावद्धः’ इति पुरोनुवाक्या ; ‘विश्वे देवाः ऋणुत’  
 इति चाध्या । एतच्चोभयं “नवो नवो भवति” (२का०।४ प्र०।  
 १४ अ०) इत्येतस्मिन्ननुवाके व्याख्यातम् ।

‘द्यावापृथिव्यमेककपालम्’ इत्यस्य पुरोनुवाक्यामाह,—“द्यावा  
 नः पृथिवी इमं सिध्नमद्य दिविस्पृशं । यज्ञं देवेषु यच्छताम् (१०)”  
 इति । ‘द्यावा’ ‘पृथिवी’ (द्युदेवता, पृथिवीदेवता) चेति उभे ‘अद्य’  
 (‘अस्मिन् दिने’) ‘नः’ (‘अस्मदीयम्’) ‘इमं’ ‘यज्ञं’ ‘देवेषु’  
 समर्पयेतां । कीदृशं यज्ञं?—‘सिध्नं’ (फलस्य साधकं), ‘दिवि-  
 स्पृशं’ (‘अग्नौ प्रास्ताहुतिः (?) सम्यगादित्यमुपतिष्ठते’ इतिन्यायेन  
 स्वर्गस्पर्शयुक्तम्) ।

तच्चैव व्याख्यामाह,—“प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिर्गीभिः  
 कृणुध्वं सदने ऋतस्य । आ नो द्यावापृथिवी दैव्येन जनेन यातं  
 महि वां वरूयम् (१८)” इति । ‘पूर्वजे’ (प्रथमोत्पत्तौ) द्यावापृथिव्यौ,  
 ‘पितरा’ (मातापितृसमाने) ‘द्यौः पिता’ पृथिवी माता’ इति  
 स्मृत्यनुरात् । हे ऋत्विज्यजमानाः, ‘ऋतस्य’ ‘सदने’ (यज्ञस्य स्थाने)  
 ‘नव्यसीभिः’ (अतिशयेन नूतनाभिः) ‘गीभिः’ (मन्त्ररूपाभि-  
 र्वाग्भिः) ‘कृणुध्वं’ (द्यावापृथिव्योः स्तुतिं कुरुध्वं) । हे द्यावा-  
 पृथिव्यौ ‘दैव्येन जनेन’ (देवसम्बन्धिना वरूपसमूहेन) सह ‘नः’  
 (‘अस्मान्’) प्रति ‘आ’-‘यातं’ । ‘वां’ (युवयोः) सम्बन्धि ‘वरूयं’  
 (यज्ञगृहं) ‘महि’ (पूज्यम्) ।

अथ तच्चैव स्मिष्टकृतः पुरोनुवाक्यामाह,—“अग्निं सोमेन



बोधय समिधानो अमर्त्ये । हव्या देवेषु नो दधत्<sup>(१९)</sup>” इति ।  
 हे यजमान, त्वं ‘समिधानः’ ‘अग्निं’ दीपयन् ‘अमर्त्ये’ (मरण-  
 रहितं) ‘अग्निं’ स्विष्टकद्रूपं ‘स्तोमेन’ (स्तोत्रेण) तोषयित्वा अग्नेन  
 प्रकारेण ‘बोधय’ । केन प्रकारेण ? इति—तदुच्यते, ‘नः  
 (अस्मदीयानि) ‘हव्या’ (हवींषि) ‘देवेषु’ ‘दधत्’ (स्थापयेति) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“स हव्यवाङ्मर्त्यं उशिग्दूतश्चनोहितः ।  
 अग्निर्धिया समृण्वति<sup>(२०)</sup>” इति । स्विष्टकद्रूपः ‘अग्निः’ ‘धिया’  
 (करुणायुक्तेन चेतसा) ‘समृण्वति’ (सम्यगिह प्राप्नोति) । कीदृशः  
 ‘अग्निः’ ?—(हव्यं वहतीति) ‘हव्यवाट्’, ‘अमर्त्यः’ (मरणरहितः),  
 ‘उशिक्’ (अनुग्रहपूर्वमस्मान् कामयमानः), ‘दूतः’ (देवानामाज्ञा-  
 कारी) ‘चनोहितः’ (चनसा मनुष्याणां यजमानानां ‘रहितः’  
 अभीष्टकारी) ।

अथ ‘वाजिनो यजति’ इति विहिते कर्मणि याज्यानुवाक्ययोः  
 प्रतीके दर्शयति,—“शन्नो भवन्तु वाजे-वाजे<sup>(२१-२२)</sup>” इति । ‘शन्नो  
 भवन्तु वाजिनः’ इति पुरोनुवाक्या ; ‘वाजे-वाजे वाजिनः’ इति  
 याज्या । एतच्चोभयं “देवस्याहः सवितुः प्रसवे” (१ का० १।७ प्र० १  
 ८ अ०) इत्यनुवाके व्याख्यातम् ॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

अथ याज्या वैश्वदेवे चातुर्मास्याद्यपर्वणि ।

अग्ने, सोमानुवाकस्तु अग्नीसोमाज्यभागयोः ॥

अग्ने\* भुवस्तथाग्नेये तृन्नो, या ते, च सौम्यके ।  
 तत्सेति युग्मः सार्वित्रे ; चोद, सारस्वते तथा ॥  
 पूषा, पौष्णे ; मारुते ते, विश्वे द्वे वैश्वदेविके ।  
 द्यावा, द्यावापृथिव्ये स्यादग्निं, स्विष्टकृतो यजिः ॥  
 शं, वाजे, वाजिने, मन्त्रा द्वाविशतिरुदोरिताः ॥

वेदायस्य प्रकाशन तमेा हार्दं निवारयन् ।  
 पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 मंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे प्रथमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

समाप्तश्च प्रथमः प्रपाठकः ॥ ० ॥

\* अग्निर्भुव इति पाठो भवितुं युक्तः ।

श्रीगणेशाय नमः



अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।



॥ हरिः ॐ ॥

विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा गायचं छन्द आरोह  
पृथिवीमनुविक्रमस्व निर्भक्तः सः यं द्विषो<sup>(१)</sup> विष्णोः  
क्रमोऽस्यभिश्चिहा चैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्ष-  
मनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विषो<sup>(१)</sup> विष्णोः क्रमो  
ऽस्यरातीयतो हन्ता जागर्तं छन्द आरोह दिवमनु-  
विक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विषो<sup>(१)</sup> विष्णोः ॥ १ ॥

क्रमोऽसि शचूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोह  
दिशोऽनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विषः<sup>(१)</sup> । अक्रन्दद-  
ग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहदीरुधः समञ्जन् ।  
सद्यो जज्ञानो विहीमिदो अस्वदा रोदसी भानुना  
भात्यन्तः<sup>(१)</sup> । अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि न आवर्त्तस्वायुषा  
वर्षसा सन्धा मेधया प्रजया धनेन<sup>(१)</sup> । अग्ने ॥ २ ॥

अङ्गिरः शतं ते सन्वाहृतः सहस्रं त उपाहृतः ।  
 तासां पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो  
 रयिमाकृधि<sup>(९)</sup> । पुनरूर्जा निर्वर्त्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा ।  
 पुनर्नः पाहि विश्वतः<sup>(१०)</sup> । सह रय्या निर्वर्त्तस्वाम्ने  
 पिबस्व धारया । विश्वप्सिया विश्वतस्परि<sup>(११)</sup> । उदुत्तमं  
 वरुण पाशमस्मदवाधमं ॥ ३ ॥

वि मध्यमः अथाय । अथा वयमादित्य व्रते तवा-  
 नागसो अदितये स्याम<sup>(१०)</sup> । आ त्वा हार्षमन्तरभू-  
 भ्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वस्मिन्  
 राष्ट्रमधिअय<sup>(११)</sup> । अग्ने बृहन्नृपसामूर्ध्वो अस्थान्निर्ज-  
 ग्मिवान् तमसो ज्योतिषाऽऽगात् । अग्निर्भानुना रुशता  
 स्वङ्ग आ जाते विश्वा सद्मान्यग्राः<sup>(१२)</sup> । सीद त्वं मातु-  
 रस्याः ॥ ४ ॥

उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् । मैनामर्चिषा  
 मा तर्पसाभिश्चुचोऽन्तरस्याः शुक्रज्योतिर्विभाहि<sup>(१३)</sup> ।  
 अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायै सदेने स्वे । तस्यास्त्वं  
 हरसा तपं जातवेदः शिवो भव<sup>(१४)</sup> शिवो भूत्वा मर्त्य-  
 मग्नेऽथो सीद शिवस्त्वं । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः  
 स्वां योनिमिहाऽऽसदः<sup>(१५)</sup> । हः सः शुचिषद्, वसुर-  
 न्तरिक्षसहोत्तम वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृपहर-

सद्वत्सद्व्योमसदङ्गा गोजा कृतजा अद्रिजा कृतं  
बृहत्<sup>(१९)</sup> ॥ ५ ॥

दिवमनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विषौ विष्णोः ।  
धनेन । अग्ने । अधमम् । अस्याः । शुचिषत् । षोडश  
च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीय-  
प्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

### अगणेशाय नमः ।

आद्यप्रपाठके ह्यख्यो योऽग्नि सोऽयं प्रपञ्चित.

प्रपाठके द्वितीये तु स्यादेवयजनग्रहः ॥

चयनार्थस्तत्र चानुवाकर एकादशेरिताः ।

आसन्धां स्थापनं वात्सप्रसूक्तेन ह्यपस्थितिः ॥

उखाग्नेर्नयनं\*, गार्हपत्याग्निचयनं, भुवः ।

कर्षणं, चौषधावापः, लोष्ठक्षेपादिकं तथा ॥

रुक्मादेरुपधानं, स्व-यमादृक्षादिकस्य च ।

निधानं पशुश्रोषाणां, याज्या अर्था उदीरिताः ॥

तत्र प्रथमानुवाके आसन्ध्याम् उखाग्निस्थापनं प्रतिपाद्यते ।

\* उखाग्नेश्चयनमिति कश्चित् पाठः साधुरिव प्रतिभाति ।

कल्पः, 'उपरि नाभेर्धारयमाणो विष्णोः क्रमोऽसीति चतुरो विष्णुक्रमान् प्राचः क्रामति' इति । पाठस्तु,—“विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा गायत्रं हृन्द आरोह पृथिवीमनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विभो<sup>(१)</sup> विष्णोः क्रमोऽस्यभिश्चिहा त्रैष्टुभं हृन्द आरोहान्तरिक्षमनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विभो<sup>(१)</sup> विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं हृन्द आरोह दिवमनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विभो<sup>(१)</sup> विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽनुष्टुभं हृन्द आरोह दिशोऽनुविक्रमस्व निर्भक्तः स यं द्विभः<sup>(४)</sup>” इति । यज्ञप्रयोगं कृत्स्नं व्याप्नोतीति 'विष्णुः' यजमानः, यदा विष्णुना (परमेश्वरेण) अभेदोपचारं कृत्वा स विष्णुरित्युच्यते । हे प्रथमपादविन्यास, त्वं 'विष्णोः' 'अभिमातिहा' (पापघातो) 'क्रमोऽसि', 'पाप्मा वा अभिमातिः' इति श्रुत्यन्तरम् । तादृशस्त्वं 'गायत्रं हृन्द' 'आरोह' (अनुयाहकत्वेन स्वीकुर्व) । ततः 'पृथिवीमनुविक्रमस्व' (भूदेवतारूपमिमं प्रदेशं विशेषेण व्यप्नुहि) । 'यम्' ('अभिमार्ति'), वयं 'द्विभः', सोऽयं 'निर्भक्तः' ('अस्मात् प्रदेशान्निःसारितः') । एवमुत्तरेष्वपि योज्यम् ।

• 'अभिश्चिहा' मिथ्यापवादघातो । अरातिरवशं दातव्यस्य दानाभावः, तम् आत्मन इच्छतीति 'अरपतीयन्', तस्य 'हन्ता' विनाशकः । प्रहारेण हन्तृत्वं शत्रुत्वं तदिच्छतीति 'शत्रूयन्', तस्य 'हन्ता' विनाशकः । अत्र सर्वत्र यजमानः स्वात्मानं विष्णुत्वेन भावयेत् । चतुर्णां प्रक्रमाणां प्रदेशान् पृथिव्यादिलोकरूपत्वेन

भावयेत् । गायत्र्यादिच्छन्दोभिमानोदेवताः\* तेषां प्रक्रममाणा-  
मनुयाहिकाः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यान् विष्णुक्रमान् विधत्ते,—“विष्णुमुखा वै  
देवाश्छन्दोभिरिमास्त्रैः काननपजय्यमभ्यजयन् यदिष्णुक्रमान् क्रमते  
विष्णुरेव भूत्वा यजमानश्छन्दोभिरिमास्त्रैः काननपजय्यमभि-  
जयति विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिष्ठेत्याह गायत्री वै पृथिवी त्रैष्टु-  
भम् अन्तरिक्षं जागती द्यौरानुष्टुभीर्दिशश्छन्दोभिरेवेमास्त्रैः कान-  
नपजय्यमभिजयति” (५।२।१२अ०) इति । ‘देवाः’ पूर्वं स्वेषु  
विष्णुमेव मुख्यं कृत्वा छन्दोभिमानिदेवैः संहिताः ‘अनपजय्यम्’  
(अन्यैर्जेतुं यथा न शक्यन्ते तथा) ‘इमान्’ ‘लोकान्’  
‘अभ्यजयन्’, अतो ‘यजमानः’ अपि विष्णुक्रमैस्तथा ‘जयति’ ।  
गायत्र्यादिच्छन्दोदेवानां पृथिव्यादिलोकस्वामित्वेन तैः सह  
लोकानां जेतुं शक्यतया, मन्त्रेषु ‘गायत्रं छन्द आरोह’ इत्यादि  
पठितमित्यभिप्रायः ।

कल्पः, ‘अक्रन्ददग्निरित्येताम् अनूदुच्य’† इति । पाठस्तु,—  
“अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहदोरुधः समञ्जन् । षष्ठो  
जज्ञानो वि होमिद्वो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः(५)”  
इति । अयम् ‘अग्निः’ ‘अक्रन्दत्’ (अस्मदरिष्टनिवारणार्थं गर्जतु) ।  
किमिव?—‘स्तनयन्निव’ ‘द्यौः’ (यथा द्युलोकस्थो मेघः सख-  
शेषभीतिं निवारयति तद्वत्) । किं कुर्वन्?—‘क्षाम’ (दाहकर्म,

\* गायत्र्यादिच्छन्दोभिमानि-देवता इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अनूदुच्य किं वा अनूच्य इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अस्मद्विद्वद्' 'रेरिहत्' (लेखिहानः) । 'वीरुधः' 'समञ्जन्' (पुष्पफलसमृद्धलतावदस्मदनुकूलानि सम्यगभिव्यञ्जयन्) । 'हि' (यस्मात्) 'जज्ञानः' (उत्पद्यमानः) 'सद्यः' 'ई' (तदानीमेव) 'इद्धः' (दीप्तः) सन् 'जगत्' - 'वि' - 'अख्यत्' (प्रकाशयति) । 'रोदसी' (द्याव्यापृथिव्योः) 'अन्तः' 'भानुना' (रश्मिना) स्वयम् 'आ' - 'भाति' (समन्तात् प्रकाशते) ।

एतस्य मन्त्रस्यानुवचनं विधत्ते,—“प्रजापतिरग्निमसृजत सोऽस्मात्सृष्टः पराङ्मैतमेतयाऽन्वेदक्रन्ददिति तथा वै सोऽग्नेः प्रियं धामावावृन्धे यदेनामन्वाहाग्नेरेवेतया प्रियं धामावरुन्धे” (५। २। १ अ०) इति । 'सृष्टः' 'सः' (अग्निः) 'अस्मात्' (प्रजापतेः) 'पराङ्' (आवृत्तिरहितः) 'ऐत्' (अगच्छत्), 'अक्रन्ददिति' एतया च्छचा 'एतम्' (अग्निम्) 'अनु' - गस्य 'सः' (प्रजापतिः) 'तया' एव च्छचा 'अग्नेः' 'प्रिय' स्थान प्राप्तवान् । अत एवास्या अनुवचनम् 'अग्नेः' प्रियस्य स्थानस्य सम्पादनाय भवति ।

कल्पः, 'अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्निति चतसृभिः प्रदक्षिणमावर्त्तते' इति । तत्र 'प्रश्नमामाह,—“अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि न आवर्त्तस्वायुषा वर्चसा सन्या मेधया प्रजया धनेन(१)” इति । आभिमुख्येन आवर्त्तितुं शीलमस्यास्तीति आवर्त्ती, तादृश हे 'अग्ने', आयुरादिभिः सह 'नः' (अस्मान्) 'अभि' - लक्ष्य 'आवर्त्तस्व' । 'आयुः' अपमृत्युरहितं\* । 'वर्चः' कान्तिर्वचनं वा । 'सनिः' धनदानं । 'मेधः' श्रुतार्थ-

रहितत्वम् इति राहित्यम् इति वा पाठो भवितुं युक्तः



धारणशक्तिः । 'प्रजा' पुत्रादिः । 'धनं' सुवर्णं । धनशब्देन सम्पादयितव्यम् उच्यते । 'मनि'-शब्देन सम्पादितस्य वस्तुभ्यः प्रदानशक्तिरुच्यते ।

अथ द्वितीयामाह,—“अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः । तासां पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि<sup>(७)</sup>” इति । हे 'अङ्गिरः' (अङ्गसौष्टवयुक्त) 'अग्ने', 'ते' (तव) 'आवृतः' 'शतं' 'सन्तु' (आवृतिशक्तयः शतसङ्ख्याकाः भवन्तु) । तथा 'ते' (तव) 'उपावृतः' (उपावृतिशक्तयः सहस्रसङ्ख्याका भवन्तु) । स्वस्यैवावर्त्तनम् आवृत् । समीपवर्त्तिनां पुरुषाणां द्रव्यविशेषाणाञ्चावर्त्तनम् उपावृत् । अस्मासु स्नेहातिशयेन त्वमपि पुनःपुनः आवर्त्तस्व ; त्वदीयाः पुरुषास्त्वदीयानि च द्रव्याणि पुनःपुनः आवर्त्तन्तामित्यर्थः । 'तासां' आवृतिशक्तीनां शत-सहस्रसङ्ख्याकानां यः पोषः (समृद्धिः), तस्यापि 'पोषस्य' अन्यः पोषः (अयुतलक्षादिसङ्ख्याकाभिवृद्धिः), तादृशेन 'पोषेण' 'नः' (अस्मदीय) 'नष्टं' धनं 'पुनः' (भूयः) अपि 'आकृधि' (आवृत्तं कुरु) । 'पुनः' (भूयः) अपि 'रयिं' (पूर्वसम्पादितं धनं) 'आकृधि' (सर्वतः सम्पादितं कुरु) ।

अथ तृतीयामाह,—“पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा । पुनर्नः पाहि विश्यतः<sup>(८)</sup>” इति । हे 'अग्ने', त्वं 'ऊर्जा' (क्षीरादि-रसेन सह) 'पुनः' 'निवर्त्तस्व' (अन्नागच्छ) । 'इषा' (अग्नेन) 'आयुषा' सह 'पुनः' आगच्छ । 'नः' (अस्मान्) 'पुनः-पुनः' कृतात् 'विश्यतः' (सर्वस्मादपराधात्) 'पाहि'

अथ चतुर्थीमाह,—“सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिम्बस्व धारया । विश्वस्मिन् प्रिया विश्वतस्परि<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘रय्या’ (धनेन) ‘सह’ ‘निवर्त्तस्व’ । ‘स्या भक्षणे’ इति धातुः, विश्वैः सर्वैः स्याद्यते भक्ष्यते, पोयते इति ‘विश्वस्मो’, तादृशा वृष्टि-‘धारया’ ‘विश्वतस्परि’ (सर्वेषां हणधान्यलतापादपानामुपरि) ‘पिम्बस्व’ (सिञ्च) ।

एतैर्मन्त्रैरावर्त्तनं विधत्ते,—“ईश्वरो वा एष पराङ् प्रदद्यो यो विष्णुक्रमान् क्रमते चतसृभिरावर्त्तते चत्वारि कन्दाऽसि कन्दाऽसि खलु वा अग्ने प्रिया तनूः प्रियामेवास्व तनुवमभिपर्यावर्त्तते\*” (५।२।१ अ०) इति । ‘यः’ (यजमानः) ‘विष्णुक्रमान्’ आचरति, ‘एष’ ‘पराङ्’ (आवृत्तिरहितः), ‘प्रदद्योः’ ‘ईश्वरः’ (प्रकर्षेण गन्तुं समर्थः) पुनरावृत्तिं न लभत इत्यर्थः । अत आवृत्तिलाभाय ‘चतसृभिः’ (‘अग्नेऽभ्यावर्त्तन्’ इत्यादिभिः ऋग्भिः) आवृत्तिं कुर्यात् । गायत्री-त्रिष्टुप्-जगत्यनुष्टुप्-चतुर्णां कन्दसाम् अस्यादानादावुपात्तत्वादग्निशरीरत्वम् ।

आष्टौ प्रादक्षिण्यं विधत्ते,—“दक्षिणा पर्यावर्त्तते स्वमेव वीर्यमनुपर्यावर्त्तते तस्मादक्षिणोर्द्ध आत्मनो वीर्यावत्तरोऽथो आदित्यस्यैवावृतमनुपर्यावर्त्तते” (५।२।१ अ०) इति । ‘दक्षिणा’ प्रादक्षिण्येन, दक्षिणमवस्थाप्य वामभागस्य परिरभ्रमणं प्रादक्षिण्यम् । पुष्पस्य दक्षिणे भागे सामर्थ्यातिशयसङ्गावात् तदेवानुसृत्यावृत्तिः

\* अथ J. पुस्तके ‘दक्षिणा पर्यावर्त्तते’ इत्युत्तरत्र उद्धृताग्नौऽपि विधत्तः ।

कृता भवति । यस्मात् दक्षिणभागे 'वीर्ये' अन्तेरभिप्रेतं, 'तस्मात्' लोकेऽपि सर्वेषु व्यापारेषु दक्षिणदक्षस्यैव वीर्यातिशय उपलभ्यते । किञ्च आदित्यो मेहं प्रदक्षिणीकरोति, तदप्यत्रानुसृतं भवति ।

कल्पः, 'उदुत्तममिति शिष्यपाशमुन्मुच्य' इति । पाठस्तु,— उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमः अथाय । अथा वयमादित्य ब्रते तवानागमो आदितये स्याम<sup>(१५)</sup> इति । हे 'वरुण', 'उत्तमं' (उत्तमाङ्गे शिरसि स्थापितं) त्वदीय-पाशम् 'उत्'-कृत्य 'अथाय' (विनाशय) । अधमाङ्गे स्थापितं (पादप्रदेशे स्थापितं) 'पाशं' 'अव'-कृत्य विनाशय । 'मर्ध्यम'-प्रदेशे स्थापितं पाशं 'वि'-च्छेदय । 'अथ' (पाशत्रयविनाशानन्तरम्) 'आदित्य' (सूर्यसदृश) वरुण, 'वयम्' 'अनागमः' (पापरहिताः) सन्तः 'तव' 'ब्रते' (त्वदीये कर्मणि) 'आदितये' (अखण्डितत्वाय) 'स्याम' (योग्या भवेम) ।

अनेन मन्त्रेण शिष्यपाशोन्मोक्तमभिप्रेत्य मन्त्रगतस्य वरुणपाशस्य प्रसङ्गं दर्शयति,— "शूनःश्रेपमाजोर्गर्त्तिं वरुणा गृह्णात् स एतां वारुणोमपश्यत् तथा वै स आत्मानं वरुणपाशादमुञ्चद्वरुणो वा एतं गृह्णाति य उखां प्रतिमुञ्चत उदुत्तमं वरुणपाशमस्मादित्याह आत्मानमेवैतया वरुणपाशान्मुञ्चति" (५।२।१०) इति । शूनःश्रेपो नाम ऋषिः, स चाजोर्गर्त्तस्य पुत्रः, तं कदाचित् 'वरुणः' 'गृह्णात्' (गृहीतवान्), वरुणगृहीतत्वञ्च जलोदर-व्याधिना अभिव्यज्यते । 'स' च (शूनःश्रेपः) तत्परिहाराय 'उदुत्तमम्'

इत्येतां वारुणीमृचम् 'अपश्यत्' । ततः 'तथा' एव चचा 'स' शुनःशेषः स्वात्मानं 'वरुणपाशात्' मोचितवान् । अतोऽत्रापि 'यः' (यजमानः) 'उखां' 'प्रतिमुञ्चते' सोऽयं वरुणमृचोतः सन् तत्परिहाराय 'उदुत्तमम्'—इत्यनया शिष्यपाशमुन्नाच्य तन्मन्त्र-प्रसादेन वरुणपाशात् मुक्त्य भवति ।

कन्यः, 'आ त्वा हार्षमित्याहृत्य' इति । पाठस्तु,—“आ त्वा हार्षमन्तरभृध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु अस्मिन् राद्रमधिअय<sup>(११)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वाम् 'आ'-'हार्षं' (आहृतवानस्मि) । त्वञ्च उखाया 'अन्तः' 'अभृः' (अवस्थितोऽसि); 'अविचाचलिः' (अत्यन्तं चलनरहितः), 'ध्रुवस्तिष्ठ' (स्थिरस्तिष्ठ) । 'सर्वा' 'विशः' (प्रजाः) 'वाञ्छन्तु' त्वां । 'अस्मिन्' (यजमाने) 'राद्रम्' इदम् 'अधिअय' (अधिकं स्थापय) ।

अस्य मन्त्रस्य प्रथमपादे वज्रेराहरणं प्रसिद्धमेव प्रतीयते इति दर्शयति,—“आ त्वा हार्षमित्याहृह ह्येन५ हरति” (पु।२।१अ०) इति ।

द्वितीयपादे 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां' प्रतिष्ठा सिध्यतीत्याह,—“ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिरित्याह प्रतिष्ठित्ये” (पु।२।१अ०) इति ।

तृतीयपादे प्रजासद्भिः, चतुर्थपादे राज्यस्यैर्यञ्च क्रमेण दर्शयति,—“विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्वित्याह विशैवेन५ समर्द्धय-  
त्यस्मिन् राद्रमधिअयेत्याह राद्रमेवास्मन् ध्रुवमकः” (पु।२।१अ०) इति । 'विशः' (प्रजया) 'एनं' (यजमानम्) 'अस्मिन्' (यजमाने) 'अकः' (करोति) ।

चतुर्थपादपाठकाले यजमानविषयं काम्यं मनसा ध्यानं विधत्ते,—“यं कामयेत् राङ्गं स्यादिति तं मनसा ध्यायेत् राङ्गमेव भवति” (५।२।१अ०) इति । ‘यं’ (यजमानम्) उद्दिश्य राज्यमस्त्विति ‘कामयेत्’, अध्वर्युस्तं चतुर्थपादोच्चारणकाले ‘ध्यायेत्’ ।

कल्पः, ‘उपतिष्ठतेऽग्रे बृहन्नुषसामूर्द्धा अस्यात्’ इति । पाठस्तु,—अग्रे बृहन्नुषसामूर्द्धा अस्यान्निर्जग्मिवान् तमसो ज्योतिषाऽऽगात् । अग्निर्भानुना रश्मता खङ्ग आ जातो विश्वा सद्धान्यप्राः<sup>(११)</sup>” इति । अयमग्निः ‘बृहन्’ ‘उषसाम्’ ‘अग्रे’ (उषसां मुखे) ‘ऊर्द्धा’ ‘अस्यात्’ (अग्निहोत्रादौ बोध्यमान उत्तिष्ठति) । ‘ज्योतिषा’ (खकीयेन तेजसा) ‘तमसः’ ‘निर्जग्मिवान्’ (निर्गतः सन्) ‘आगात्’ । कीदृशोऽग्निः ?—‘रश्मता’ (तमो हिंसता) ‘भानुना’ रश्मिना ‘खङ्गः’ (शोभनशरीरः) । किञ्च ‘जातः’ (उत्पन्नमात्र एव) ‘विश्वा’ ‘सद्धानि’ (सर्वाणि स्थानानि) ‘आ’-‘अप्राः’ (खकीयेन तेजसा सर्वत्र पूरितवान्) ।

अस्य मन्त्रस्य प्रथमार्द्धं भागत्रयं क्रमेण व्याचष्टे,—“अग्रे बृहन्नुषसामूर्द्धा अस्यादित्याहायमेवैनं समानानां करोति निर्जग्मिवान् तमस इत्याह तम एवास्मादपहन्ति ज्योतिषाऽऽगादित्याह ज्योतिरेवास्मिन् दधाति” (५।२।१अ०) इति ।

कल्पः, ‘सोद त्वं मातुरस्या उपस्य इति तस्यां चतसृभि-

इच्छा सादयति' इति । 'औदुम्बर्यासन्धाः\* प्रकृतत्वात् सैव 'तस्याम्' इति परामृश्यते । तत्र प्रथमामाह,—“सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् । मैनामर्चिषा मा तपसा-भिःशूचोऽन्तरस्थाः शुक्रज्योतिर्विभाहि(१२)” इति । हे 'अग्ने', 'त्वं' मातृसमानाया आसन्धाः 'उपस्थे' (उत्सङ्गे) 'सीद' (उपविश) । कीदृशस्त्वं ?—'विश्वानि' 'वयुनानि' (सर्वान् ज्ञानोपायान्) 'विद्वान्' । 'एनां' (आसन्दोम्) 'अर्चिषा' (त्वदीयदीप्त्या) 'मा' 'शूशूचः' (अत्यन्तं मा दीपय), 'तपसा' (सन्तापेन) अपि 'मा' 'अभिःशूशूचः' । अर्चिः कारणं, तपः कार्यं, कारणेनैव तापो भवति, कार्येण तु भूयान्; तदुभयं मा कुर्वित्यर्थः । 'अस्याम्' (उखायाम्) 'अन्तः' 'शुक्रज्योतिः' (निर्मलप्रकाशः सन्) 'विभाहि' (विशेषेण दीप्यस्व) ।

अथ द्वितीयामाह,—“अन्तरग्ने इच्छा त्वमुखायै सदने स्वे । तस्यास्त्वः हरसा तपन् जातवेदः शिवो भव(१३)” इति । हे 'अग्ने', 'उखायै' (तस्या उखायां) 'अन्तः' (मध्ये) 'स्वे' 'सदने' (स्वकीये स्थाने) 'इच्छा' (दीप्त्या) युज्यस्व । हे 'जातवेदः', 'त्वं' 'तस्याः' (आसन्धाः) 'शिवो भव' (सुखप्रदो भव) । किं कुर्वन् ?—'हरसा' (तेजसा) 'तपन्' (ज्वलन्) ।

अथ तृतीयामाह,—“शिवो भूत्वा मल्लमग्नेऽथो सीद शिवस्त्वं । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वां योनिमिहासदः(१४)” इति ।

हे 'अग्ने', 'मह्यं' (मदर्थं) 'शिवः' (शान्तो) 'भूत्वा' 'अग्ने' (अनन्तरं) 'शिवः' 'सीद' (सर्वान् प्रति शान्तः सन्नुपविश) । 'सर्वाः' 'दिशः' शान्ताः 'कृत्वा' 'इह' (अस्यामुखायाम्) 'स्वां योनि' (स्वकीयं स्थानम्) 'आमदः' (आगत्योपविश) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“हंसः शुचिषदसुरन्तरिचसङ्केता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषदरसदृतसद् व्योमसदजा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्<sup>(१६)</sup>” इति । (हन्ति स्वयमाहवनी-यादिदेशेषु गच्छतीति वा, वैरिणं हिनस्तीति वा) ‘हंसः’ अयमग्निः (शुचौ यजने सीदतीति) ‘शुचिषत्’, (यजमानं वामयतीति) ‘वसुः’, (अन्तरिचे धूमज्वालारूपेण सीदतीति) ‘अन्तरिचसत्’, ‘हेता’ (देवानामाङ्गाता), वेद्यां यज्ञसम्बन्धिन्यां सीदतीति ‘वेदिषत्’, ‘अतिथिर्दुरोणसत्’ (अतिथिसमानः सन्, ‘दुरोणेषु’ यजमानगृहेषु सीदतीति ‘दुरोणसत्’), (‘नृषु’ मनुष्येषु जठराग्निरूपेण सीदतीति) ‘नृषत्’, (‘वरे’ अष्टे, ओत्रियगृहे सीदतीति) ‘वरसत्’, (‘ऋते’ यज्ञे तन्निष्पादकत्वेन सीदतीति) ‘ऋतसत्’, (‘व्योमनि’ आकाशे सूर्यरूपेण सीदतीति) ‘व्योमसत्’, (‘अप्सु’ वृष्टिधारारूपासु वैद्युत-रूपेण जायते प्रादुर्भवतीति) ‘अजा’, (गोकार्ये घृते ज्वालारूपेण जायते व्यज्यते इति) ‘गोजाः’, (ऋतार्थं यज्ञार्थमेव जातत्वात्) ‘ऋतजाः’, (अद्रौ पर्वते दावानलरूपेण जायते इति), ‘अद्रिजाः’;—इदृशोऽग्निः ‘बृहत्’ ‘ऋतं’ (प्रौढमग्निचयनोपेतं यज्ञं) निष्पादयत्विति शेषः ।

एतन्मन्त्रसाध्यमग्निस्थापनं विधत्ते,—“चतसृभिः सादयति

चत्वारि 'कन्दासि कन्दोभिरेव' (५।२।१अ०) इति ।  
 'सादयति' इत्यनुवर्त्तते । 'सौद त्वं मातुरस्या' इत्यादिभिः 'चत-  
 सृभिः' औदुम्बरीमुख्याग्निं स्थापयत् । 'कन्दोभिरेव' स्थापि-  
 तवान् भवति ।

'हंसः' इत्यादिकायामुत्तमायामृचि च्छन्दोविशेषं प्रशंसति,—  
 "अतिकन्दोत्तमया वर्ध्वा वा एषा कन्दसां यदतिकन्दा वर्ध्वा-  
 वैनः समानानां करोति" (५।२।१अ०) इति । अतिकन्दसि  
 अन्यच्छन्दसामन्तर्भावात् सर्वेषामन्येषां च्छन्दसामियम् अतिकन्दो-  
 युक्ता ऋक् 'अतिकन्दा' शरीरम् । अत ईदृशोत्तमाया\* साद-  
 नेन 'एनं' (यजमानं) 'समानानाम्' अन्येषां पुरुषाणां शरीरस्या-  
 नीयमेव करोति । तस्मादनया 'उत्तमया' सादयन्ति ।

अत्रोत्तमायां ये बहवः सच्छब्दा 'गृचिषत्' इत्यादयः,  
 तान् प्रशंसति,—“सङ्गतो भवति सत्वमेवैनं गमयति” (५।२।१अ०)  
 इति । 'हंसः' इत्यादिकाया च्छन्दो बज्रभिः सच्छब्दैरुपतत्वात्  
 सैव 'सङ्गतो' । 'एनं' (यजमानं) 'सत्वं' (चिरकालावस्थायित्वं  
 प्रापयति ॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

'विष्णोः'—चतुर्भिराक्रामेत्, अक्रन्देत्यनुवक्तव्यम् ।

'अग्ने'—चतुर्भिरावृत्त उदु, पाशं विमुञ्चति ॥

\* ईदृश्या उत्तमया इति J. पु० पाठः । ईदृश्या उत्तं तस्याग्ने-  
 पाठो भवितुं युक्तः ।



आ लोख्यमाहरेदयेऽभ्युपस्थाय चतुष्टयात् ।

सीदेत्यादेस्तथासन्धां सादयेत् वेङ्गशोदिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टा-  
यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

दिवस्प॑रि प्रथ॑मं ज॒ज्ञे अ॒ग्निर॑स्मद्द्वितीयं॑ परि॑  
जा॒तवे॑दाः । तृ॒तीय॑म॒सु नृ॒मणा॑ अज॑स्रमिन्धा॒न ए॒नं  
ज॒रते॑ स्वा॒धीः<sup>(१)</sup> । वि॒द्वा ते॑ अ॒ग्ने च॒धा च॒याणि॑ वि॒द्वा  
ते॒ स॒द्म वि॒भृ॒तं पु॒रु॒चा । वि॒द्वा ते॒ ना॒मं प॒रु॒मं गु॒हा  
य॒हि॒द्वा त॒मु॒त्सं॑ य॒त आज॑ग॒न्या<sup>(२)</sup> । स॒मु॒द्रे त्वा॑ नृ॒मणा॑  
अ॒प्स॒वन्त॑र्नृ॒चक्षा॑ इ॒धे दि॒वो अ॒ग्न ऊ॒धन्॑ त॒त्तीये॑ त्वा  
॥ १ ॥

रज॑सि त॒स्थि॒वाः स॒मृ॒तस्य॑ यो॒नौ म॒हि॒षा अ॒हि॒न्वन्<sup>(३)</sup> ।  
अ॒क्र॒न्द॒द॒ग्नि॒स्त॒नय॑न्नि॒व द्यौः॑ क्षा॒प्मा रे॑रि॒ह॒दि॒रुधः॑ स॒म-  
ज्ज॑न् । स॒द्यो ज॒ज्ञा॒नो वि॑ हि॒मि॒द्धो अ॒ख्य॒दा रो॒द॒सी  
'अ॒त॒जाः', -त॒प् भा॒त्यन्तः<sup>(४)</sup> । उ॒शि॒क्पा॒व॒को अ॒र॒तिः सु॒म॒धा  
'अ॒द्रि॒जाः' ; -इ॒दृ॒मैतो॑ नि॒धायि॑ । इ॒य॒र्त्ति धू॒मम॑रु॒षं भ॒रि॒भृ॒दु-  
य॒ज्ञं नि॒ष्पा॒दय॑न्नि॒चि॒षा द्या॒मि॒न॒क्षत्<sup>(५)</sup> । वि॒श्वस्य॑ के॒तुर्भु॑वनस्य  
ए॒तन्म॒न्त्रसाध॑ ॥ २ ॥

रोदसो अपृणाज्जायमानः । वीदुश्चिदद्रिमभि-  
नत्परायन् जना यदग्निमयंजन्त पञ्च<sup>(१)</sup> । श्रीणामु-  
दारो धरुणो रयोणां मनीषाणां प्रार्पणः सोम  
गोपाः । वसोः सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्र  
उषसामिधानः<sup>(२)</sup> । यस्ते अद्य कृण्वद्भद्रशोचेऽपूपं  
देव घृतवन्तमग्ने । प्र तं नय प्रतरां वस्यो अच्छाभि-  
द्युम्नं देवभक्तं यविष्ट<sup>(३)</sup> आ ॥ ३ ॥

तं भज सौ अश्वसेष्ठम उक्थ उक्थ आ भज शस्यमाने ।  
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्ज-  
नित्वैः<sup>(४)</sup> । त्वामग्ने यजमाना अनुद्युन्विश्व वसूनि  
दधिरे वीर्याणि । त्वया सह द्रविणमिच्छमाना वज्रं  
गोमन्तमृशिजो विवर्जुः<sup>(५)</sup> । दृशा नो रुक्म उर्या  
व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः । अग्निरमृतो  
अभवद्वयोभिर्यदनं द्यौरजनयत्सुरेताम्<sup>(६)</sup> ॥ ४ ॥

तृतीये त्वा । गंभ आ । यविष्ट आ । यत् । चत्वारि  
च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके  
द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥ .

प्रथमेऽनुवाके वज्रैरासन्ध्यां स्थापनमुक्तम् । द्वितीये तस्याग्ने-  
रपस्थानमच्यते । , कल्पः, 'दिवसरीत्येकादशभिर्द्वादशभिस्य गो-

दशभिर्वा वात्सप्रेणोपतिष्ठते पूर्णद्युर्विष्णुकमान् कामयुत्तरेद्युरप-  
तिष्ठते एव५ सदा क्रयाद्यदहः सोमं क्रोणोयात्तदहस्रभयः  
समस्येत् प्रचक्रामेदुप च तिष्ठति' इति । तत्र प्रथमामाह,—  
“दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्माद्वितीयं परि जातवेदाः ।  
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्वान एनं जरते स्वाधीः<sup>(१)</sup>” इति ।  
‘अग्निः’ ‘प्रथमं’ ‘दिवस्परि’ (द्युलोकस्योपरि) ‘जज्ञे’ (सूर्यरूपेणो-  
त्पन्नः) ‘अस्मात्’-‘परि’ (अस्मादोयस्य मनुष्यलोकस्योपरि)  
‘जातवेदाः’ ‘द्वितीयं’ ‘जज्ञे’ (प्रसिद्धवक्त्ररूपेण द्वितीयं जन्म  
प्राप्तवान्) । ‘अप्सु’ (समुद्रे) ‘तृतीयं’ ‘जज्ञे’ (वडवानलरूपेणोत्पन्नः)  
‘अजस्रं’ (त्रिष्वपि जन्मसु) (‘नृमणाः’ नृषु यजमानेषु मनोऽनुग्रह-  
बुद्धिर्यस्यासौ) ‘नृमणाः’ अग्निः ‘एनं’ (ईदृशमग्निम्) ‘इन्वानः’  
(पुरोडाशादिभिर्दीपयन्) ‘स्वाधीः’ (स्वायत्तचिह्नः) ‘जरते’  
(जरापर्यन्तं परिचरतोत्यर्थः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“विद्या ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्या ते  
सद्य विभृतं पुरुचा । विद्या ते नाम परमं गुहा यद् विद्या तमुत्सं  
यत आजगन्था<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’ यानि पूर्वस्मिन् मन्त्रे ‘दिवस्परि’  
इत्यादिना त्रेधास्वरूपाणि उक्तानि अदित्याग्निवडवानलरूपाणि,  
तानि ‘त्रयाणि’ (त्रित्वसङ्ख्याकानि रूपाणि) वयं ‘विद्य’ (ज्ञातु-  
मिच्छाम) । किञ्च ‘ते’ (तव) ‘पुरुचा’ (पुरुषु प्रदेशेषु गार्ह-  
पत्याहवनीयान्वाहार्यपचनाग्नीध्रीयशामित्ररूपेषु) ‘सद्य’ ‘विभृतं’  
(अवस्थापितं सम्पादितं), तदपि ‘विद्य’ । किञ्च ‘ते’ (तव) ‘परमं’  
(उत्कृष्टं) ‘गुहा’ (गुह्यं गायं) ‘देवेभ्यमन्विद्ध’ इत्यादिमन्त्रप्रतिपाद्यं

‘नाम’ ‘यत्’ अस्ति, तदपि ‘विद्म’ । देवेद्वादोनां नामत्वं मन्त्रान्तरे सम्बद्धिवलादवगम्यते,—‘अग्ने देवेद्भू मन्विद्भू मन्त्रजिह्व’ इति । किञ्च ‘यतः’, (उत्सात् वृष्टिरूपात् प्रस्रवणात्) ‘आजगन्ध’ (वैद्यतरूपेण त्वमागतोऽसि), ‘तम्’ अपि ‘उत्सं’ ‘विद्म’ ।

अथ तृतीयामाह,—“समुद्रे त्वा नृमणा अश्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन् । ततोये त्वा रजसि तस्मिवाऽसमृतस्य योनौ महिषा अहिन्वन्<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, त्वाम् ‘ईधे’ यजमानोऽहं (दीपयामि) । कोदृशो यजमानः ?—‘नृमणाः’ (नृषु मनुष्येषु कर्मानुष्ठानपरेषु अतित्तु मनः अनुसन्धानकारि चिन्तं यस्यासौ ‘नृमणाः’), ‘नृचक्षाः’ (नृषु पुरुषेषु वेदपारङ्गतेषु मध्ये चष्टे मन्त्राब् विस्पष्टं वक्तोति ‘नृचक्षाः’) । कोदृशं त्वाम् ?—‘समुद्रे’ ‘तस्मिवांसम्’ (वडवानलरूपेणावस्थितम्), ‘अग्न’ वृष्टिरूपासु, ‘अन्तः’ वैद्यतरूपेण ‘तस्मिवांसम्’, तथा ‘दिवो’ (शुलोकस्य) ऊधस्यानीय\*—समुद्रवृष्ट्यपेक्षया तृतीयस्थाने ‘रजसि’ (रञ्जनात्मके तेजोमण्डले) सूर्यरूपेण ‘तस्मिवांसम्’ । \*‘महिषाः’ (महान्तो) यजमानाः ‘अतस्य योनौ’ (यज्ञसम्बन्धिस्थाने) ‘अहिन्वन्’ त्वां (प्रीणयन्ति) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहदोरुधः समञ्जन् । सद्यो जज्ञानो वि होमिद्धो अण्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः<sup>(४)</sup>” इति । अयम् ‘अग्निः’ ‘अक्रन्दत्’

(अस्मदनिवृत्तिनिवारणार्थं गर्जतु) । किमिव ?—‘स्तनयस्त्रिषु स्याः’  
(यथा द्युलोकस्थो मेघो गर्जन् सख्यशेषभीतिं निवारयति तद्वत्) ।  
किं कुर्वन् ?—‘क्षाम’ (दाहकमस्मद्विरुद्धं) ‘रेरिहत्’ (लेलिहानः),  
‘वीरुधः’ ‘समञ्जन्’ (पुष्पलतावदस्मदनुकूलानि सम्यगभिषिञ्चन्) ।  
‘हि’ (यस्मात्) ‘जज्ञानः’ (उत्पद्यमानः) ‘सद्यः’ ‘ईम्’ (तदानीमेव)  
‘इद्धः’ (दीप्तः) विविधं जगत् ‘अख्यत्’ (प्रख्यापयति) । ‘रोदमी’  
(द्यावापृथिव्योः) ‘अन्तः’ ‘भानुना’ (रश्मिना) स्वयम् ‘आ’-  
‘भाति’ (समन्तात् प्रकाशते) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“उग्निक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्ये-  
ष्वग्निरमृतो निधायि । इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुष्कुक्षेण  
शोचिषा द्यामिनक्षत्<sup>(१)</sup>” इति । ‘उग्निक्’ (अनुग्रहपूर्वमस्मान्  
कामयमानः), ‘पावकः’ (शोधकः), ‘अरतिः’ (यागरहितेषु प्रीति-  
रहितः), ‘सुमेधाः’ (शोभना मेधा सेवकाभिप्रायधारणशक्ति-  
र्यस्यासौ ‘सुमेधाः’), ‘अमृतः’ (मरणरहितः); तादृशः ‘अग्निः’  
‘मर्त्येषु’ (मनुष्येषु) ‘निधायि’ (निहितः) । ‘अरुषम्’ (अरोषं  
चक्षुराद्युपद्रवरहितं) ‘धूमं’ ‘भरिभ्रत्’ (अतिशयेन धारयन्)  
‘उत्’-‘इयर्त्ति’ (ऊर्द्धं प्रसारयति) । ‘शुक्ली’ ‘शोचिषा’ (निर्मलेन  
तेजसा प्रभाकरेण) ‘क्षाम्’ ‘इनक्षत्’ (नक्षति, व्याप्नोति) ।

अथ षष्ठीमाह,—“विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भं आ रोदसी<sup>\*</sup>  
अष्टणाज्जायमानः । वोडुश्चिदद्रिमभिन्तं परायन् जना यदग्नि-  
मयजन्त पञ्च<sup>(१)</sup>” इति । ‘विश्वस्य केतुः’ (जगतो ज्ञाता),  
‘भुवनस्य गर्भः’ (गर्भवदन्तरवस्थितः) । ‘जायमानः’ (जातमाच

एव) सन् 'रोदसो' (द्यावापृथिव्यौ) 'आपृणात्' (सर्वतः स्ततेजसा पूरयति) । 'यत्' (यदा) 'यच्च' यजमानसहिता ऋत्विषूपाः (पञ्चसङ्ख्याकाः) जनाः 'अग्निमयजन्त', तदानो 'परायन्' (आज्जतिरूपेणादित्यसमीपं गच्छन्) 'बोडुञ्चित्' (अदृढमेव) 'अद्रिं' (पर्वतसमानं मेघम्) 'अभिनत्' (विदारितवान्) ।

अथ सप्तमोमाह,—“श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनोषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः । वसोः सनुः सहसो अशु राजा विभात्यय उषसामिधानः<sup>(७)</sup>” इति । 'श्रीणां' (गवाश्वादीनां सम्पदाम्) 'उदारः' (उत्कर्षेण प्रापयिता), 'रयीणां' (धनानां) 'धरुणो' (धारयिता), 'मनोषाणाम्' (अपेक्षितानां स्वर्गादिफलानां) 'प्रार्पणः' (प्रापयिता), 'सोमगोपाः' (यजमानेनानुष्ठेयस्य सोमद्यागस्य रक्षिता), 'वसोः' (निवासहेतोः) 'सहसः' (मयनवेगरूपस्य बलस्य) 'सनुः' (पुत्रः), 'अशु' (वृष्टिरूपासु) 'राजा' (दैद्युतरूपेण दीप्यमानः), 'उषसाम्' 'अये' (उषसां प्रातःकाले) 'इधानः' (अग्निहोत्रिभिर्दीप्यमानः) 'विभाति' (विशेषेण भाषते) ।

अथाष्टमोमाह,—“यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्रे । प्र तं न च प्रतरां वस्यो अष्काभिद्युक्त्वं देवभक्तं यविष्ठ<sup>(८)</sup>” इति । हे 'भद्रशोचे' (कल्याणदीप्ते) 'अग्रे' 'देव', 'ते' (तव) 'अद्य' (अस्मिन् दिने) 'घृतवन्तम्' 'अपूपम्' (उपस्तेरेणाभिधारणोपेतं पुरोडाशं) 'यः' यजमानः 'कृणवद्' (करोति) । हे 'यविष्ठ' (युवतम), 'देवभक्तं' (देवेषु भक्तियुक्तं) 'तं' पुरोडाशकारिणं यजमानम् 'अभिद्युक्त्वं' 'अष्क' (अभिमतं धनं

प्राप्तुं) प्रकर्षेण 'नय' (प्रेरय) । 'केदृशं द्युतं ?—'प्रतरां' (प्रकृततरां) 'वस्यः' (अतिशयेन निवासकारणम्) ।

अथ नवमीमाह,—“आ तं भज मौश्रवसेष्वग्न उक्थ-उक्थ आभज शस्यमाने । प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददृक्जनिवैः(९)” इति । शोभन अग्नः कीर्त्तिः सुअवः, तस्य सम्बन्धीनि (तत्कारणानि) कर्माणि मौश्रवमानि, तेषु कर्मसु 'उक्थे' (निष्केवल्यप्रउगादिरूपे तत्तच्छस्ते) 'शस्यमाने' सति 'तं' (देवभक्तं यजमानम्) 'आ'-‘भज' (सर्वतः सेवय, सम्प्रेरय) निरन्तरं कर्मानुष्ठायिनं कुर्वित्यर्थः । 'आभज' इति द्विरुक्तैर्वाक्यद्वयमिदं कर्त्तव्यम्, मौश्रवसेषु कर्मसु प्रेरयेत्येकं वाक्यम्, तत्तच्छस्ते प्रेरयेत्येकं वाक्यम् । अयं यजमानः 'सूर्ये' 'प्रियः' 'भवाति' (भवतु), 'अग्ना' (वक्त्रावपि) 'प्रियो' भवतु । तथा 'जातेन' (उत्पन्नेन) पुत्रेण 'उत्'-‘भिनदत्' (उल्लेदमभिवृद्धिं प्राप्नोतु); तथा 'जनिवैः' (जन्मिष्यमाणैः) पैत्रादिभिश्च 'उत्'-‘भिनदत्' ।

अथ दशमीमाह,—“त्वामग्ने यजमाना अनुद्युन् विश्वावसन्नि दधिरे वार्याणि । त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गामन्त-मुश्रिजो विवव्रुः(१०)” इति । हे 'अग्ने', 'यजमानाः' सर्वे 'अनुद्युन्' (अनन्तः) 'त्वाम्' 'अनु' (त्वामेवानुगच्छन्तः) 'वार्याणि' (वरणीयानि) 'विश्वा' 'वसन्नि' (सर्वाणि धनानि) 'दधिरे' (धृतवन्तः) । 'त्वया सह' अवस्थितास्ते यजमानाः 'द्रविणमिच्छमानाः' (पुनरप्यधिकं द्रव्यं काञ्चन्तः) उश्रिजो, (धनसाधनानि कर्माणि

कामधमानाः) 'गोमन्तं' (बहुभिर्गोभिर्युक्तं) 'ग्रजं' (गोनिवास-  
स्थानं) 'विवद्भुः' (विशेषेण वृतवन्तः) ।

अथ एकादशीमाह,—“दृशाना रुक्म उर्वा व्यद्यौ दुर्मर्ष-  
मायुः अत्रि रूचानः । अग्निरमृतो अभवदयोभिर्यदेनं द्यौर-  
जनयत् सुरेताः(११)” इति । ‘दृशानः’ (दर्शनीयरूपः) ‘रुक्मः’  
(सुवर्णवदृशरूपः) ‘उर्वा’ (महत्या) दीप्या ‘व्यद्ये त्’ (विद्योतते  
स्म) । किं कुर्वन्?—‘दुर्मर्ष’ (इतरैरतिरिक्तार्थं) ‘आयुः’  
(जीवनं) ‘अत्रि’ (अत्रितुं) ‘रूचानः’ (वाञ्छन्) । तथाविधः  
‘अग्निः’ ‘वयोभिः’ (अन्तैर्हविर्भिः) ‘अमृतो अभवत्’, ‘यत्’  
(यस्मात्) ‘एनम्’ (अग्निं) ‘द्यौः’ (द्युलोकवासी देवगणः) ‘सुरेताः’  
‘सन्’, ‘जनयत्’, तस्मादमृतत्वं युक्तम् ।

तदेतदेकादशमन्वात्मकं सूक्तं विनियुक्ते,—“वात्सप्रेणोपतिष्ठत  
एतेन वै वत्सप्रीर्भालन्दनोऽग्नेः प्रियं धामावावन्धाग्नेरेतेन प्रियं  
धामावावन्ध” (पु।२।१ अ०) इति । वत्सप्रीनामकेन महर्षिणा अधीतं  
‘दिवस्परि’ इत्यादिकं सूक्तं वात्सप्रं, तेनाग्निम् उपतिष्ठेत् । भाल-  
न्दनस्य पुत्रो वत्सप्री-नामको महर्षिः ‘एतेन’ (सूक्तेन) ‘अग्नेः’  
‘प्रियं’ ‘धाम’ (स्थानं) प्रीप्तवान्, ततो यजमानः अपि तथा  
प्राप्नोति ।

तस्य सूक्तस्य एकादशमन्वसमूहात्मकत्वं विधत्ते,—“एकादशं



भवत्येकधैव यजमाने वीर्यं दधाति” (५।१।१अ०) इति ।

‘एकधैव’ (युगपदेव) समूहस्य युगपत्प्रवृत्तत्वात् ।

तदिदं सूक्तं विष्णुक्रमांश्च लोकद्वयहेतुत्वेन प्रशंसति, “सोमेन वै देवा अस्मिन् लोक आर्ध्वं ऋन्दाभिर्मुमभिनत् सोमस्यैव खलु वा एतद्रूपं यदात्सप्रं यदात्सप्रेणोपतिष्ठते इममेव तेन लोकमभिजयति यदिष्णुक्रमान् क्रमतेऽमुमेव तैर्लोकमभिजयति” (५।१।१अ०) इति । गीत्याश्रयाणाम् आवृत्तानामृचां समूहः सोमः (स्तुतिहेतुर्मन्त्रसमूहः) एतल्लोकसमृद्धिप्राप्तिसाधनं; समूहाकारमन्त्रेण विशिष्टानि ऋन्दांसि स्वर्गसमृद्धिकारणानि । तथा सति वात्सप्रसूक्तं समूहरूपत्वात् एतल्लोकसमृद्धिकरं, ऋन्दांश्चन्दोपेता विष्णुक्रममन्त्रास्तु ब्रह्मत्वात् स्वर्गसमृद्धिहेतवः ।

उभयानुष्ठानस्य कालविशेषं विधत्ते,—“पूर्वेद्युः प्रकामत्युत्तरेद्युरपतिष्ठते तस्माद्योगे न्यासां प्रजानां मनः चेमे न्यासां तस्माद्यायावरः चेन्मस्येते तस्माद्यायावरः चेन्ममध्यवस्यति” (५।१।१अ०) इति । अलब्धस्य लाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं चेमः, अर्जनशोला ब्रह्मव्याः काश्चित् प्रजाः, योग एव अर्थानिति मन्यन्ते, अतः परमर्जयितुमशक्ता व्ययभोरवः काश्चित् प्रजाः, चेम एव अर्थानिति मन्यन्ते, तदिदं प्रजानां मनोवैलक्षण्यं क्रमेणोपस्थानकालहेतुकं । यस्मात् प्रयाणशोलस्य पुरुषस्यार्जयितुमशक्ता नास्ति, ‘तस्मात्’ ‘यायावरः’ (प्रयाणशोलः) पुरुषः ‘चेन्मस्य ईमे’ (विद्यमानद्रव्यरक्षणस्यैव प्रभुर्भवति) । यस्मादेवं लोके दृष्टं, ‘तस्मात्’ अत्र दवयजनदेशं प्रति ‘यायावरो’ (यजमानः) साधनान्तर-

सम्पादनेच्छां परित्यज्य विद्यमानान्येव उक्त्याभ्यादिसाधनमनि  
उपस्थानादिव्यापारैः परोक्षितुमधीवत्यति ।

सोमविकृतित्वं द्योतयितुं तदङ्गानुष्ठानकालविशेषं चावगम-  
यितुं दीक्षाङ्गं किञ्चिद्विधत्ते,—“मुष्टीकरोति वाचं यच्छति  
यज्ञस्य धृत्यै” (५।२।२अ०) इति । “स्वाहा यज्ञं मनसा”  
इत्यादिभिर्मन्त्रैर्हस्तयोरङ्गुल्याकुञ्चनं मुष्टीकरणं, मौनं वाग्यमः,  
तदुभयं यज्ञस्य पालनदार्ढ्याय भवति ।

अत्र विधियोगसङ्ग्रहः,—\*

दिव इत्यनुवाकेन वात्सप्रेषोपतिष्ठते ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे अणायजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥ • ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यन्मीवस्य शुष्मिणः । प्र  
प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे<sup>(१)</sup> ।  
उदु त्वा विश्वे देवाग्ने भरन्तु चित्तिभिः । स नो भव  
शिव्रतमः सुप्रतीको विभावसुः<sup>(२)</sup> । प्रेदमे ज्योति-  
ष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिस्त्वं बृहद्विभानुभिर्भासं

मा हि॒सी॒स्त॒नुवा प्र॒जाः<sup>(१)</sup> । स॒मिधा॒ग्निं दु॒वस्य॑त  
घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थि । आ ॥ १ ॥

अ॒स्मिन् ह॒व्या जु॒होत॑न<sup>(४)</sup> प्र॒प्राय॑म॒ग्निर्भर॑तस्य  
शृ॒ण्वे वि यत् सु॒र्यो न रो॑चते बृ॒हद्भाः । अ॒भि यः  
पू॒रु पृ॑त॒नासु त॒स्यौ दी॑दाय॒ दैव्यो अ॑तिथिः शि॒वो  
नः<sup>(५)</sup> । आपो॑ दे॒वोः प्र॑ति गृ॒ह्णीत॑ भस्मै॒तत् स्यो॑ने  
कृ॒णुध्व॑ सु॒र॒भावु॑ लो॒के तस्मै॑ नम॒न्तां जन॑यः सु॒पत्नीः  
मा॒तेव पु॒त्रं वि॒भृता॑ स्वेन<sup>(६)</sup> । अ॒प॒स्व॒ग्ने स्व॑धि॒ष्टवा॑  
॥ २ ॥

सौ॒ष॒धीर॑नु॒रुध्य॑से गर्भे॑ संजा॒यसे पुनः<sup>(७)</sup> । गर्भो॑  
अ॒स्योष॑धी॒नां गर्भो॑ वन॒स्पती॑नां । गर्भो॑ वि॒श्वस्य॑ भूत॒-  
स्या॒ग्ने गर्भो॑ अ॒पाम॑सि<sup>(८)</sup> । प्र॒सद्य॑ भस्म॑ना योनि॒-  
म॒पश्च॑ पृथि॒वीम॑ग्ने । स॒ः सृ॒ज्य मा॑तृभि॒स्त्वं ज्योति॑ष्मान्  
पुन॑रा॒सदः<sup>(९)</sup> । पुन॑रा॒सद्य॑ स॒दन॑म॒पश्च॑ पृथि॒वीम॑ग्ने ।  
शेषे॑ मा॒तुर्य॑थोप॒स्थेऽन्तर॑स्याः शि॒वत॑मः<sup>(१०)</sup> । पुन॑रू॒जा  
॥ ३ ॥

नि॒वर्त॑स्व पुन॑र॒ग्न इ॒षाऽऽयु॑धा । पुन॑र्नः पा॒हि  
वि॒श्वतः<sup>(११)</sup> । स॒ह रु॒थ्या नि॒वर्त॑स्वाग्ने पि॒म्बस्व॑ धा॒रया॑  
वि॒श्वप्सि॑या वि॒श्वत॑स्परि<sup>(१२)</sup> । पुन॑स्त्वादि॒त्या इ॒द्रा  
व॑स॒वः स॑मि॒न्धन्तां पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसु॒नीश्र॑ य॒ज्ञैः घृ॑तेन

त्वं तनुवो वर्धयस्व सत्या सन्तु यजमानस्य कामाः<sup>(१५)</sup> ।  
 बोधा नो अस्य वचसो यविष्ठ म॥हिष्ठस्य प्रमृतस्य  
 स्वधावः । पीयति त्वो अनु, त्वो यणाति वन्दारस्ते  
 तनुवँ वन्दे अग्ने<sup>(१६)</sup> । स बोधि सुरिर्मघवा वसुदावा  
 वसुपतिः । युयोध्यस्मद्देवांसि<sup>(१७)</sup> ॥ ४ ॥

आ । तव । ऊर्जा । अनु । षोडश च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीय-  
 प्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

द्वितीयेऽनुवाके वज्रेह्यस्योपस्थानमुक्तम् ; तृतीये चयनार्थस्य  
 देवयजनस्य परिग्रहोऽभिधीयते । कल्पः, ‘व्रतकालोऽन्नपतेऽन्नस्य  
 नो देह्येत्यादुंवरदे॥ समिधं व्रतेत्काभ्यादधाति(?)’ इति । व्रतार्थं  
 चीरद्रव्ये । पाठस्तु,—“अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यन्नमीवस्य शुष्णिषः ।  
 प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे<sup>(१)</sup>” इति ।  
 हे ‘अन्नपते’ अग्ने, ‘अन्नमीवस्य’ (अरोगस्य) ‘शुष्णिषः’ (बलहेतोः),  
 ‘अन्नस्य’ प्राप्तिं ‘नः’ (अस्माभ्यं) ‘देहि’ । ‘प्रदातारं’ (प्रकर्षेण  
 हविषो दातारं) यजमानं, ‘प्र’-‘तारिषः’ (प्रकर्षेण दुरितात् तारय)  
 ‘नः’ (अस्माकं) ‘द्विपदे चतुष्पदे’ (मनुष्याय पद्मे च) ‘ऊर्जं’  
 (बलं) ‘धेहि’ (संपादय) । अन्न मन्त्रस्य प्रथमपादे अन्नपति-  
 ब्रह्मार्थं दर्शयति,—“अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्येत्याद्याग्निर्वा अन्न-  
 पतिः स एवास्मी अन्नं प्रयच्छति” (५।१।१अ०) इति ।

द्वितीयपादे अगमोवशब्दार्थं दर्शयति,—“अगमोवस्य शुभ्रिण इत्याद्याद्यच्छेति वावैतदाह” (५।१।२अ०) इति ।

उत्तरार्द्धे ‘तारिषो, धेहि’ इति पदयोस्तात्पर्यं दर्शयति,—  
“प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जन्तो धेहि द्विपदे चतुष्पदे इत्याद्या-  
श्लिषमेवैतामाशास्ते” (५।१।२अ०) इति ।

कल्पः, ‘उदु त्वा विश्वे देवा इत्युख्यमुद्यम्य’ इति । पाठस्तु,—  
“उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः । स नो भव  
शिवतमः सुप्रतीको विभावसु.(१)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘विश्वे’ (सर्वे)  
अपि ‘देवाः’ प्राणरूपाः ‘चित्तिभिः’ (उद्यमनकुशलाभिः धी-  
वृत्तिभिः) ‘उदु’ (ऊर्ध्वमेव) त्वां ‘भरन्तु’ । ‘स’ त्वं ‘नः’ (अस्माकं)  
‘शिवतमः’ (शान्ततमः) ‘सुप्रतीकः’ (सुमुखः) ‘विभावसुः’ (प्रभया  
वासयिता) ‘भव’ ।

अस्य मन्त्रस्य प्रथमपादे देवशब्दार्थं दर्शयति,—“उदु त्वा विश्वे  
देवा इत्याह प्राणा वै विश्वे देवाः प्राणैरेवैनमुद्यच्छते” (५।१।  
२अ०) इति । दीव्यन्ति स्वस्वकार्येषु व्यवहरन्ति इति देवाः प्राणाः ।

द्वितीयपादे बुद्ध्यादिशब्दान् परित्यज्य चित्तिशब्दप्रयोगस्य  
तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्ने भरन्तु चित्तिभिरित्याह यस्मा एवैनं  
चित्तायोद्यच्छते तेनैवैनं समर्धयति” (५।१।२अ०) इति ।  
चित्तिशब्देन\* चित्ताभिप्रेतकार्यं सूच्यते, तथा सति यस्मै कार्यं  
इदमुद्यमनं, तेनैव कार्येण एनमग्निं समृद्धं† कञ्चेति ।

\* चित्तिशब्देन इति J. पु० पाठः ।

† समृद्धिमिति J. पु० पाठो न साधः ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘सीद त्वं मातुरस्या उपस्य इति चतस्र-  
भिर्दोषे शकटे प्रउगं उख्यमासादयति’ इति; ईषाययोर्मेलन-  
स्थानं प्रउगं; तदेतत् सूत्रकारोक्तमासादनं विधत्ते,—“चतस्र-  
भिरासादयति चत्वारि कन्दाः सि कन्दोभिरेवातिच्छन्दसो-  
त्तमया वर्षं वा एषा कब्दगां यदतिच्छन्दा वर्षेनैव समागतानां  
करोति सदती भवति सत्वमेवैनं गमयति” (५।२।२अ०) इति ।  
सीद त्वमित्यादयश्चतस्रश्चतस्रद्वाह्यं चेत्येतत् सर्वं प्रथमानुवाके  
व्याख्यातम् ।

कल्पः, ‘प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहोति प्रयाति’ इति । पाठस्तु—  
“प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिस्त्वं । बृहद्भिर्भानुभि-  
र्भासन्माहिः सीस्तनुवा प्रजाः<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘शिवेभिरर्चिभिः’  
(शान्ताभिर्ज्वालाभिः) ‘ज्योतिष्मान्’ (प्रकाशयुक्तः) ‘त्वं’ ‘प्रेत्’-‘याहि’  
(देवयज्ञनप्रदेशं प्रति प्रयाहोव) । ‘बृहद्भिर्भानुभिः’ प्रौढैः रश्मिभिः  
‘भासन्’ (जगद्वर्भासयन्) ‘तनुवः’ (स्वकीयेन दाहकेन शरीरेण)  
‘प्रजाः’ ‘मा हिंसोः’ ।

अस्य मन्त्रस्य प्रथमपादे ज्योतिष्मच्छब्दस्य तात्पर्यं दर्श-  
यति,—“प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहोत्याह ज्योतिरेवासिन्दधाति”  
(५।२।२अ०) इति ।

अतुर्थपादे हिंसां निषेद्धुं प्रसक्तिं दर्शयति,—“तनुवा वा एष  
हिनस्ति यः हिनस्ति मां हिः सीस्तनुवा प्रजा इत्याह प्रजाभ्य  
एवैनं गमयति” (५।२।२अ०) इति । अग्निः ‘यं’ पुरुषं  
‘हिनस्ति’, न शरीरेण प्रहृत्य हन्ति, किन्तु ज्वालामयेन स्वशरीरेण ।

तं दग्ध्वा वह्निः, अतः 'तनुवा . मा हि॒षी.' इति प्रज्वन्ते ।

प्रयाणकाले शकटस्य ध्वनौ सति प्रायश्चित्तं विधत्ते,—  
 “रक्षा॒सि वा एतद्यज्ञ॑ सचन्ते यद्न उत्सर्जत्यक्रन्ददित्यन्वाह  
 रक्षसामपहत्यै” (५।२।२अ०) इति ‘यत्’ ‘अन.’ (शकटम्) ‘उत्सर्जति’  
 (ममने ध्वनिं करोति), ‘एतत्’ (यज्ञमाधनं शकटं) ‘रक्षांसि’ ‘सचन्ते’  
 (समवयन्ति), अतस्तत्परिहाराय ‘अक्रन्ददग्निः’ इत्येकामृचमनु-  
 म्रयात्; सा च पूर्वानुवाके समाह्वता व्याख्याता च ।

विधत्ते, “अनसा वहन्त्यपचितिमेवास्मिन्दधाति तस्मादनस्वी  
 च रथो चातिथीनामपचिततमौ” (५।२।२अ०) इति । एत-  
 द्दग्निं ‘अनसा’ (शकटेन) देवयजनप्रदेशं ‘वहन्ति’ (प्रापयेत्), तथा  
 सति ‘अस्मिन्’ अग्नौ पूजां संपादितवान् भवति । यस्मादेवं, ‘तस्मान्’  
 लोकेऽपि प्रयाणकाले शकटारूढौ रथारूढश्चातिथीनां मध्ये  
 पूज्यतमौ; परिवृढो हि तथा गच्छति, न तु दरिद्रः ।

एतदेदनं प्रश्नसति,—“अपचितिमान् भवति च एवं वेद”  
 (५।२।२अ०) इति ।

कल्पः, ‘समिधाग्निं दुवस्यतेति घृतानुषिकामवधिते ममिध-  
 मादधाति’ इति । पाठस्तु,—“समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयता-  
 तिथिं । आऽऽस्मिन् हव्या जुहोतम्<sup>(१)</sup>” इति । हे अतिग्रन्थमाणाः,  
 तम् ‘अग्निं’ ‘समिधा’ ‘दुवस्यत’ (परिचरत), घृतानुषिकयाऽनवा  
 परिचरतेत्यर्थः । ‘घृतैः’ एतस्मिन्नेष्टेः ‘अतिथिम्’ इव एनं बोधयत  
 (उद्दीपयत) । ततश्च ‘अस्मिन्’ हव्यानि (हवींषि) ‘आ’-‘जुहोतम्’  
 (सकृच्छेन जुहुत) ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“समिधाग्निं दुवस्यतेति घृतानुषिक्ता-  
मवसिते समिधमादधाति यथा अतिथये आगताय सर्पिष्वदातिष्ठं  
क्रियते तादृगेवं तत्” (५।१।१अ०) इति । ‘अवसिते’ (प्रयाणे  
समाप्ते सति) । ‘सर्पिष्वत्’ घृतयुक्तमन्नम् ।

कथ्यः, ‘उत्तरया चिदुभा राजन्यस्य’ इति । ‘समिधमाद-  
धाति’ इत्यनुवर्तते । पाठस्तु,—“प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्  
सूर्यो न रोचते दृहङ्गाः । अभि यः पूहं पृतनासु तस्यौ दोदाय  
दैव्यो अतिथिः शिवो नः(५)” इति । ‘अयमग्निः’ ‘भरतस्य’  
(हविर्भरणवतः) यजमानस्य आह्वानं ‘प्रप्र’-‘शृण्वे’ (प्रकर्षेण  
शृणोतु) । ‘यत्’ (यः) अग्निः ‘सूर्यो न’ (सूर्य इव) भासमानः  
सन् ‘बृहत्’ ‘वि’-‘रोचते’ (अत्यन्तं दीप्यते) । ‘यः’ अग्निः ‘पृतना-  
सु’ (संयामेषु) ‘पूहं’ (जयपूर्त्तिम्) ‘अभि’-‘तस्यो’ (सर्वतः  
करोति) ; सोऽग्निः ‘नः’ (अस्माकम्) ‘अतिथिः’ ‘दोदाय’  
(अतिथिरिवेहास्मासु आगच्छतु) । कीदृशोऽग्निः ?—‘दैव्यः’  
(देवेभ्यो हितः) ‘शिवः’ (परममङ्गलरूपः) ।

“समिधाग्निं, प्रप्रायमग्निः” इत्यनयोः समिदाधानमन्त्रयो-  
र्विषयव्यवस्थां विधत्ते,—“गायत्रिया ब्राह्मणस्य गायत्री हि  
ब्राह्मणस्त्रिदुभ्राजन्यस्य चैदुभो हि राजन्यः” (५।१।१अ०)  
इति । समिधाग्निमिति गायत्री, प्रप्रायमग्निरिति चिदुभ ।

कथ्यः, ‘आपो देवीः प्रतिगृह्णीत भक्षेतदिति’ तिसृभिरप्यु-  
भस्य प्रवेशयति’ इति ।

तत्र प्रथमाग्नीह,—“आपो देवीः प्रतिगृह्णीत भक्षेतत्स्थाने



हणुध्वं सुरभावु लोके । तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुषं  
 विभृता स्वेनम्<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘आपो देवीः’ (देव्यः), ‘भस्म’  
 (उत्थाग्रेरुपरिसञ्चितं भस्म) ‘प्रतिगृहीत’ । ‘एतदेवाभिप्रेत्य  
 सूत्रकारेणोक्तं—‘यद्युखां भस्माभिनिषीदेदुख्यमादायोदकार्कं  
 गत्वा’ इति । ‘एतत्’ (प्रतिगृहीतं भस्म) ‘स्वेने’ (सुखकरे)  
 ‘सुरभावु’ (सुगन्धयुक्ते एव) ‘लोके’ (स्थाने) ‘हणुध्वं’ (स्थापयत) ।  
 (शोभनः पतिर्वरुणरूपो यासान्ताः) ‘सुपत्न्यः’ (‘आपो वरुणस्य  
 पत्नय आसन्’ इत्यन्यत्र श्रुतं) ‘जनयः’ (अग्नेर्जनन्यः) आपः  
 (वाङ्मवैद्युतरूपमग्निं प्रति अपाञ्जनयितृत्वं) । ईदृश आपः ‘तस्मै’  
 (अग्नये) ‘नमन्तां’ (प्रक्षीभवन्तु), तमग्निं पालयितुं वश्याः साव-  
 धाना भवन्वित्यर्थः । हे आपः, ‘माता’ ‘पुत्रं’ पालयति, यदत्,  
 तदत् ‘एनम्’ (अग्निं) सुष्टु ‘विभृता’ (पोषयत दीपयत) ।

अथ द्वितीयामाह,—“अपस्वग्ने सधिष्ठव सौषधीरनुरुध्यसे गर्भे  
 सञ्जायसे पुनः<sup>(२)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘तव’ ‘सधिः’ (सहः बलं)  
 भस्मरूपं ‘अप्सु’ ‘वर्तते’, ‘स’ त्वम् ‘आषधीरनुरुध्यसे’ (ब्रौह्मिवा-  
 द्योषधीरनुसरसि) ; जाठराग्निरूपेण तत्स्वीकारात् अरण्योः  
 ‘गर्भे’ स्थितः सन् ‘पुनः’-पुनः सम्यक् ‘जायसे’ ।

अथ तृतीयामाह,—“गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनां ।  
 गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि<sup>(३)</sup>” इति । भेषजहृत्पे-  
 स्तृणविशेषैरुत्पद्यमानत्वात् त्वम् ‘आषधीनाम्’ ‘गर्भोऽसि’ ।  
 तथा अरणीभ्यामुत्पद्यमानत्वात् ‘वनस्पतीनां’ ‘गर्भः’ असि । हे  
 ‘अग्ने’, ‘विश्वस्य भूतस्य’ (सर्वस्य प्राणिजातस्य) जातस्य जठरे

वर्त्तमानतया 'गर्भः' अस्मि । तस्य वाडववैद्यतरूपेण 'अपां' 'गर्भः' 'अस्मि' ।

एतैर्मन्त्रैः साध्य प्रवेशनं विधत्ते, "अप्सु भस्म प्रवेशयत्यप्सु-  
द्यौर्निर्वा अग्निः स्वामेवैनं योनिं गमयति" (५।२।२अ०) इति ।

"आपो देवीः" इत्यादिकान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“तिसृभिः  
प्रवेशयति त्रिवृद्धा अग्निर्यावानेवाग्निसं प्रतिष्ठां गमयति”(५।२।२अ०)  
इति । आहवनीयादिरूपेणाग्नेस्त्रिवृत्त्वम् ।

कल्पः,—“भस्मनोपादाय प्रपीड्य, 'प्रसद्य भस्मना' इति द्वाभ्या-  
मुखायां प्रत्यवधाय' इति ।

तत्र प्रथमामाह,—“प्रसद्य भस्मना योनिमपश्य पृथिवीमग्ने ।  
संस्तृज्य मातृभिस्त्वं ज्योतिषान् पुनरासदः<sup>(९)</sup>” इति । हे 'अग्ने',  
'भस्मना' सद्य 'योनिं' (कारणभूतां) 'पृथिवीं' 'प्रसद्य' । किं पृथिवी-  
मेव? 'न'-इत्याहुः,—“अपश्य योनिभूताः प्रतिपद्य । किंच 'मातृ-  
भिः' अङ्गिः पृथिव्या च 'संस्तृज्य' (एकोभूय) 'त्वं ज्योतिषान्'  
(भृशं ज्योतिःसम्पन्नः) 'पुनः' (पश्चात्) 'आसदः' (स्वीयमेव स्थान-  
मुखाम्-आसीद) ।

अथ द्वितीयामाह,—“पुनरासद्य सदनमपश्य पृथिवीमग्ने ।  
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्थां शिवतमः<sup>(१०)</sup>” इति । हे 'अग्ने',  
'पुनः' अपि 'सदन' (स्वस्थानं) 'अपः' 'पृथिवीं' 'च' 'आसद्य' (प्रतिपद्य)  
पुनः 'अस्थाम्' एवोखायाम् 'अन्तः' (मध्ये) 'शिवतमः' (शान्त-  
तमः) 'शेषे' (शयनं करोषि) । 'यथा' 'मातुः' 'उपस्थे' (उत्सङ्गे)  
सुतः सुखं श्रेते, तदत् ।

एतो मन्त्रौ विनियुक्ते,—“परा वा एषोऽग्निं वपति योऽसु  
भस्म प्रवेशयति ज्योतिष्मतोभ्यामवदधाति ज्योतिरेवास्मिन्दधाति”  
(५।२।२अ०) इति । ‘यो’ यजमान उखाग्निसम्वद्धं ‘भस्म’ ‘असु’  
‘प्रवेशयति’, ‘एषोऽग्निं’ ‘परा’-‘वपति’ (नाशयति) । अतो विनाश-  
परिहाराय जलगतं भस्म निष्पीड्य ज्योतिष्मच्छब्देऽपेताभ्या-  
मृग्भ्याम् उखायामवदधात् । ‘त्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः’ इत्येवं  
ज्योतिष्मच्छब्देऽपेतत्वम् ।

मन्त्रद्वयं प्रशंसति,—“द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।२।२अ०)  
इति ।

कल्पः,—“पुनरूर्जा सह रय्येति पुनरुदौति” इति । निष्पीडित-  
भस्मोपेतायामुखायामग्निं स्थापयतीत्यर्थः ।

तत्र प्रथमामाह,—“पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा ।  
पुनर्नः पाहि विश्वतः<sup>(११)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, त्वं ‘ऊर्जा’ (चीरादि-  
रस्त्रेण) सह ‘पुनः’ ‘निवर्त्तस्व’ (अत्रागच्छ) । ‘इषा’ (अस्त्रेण) ‘आ-  
युषा’ सह पुनरागच्छ । ‘नः’ (अस्मान्) ‘पुनः’-पुनः कृतात् ‘विश्वतः’  
(सर्वस्मात्) अपराधात् ‘पाहि’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिम्वस्व  
धारया । विश्वस्मिन्वा विश्वतस्परि<sup>(१२)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’,  
‘रय्या’ (धनेन) ‘सह’ ‘निवर्त्तस्व’ । ‘स्वा भक्षणे’ इति धातुः,  
विश्वैः सर्वैः स्थाप्यते भक्ष्यते पीयत इति विश्वप्त्वा; तादृश्या  
दृष्टिधारया ‘विश्वतस्परि’ (सर्वेषां दृष्टसंख्यलतापादपादीनामुपरि)  
(पिम्वस्व) सिद्ध ।

मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“परा वा एष प्रजां पशून् वपति  
 षोऽसु भस्म प्रवेशयति पुनरूर्जं सह रथ्येति पुनरुदैति प्रजामेव  
 पशूनात्मन्वत्ते” (पु० २। १२ अ०) इति । भस्मनोऽसु प्रवेशनेन वि-  
 नाशितायाः प्रजायाः पशूनाञ्च-स्वात्मनि स्थापनाय ‘पुनरुदैति’  
 (पूर्वमुखाया अपनीतमग्निं पुनरपि निष्पीडितभस्मसहितायाम्  
 उखायां मन्त्रद्वयेन स्थापयेत्) । तत्र मन्त्रद्वयबलात् प्रजायाः  
 पशूनाञ्च स्वात्मनि स्थापनं भवति ।

कल्पः,—‘पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतामिति पुनरुख्य-  
 मुपसमिन्धे’ इति । पाठस्तु,—“पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समि-  
 न्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः । घृतेन त्वं तनुवो वर्द्धयस्व  
 सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः<sup>(१९)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वाम्  
 ‘आदित्या रुद्रा वसवः’ च ‘पुनः’ ‘समिन्धतां’ (उपशान्तं पुनः  
 सन्दीपयन्तु) । हे ‘वसुनीथ’ (वसूनां धनानां नोथ प्रापयितः),  
 ‘ब्रह्माणो’ (ब्राह्मणाः) ऋत्विजः ‘यज्ञैः’ निमित्तभूतैस्त्वा  
 ‘पुनः’ ‘समिन्धतां’ । ‘त्वं’ ‘घृतेन’ तुष्टः सन् ‘तनुवः’ (अस्मदीय  
 शरीराणि) ‘वर्द्धयस्व’, तच्छ्रुतस्त्वयि तुष्टे सति ‘यजमानस्य’ ‘कामाः’  
 ‘सत्याः सन्तु’ ।

अस्मिन् मन्त्रे रुद्राद्युक्तेस्तात्पर्यं दर्शयति,—“पुनस्त्वादित्या  
 रुद्रा वसवः समिन्धतामित्याहेता वा एतं देवता अग्रे\* समेन्धत  
 ताभिरैवैनं समिन्धे” (पु० २। १२ अ०) इति ।

कल्पः,—‘बोधा’ ‘स बोधि’ इतिबोधवतीभ्यामुपतिष्ठते’ इति ।  
 तत्र प्रथमामाह,—‘बोधा नो. अस्य वचसो यविष्ठ म० हिष्ठस्य  
 प्रभृतस्य स्वधावः । पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुसो  
 तनुवं वन्दे अग्ने<sup>(१९)</sup>’ इति । हे ‘स्वधावः’ (स्वधोपलक्षिताश्रवन्\*),  
 ‘यविष्ठ’ (युवतम), ‘नः’ (अस्मादीयस्य) ‘वचसः’ (स्तुतिरूपस्य)  
 ‘बोध’ (तात्पर्यं बुध्यस्व) । कीदृशस्य वचसः?—‘मं हिष्ठस्य’ (अति-  
 शयेनाभिवृद्धिहेतोः), ‘प्रभृतस्य’ (प्रकृष्टेन आदरेण सम्पादितस्य),  
 ‘पीयति त्वः’ (ओष्याथो† वृद्धावित्यस्मात् धातोह्यत्तः पीयति-  
 शब्दः, ‘त्वः’-शब्द ‡ एकशब्दार्थं वर्तते), भवदीयस्तुतिकारिणोर्दयो-  
 र्यजमानयोर्मध्ये ‘त्वः’ (एकः) स्तोता यजमानः ‘पीयति’  
 (वृद्धिमधिकं वक्ति, उचितोक्तिमुल्लङ्घ्य निन्दारूपेणातिप्रशंसा-  
 रूपेण वा यत्किञ्चिदक्ति) । ‘त्वो’ ‘अनु’-‘गृणाति’,—‘त्वः’, (एकः)  
 स्तोता अनुकूलम् (उचितमेव) वक्ति; अतोऽस्मादभिप्रायं बुध्यस्वेति  
 प्रार्थते । अतो ‘वन्दारुः’ (अभिवन्दनपरः) अहं हे ‘अग्ने’, त्वदीयां  
 तनुवं ‘वन्दे’ ।

अथ द्वितीयामाह,—‘स बोधि सरिर्मचवा वसुदावा वसु-  
 पतिः । युयोध्यस्माद्देषा० सि<sup>(१५)</sup>’ इति । हे अग्ने, ‘स’ त्वं ‘बोधि’  
 (अस्मादभिप्रायं बुध्यस्व) । कीदृशस्त्वं?—‘सरिः’ (विद्वान्), ‘मचवा’

\* स्वधोपलक्षिताश्रवान् इति J. पु० पाठः ।

† ओष्याथो वृद्धावित्यस्मात् इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

ओष्याथो वृद्धानित्यस्मात् इति J. पु० पाठः ।

‡ त्वशब्दः इति पाठो भवितुं युक्तः ।

(अश्वदान्), 'वसुदावा' (वसुप्रदः), 'वसुपतिः' (धनपतिः) । तादृग्वस्वं  
'देवाऽसि' (शुभिः कृतान् देवान्) 'अस्मत्' 'युयोधि' (अस्माक-  
मपाकुह) ।

• तदेतत् मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“बोधा, स बोधोत्पतिष्ठते  
बोधयत्येवैनं तस्मात् सुप्ता प्रजाः प्रबुध्यन्ते” (५।२।३अ०) इति ।  
'बोधा' इति मन्त्रेण, 'स बोधि' इति मन्त्रेण च एतमग्निं  
बोधयत्येव । यस्मादत्र शान्तमग्निं पुनरुद्बोधयति, तस्मात्सोकेऽपि  
प्रजाः स्वापं प्राप्य पुनः प्रबुध्यन्ते ।

उपस्थानदेशं विनियुक्ते,—“यथास्थानमुपतिष्ठते तस्माद्  
यथास्थानं पशवः पुनरेवोपतिष्ठन्ते\*” (५।२।३अ०) इति ।  
आहवनीयस्य दक्षिणभागो यजमानस्योपस्थानदेशः, अतोऽत्रापि  
दक्षिणदेश एव स्थितोपतिष्ठते, यस्मादेवं, तस्मात्सोकेऽपि पशवः  
प्रातःकाले शालाया निर्गत्यारण्ये गत्वा सायं पुनरागत्य स्वं स्वं  
स्थानमेव सेवन्ते ॥

• अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

अन्ना, -ऽऽदधाति समिधमुद्यच्छेदुदृचाऽनलम् ।

प्रेतप्रयात्यथ समिधा, गम्यते समिधं क्षिपेत् ॥

राजन्यस्येत् प्रेतिमन्त्रः, आपो, भस्माप्सु वेशयेत् ।

त्रिभिः, प्रसद्यतुऽन्ध्यामुखायां स्थापयेदमुम् ॥

\* पुनरेवोपतिष्ठते इति J. पु० पाठः

पुनर्द्वाभ्यामुदैत्यग्निं, पुनस्त्रेति समिन्धयेत् ।

बोध, द्वाभ्यामपस्थानं मन्त्राः पञ्चदशेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टव्यं यजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयोऽनवाकः ॥ • ॥

अपेत॑ वीत॑ वि च॑ सर्प॑तातो॒ येऽच॑ स्थ पु॒राणा ये॑  
च नूत॑नाः । अदा॑दिदं यमोऽव॑सानं पृथि॒व्या अक्र॑न्मिमं  
पि॒तरो॑ लो॒कमस्मै<sup>(१)</sup> । अग्ने॑र्भस्मा॒स्यग्नेः॑ पु॒रीष॑मसि<sup>(२)</sup>  
स॒ज्ज्ञान॑मसि का॒मध॑रणं मयि॑ ते का॒मध॑रणं  
भूयात्<sup>(३)</sup> । स॑ या वः प्रि॒यास्त॒नुवः॑ सं प्रि॒या  
हृद॑यानि वः । आ॒त्मा वो॑ अस्तु ॥ १ ॥

संप्रि॒यः संप्रि॒यास्त॒नुवो॑ मम<sup>(४)</sup> । अय॑ः सो  
अ॒ग्निर्यस्मि॑न्त्सोम॒मिन्द्रः॑ सु॒तं द॒धे ज॒ठरे॑ वाव॒शानः॑ ।  
सह॑स्त्रियं वाज॒मत्यं॑ न स॒तिर॑ स॒स॒वान्सन्त॑तूयसे  
जा॒तवे॑दः<sup>(५)</sup> । अग्ने॑ दि॒वो अ॒र्णम॑च्छा जि॒गास्य॑च्छा  
दे॒वाः ऊ॒चिषे॑ धि॒ष्णि॒याये॑ । याः प॒रस्ता॑द्रोच॒ने ह्य॒र्यस्य॑  
याश्चा॒वस्त॑दुप॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः<sup>(६)</sup> । अग्ने॑ य॒तै । दि॒वि  
व॒चैः पृथि॑व्यां यदोष॑धिषु ॥ २ ॥

असु॑ वा यज॒च । येना॒न्तरि॑क्षमु॒वाते॑तन्य॒ त्वेषः॑ स

भानुरर्णवो नृचक्षः<sup>(९)</sup> । पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः  
 सजोषसः । जुषन्ताः हव्यमाहुतमनमीवा ईषो  
 मृहीः<sup>(१०)</sup> । इडामग्ने पुरुदः सः सनिङ्गोः शश्वत्तमः  
 हवमानाय साध । स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाम्ने सा  
 ते सुमतिभूत्वस्मे<sup>(११)</sup> । अयं ते योनिर्कृत्वियो यतो  
 जातो अरोचथाः । तं जानन् ॥ ३ ॥

अग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिं<sup>(१२)</sup> । चिदसि  
 तया देवतयाऽऽङ्गिरस्वद्भुवा सीद<sup>(१३)</sup> परिचिदसि तया  
 देवतयाऽऽङ्गिरस्वद्भुवा सीद<sup>(१४)</sup> लोकं पृण छिद्रं पृ-  
 णाथो सीद शिवा त्वं । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन्  
 योनावसीषदन्<sup>(१५)</sup> । ता अस्य सूददोहसः सोमः  
 ओणन्ति पृश्नम् । जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्ठा रोचने  
 दिवः<sup>(१६)</sup> ॥ ४ ॥

अस्तु । ओषधिषु । जानन् । अष्टांचत्वारिंशच्च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीय-  
 प्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ० ॥

हतोयेऽनुवाके वज्रोदख्यस्य चयनदेशं प्रति नयनमुक्तम्; अयं  
 चतुर्थे गार्हपत्यचयनमुच्यते । कल्पः, 'अपवृत्ते दीक्षापरिमाणे  
 अपेत वीतेति' गार्हपत्यचितेरायतनं व्यायाममात्रं चतुरस्रं



परिमण्डलं बोद्धव्या' इति । फाठसु,—“अपेत वीत वि सर्पतातो येऽथ स्थ पुराणा ये च नूतनाः । अदादिदं यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै<sup>(१)</sup>” इति । यमस्य सर्व-  
भूम्यधिपतित्वात् तद्भुत्याः पृथिव्यां सर्वत्र वर्तन्ते । हे यम-  
भृत्याः, ‘अत्र’ (देवयजनस्थाने) पुरातना ‘ये’ यूयं ‘स्थ’ ‘नूतनाः’  
‘च’ ‘ये’ यूयं ‘स्थ’, ते सर्वेऽपि ‘अपेत’ (अस्मात् स्थानादपगच्छत) ।  
‘वीत’ (अत्यन्तं विदूरं गच्छत) । ‘वि’-‘सर्पत’ ‘च’ ‘अतः’  
(अस्मात् स्थानात् अपेत्य सान्निध्यं परित्यज्य विविधं गच्छत) । \*  
‘पृथिव्याः’ ‘इदम्’ ‘अवसानं’ (स्थानं) ‘यमः’ अस्मभ्यम् ‘अदात्’,  
‘पितरः’ च ‘अस्मै’ (यजमानाय) ‘इमे’ ‘लोकम्’ ‘अक्रन्’  
(एतच्चयनस्थानं कृतवन्तः) ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“यावती वै पृथिवी तस्यै यम आधिपत्यं परीयाय यो वै यमं देवयजनमस्या अनिर्याच्याग्निं चिनुते यमायैः स चिनुतेऽपेतेत्यध्यवसाययति यममेव देव-  
यजनमस्यै निर्याच्यात्मनेऽग्निं चिनुते” (५।२।३अ०) इति ।  
सर्वस्याः पृथिव्या आधिपत्ये यमेन प्राप्ते सति ‘यः’ (यजमानः)  
‘यमं’ प्रति ‘अस्याः’ (पृथिव्याः सम्बन्धि) ‘देवयजनम्’ अ-  
याचित्वा तत्र ‘अग्निं’ ‘चिनुते’, तच्चयनं यमार्थमेव भवति, न तु  
स्वयं तत्फलभाग् भवति । अतः ‘यमं’ याचितुम् ‘अपेत’-इति-  
मन्त्रेण ‘अध्यवसाययति’ (देवयजनं निश्चिनुयात्) । अतो याचित्वा-  
त् स्वार्थमेव तच्चयनं भवति ।

तमिमं मन्त्रं प्रशंसति,—“इत्येतेण वा अस्मै अनामृतमि-

‘अन्तो नाविन्दन्ते देवा एतद्यजुरपश्यन्पेतेति यदेतेनाध्यवसा-  
ययत्यनामृतं एवाग्निं चिनुते’ (५।१।३अ०) इति । मृतैः  
प्राणिभिराक्रान्तमामृतं, तथा न भवतीति ‘अनामृतं’, तादृशम्  
‘अस्याः’ (पृथिव्याः सम्बन्धिं) स्थानम् ‘इच्छन्तः’ (अपेक्षमानाः) ‘देवाः’  
वाणाग्रेण परिमितम् ईषदपि ‘नाविन्दन्’ (नालभन्त), सर्वमपि  
भूमिस्थानं प्रेतैराक्रान्तमेवेत्यर्थः । यद्यत् स्थानमन्विष्यते तत्र तत्र  
विचारणयां बहवः प्रेता अतीता भवन्ति । एतदेवाभिप्रेत्य  
महाभारते स्मर्यते, “अत्र भीष्मशतं दग्धं द्रोणानाञ्च शतचयम्”  
इति । एवं सति ‘देवाः’ तत्परिहारोपायं विचार्य ‘एतद्यजुः’  
(यजुर्वेदस्यम्) ‘अपेत वीत’ इत्येतं मन्त्रम् ‘अपश्यन्’ । तस्मादनेन  
मन्त्रेण प्रेतानां निःसारितत्वात् तैरनाक्रान्ते ‘एव’ स्थाने ‘अग्निं  
चिनुते’ ।

गार्हपत्यचित्स्थानस्योद्धननं विधत्ते,—“उद्धन्ति यदेवास्या  
अमेध्यं तदपहन्ति” (५।१।३अ०) इति । ‘अस्याः’ (पृथिव्याः)  
उपरि निष्ठीवनादिना यत् स्थानम् ‘अमेध्यं’ जातं, ‘तत्’  
उद्धननेन विनिवार्यते ।

उद्धृते प्रदेशे जलेनावोक्षणं विधत्ते,—“अपोऽवोक्षति शान्त्यै”  
(५।१।३अ०) इति । उद्धननेन निष्पन्ना भूमिः जलेन शान्ता  
भवति ।

कण्यः, ‘अग्नेर्भस्मासीति सिकता निवपति’ इति पाठस्तु,—  
“अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि(१)” इति । हे सिकतास्वरूप, त्वम्  
‘अग्नेः’ ‘भस्म’ (भासकम्) ‘असि’ । सिकताधारो हि अग्निर-

तितीक्ष्णो भवति, तथा त्वम् 'अग्नेः' अवस्थानाय 'पुरीषमग्निं' (पांसुरूपमग्निं) ।

एतन्मन्त्रसाध्यं सिकतावापं विधत्ते,—“सिकता निवपत्येतद्वा अग्नेर्वैश्वानरस्य रूपं रूपेणैव वैश्वानरमवरन्ध्रे” (५।१।१२अ०) इति । आधानप्रकरणे वैश्वानरस्य रूपं, 'पृथिव्यां परितस्तथा' इत्याद्यातत्वात् सिकताशरीरं वैश्वानरस्याग्नेः स्वरूपम् ।

कल्पः, 'सञ्ज्ञानमित्युषान्' इति । निवपतीत्यनुवर्तते । पाठस्तु,—“सञ्ज्ञानमग्निं कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयात्(१)” इति । हे ऊषस्वरूप, त्वं 'सञ्ज्ञानं' (पशुसम्बन्धि सम्यक् ज्ञानम्) 'अग्निं' । पशवो हि आघ्राणेन सम्यक् ज्ञात्वा तम् ऊषप्रदेशं लिङ्गन्ति, तथा 'कामधरणम्' 'अग्निं' (यज्ञियांशत्वेन आघ्राणे वक्ष्यमाणत्वात् यज्ञद्वारा कामानां धारकमग्निं) । अतः 'ते' यत्कामधरणसामर्थ्यं, तत् 'मयि' 'भूयात्' ।

एतन्मन्त्रसाध्यमूषनिवपनं विधत्ते,—“ऊषां निवपति पुष्टिर्वा एषा प्रजननं यदूषाः पुष्ट्यामेव प्रजननेऽग्निं चिनुतेऽथो सञ्ज्ञान एव सञ्ज्ञानं ह्येतत् पशूनां यदूषाः” (५।१।१२अ०) इति । पुष्टिहेतुत्वं प्रजात्पत्तिहेतुत्वञ्च ऊषाणां यज्ञद्वारा द्रष्टव्यम् । तस्मादूषनिवापे सति पुष्टिहेतौ प्रजननहेतौ च देवेऽग्निश्चितो भवति । किञ्च सञ्ज्ञानहेतावेव देवे अग्निश्चितो भवति । ऊषाणां पशुसम्बन्धेन लोके प्रसिद्धं; पशवो हि ऊषप्रदेशं ज्ञात्वा तत्पशुं लवणोदकं तेव पातुं गच्छन्ति, (पीत्वा च पुष्टिं प्राप्नुवन्ति । अतः सञ्ज्ञानं पुष्टिहेतुत्वञ्च । यदुक्तं सूत्रकारेण,

‘तान्निवपन् यददश्चन्द्रमसि कृष्णं तदिहास्त्विति मनसा ध्यायति’ इति ।

तदेतदिधत्ते,—“द्यावापृथिवी सहास्तां ते वियती अभूता-  
मंस्त्रेव नौ सह यज्ञियमिति यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदस्या-  
मदधात्त ऊषा अभवन् यदस्या यज्ञियमासीत् तदमुष्यामदधात्  
तददश्चन्द्रमसि कृष्णमूषान्निवपन्नदो ध्यायेद् द्यावापृथिव्योरेव  
यज्ञियेऽग्निं चिनुते” (५।२।३अ०) इति । पुरा सृष्टिकाले  
प्रजापतिना सृष्टे द्यावापृथिव्यौ जतुकाष्ठवत् संसृष्टे तिष्ठतः, ते  
यदा प्रजापतेरनुज्ञया वियुज्येते, तदानौ परस्परानुरागेण एवं  
भागं कृतवत्यौ, ‘नौ’ (‘आवयोः’) ‘यद्’ यज्ञयोग्यं सारं, ‘तत्’  
‘सह’ ‘एव’ ‘अस्तु’ इति । ततः ‘अमुष्याः’ (दिवः)\* ‘यत्’  
यज्ञयोग्यं सारम् ‘आसीत्’, ‘तत्’ ‘अस्यां’ (पृथिव्यां) सा सौः  
स्थापितवती । तच्च द्युसारभूतं भूमाविदानौ दृश्यमानाः ‘ते’  
(प्रसिद्धाः) ‘ऊषाः’ आसन् । ‘यन्’ च ‘अस्याः’ (पृथिव्याः) यज्ञ-  
योग्यं सारम् ‘आसीत्’, ‘तत्’ (सारम्) ‘अमुष्यां’ (दिवि) सा  
पृथिवी स्थापितवती । ‘तत्’ स्थापितं ‘अदः’ ‘चन्द्रमसि’ दृश्यमानं  
‘कृष्णं’ रूपम् अभूत् । अत उभयोः सारयोरेकोभावाय ‘ऊषान्’  
‘निवपन्’ ‘अदः’ चन्द्रमसि कृष्णरूपं ‘ध्यायेत्’, तेन ध्यातेन  
‘द्यावापृथिव्योः’ सम्मन्धिनि यज्ञयोग्ये सारे अग्निं चितवान्  
भवति ।

कल्पः, ‘सं या वः प्रियास्तनुव इत्युषान् सिकताश्च सः सृज्य’

\* दिवि इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

इति । पाठस्तु,—“सं था वः प्रियास्तनुवः सम्प्रिया हृदयानि वः ।  
आत्मा वो अस्तु सम्प्रियः सम्प्रियास्तनुवो मम<sup>(४)</sup>” इति । हे  
सिकताः, ऊषाः, ‘वः’, (युष्माकं) ‘थाः’, ‘प्रियास्तनुवः’ ताः  
परस्परं ‘सं’-सृज्यन्तां । ‘वः’ (युष्माकं) ‘प्रियाः’ (प्रियाणि)  
‘हृदयानि’ अपि ‘सं’-सृज्यन्तां । तथा ‘वः’ (युष्माकं) ‘आत्मा’ अपि  
‘सम्प्रियः’ ‘अस्तु’ । अपि च ‘मम’ अपि ‘तनुवः’ ‘सम्प्रियाः’ सन्तु ।

कल्पः, ‘अयं सो अग्निरिति चतस्रो मध्ये प्राचोरिष्टका  
गार्हपत्यचितावुपदधाति’ इति । ‘अयं सो अग्निः’ इत्येतस्मिन्  
सूक्ते प्रथमामाह,—“अयं सो अग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दधे  
जठरे वावशानः । सहस्त्रियं वाजमत्यन्नं सन्निधं ससवान् सन्त्ययसे  
जातवेदः<sup>(५)</sup>” इति । ‘यस्मिन्’ गार्हपत्यचितिरूपेऽग्नौ ‘वावशानः’  
(कामयमानः) ‘इन्द्रः’ ‘सुतं’ ‘सोमम्’ (अभिषुतं) ‘जठरे’ ‘दधे’  
(स्तोदरे धारयति), ‘स’ (तादृशः) ‘अयम्’ ‘अग्निः’ इदानीम्  
इष्टकाभिस्वीयते इति शेषः । हे ‘जातवेदः’, ‘अयं’ ‘सन्निधं’ ‘न’ (सत्वर-  
गमनकुशलमश्वमिव) ‘सहस्त्रियं’ (सहस्रसङ्ख्याकेन धनेन सम्पत्तं)  
‘वाजम्’ (अश्वं) ‘ससवान्’ (दत्तवान्) ‘सन्’ ‘यजमानैः’ ‘सन्त्ययसे’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगासच्छा  
देवाः ऊचिषे धिष्णिथा ये । थाः परस्ताद्रोचने सूर्यस्य था-  
स्त्रावस्तादुपतिष्ठन्त\* आपः<sup>(६)</sup>” इति । हे इष्टकारूप ‘अग्ने’, ‘दिवः’  
(सकाशात्) ‘अर्णम्’ (उदकम्) ‘अच्छ’ (आभिमुख्येन) ‘जिगासि’

\* यास्त्रावस्तादुपतिष्ठन्त इति क्वचित् पाठः ।

(प्राप्तेष्वि), यागद्वारेण पुष्टिं सन्पादयतीत्यर्थः । 'ये' देवा  
'धिष्ण्याः' (धिष्ण्याधाराः) । तान् देवान् 'अष्' (आभि-  
मुख्येन) 'ऊचिषे' (हविः स्वीकुरुतेति ब्रूषे), त्वयि अचोपहिते त्वया  
समाहृता इव देवा आगत्य हविः स्वीकरिष्यन्तीत्यर्थः । 'सूर्यश्च'  
'रोचने' (दीप्तिरूपे) च स्थले सन्ति 'याः' 'आपः', 'परस्तात्'  
(ऊर्द्धदिशि) 'उपतिष्ठन्ते'; 'याश्चावस्तात्' (अधोभागे) वर्त्तन्ते,  
ताः सर्वाः त्वयि उपहिते इहागमिष्यन्तीति शेषः ।

अथ तृतीयाभाह,—"अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदो-  
षधीष्वप्सु वा यजत्र । येनान्तरिक्षमुर्वाततन्य त्वेषः स भानु-  
रण्वो नृचक्षाः<sup>(१)</sup>" इति । हे 'यजत्र' (यागनिष्पादक) 'अग्ने', 'ते'  
(तव) 'यत्' 'वर्चः' 'दिवि' सूर्यरूपेण वर्त्तते, 'पृथिव्यां' वज्रि-  
ज्वालारूपेण वर्त्तते । तथा 'यत्' तेज 'ओषधीषु' तत्फलपरि-  
पाककालाकारेण वर्त्तते । 'अप्सु' वड़वानलरूपेण वर्त्तते । 'येन'  
तदोयेन वर्चस विद्युद्रूपेण 'ऊर्' (विस्तोर्णम्) 'अन्तरिक्षम्'  
'आततन्य' (सर्वतो विस्तारितवानसि) प्रकाशितवानित्यर्थः । 'त्वेषः'  
(दीप्तिमन् सर्वदोषवर्चःसमूहः\*) 'भानुः' (भासकः), 'अर्णवः'  
(समुद्ररूपविस्तोर्णः), 'नृचक्षाः' (मनुष्यान् प्रख्यापयिता) । तथा-  
विधतेजोरूपामिष्टकामुपदधामीति शेषः ।

अथ चतुर्थीभाह,—“पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः स-  
जोषसः । जुषन्ताः हव्यमाहुतमनमीवा इषो महीः<sup>(२)</sup>" इति ।

\* अत्र समूहर्ति विसर्गशून्य इव सर्वत्र पाठो नास्ति वाच्यते ।

एते 'अग्नयः' इष्टकारूपाः 'आहुतं' 'इदं' 'जुषन्तां' । कीदृशा  
अग्नयः?—(पुरीषे पांसुरूपे भवाः) 'पुरीषासः', 'प्रावणेभिः'  
(प्रकर्षेण सम्भजनशीलैर्मनोभिः) । 'सजोषसः' (परस्परं समान-  
प्रोतयः) 'अनमोवाः' (रोगरहिताः), 'इर्धः' (अभीष्टप्राप्तिहेतवः),  
'महीः' (प्रीदाः), तथाविधाग्निरूपाम् इष्टकामुपदधामीति शेषः ।

कल्पः, 'इडामग्नेऽयं ते योनिर्हृत्वित्य इति हे पुरस्तात्समीचो'  
इति । उपदधातीत्यनुवर्तते । तच्च प्रथमामाह,—“इडामग्ने पुरु-  
द॥स॥ सनिं गोः शशत्तम॥ इवमानाय साध । स्यान्नः स्रु-  
स्त्रयो विजावाग्न सा ते सुमतिर्भूत्वस्ते<sup>(९)</sup>” इति । हे 'अग्ने',  
'इवमानाय' (होतुं प्रवृत्ताय) यजमानाय 'गोः' 'सनिं' (गवादि-  
पशूनां दातारं) 'साध' (सम्पादय) । कीदृशं सनिं?—'इडां'  
(सर्वैरीक्षं प्रशंसनीयं), 'पुरुदंसं' (बहुधा दर्शनीयं), 'शशत्तमं'  
(अत्यन्तमविच्छेदेन वर्त्तमानं) । किञ्च त्वत्प्रसादात् 'नः' (अस्माकं)  
'स्रुः' 'स्यात्' (पुत्रोऽसु) । कीदृशः?—तनयः, औरस इत्यर्थः ।  
पुत्रसामान्यस्य 'स्रु' शब्देनोक्तत्वात् दत्तपुत्रादिव्यावृत्तये विशेष-  
वाची तनयशब्दः प्रयुज्यते, 'विजावा' (विविधानां जनयिता) ।  
हे 'अग्ने', 'ते' (तव) 'सा' 'सुमतिः' (तथाविधानुग्रहबुद्धिः)  
'अस्ते' 'भूतु' (अस्मासु भवतु) ।

अथ द्वितीयामाह,—“अयं ते योनिर्हृत्वित्यो यतो जातो  
अरोचथाः । तं जानन्नग्न आरोहत्या नो वर्द्धया रयिम्<sup>(१०)</sup>”  
इति । हे 'अग्ने', 'अयम्' (इष्टकारूपः पदार्थः) 'ते' (तव)  
'योनिः' (उत्पत्तिहेतुः) 'हृत्वित्यः' (हृतुकौशोनः स्त्रीपुरुष-

सङ्गमस्तुत्यः) इति, 'यतः' (योनेः) 'जातः' (यत इष्टकारूपपादत्पन्नः) त्वम् 'अरोचथाः' (दोषिमानसि) । हे 'अग्ने', 'तं' (तथाविध-मिष्टकारूपयोचिं) 'जानन्' (जायमानः) सन् 'आरोह' (प्राप्नुहि) । 'अथ' 'नः' (अस्माक) 'रयिं' (धनं) 'वर्द्धय' ।

कल्पः, 'एवं पश्चाच्चिदसि परिचिदसि इति समीचीतिरस्ती वा हे' इति । उपदधातीत्यनुवर्तते । प्रथममन्त्रपाठस्तु,— "चिदसि तथा देवतयाऽङ्गिरस्वद्भुवा सोद<sup>(११)</sup>" इति । भोगात् क्षिनोति सम्पादयतीति 'चित्' । हे इष्टके, त्वं 'चिदसि' । यथा देवतया त्वमभिमन्यते\*, 'तथा' 'देवतया' अनुगृह्येतस्त्वं 'भुवा' (स्थिरा भूत्वा) 'सोद' (अवतिष्ठ) । तच्च दृष्टान्तः,— 'अङ्गिरस्वत्' (अङ्गिरो निरुपहितेष्टका यथा भुवा भवति तदत्) ।

द्वितीयमन्त्रपाठस्तु,— "परिचिदसि तथा देवतयाऽङ्गिरस्वद्भुवा सोद<sup>(१२)</sup>" इति । 'परि' भोगांक्षिनोति सम्पादयतीति 'परिचित्' । शेषं पूर्ववत् । 'तथा देवतया' इत्यादिवाक्यं पूर्वध्वन्युपधानमन्त्रेषु प्रयोक्तव्यं । तथा च सूत्रकारेणोक्तं, 'तथा देवतया अन्ततो दधाति' इति ॥ उक्तेषूपधानमन्त्रेषु, 'अथ सो अग्निः' इत्यारभ्य 'अथा नो वर्द्धया रयिम्' इत्येतदन्तं षड्वचमेकं सूक्तम् ।

तदिदं प्रशंसति,— "अथ सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवत्येतेन वै विश्वामित्रोऽग्नेः प्रियं धामावावन्भागेरेवैतेन प्रियं धामावन्ध्वे" (पू।१।३ अ०) इति ।

\* अभिमन्यसे इति याठो भवितुं युक्तः ।



तस्मिन् सूक्ते चतसृभिराद्याभिर्हृग्भिः साध्यमिष्टकोपधानं विधत्ते,—“कन्दोभिर्वै देवाः सुवर्गे लोकमायन् चतस्रः प्राची-  
रुपदधाति चत्वारि कन्दाऽसि कन्दोभिरेव तद्यजमानः सुवर्गे  
लोकमेति” (५।२।३अ०) इति । कन्दोयुक्ताभिस्तसृभिर्हृग्भि-  
रुपधायेत्यथाहारः । देववद् यजमानोऽपि कन्दोयुक्ताभिर्हृग्भि-  
स्तस्र इष्टकाः प्रागया उपदध्यात् ।

अथ सूक्तगताभ्यां पञ्चम-षष्ठ-मन्त्राभ्यामुपरितनयजुर्भ्याञ्च  
साध्यमिष्टकोपधानं विधत्ते,—“तेषां सुवर्गे लोकं यतां दिशः  
समन्वीयन्त ते द्वे पुरस्तात् समीची उपदधत द्वे पश्चात् समीची  
ताभिर्वै ते दिशो दृष्ट्वन् यद् द्वे पुरस्तात् समीची उपदधाति  
द्वे पश्चात् समीची दिशां विष्ट्वे” (५।२।३अ०) इति । यदा  
चतस्र इष्टका उपधाय ‘ते’ (देवाः) स्वर्गे ‘लोकं’ गच्छन्ति, तदा  
‘तेषां’ सम्बन्धिन्यो ‘दिशः’ पालकाभावात् ‘समन्वीयन्त’ (सम्यक्  
विशीर्णा अभवन्), दिग्बर्त्तिन्यः प्रजाः विह्वला अभवन्नित्यर्थः;  
तन्मा भूदिति देवाः ‘पुरस्तात्’ दिशि ऋग्भ्यां ‘द्वे’ इष्टके, ‘पश्चात्’  
च यजुर्भ्यां ‘द्वे’ इष्टके ‘उपादधत’ । ‘ताभिः’ चतसृभिरिष्टकाभिः  
‘ते’ (देवाः) ‘दिशः’ ‘दृष्ट्वन्’ (दृढीकृतवन्त) । तथा यजमानो-  
ऽप्युपदध्यात् ।

अथ पूर्वमुपहितास्तस्रश्च इदानीमुपहितास्तस्रश्च मिलित्वा  
पुनः प्रशंसति,—“अथो पञ्चवो वै कन्दाऽसि पशून्नेवासौ समीची  
दधात्यष्टावुपदधात्यष्टाक्षरा गायत्री गायत्रीऽग्निर्यावानेवाग्निसं  
चिनुतेऽष्टावुपदधात्यष्टाक्षरा गायत्री गायत्री सुवर्गे लोकमञ्जसा

वेद सुवर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यैः (५।२।३अ०) इति । द्विषां विधारणाद्योपधानं पूर्वमुक्तम्, अपि च छन्दसां पशुप्राप्तिहेतुत्वेन पशुरूपत्वाच्चन्द्रीयताभिर्ह्यङ्गभिरुपधानेन 'समीचः' 'पशून्' संपादयति । उपरितनाभ्यां दाभ्यां सह अष्टत्वेन गायत्रीसाम्यं । मुखजत्वेन गायत्रीसम्बद्धः । 'अग्निर्यावान्' अस्ति, 'तं' सर्वं 'चिनुते' । किञ्च गायत्र्याः स्वर्गलोकाभिज्ञत्वात् तत्साम्यं स्वर्गाभिज्ञानाय सम्यद्यते ।

कल्पः, 'अवशिष्टं त्रयोदशभिर्लोकं पृणाभिः प्रच्छादयति लोकं-पृण तां अस्य सूददोदस इति दाभ्यां-दाभ्यां मन्त्राभ्यामेकैकां लोकं-पृणामुपदधाति' इति । तत्र प्रथमामाह,—“लोकं पृण किद्रं पृणायो सीद शिवा त्वं । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्(१९)” इति । हे इष्टके, 'लोकं' (गार्हपत्यचयनार्थं देशे पूर्वाङ्गाभिरिष्टकाभिरनाक्रान्तमवशिष्टं स्थानं) 'पृण' (पूरय); तथा 'किद्रं' 'पृण' (द्वयोरिष्टकयोर्मध्ये किञ्चिदपि किद्रं यथा न दृश्यते, तथा 'पृण' (पूरय) अत्यन्तं स्निग्धं भवेत्यर्थः । 'अथो' (अपि च) 'त्वं' 'शिवा' (शान्ता) सती 'सीद' (तिष्ठ) । 'इन्द्राग्नी' 'बृहस्पतिः' चेत्येते देवा 'अस्मिन्' 'योनौ' (स्थाने) त्वां 'असीषदन्' (सादितवन्तः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“ता अस्य सूददोदसः सोमः ओषन्ति पृथग्यः । जगन् देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः(१७)” इति । 'दिवः' 'रोचने' (स्वर्गस्य प्रकाशके) 'अस्य' 'जगन्' (वज्रमाणस्य जगन्नि निमित्तभूते) सति 'देवानां' सम्बन्धिन्यो ।

‘विशः’ (प्रजारूपाः) ‘पृथयः’ (अल्पगोसदृशाः) ‘सूददोदधः’ (सूदस्थान्नस्य दोदधियश्च) ‘ताः’ इष्टकाः ‘सोमं’ ‘ओणन्ति’ (पक्वं कुर्वन्ति) । कदा?—‘आ’—‘त्रिषु’ (आ समन्तात् यानि प्रातःसवनादीनि, तेषु), चिरन्तरं सोमैकहेतव एता इष्टका इत्यर्थः ।

एतन्मन्त्रद्वयसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“त्रयोदश लोकं-पृष्ठा उपदधात्येकविंशतिः सम्यद्यन्ते प्रतिष्ठा वा एकविंशः प्रतिष्ठा गार्हपत्य एकविंशस्यैव प्रतिष्ठां गार्हपत्यमनु प्रतितिष्ठति” (५।२।३अ०) इति । लोकम् इष्टकानाक्रान्तमवशिष्टं देशं पूरयन्तीति ‘लोकं-पृष्ठाः’,—एतन्नामका इष्टकास्त्रयोदशसंख्याका उपदध्यात् । एवं सति पूर्वोक्ताभिरष्टभिः सह ‘एकविंशतिः’ ‘सम्यद्यन्ते’ । तथा सति ‘एकविंशस्तोमो यथा स्तोमान्तराणां त्रिवृदादीनां प्रतिष्ठा’, तथा नित्यधार्यो ‘गार्हपत्यः’ अपि आहवनीयादीनां ‘प्रतिष्ठा’ । तदुभय-‘प्रतिष्ठाम्’ ‘अनु’ यजमानः ‘प्रतितिष्ठति’ इति ।

वेदनं प्रशंसति,—“प्रत्यङ्गिं चिक्षानस्तिष्ठति य एवं वेद” (५।२।३अ०) इति । ‘चिक्षानः’ (चयनं कृतवान् भूत्वा) प्रतितिष्ठतीत्यर्थः । एवं निरूपिता सेयमेका चितिः ।

इदृशोनां चितोनामुपर्यधोभावेन वर्त्तमानानां पञ्चसंख्यां विधत्ते,—“पञ्चचित्तीकं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानः पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः पञ्चवो यज्ञमेव पञ्चनवरहन्ते” (५।२।३अ०) इति । ‘प्रथमं’ ‘चिन्वानः’ (प्रथमवारमग्निचयनं कुर्वन्) यजमानः ‘पञ्चचित्तीकं’ (पञ्चसंख्याका अनन्तरोक्ताश्रितयो यस्याग्नेस्सादृशं) ‘चिन्वीत’ । धानादिपयसान्नैः पञ्चभिर्हविर्भिर्भुक्त्वात् ‘पाङ्क्तो यज्ञः’ ।

सपुच्छैश्चतुर्भिः पादैश्च 'पाङ्गाः' पञ्चवः'; एवं चयनं कृत्वा 'ग्रन्थं' 'पश्यन्' च प्राप्नोति ।

द्वितीयवारमग्निचयनं कुर्वतश्च सङ्ख्यां विधत्ते,—“त्रिचितीकं चिन्वीत द्वितीयं चिन्वानस्तथ इमे लोका एखेव लोकेषु प्रतिष्ठति” (५।२।३अ०) इति । ‘द्वितीयं’ (द्वितीयवारम्) ।

तृतीयवारमग्निचयनं कुर्वतः सङ्ख्यां विधत्ते,—“एकचितीकं चिन्वीत तृतीयं चिन्वान एकधा वै सुवर्गो लोक एकवृत्तैव सुवर्गे लोकमेति” (५।२।३अ०) इति । ‘एकधा’ (एकप्रकारः), सुखैक-स्वाभाव्यात्, स्वर्गे प्राप्तस्य तद्धेतुकर्मसमाप्तेः पूर्वं पुनरावृत्त्यभावाच्च । ‘एकवृत्ता’ (एकगुणकया) चित्या, त्रिगुणत्व-पञ्चगुणत्ववर्जितया ।

पांसुप्रक्षेपं विधत्ते,—“पुरीषेणाभ्यूहति तस्मात् मांसेनास्त्रि कृन्नम्” (५।२।३अ०) इति । यस्मादस्त्रिसमाः कठिना इष्टकाः मांससमेन सैदुक्ता पांसुना ‘अभ्यूहति’ (क्वादयति) । ‘तस्मात्’ लोकेऽपि ‘मांसेन अस्त्रि कृन्नम्’ ।

वेदनं प्रशंसति,—“न दुद्यर्मा भवति य एवं वेद” (५।२।३अ०) इति ।

चितिगतां पुरीषगताञ्च सङ्ख्यां मिलित्वा प्रशंसति,—“पञ्च चितयो भवन्ति पञ्चभिः पुरीषैरभ्यूहति दश सम्पद्यन्ते दशाक्षरा विराड्भ्रं विराड्विराज्येवान्नाद्ये प्रतितिष्ठति” (५।२।३अ०) इति । एकां चितिं कृत्वा पुरीषेणाक्वादयेत्, तस्मा उपरि द्वितीयां चितिं कृत्वा तन्मस्याक्वादयेत्,—एवं चितिपञ्चकेन पुरीषपञ्चकेन दशसङ्ख्यासम्पत्तेर्विराट्कन्दोदारेणाद्ये ‘प्रतितिष्ठति’ इति ।

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

अपोद्धन्ति चित्तिम्यानम्, अग्नेस्तु सिकतां वपेत् ।  
 सञ्ज्ञानमूर्षां निवपेत्, सं या, संसृजते इयम् ॥  
 अयं,—चतसृभिः प्राचीरिष्टका आदधाति हि ।  
 इडां,—द्वाभ्यां पुरस्तात् द्वे, चिंद्वाभ्यां पश्चिमद्वयम् ॥  
 लोकं लोकं-पृणा-द्वाभ्यां मन्त्रा अत्र चतुर्दश ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
 यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ० ॥

समि॑तः सङ्क॑ल्येथाः स॒मि॒प्रयौ॑ रो॒चि॒ष्णू सु॑म॒न॒स्य-  
 मा॒नौ । इ॒ष॒मूर्ज॑म॒भिसं॑वसानौ सं वां म॒र्जाः॑सि सं वृ॒ता  
 समु॑ चि॒त्ता॒न्याकरं॑<sup>(१)</sup> । अ॒ग्ने॑ पुरी॒ष्याधि॑पा भ॒वा त्व॑न्नः  
 इ॒ष॒मूर्जं॑ यज॒मानाय॑ धेहि<sup>(२)</sup> । पुरी॒ष्य॑स्त्वम॒ग्ने र॒यि-  
 मान् पु॒ष्टि॒माः॑ अ॒सि । शि॒वाः कृ॒त्वा दि॒शः सर्वाः॑ स्वां  
 योनि॑मि॒हास॑दः<sup>(३)</sup> । भव॑तं नः स॒म॒नसौ॑ स॒मो॒क्तौ ॥  
 ॥ १ ॥

अ॒रे॒पसौ॑ मा य॒ज्ञः॑ हि॒सि॑ष्टं मा य॒ज्ञप॑तिं जात-  
 वे॒दसौ॑ शि॒वौ भ॑वतम॒द्य नः॑<sup>(४)</sup> । मा॒तेव् पु॒त्रं पृ॑थि॒वी  
 प॒री॒ष्यम॑ग्निः स्वे योना॒वभा॑रु॒खा । तां वि॒श्वेर्दे॑वैर्कृ॒तु-

भिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु<sup>(१)</sup> ।  
 यदस्य पारे रजसः शुक्रं ज्योतिरजायत । तं नः  
 पर्षदति द्विषोऽग्ने वैश्वानर स्वाहा<sup>(२)</sup> । नमः सु ते निः  
 कृते विश्वरूपे ॥ २ ॥

अयस्मयं विचृता बन्धमेतं यमेन त्वं यस्या संविदा-  
 नोत्तमं नाकमधिरोहयेम<sup>(३)</sup> । यत्ते देवि निर्कृति-  
 राबन्ध दामं ग्रीवास्वविचृत्य । इदं ते तद्विष्याम्या-  
 युषो न मन्थादथा जीवः पितुमङ्गि प्रमुक्तः<sup>(४)</sup> । यस्या-  
 स्ते अस्याः क्रूर आसं जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय ।  
 भूमिरिति त्वा जना विदुर्निकृतिः ॥ ३ ॥

इति त्वाहं परिवेद विश्वतः<sup>(५)</sup> । असुन्वन्तं यज-  
 मानमिच्छ स्तूतस्येत्यां तत्करस्यान्वेषि । अन्यमस्म-  
 दिच्छ सा त इत्या नमो देवि निकृते तुभ्यमस्तु<sup>(६)</sup> ।  
 देवीमहं निकृतिं वन्दमानः पितेव पुत्रं दसये वचो-  
 भिः । विश्वस्य या जायमानस्य वेद शिरः-शिरः  
 प्रति सूरौ विचष्टे<sup>(७)</sup> । निवेशनः सङ्गमनो वसूनां  
 विश्वा रूपाभिचष्टे ॥ ४ ॥

शचीभिः देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ  
 समरे पथीनां<sup>(८)</sup> । सं वरचा दधातन निराहावान्  
 क्षणोतन । सिञ्चामहा अवटमुद्रिणं वर्यं विश्वाहादस्त-

मक्षितं<sup>(११)</sup> । निष्कृताद्वावमवटः सुवर्चः सुषेचनं ।  
उद्रिणः सिञ्चे अक्षितं<sup>(१२)</sup> । मीरा युञ्जन्ति कवयौ युगा  
वितन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुमया<sup>(१३)</sup> । युनक्त-  
सीरा वि युगा तनोत हते योनौ वपतेह ॥ ५ ॥

बीजं गिरा च श्रुष्टिः सभरा असक्नो नेदोय  
इत्सृण्या पक्वमायत्<sup>(१४)</sup> । लाङ्गलं पवीरवः सुशेवः  
सुमतिस्तरु । उदित्कृषति गामविं प्रफुल्लिञ्च पीवरीं ।  
प्रस्थावद्रथवाहनं<sup>(१५)</sup> । शुनं नः फाला वितुदन्तु भूमिः  
शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहान् । शुनं पर्जन्यो मधुना  
पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तं<sup>(१६)</sup> । कामं  
कामदुघे धुत्त्व मित्राय, वरुणाय च । इन्द्रायाग्रये  
पूष्णे ओषधीभ्यः प्रजाभ्यः<sup>(१७)</sup> । घृतेन सीता मधुना  
समक्ता विश्वेदेवैरनुमता सरुक्भिः । ऊर्जस्वतो पयसा  
पोन्वमानास्मान् सीते पर्यसाभ्याववृत्स्व<sup>(१८)</sup> ॥ ६ ॥

समोकसौ । विश्वरूपे । विदुर्निर्घृतिः । अभिचष्टे ।  
इह । मित्राय । द्वाविंशतिश्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके  
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

चतुर्थेऽनुवाके गार्हपत्यचयनमुक्तम् । अथ पञ्चमेऽनुवाके  
 आहवनीयचयनार्थं भुवः कर्षणमुच्यते । कल्पः, 'समितमिति  
 तस्यां चतसृभिस्त्वयः सन्निवपति' इति । तत्र प्रथमामाह,—  
 "समितः सङ्कल्पेयाः सम्प्रियो रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । इष-  
 मूर्जमभिसंवसानौ सं वां मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्<sup>(१)</sup>"  
 इति । येयं गार्हपत्यचितिः पूर्वानुवाकेऽभिहिता, तस्याम् उख्या-  
 ग्निमन्निवपनवेलायां द्वावग्नी सम्यद्येते,—पूर्वसिद्धोऽग्निरेकः, द्वितीय-  
 सिद्धोऽग्निरपरः । तावुभौ सम्बोध्येदमुच्यते । हे अग्नी, युवामुभौ  
 'समितं' (सङ्गतौ) भवतं, सङ्कल्प्य च 'सङ्कल्पेयां' (सम्यग् यज्ञस्य  
 कल्पनं निष्पादनं कुरुतं) । कीदृशावग्नी?—'सम्प्रियो' (सम्यक्  
 परस्परं प्रीतियुक्तौ), 'रोचिष्णू' (दोष्यमानौ), 'सुमनस्यमानौ'  
 (परस्परं सौमनस्यं प्राप्तौ), 'इषम्' (अन्नम्). 'जर्ज' (रसं) च  
 'संवसानौ'\* (सम्यक् सम्पादयन्तौ) । 'वां' (युवयोः) 'मनांसि'  
 (मनोजन्यान् सङ्कल्पान्) 'सम्'—'आकरं' (सर्वतः सङ्गतानि करोमि) ।  
 तथा व्रतानि (कर्माणि) 'सम्'—'आकरं' । तथा 'चित्तानि'  
 (कर्मविषयज्ञानानि) 'सम्'—'आकरम्' ।

अथ द्वितीयामाह,—"अग्ने पुरीषाधिपा भवा त्वं नः ।  
 इषमूर्जं यजमानाय धेहि<sup>(२)</sup>" इति । हे 'पुरीष्य' (पांसुयुक्तः),  
 'अग्ने' (मिलितोभयाग्निरूपः), 'त्वं' 'नः' (अस्माकम्) 'अधिपा'  
 'भव' (अधिकं पालयिता भव) । तादृशस्त्वं यजमानायान्नं रसञ्च  
 संपादय ।

\* अत्र 'अभिसंवसानौ' इति आठो भवितुं युक्तः ।



अथ तृतीयामाह,—“पुरीव्यस्त्वमग्ने रयिमान् पुष्टिमा५ असि । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वां योनिमिहासदः(१)” इति । हे ‘अग्ने’ द्यात्मक, त्वं ‘पुरीव्यः’ (पुरीषार्हः), ‘रयिमान्’ (धनवान्), ‘पुष्टिमान्’ अपि ‘असि’ । ‘सर्वाः’ ‘दिशः’ ‘शिवाः’ (शान्ताः) ‘कृत्वा’ ‘इह’ (चितौ) ‘स्वां योनिं’ (स्वकीयं स्थानम्) ‘आसदः’ (प्राप्नुहि) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“भवतं नः समनसौ समोकसावरेपसौ । मा यज्ञः हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः(५)” इति । योऽग्निः पुरातनः, यस्य उख्यः, तौ युवां ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘समनसौ’ (समानमनस्को विप्रतिपत्तिरहितौ), ‘समोकसौ’ (समाननिवासस्थानौ), ‘अरेपसौ’ (पापचित्तरहितौ), यज्ञस्य यज्ञपतेश्च हिंसां ‘मा’ कुरुतम् । ‘अद्य’ (अस्मिन् कर्मणि) हे ‘जातवेदसौ’, ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘शिवौ’ (शान्तौ) ‘भवतम्’ ।

एतान् मन्त्रान् विनियुङ्क्ते,—“वि वा एतौ द्विषाते यस्य पुराग्निर्यश्चेखायाः समितमिति चतसृभिः संनिवपति चत्वारि कृन्दाःसि कृन्दाःसि खलु वा अग्नेः प्रिया तनूः प्रिययैवेनौ तनुवा सः प्राप्ति” (५।२।४अ०) इति । अग्निं चिकीर्षतः पुरुषस्य ‘यस्य’ पूर्वसिद्ध आहितः ‘अग्निः’, ‘यस्य’ ‘उखायां’ वर्त्तमान इदानी-  
न्तनोऽग्निः, ‘एतौ’ उभौ परस्परं ‘वि-’-‘द्विषाते’ (अहमेवाङ्गत्वा-  
धारेण भूयासं, न त्वमित्येवंरूपो विद्वेषः । अतो विद्वेषपरिहाराय  
‘संनिवपति’ (तावुभौ संयोजयेत्) । अग्न्यादानादिषु गायत्र्यादि-

कन्दसां साधनत्वात् 'कन्दांसि', 'अग्नेः' 'प्रिया तनूः', तथा सत्य-  
मन्त्रगतया चतुःसङ्ख्याया चतुर्णां गायत्र्यादीनां कन्दसां बुद्धिस्व-  
त्वात् 'प्रिययैव' 'तनुवा' सङ्गतौ यथा भवतस्तथा 'सं'-शासनं  
कृतवान् भवति ।

प्रथममन्त्रगतस्य समितमितिपदस्य तात्पर्यं दर्शयति,—  
“समितमित्याह तस्माद्ब्राह्मणा चत्रं समेति” (५।१।४ अ०)  
इति । यस्मादयं मन्त्रः सङ्गतौ भवतमिति ब्रूते, 'तस्मात्' लोकेऽपि  
पुरोहितरूपेण ब्राह्मणेन चत्रियरूपो राजा सङ्गच्छते । अत  
एवान्यत्र श्रुत्या उदाहृतं, 'तस्माद् ब्राह्मणो राजन्यवान् । तस्माद्  
राजन्यो ब्राह्मणवान्' इति ।

तमेवान्योः सङ्गमं पुनः प्रशंसति,—“यत् सन्युष्य विहरति  
तस्माद्ब्राह्मणा चत्रं व्येति” (५।१।४ अ०) इति । यस्मादग्निदयं  
संयोज्य तस्मिन् संयुक्तेऽग्नौ विहरणम् (उत्तरकालीनं विविध-  
मनुष्ठानं) करोति, 'तस्मात्' लोकेऽपि ब्राह्मणचत्रिययोः संयुक्तयोः  
सतोः पश्चाद् ब्राह्मणेन नियमितः चत्रियो विविधं आस्तीर्ष-  
राज्यपरिपालनं प्राप्नोति ।

कल्पः, मातेव पुत्रमिति श्रिक्यादुखां निरूह्य इति ।  
षाठस्तु,—“मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीथ्यमग्निं स्वे योनावभास्वा ।  
तां विश्वैर्देवैर्धनुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु<sup>(५)</sup>”  
इति । यथा लोके 'मातां' 'पुत्रं' विभर्त्ति, तथा 'पृथिवीरूपा  
इयम् 'उखा' 'स्वे योनौ' (स्वकीयगर्भस्थाने) 'पुरीथ्यम्' एतम्

‘अग्निं’ ‘स्वे योनौ’\* ‘अभाः’ (विभर्त्ति) । ‘ताम्’ (उखां) ‘प्रजा-  
पतिः’ ‘विमुञ्चतु’ (शिक्षपाशाभ्याम्तां करोतु) । कीदृशः प्रजापतिः?—  
‘विश्वेदेवैर्जतुभिः’ च ‘संविदानः’ (एकमत्यङ्गतः), (विश्वं सृष्टि-  
रूपं कर्म यस्यामौ) ‘विश्वकर्मा’ ।

अस्मिन्मन्त्रे ऋतुभिरितिपदस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“ऋतुभिर्वा  
एतं दीक्षयन्ति स ऋतुभिरेव विमुञ्चो मातेव पुत्रं पृथिवीं पुरीत्य-  
मित्याह ऋतुभिरेवेनं दीक्षयित्वा ऋतुभिर्विमुञ्चति” (५।२४अ०)  
इति । ‘एतं’ (यजमानम्) ‘ऋतुभिः’ पुरा संस्कुर्वन्ति, ‘षड्भि-  
र्दीक्षयति षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवेनं दीक्षयति’ इत्युक्तत्वात् ।  
अतस्तादृशयजमानसम्बन्धी† ‘स’ उख्योऽग्निरत्रापि ‘ऋतुभिरेव’  
विमोचनीयो भवति । अतो विमोचनसाधनेऽस्मिन् मन्त्रे ऋतु-  
प्रयोगाद्दीक्षाविमोचयोरेकसाधनत्वं सम्यद्यते । यद्यपि दीक्षा  
यजमानस्य, विमोचस्योख्यस्य, तथाप्यभेदोपचारेण एकविषयत्वोप-  
न्यासः ।

कल्पः, ‘यदस्य पारे रजस इति वैश्वानर्याग्निशिक्षमादत्ते’  
इति । पाठस्तु,—“यदस्य पारे रजसः शुक्रं ज्योतिरजायत ।  
तस्रः पर्षदति द्विषोऽग्ने वैश्वानर स्वाहा(१)” इति । ‘रजसः’  
(रजःसदृशस्य धूमस्य) ‘पारे’ (अवसाने) ‘अस्य’ (अग्नेः) ‘शुक्रं’  
(निर्मलं) ‘यत्’ ‘ज्योतिरजायत’, ‘तत्’ (ज्योतिः) ‘द्विषः’ ‘अति’

\* अत्र “स्वे योनौ” इति पाठः पुनरुक्त इवाभाति ।

† सम्बन्धि इति सर्वत्र पाठो न सम्बन्धः ।

(द्वेष्टृनतिक्रम्य) 'नः' (अस्मान्) 'पर्षत्' (प्रीणयतु) । हे वैश्वानराय 'अग्ने', तदीयं शिक्यं 'स्वादा' (सुष्ठु आहुतम्) ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—“वैश्वानर्या शिक्यमादत्ते स्वदयत्ये-  
वेनत्” (५।२।४ अ०) इति । वैश्वानरशब्दो यस्यामृच्यस्ति, सेयं  
‘वैश्वानरी’, “अहं वैश्वानरेर भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः” इति  
स्यतेर्जाठराग्निरूपस्य वैश्वानरस्य स्वादुत्वकारित्वात् तदीयमन्त्रेण  
उपात्तं शिक्यं स्वादूकृतं भवति ।

कल्पः, 'नैर्ऋतिरिष्टकाः कृष्णास्तिस्रस्तुषष्कास्ताः शिक्यः  
रुक्मस्तत्रमासन्दोच्चादाय दक्षिणमपरमवान्तरदेशं गत्वा नमः सु  
ते नैर्ऋत इति स्वकृतं इरिणे प्रदरे वा शिक्यं निधाय इति ।  
पाठस्तु,—“नमः सु ते नैर्ऋते विश्वरूपेऽयस्म्ययं विचृता बन्धमेतं ।  
यमेन त्वं यस्या संविदानोत्तमं नाकमधिरोहयेमम्<sup>(१)</sup>” इति ।  
हे 'नैर्ऋते' (दक्षिण-पश्चिम-मध्यमस्थितावान्तरदिगभिमानिनी-  
देवते), 'विश्वरूपे' (बहुविधरूपयुक्ते), 'ते' (तुभ्य) 'नमः' अस्तु ।  
'अयस्म्ययं' (लोहनिर्मितं षटङ्गुलावद्दम्) 'एतं' 'बन्धं' (स्वर्ग-  
प्राप्तिप्रतिबन्धकम्) 'इमं' (पाप्मानं) 'विचृतं' (विनाशय) । ततः  
'त्वं' 'यमेन' (अग्निना) 'यस्या' (पृथिव्या) च 'संविदाना'  
(ऐकमत्यं गता) सती इमं (यजमानम्) 'उत्तमं' 'नाकं',  
( सर्वसुखोपेतं दुःखमाचरहितं स्वर्गम् ) 'अधिरोहय' (प्रापय) ।

अचोदाहते सूत्रे यां इष्टका अभिहितास्ता विधत्ते,—

\* दिगभिमानिनि इति पाठो भवितुं युक्तः ।

“नैर्ऋतीः कृष्णास्त्रिंशस्तुषपक्षा भवन्ति निर्ऋतौ वा एतद्भागधेयं  
यन्तुषा निर्ऋतौ रूपं कृष्णं रूपेणैव निर्ऋतिं निरवदयते”  
(५।२।४ अ०) इति । ‘निर्ऋतिः’ देवता, चासामिष्टकानां ता  
‘नैर्ऋत्यः’, ‘तुषा’ इति ‘यत्’ तत् ‘एतत्’ निर्ऋतेः (राक्षसदेवतायाः)  
भागधेयम् । अत एवेष्टिप्रकरणे ‘रक्षसां भागोऽसि’ इति तुषोप-  
वापमन्त्र आह्वातः । ‘रूपं’ च निर्ऋतिदेवतायाः ‘कृष्णं’, अतस्तदा-  
नुकृत्याय इष्टकास्तुषपक्षाः कृष्णवर्णाश्च कुर्युः, तथा सति अनुरूपेणैव  
भागेन ‘निर्ऋतिं’\* ‘निरवदयते’ (निःसारितवान् भवति) ।

दक्षिणपश्चिमावान्तरदिशमङ्गुल्या निर्दिश्य विधत्ते,—“इमां  
दिशं यन्तेषा वै निर्ऋतौ दिक् स्वायामेव दिशि निर्ऋतिं  
निरवदयते” (५।२।४ अ०) इति ।

कल्पः, ‘यत्ते देवी निर्ऋतिरावबन्धेति शिष्यजालेनैनाः  
प्रच्छाद्य’ इति । ‘एनाः’ (वक्ष्यमाणमन्त्रैरुपधेयाः इष्टकाः) । अर्थ-  
क्रमेणायं मन्त्रो वक्ष्यमाणेभ्यस्त्रिभ्य उत्तरभावो, पाठक्रमेण तु  
पूर्वभावो । तत्पाठस्तु,—“यत्ते देवी निर्ऋतिरावबन्ध दाम ग्रीवा-  
स्त्रविचर्त्य । इदं ते तद्विद्याम्यायुषो न मध्यादथा जीवः भितु-  
मद्भि प्रमुक्तः<sup>(८)</sup>” इति । हे यजमान, ‘ते’ (तव) ‘ग्रीवासु’  
(ग्रीवायाः सम्बन्धिषु प्रदेशविशेषेषु) ‘निर्ऋतिः’ ‘देवी’ ‘यत्’  
‘दाम’ (स्वकीयं पाशम्) ‘अविचर्त्य’ (विनाशयितुमशक्यम्)  
‘आवबन्ध’ (दृढं बबन्ध), ‘तत्’ ‘इदं’ ‘ते’ दाम (त्वदीयं

\* सर्वस्मिन् पुस्तके निर्ऋतिरिति पाठो न युक्तः ।

द्योवाख्यं पाशं) 'विद्यामि' (विमुञ्चामि) । तच्च विमोचनं तदोपसृष्ट  
'आयुषः' 'मध्यात्' आरभ्य 'न' भवति, किन्तु कृत्स्नेऽप्यायुषि; 'अथ'  
(पाशविमोचनान्तरं) त्वं 'जीवः' (चिरञ्जीवी) सन 'प्रमत्तः'  
(सर्वैः प्रतिबन्धैर्विरहितैः) 'पितुम्' (अन्नं) 'अद्भि' (भक्ष्य) ।

कल्पः, 'तस्मिन्पाशमभ्युपदधाति यस्यास्ते अस्याः क्रूर  
आसन्' जुहोमीत्येताभिस्तिष्ठभिः पराचोरसंस्पृष्टा दक्षिणापवर्गं  
तया दैवतं करोति' इति । तस्य शिष्यस्य पाशमभिलक्ष्य कृष्णा-  
भिरिष्टकाभिरुपधानं सम्पादयेदित्यर्थः । तिष्ठषु प्रथमामाह,—  
'यस्यास्ते अस्याः क्रूर आसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय ।  
भूमिरिति त्वा जना विदुर्निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद विश्वतः<sup>(९)</sup>'  
इति । हे निर्ऋते, 'यस्याः' 'ते' (तव) 'अस्याः' 'क्रूर आसन्' (उग्र-  
रूपे आस्ये) 'जुहोमि' (आहुतिवद्विष्टकामुपदधामि) । किमर्थं ?—  
'एषां बन्धानाम्' 'अवसर्जनाय' (यजमानस्य परलोकप्राप्तिप्रति-  
बन्धकानाम् एषां पापानां विनाशाय), 'यस्याः' 'ते' (तव) मुखे  
प्रदररूप इरिणरूपे वा 'अहंम्' इष्टकामुपदधामि । 'त्वा'  
(तत्पृष्ठीं त्वां) 'जनाः' (जन्तुमात्ररूपाः, शास्त्रमंस्काररहिताः)  
'भूमिरिति' 'विदुः' । निर्ऋतिदेवोति, \*—'अहं' तु शास्त्राभिज्ञ-  
तया त्वां 'विश्वतः' (सर्वतः, सर्वथा) 'निर्ऋतिदेवो'—इत्येव 'परिवेद'  
(सम्यक् जानामि) । तत्र तावन्निर्ऋतिरित्येतद्देवता-नामधेयम् ।

\* अत्र संहिताख्यपाठानुसारेण निर्ऋतिरित्येति पाठो धत्तुं  
युक्तः ।

अत्रयवार्थस्यैवं व्युत्पादनीयः,—सर्वदेवसाधारणाद्देवयजनान्विष्कृत्य  
स्वतन्त्रेण \* प्रदरादौ ष्टितिः प्राप्तिर्लक्षाः सा 'निर्ऋतिः' । तदिदं  
प्रकारद्वयमभिप्रेत्य 'विश्वतः' इत्युक्तम् ।

अथ द्वितीयामाह,—“असुन्वन्तम् यजमानमिच्छ स्तेनस्तेत्यां  
तत्स्करस्थान्वेषि । अन्यमस्मादिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते  
तुभ्यमस्तु(१०)” इति । हे 'निर्ऋते', यः सोमयागं न करोति, यश्च  
हविर्यज्ञं न करोति, तादृशम् 'असुन्वन्तम्' 'यजमानं' च 'इच्छ'  
(यद्दीतुमिच्छ) । किञ्च यः स्तेनः (प्रच्छन्नचोरः), यश्च तत्स्करः  
(प्रकटचोरः) तयोः 'इत्यां' (गतिम्) 'अन्वेषि' (अनुगच्छ); गत्वा  
तार्वपि गृहाणेत्यर्थः) । सर्वथापि सोमं सुन्वज्ज्ञो हविर्यज्ञैश्च  
यष्टृभ्यः 'अस्मत्' 'अन्यम्' 'इच्छ' (नास्मानिच्छ) । 'सा' द्रष्टृशिक्षा  
तव 'इत्या' (गतिश्चर्या) । हे 'निर्ऋते', 'देवि', 'तुभ्यं' 'नमः' 'अस्तु' ।

अथ तृतीयामाह,—“देवीमहं निर्ऋतिं वृन्दमानः पितेव  
पुत्रं दमये वचोभिः । विश्वस्य या जायमानस्य वेद शिरः-शिरः  
प्रति सूरौ विचष्टे(११)” इति । 'देवीं' 'निर्ऋतिं' 'वृन्दमानः' 'अहं'  
'वचोभिः' (स्तुतिरूपैर्वाक्यैः) 'दमये' (उपलोणां स्वाधीनां करोमि) ।  
तत्र दृष्टान्तः,—यथा लोके 'पिता' 'पुत्रं' (दुःशीलं बालं), हे तात  
हे वत्स—इत्यादिभिरुपलालनवचनैः स्वाधीनं करोति तद्वत् ।  
'या' 'सूरौ' (विदुषी) । निर्ऋतिः 'जायमानस्य' 'विश्वस्य' (सर्वस्य  
स्तेनतत्स्करादेः) 'शिरः-शिरः' 'प्रति' (हस्तेनैकैकं शिरः प्रतिगृह्य)

‘वेद’-(त्वदीय त्वदीयमपराधं जानामि)-इति ‘त्रिचष्टे’ (विशेषेण कथयति) । तादृशीं निर्वर्त्तिदेवों वन्दमानः इति पूर्वत्राश्रयः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमिष्टकोपधानं विधत्ते,—“स्वकृत इरिण उपदधाति प्रदरे वैतद्वै निर्वर्त्त्या आयतनम् स्व एवायतने निर्वर्त्तिं निरवदयते” (५।२।४ अ०) इति । स्वकृतं (स्वयमेव निष्पन्नं), न तु देशान्तरादानीय चयनस्थान इव प्रक्षिप्तं, तादृशे ‘इरिणे’ (ऊषरे) वा, ‘प्रदरे’ (भृच्छिद्रे) वा, कृष्णास्त्रिंश इष्टका उपदधात् । एतदुभयमेव निर्वर्त्त्या ‘आयतनम्’ (स्थानम्), अति-स्पष्टमिति, तस्मिन्निष्टकोपधानं यदि क्रियते, तदा ‘स्व एव’ स्थाने तां ‘निर्वर्त्तिं’ ‘निरवदयते’ (देवयजनान्निष्कृत्य इमामवस्थापयति) ।

शिक्ष्योपरिजालमूलभागं परित्यज्य पाशरूपमग्नभागमभिलक्ष्यावस्थितो यो देशस्तं देशमिष्टकोपधानस्य विधत्ते,—“शिक्ष्यमभ्युपदधाति नैर्वर्त्तो वै पाशः साक्षादेवैनं निर्वर्त्तिपाशात् मुञ्चति” (५।२।४ अ०) इति । ‘शिक्ष्यम्’ ‘अभि’-लक्ष्य (तत्पाश-भागमभिलक्ष्य) अवस्थितो यो देशस्तत्रोपदधादित्यर्थः । ‘साक्षात्’ (विलम्बमन्तरेण) । ‘एन’ (यजमानम्) ।

इष्टकानां सङ्ख्यां विधत्ते,—“तिस्र उपदधाति त्रेधा विहितो वै पुरुषो यावानेव पुरुषस्तस्मान्निर्वर्त्तिमवयजते” (५।२।४ अ०) इति । शरीरस्य ऊर्द्धाधोमध्यमभागैः ‘पुरुषः’ ‘त्रेधाविहितः’, तादृशात् पुरुषादादाय त्रिसङ्ख्या ‘निर्वर्त्तिम्’ ‘अवयजते’ (विनाशयति) । यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘पराचोरसः सृष्टा दक्षिणा-पवर्गम्’ इति ।



तदिदं विधत्ते,—“पराचीरुपदधाति पराचीमेवास्मान्निर्द्धतिं प्रणुदते” (५।२।४अ०) इति । दक्षिणमुखः पुरुष एकामुपधाय ततो दक्षिणतो द्वितीयां, ततोऽपि दक्षिणतस्तृतीयाम् ‘उपदधाति’ इति यत्, तदिदं पराक्तम् । एवं सर्ति ‘अस्मात्’ देवयजन्तद् यजमानाद्वा पराङ्मुखं\* कृत्वा ‘निर्द्धतिं’ निःसारयति ।

उपधानादूर्द्ध देवयजनं प्रति आगमनं विधत्ते,—“अप्रतीक्षमा-  
यन्ति निर्द्धत्या अन्तर्हित्यै” (५।२।४अ०) इति । ‘अप्रतीक्षं’ (प्रवृत्तो दृष्टिमहत्वेत्यर्थः) । तच्च ‘निर्द्धत्या’ अन्तर्द्धानाय (दर्शना-  
भावाय भवति) ।

कल्पः, ‘निवेशनः सङ्गमनो वसुनामित्याहवनीयं गार्हपत्यं चोपतिष्ठन्ते’ इति । पाठस्तु,—“निवेशनः सङ्गमनो वसुनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः । देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्यौ समरे पथीनाम्<sup>(११)</sup>” इति । अयमग्निः, ‘निवेशनः’ (यजमानानां स्वस्वगृहे निवेशयिता), ‘वसुनां’ ‘सङ्गमनः’ (प्रजापशुरूपाणां द्रव्याणां प्रापकः) सन् ‘शचीभिः’ (स्वकीयाभिः शक्तिभिः) ‘विश्वा रूपा’ (सर्वाणि रूपाणि) ‘अभिचष्टे’ (अभितः स्थापयति) । तच्च दृष्टान्तः,—‘सविता’ ‘देवः’ ‘इव’ (यथा सूर्यः सर्वाणि रूपाणि प्रकाशयति तद्वत्); तादृशोऽग्निः ‘सत्यधर्मा’ (‘सत्यो’ऽवश्यम्भावी-† फलोपेतो ‘धर्मे’ऽग्निश्चेत्तादिसत्त्वो यस्यासौ ‘सत्यधर्मा’), ‘इन्द्रः’ परमैश्वर्यवान्; अत एव ‘पथीनां’ ‘समरे’ ‘न तस्यौ’ (परि-

\* पराङ्मुखीमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अवश्यम्भावि-इति पाठो भवितुं युक्तः ।

पत्न्यिनां शत्रूणां समागमे पुरुषः स्वयमागत्य न तिष्ठति, किन्तु स्वकीयनामग्रहणमात्रेण ते पंखायन्त इत्यर्थः) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यमुपस्थानं विधत्ते,—“मार्जयित्वापतिष्ठन्ते मेध्यत्वाय” (५।२।४ अ०) इति । ‘शन्नो देवीः’ इति मन्त्रेण मार्जनं कृत्वा पश्चात् ‘निवेशनः’ इति मन्त्रेण ‘उपतिष्ठन्ते’ । अनेनोपस्थानेन यजमानो मेध्यो भवति ।

उपस्थेयं विधत्ते,—“गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते निर्वर्तितिलोक एव चरित्वा पूता देवलोकमुपावर्तन्ते” (५।२।४ अ०) इति । दक्षिण-पश्चिमावान्तरूपे ‘निर्वर्तिति’-स्थाने चयनार्थं ‘चरित्वा’ ततो मार्जनेन ‘पूताः’ सन्तो ‘गार्हपत्य’-समीपरूपं ‘देवलोकम्’ आगच्छन्ति ।

मन्त्रगतामेकत्वसङ्ख्यां प्रशंसति,—“एकयोपतिष्ठन्त एकधैव यजमाने वोर्ये दधति” (५।२।४ अ०) इति । ‘एकधा’ (युगप-दित्यर्थः) ।

मन्त्रगतस्य वसुशब्दस्यार्थं दर्शयति,—“निवेशनः सङ्गमनो वसूनामित्याह प्रजा वै पशवो वंसु प्रजायैवैनं पशूभिः समर्द्धयन्ति” (५।२।४ अ०) इति ।

अथाग्निचयनभूमेः परिमाणं विधत्ते,—“पुरुषमात्रेण विमिमीते यज्ञेन वै पुरुषः सन्नितो यज्ञपुरुषैवैनं विमिमीते” (५।२।५ अ०) इति । पुरुषः प्रमाणं यस्य दण्डस्य सोऽयं ‘पुरुषमात्रः’, तेन दण्डेन भूमेः प्रमाणं कुर्यात् । यज्ञाभिमानी\*दैवेन समान-

प्रमाणो लौकिकः 'पुरुषः', 'पुरुषमात्रेण' विमिमोते सति यज्ञस्य 'पुरुषा' (पर्वणा) प्रमाणेन 'एव' 'एनम्' (अग्निं) विमोतवान् भवति ।

पुरुषो हि द्विविधः, अवाग्बाहुर्ज्ज्वाज्ज्वाजेति, अतो विशेषं विधत्ते,—“यावान् पुरुष ऊर्द्ध्वाज्ज्वास्तवान् भवत्येतावद्वै पुरुषे वीर्यं वीर्येणैव विमिमोते” (५।२।५ अ०) इति । पुरुषोऽप्यूर्द्धं प्रसारितस्य बाहोरुपरिस्थितं वस्तु स्पृष्टुं न शक्नोति, अतः पुरुष-वीर्यस्य तावन्मात्रत्वाद् वीर्येणैव मानसिद्ध्यर्थम् ऊर्द्धपुरुषप्रमाणं कुर्यात् ।

वामदक्षिणपार्श्वयोः पक्षस्थानं विधत्ते,—“पक्षी भवति न ह्यपक्षः पतितुमर्हति” (५।२।५ अ०) इति । पक्षभङ्गे मति, अपक्षेण उत्पतितुमशक्यत्वात् पक्ष्याकारस्याग्रेत्यततः पक्षयुक्तत्वं कुर्यात् । यदुक्तं सूत्रकारेण, 'चतुर आत्मनि पुरुषान् विमिमोते, पुरुषं दक्षिणे पक्षे पुरुषं पुच्छे पुरुषमुत्तरेऽरत्निना दक्षिणतो दक्षिणं पक्षं प्रवर्द्धयत्येवम् उत्तरत उत्तरम्' इति ।

तयोः परिमाणाधिकं विधत्ते,—“अरत्निना पक्षौ० द्रोघो-याऽसौ भवतस्तस्मात् पक्षप्रवयाऽसि वयाऽसि” (५।२।५ अ०) इति । चतुर्विंशत्यङ्गुलयोऽरत्निः, तेन 'अरत्निना' 'पक्षौ' पुरुषात् दीर्घतरौ कुर्यात् । यस्मादेवं, 'तस्मात्' लोके पक्षिणोऽपि पक्षयो-रभिष्टुद्वियुक्ता दृश्यन्ते ।

पक्षयोराधिकांशं विधाय स्वरूपपरिमाणं विधत्ते,—“व्याम-माक्षौ पक्षौ च पुच्छश्च भवत्येतावद्वै पुरुषे वीर्यं वीर्यसम्पत्तिः”

(५।२।५अ०) इति । बाह्योः प्रसारणं 'व्यामः', तत्पक्षयोः पुष्कलं च परिमाणं, पुष्कलव्यवहारं सामर्थ्यस्य च तावत्वाद्दधनमग्निर्वायं सन्निभो भवति ।

• मानसाधनं विधत्ते,—“वेणुना विमिमोत आग्नेचो वै वेणुः संघोनिताय” (५।२।५अ०) इति । अग्निना प्रविष्टत्वात् 'वेणुः' 'आग्नेयः'; तथा चाज्ञातम्,—“अग्निर्देवेभ्योऽग्नित्वाद्यत स वेणुं प्राविशत्” इति । अतोऽग्नेः स्वकीयस्थानमहितत्वाच्च वेणुना विमानं कुर्यात् ।

कल्पः, 'स वरचा दधातनेति संप्रेष्यति' इति । पाठस्तु,—“सं वरचा दधातन निराहावान् छणोतन । सिञ्चामहा अवटमुद्रिणं यथं विश्वाहाऽदक्षमक्षितम्<sup>(१९)</sup>” इति । हे कर्षकाः पुद्गलाः, 'वरचा' (चर्ममयी रज्जुः(?)) 'सं'-'दधातन' (सम्यक् स्थापयत) । तच्च 'आहावान्' (बलपूर्वदानामुदकपानार्थं द्रोणीविशेषान्) 'निः'-'छणोतन' (निष्पादयत) । 'अवटम्' (उदकोद्भरणाय सम्यादितं कूपं) 'उद्रिणं' (बहलोदकयुक्तं यथा भवति तथा) 'सिञ्चामहे' (भूतलगतपद्मोद्भरणेन सेकयुक्तं प्रसवणोपेतं अवटं कुर्मः) । कोदृशमवटं ?—'विश्वाहा' (सर्वेष्वप्यहःसु) 'अदक्षं' (कूलपात-राहित्येनाहिंसितम्), 'अक्षितं' (घर्मकालेऽपि शोषाभावलक्षणम्) ।

कल्पः, 'निष्कृत्याहावमवटमित्यवटमुदकमाहावेपूतिश्चति' इति । पाठस्तु,—“निष्कृताहावमवटं५ सुवरचं५ सुवेचनम् । उद्रिणं५ सिञ्चे अक्षितम्<sup>(१७)</sup>” इति । काष्ठपाषाणनिर्मितानां द्रोणीनामन्तःस्थितावकाशरूपो योऽयमवटः, तम् 'अवटम्' अहं ।

‘विष्णे’ (तपोऽहं चारयामि) । कोदृशमवटं ?—‘निष्कृताचारं’ (धार्म्येषु सन्निद्रत्वेन निष्कृता निष्पादिता आचारा इत्येको यस्तु अवटस्तु सोऽयं निष्कृताचारः, तं); ‘सुवरचं’ (कृपादुदकमुद्धर्तुं प्रोभना दृष्ट्वा वरचाश्चर्ममयरज्जवो यस्यासौ सुवरचस्तं); ‘सुषेचनं’ (सुष्ठु सेक्तुयोग्यानि उदकोद्धरणसाधनानि पाषाणि यस्यासौ सुषेचनस्तं); ‘उद्भिषं’ (उदकवन्तम्); ‘अक्षितम्’ (उदकस्य अगलितत्वेन अपचयरहितम्) ।

कथं, ‘धीरा युञ्जन्तीति द्वाभ्यां धीरं युनक्ति’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“धीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुखया<sup>(१५)</sup>” इति । ‘कवयः’ (हविकर्माभिज्ञाः) ‘धीरा’ (धीरं साङ्गसं) ‘युञ्जन्ति’ (युञ्जीकुर्वन्तु) । तथा युगानि त्रिषु षट्सु वा कक्ष्याविशेषेषु अपेक्षितानि ‘पृथक्’ ‘वितन्वते’ (एकैकं विस्तारयन्तु) । कोदृशाः कवयः ?—‘धीराः’ (धैर्ययुक्ताः) अत्रत्यया इत्यर्थः; ‘देवेषु’ (देवताविशेषविषयेषु) ‘सुखया’ (सुखं सुखमिच्छन्तीति सुखया (?)) ।

अथ द्वितीयामाह,—“युनक्त धीरा विद्युगा तनोत छने योनौ वपते च बीजं । गिरा च मुष्टिः सभरा असं नो नेदोय इत्सृष्ट्या पक्षमायत्<sup>(१६)</sup>” इति । हे कर्षकाः, ‘धीरा’ ‘युनक्त’ (साङ्गसं योजयत); ‘युगा’ ‘वि’-‘तनोत’ (युगानि विस्तारयत); ‘छने’\* (कर्षणेन योग्ये) ‘इह’ ‘योनौ’ (अस्मिन् स्थाने) ‘बीजं’ ‘वपत’ । किञ्च तद्बीजं ‘गिरा’ (आग्नीर्वाटरूपेण मङ्गलवाक्येन) युनक्ति

शेषः । ‘श्रुष्टिः’ (तच्च निष्पन्नः कृत्स्नः) ‘नः’ (वञ्जदर्थे) ‘वञ्जदा’ (असत्फलसंसारयुक्तः) अस्तु । ‘पर्क’ फलं ‘गो’ ‘नेदीय इत्’ (अभिक-  
तममेव, (अल्पकालानिष्पन्नमेव असत्\*) ‘सृष्ट्या’ (सर्ववसाधनेन  
होत्रेण) कृत्स्नं सत् ‘नः’ ‘आयत्’ (अस्मात्समीपमागच्छतु) ।

कल्पः, ‘साङ्गसं पवीरवमितिदाभ्यां कृषति’ इति । तच्च  
प्रथमामाह,—“साङ्गसं पवीरवः सुशेवः सुमतिस्तद । उदितकृषति  
गामविं प्रफर्ष्यन्तां पीवरीं । प्रस्त्रावद्रथवाहनम्<sup>(१०)</sup>” इति । इदं  
‘साङ्गसं’ ‘उदितकृषति’, (उद्धृतानि प्रौढलोष्टानि यथा भवन्ति,  
तथैव कृषतु) । कीदृशं साङ्गसं ?—‘पवीरव’ (वञ्जवदतितीक्ष्णः),  
‘सुशेव’, (कर्षकैः सुष्ठु सेवितुं(?) प्रकथं), अतितीक्ष्णत्वेन सहसा भूमि-  
भेदात्, कर्षकाणां नास्ति प्रयास इत्यर्थः । ‘सुमतिस्तद’ (कर्षकैः शोभन-  
मिदमिति मन्यमानः ‘सु’ ‘मतिस्तदः’ भूमौ निजोन्नतत्वेन विच्छिन्न-  
गमनविशेषः यस्तु, तत् सुमतिस्तद) । अनेन कर्षकेन फलाधिक्ये  
सति गवादिकं यजमानः प्राप्नोतीति शेषः । तच्च गौः अविरित्युभयं  
प्रसिद्धं, ‘प्रफर्ष्या’ (प्रथमवयस्का कन्या), ‘पीवरी’ (पुष्टा गौः), ‘प्रस्त्रा-  
वत्’ (प्रथाणसमर्थम्) ‘रथवाहन’ (रथं वेढुं योग्यमश्वदिकं) । यदा  
हि कृषिः समृद्धा भवति, तदानीमेतत् सर्वं यजमानस्य सुखभम् ।

अथ द्वितीयामाह,—“शृणं नः फाला वितुदन्तु भूमिः  
शृणं कीनाशा अभियन्तु वाहान् । शृणं पर्जन्यो मधुना पयोभिः

\* ‘अल्पकालानिष्पन्नमेव असत्’ इत्यवमंशः (‘असत्फलसंसारयुक्तः’) अस्तु इत्यनन्तरं भवितुं युक्तः ।

+ कर्षकैः इति टीकायुक्त्या ग्राठः कल्पयितुं युक्तः ।

शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्<sup>(१८)</sup>” इति । ‘नः’ (अस्माकं) ‘शुनं’ (सुखं) यथा भवति, तथा ‘फालाः’ (लाङ्गलमुखानि) ‘भूमिं’ ‘वितुदन्तु’ (विशेषेण कृषन्तु) । ‘कीनाशाः’ (कर्षकाः) ‘वाहान्’ (बलीवर्दान्) ‘शुनं’ यथा भवति, तथा ‘अभियन्तु’ (अभितः प्रेरयन्तु, अभितः प्रेरयन्तो गच्छन्तु) । ‘पर्जन्यः’ (मेघः) ‘शुनं’ यथा भवति, तथा ‘मधुना’ (मधुररसेन) युक्तैः ‘पयोभिः’ (उदकैः) वृष्टिमत्सृजलिति शेषः । ‘शुनासीरा’ (वाय्वादित्यौ), युवां ‘शुनं’ (सुखं) ‘अस्मासु’ ‘धत्तम्’ ।

‘सीरा युञ्जन्ति’ इतिमन्त्रद्वयेन साध्यं लाङ्गलयोगं, ‘लाङ्गलं ववीरवम्’ इतिमन्त्रद्वयेन साध्यं कर्षणञ्च क्रमेण विधत्ते,—“यजुषा युनक्ति यजुषा कृषति व्यावृत्त्यै” (५।२।५ अ०) इति । ‘यजुषा’ मन्त्रेण । लौकिकन्तु कर्षणममन्त्रकमिति व्यावृत्तिः ।

बलीवर्दसङ्ख्यां विधत्ते,—“षड्गवेन कृषति षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैव कृषति” (५।२।५ अ०) इति । कक्ष्यात्रयरूपेणावस्थितेषु त्रिषु युगेषु यध्यमानाः षट्सङ्ख्याका गावो बलीवर्दा यस्य लाङ्गलस्य तत् ‘षड्गवम्’ ।

पञ्चानारं विधत्ते,—“यत् द्वादशगवेन संवत्सरेणैव” (५।२।५ अ०) इति । कक्ष्याषड्गतेषु वध्यमाना द्वादशसङ्ख्याका गावो यस्य लाङ्गलस्य तत् ‘द्वादशगवम्’, तेन यदि कृषेत्, तदानीं द्वादशमासात्मकेन “संवत्सरेणैव” कर्षणं कृतं भवति ।

अथमस्मानस्य साकल्येन कर्षणप्राप्तौ तद्वारयितुं विधत्ते,—“इयं वा अग्नेरतिदाहाद्विभेसैतद्विगुणमपश्यत् कष्टश्चाकृष्टश्च

ततो वा इमां नात्यदह्यत्कृष्टाकृष्टञ्च भवत्यस्या अतिदाहाय”  
 (५।२।५ अ०) इति । साकल्येन कृष्टे स्थाने चीयमानोऽग्निर्भूमि-  
 मत्यन्तं दहति, तस्मात् ‘अतिदाहात्’ विभेति; ‘सा’ (भूमिः) ।  
 तमतिदाहं परिहर्तुमुपायं विचार्य कस्मिंश्चित्प्रदेशे ‘कृष्टं’  
 कस्मिंश्चित् ‘अकृष्टं’ इत्येवमेतत् ‘द्विगुणम्’ (उभयविधस्थानम्) उपाय-  
 त्वेन ‘अपश्यत्’ । लोकेऽपि प्रहारेण हिंसेऽवयवे अग्निसामीप्येन  
 यावान् सन्नापः, न तावानितरस्मिन्नवयवे दृश्यते । तस्मात्  
 कृष्टाकृष्टभेदेन द्विगुणे सति अग्निश्चितो भूमिं नात्यन्तं दहति ।  
 तस्माद्भूमेः ‘अतिदाहाय’ किञ्चित् ‘कृष्टं’, किञ्चित् ‘अकृष्टम्’  
 इत्येवं ‘द्विगुणं’ कुर्यात् ।

तदेतद्द्विगुणं प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“द्विगुणं त्वा अग्नि-  
 मुद्यन्तुमर्हतीत्याहुर्वत्कृष्टाकृष्टञ्च भवत्यग्रेदह्यत्यै” (५।२।५ अ०)  
 इति । गार्हपत्यादुत्तरवेदिं प्रत्यग्निप्रणयनकाले सिकताभिरेकं  
 पात्रमापूर्य, तस्योपर पात्रान्तरे ‘अग्निं’ प्रक्षिप्य द्विगुणेन पात्रेणाग्ने-  
 रदधमनं कृष्टं, तद्वदत्रापि कृष्टाकृष्टभेदेन ‘द्विगुणं’ स्थानम् अग्रेदधम-  
 नयोऽग्नित्यभिज्ञा आहुः । तस्मादुद्यमनाय ‘द्विगुणं’ कर्त्तव्यम् ।

अथ कर्षणसमाप्तेरुद्धं यदा बलीवर्दानुत्सृजति तदानोमुत्सृजनाय  
 दिग्बिम्बेण विधत्ते,—“एतावन्तो वै पशवो द्विपादस्य  
 ऋष्यादस्य तान् यत् प्राच उत्सृजेद्भुङ्गीथापि दध्याद्यद्विष्णा  
 पितृभ्यो निधुवेद् यत् प्रतीचो रचाऽसि हन्युददोचं उत्सृजत्येषा  
 वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक् तामेवैनाननुत्सृजत्यथो खलिमां  
 दिग्मनुत्सृजत्यसौ वा आदित्यः प्राणः प्राणमेवैनाननुत्सृजति” ।



(५।२।५ अ०) इति । बलीवर्दप्रेरकाः कर्षका 'दिपादः', बलीवर्दाः 'चतुष्पादः', 'तान्' उदङ्मुखत्वेन निःसारयेत् । इद्रः खदिक्षामोष्यात् प्राच्यां दिशि आगत्य निर्गच्छतो बलीवर्दान् ग्रहीष्यामीत्यवतिष्ठते, अतस्तत्र निर्गमने 'इद्राय' दत्ता भवन्ति । दक्षिणस्थां दिशि पितरः स्वत एव तिष्ठन्ते, तत्र निर्गमने तेभ्यो 'निधुवेत्' (नितरामर्पयति) । प्रतीच्यां वरुणप्रेरितानि 'रक्षांसि' अवतिष्ठन्ते, तानि च पशून् 'हन्युः' । उदीची तु बाधकरहितत्वात् 'देवानां' 'मनुष्याणां' च 'ग्रान्ता' । अतः 'तामेव' 'अनु' 'एनान्' (बलीवर्दान्) 'उत्सृजेत्' । 'अथो खलु' (अपि च) येद्यमुदीची, ताम् 'इमां' 'दिशं' प्रति यदा 'उत्सृजति', तदानो प्राणरूपम् आदित्यमनूत्सर्जनं कृतं भवति । आदित्यस्य प्राणरूपत्वं प्राण-स्वामित्वादवगन्तव्यम् । अत एवारण्यकाण्डे समाज्जायते,—"योऽसौ तपन्नुदेति, स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति" इति । आयर्वणिकास्वामनन्ति, 'आदित्यो ह वै वाह्यः प्राण उदयत्येव ह्येनं चालुषं प्राणमनुगृह्णानः' इति । तस्य चादित्यस्योत्तरदिग्दर्शित्वं पुरुषविशेषापेक्षया द्रष्टव्यं । मेरोः परितस्तत्तत्क्षेत्रेषु तत्तत्प्राणिनो वर्तन्ते ; तथा सति मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वन् 'आदित्यः' अस्मदपेक्षया या उदीची, तस्यामप्यागच्छति । तदानो कस्मिंश्चिन्मेरु-पार्श्वेऽवस्थितैरादित्यो विलोक्यते ; सोऽयं तेषां प्रत्युदयः । एतत्सर्व-मभिप्रेत्य तस्योत्तरदिगुदयमङ्गीकृत्य सा दिक् प्रशस्यते ।

\* कर्षणादूर्द्ध्वमुत्सर्जनप्रकार उक्तः । अथ कर्षणकाले कस्मिदिशेव उच्यते । कल्पः, 'पुच्छाच्छिरोऽधिष्ठयति कामं कामदुषे धुष्येति

प्रदक्षिणमावर्त्तयंस्तिस्तिस्तिः सीताः सः हिताः हवति मध्ये  
संभिक्षा भवन्ति दक्षिणात्यं चादुत्तरस्माद्दक्षिणायै ओषोत्तरम्  
असमुत्तरायै दक्षिणम् इति । पाठस्तु,—“कामं कामदुघे धुक्ष  
मिचाय वदणाय च । देन्द्रीयाग्रये पूषे ओषधीभ्यः प्रजाभ्यः (१९)”  
इति । काम्यन्त इति कामाः भोगाः, तान् देगिध सम्पादयतीति  
कामदुघी लाङ्गलपद्धतिः । हे ‘कामदुघे’ (मिचादीनां  
, ‘कामम्’ (अपेक्षितं भोगं) ‘धुक्ष’ (सम्पादय) ।

कर्षणकाले प्रादक्षिणेनावृत्तिं विधत्ते,—“दक्षिणा पर्यावर्त्तन्ते  
स्त्वमेव वीर्यमनु पर्यावर्त्तन्ते तस्माद्दक्षिणेऽर्द्धे आत्मनो वीर्यावत्तरो  
ऽथो आदित्यस्यैवावृत्तमनु पर्यावर्त्तन्ते तस्मात् पराश्वः पशवो  
वितिष्ठन्ते प्रत्यश्च आवर्त्तन्त” (५।२।५ अ०) इति । ‘दक्षिणा’  
(प्रादक्षिणेन) दक्षिणभागमवस्थाप्य वामभागस्य परिभ्रमणं प्रा-  
दक्षिण्यं; पुरुषस्य दक्षिणभागे सामर्थ्यसङ्गावात् तदेवानुसृत्य पर्या-  
वृत्तिः कृता भवति । यस्माद्दक्षिणभागे वीर्यं श्रुत्यभिप्रेतं, ‘तस्मात्’  
लोके सर्वव्यापारे दक्षिणहस्तस्यैव वीर्यातिशय उपलभ्यते ।  
किञ्चन्द्रियो मेढं प्रदक्षिणीकुर्वते तदप्यनुसृतं भवति ।  
यस्मादचावृत्तिः कृता, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि प्रातःकाले ‘पशवः’  
‘पराश्वः’ अरण्ये गत्वा विविधं सञ्चरन्ति, पुनः सायंकाले गृहं  
प्रत्यभिमुखा ‘आवर्त्तन्ते’ ।

कर्षणे प्रकारविशेषं विधत्ते,—“तिस्तिस्तिस्तिः सीताः हवति  
चिद्वृत्तमेव यश्च मुखे विपातयति” (५।२।५ अ०) इति । लाङ्गल-  
पद्धतिः ‘सीता’, पुच्छादारभ्य त्रिरःपर्यन्तं ‘तिस्तिः सीताः

कृषति' । तथा दक्षिणात्पश्चादारभ्य उत्तरपक्षपर्यन्तं तिस्रः सीताः कृषेत् । तथा दक्षिणस्याः ओणेरारभ्य उत्तरांशपर्यन्तं तिस्रः सीताः कृषेत् । तथोत्तरस्याः ओणेरारभ्य दक्षिणांशपर्यन्तं तिस्रः सीताः कृषेत् । एवं द्वादश 'सीताः' सन्त्यहन्ते । एवमावृत्या त्रिसङ्ख्याया चितृत्सोममेव यज्ञप्रारम्भे विस्तारयति ।

कल्पः, 'घृतेन सीतेति सीतान्तरालान्यभिमृशति' इति । पाठस्तु,—“घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वेदेवैरनुमता मरुद्भिः । जर्जस्वतो पयसा पिबमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व<sup>(१०)</sup>” इति । इयं 'सीता' 'मधुना' (मधुरेण) 'घृतेन' 'समक्ता' (सम्बन्धार्द्रोक्ता); अत एव 'विश्वेदेवैः' 'मरुद्भिः' समीचीनेयमित्यङ्गीकृता । सा पुनः 'जर्जस्वतो' 'पयसा पिबमाना' (जलेनाप्यायिता) वर्त्तते । हे 'सीते', जलेनाप्यायिता त्वं 'अस्मान्' प्रति 'अभ्याववृत्स्व' (अभित आवृत्ता भव) ।

अत्र विनियोगसंयहः,—

सं, गार्हपत्य उख्याग्निं चतुर्भिर्निवपेदमुम् ।

माता, शिक्यादुखां मुञ्चेत्, यद, शिक्यपरिग्रहः ॥

नमो, नैर्ऋतदेशे तच्छिक्यं त्यज्यं, यदित्यतः ।

शिक्यजालेन याः कृष्णा दृष्टकांश्चादयेदमूः ॥

यस्यास्तिभिस्तिष्ठ एताः कृष्णा उपदधाति हि ।

निधे,ऽग्निमुपतिष्ठेत्, सं व, सम्प्रेष्यतीतरान् ॥

निष्कृताहा, ऽवटे सिञ्चेत्सीरा, -द्वाभ्यां ह्यक्षार्पणम् ।

खाद्ग, -द्वाभ्यां कृषेत्, काममावर्त्तेत् प्रदक्षिणम् ॥

घृते,ऽन्तराले संस्पर्श इति मन्त्रास्तु विंशतिः ॥

अत्र मीमांसा,—द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे चिन्तितम् । (अ०२)

“ऐन्द्रा निवेशनेत्यग्निं गार्हपत्यं भजेदिति ।

प्रकाश्यां मुख्य इन्द्रो वा गौणो? मुख्यस्तु पूर्ववत् ॥

एकस्य गौणतौघ्रिधि मन्त्रस्त्वैवानुवादतः ।

गौणतातोऽन्यपस्थाने मन्त्रः श्रुत्या नियुज्यते ॥

अग्निचयने ‘निवेशनः सङ्गमनः’ इत्यादिका काचिदैन्द्रो षड्क  
समाह्वता; तस्या उत्तरार्द्धे ‘इन्द्रो न तस्यौ’ इति विद्यमानत्वात्  
तन्मन्त्र इन्द्रविषयः । ब्राह्मणस्यैवमाह्वयते,—‘निवेशनः सङ्गमनो  
वसूनामित्यैन्द्रां गार्हपत्यमुपतिष्ठते’ इति ; एतेन ब्राह्मणेन  
गार्हपत्ये विनियुज्यमानोऽर्थे प्रकाशयन् मुख्यमिन्द्रं प्रकाशयति ।  
मुख्येन्द्रः स्वर्गाधिपतिः सहस्राक्षः, तत्रैवेन्द्रशब्दस्य रूढत्वात् ।  
गौणस्त्रिन्द्रो गार्हपत्यः, तस्यैश्वर्यगुणयोगेन यज्ञसाधनत्वेन  
मुख्येन्द्रसदृशत्वात् । तत्र पूर्वन्यायेन शीघ्रप्रतिपत्त्या मुख्येन्द्रे मन्त्रेण  
प्रकाशिते सति मन्त्रब्राह्मणयोर्विसुवादं वारयितुं गार्हपत्यशब्देन  
मुख्येन्द्रो गार्हपत्यदेशो वा लक्षणीयः । इति प्राप्ते ब्रूमः,—इन्द्र-  
गार्हपत्ययोरन्यतरस्य गौणत्वेऽवश्यम्भाविनि सति ब्राह्मणवाक्यस्य  
विधायकत्वादप्राप्तार्थत्वेन, विधौ लक्षणाया अन्याय्यत्वात् प्राप्तार्थ-  
त्वेनानुवादको मन्त्र एव खद्यटकेन्द्रशब्देन वक्तिं लक्षयति । ततो  
गार्हपत्यप्रकाशने समर्थं मन्त्रम् ‘ऐन्द्रा’ इति द्वितीयाश्रुतिर्वङ्गु-  
पस्थाने विनियुक्ते’ इति ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋणायजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मन्दा-  
मि बधूणामहः शतं धामानि सप्त च<sup>(१)</sup> । शतं वो  
अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः । अथा शतक्रत्वो यूय-  
मिमं मे अगदं कृत<sup>(२)</sup> । पुष्पावेतीः प्रसूवन्तीः फलि-  
नीरफला उत । अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयि-  
ष्णावः<sup>(३)</sup> । ओषधीरिति मातरस्तदो देवीरुपब्रुवे ।  
रपांसि विघ्नतीरित रपः ॥ १ ॥

चातयमानाः<sup>(४)</sup> । अश्वत्ये वो निषदनं पर्णे वो वस-  
तिः कृता । गोभाज इत् किलासय यत् सनवश्च  
पूरुषं<sup>(५)</sup> । यदहं वाजयन्निमा ओषधीर्हस्त आदधे ।  
आत्मा यस्मैस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा<sup>(६)</sup> ।  
यदोषधयः सङ्गच्छन्ते राजानः समिताविव । विप्रः स  
उच्यते भिषग्रक्षो हामोवचातनः<sup>(७)</sup> । निष्कृतिनाम वो  
माताया यूयः स्थ संकृतीः । सुराः पतत्रिणीः ॥ २ ॥

स्थन यदामयति निष्कृत<sup>(८)</sup> । अन्या वो अन्या-  
मवत्वन्यान्यस्या उपावत । ताः सर्वा ओषधयः  
संविदाना इदं मे प्रावता वचः<sup>(९)</sup> । उच्छुष्मा ओष-  
धीनां गावो गोष्ठादिवेरते । धनः सनिष्पन्तीनामा-  
त्मानं तव पूरुष<sup>(१०)</sup> । अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव

वृजमक्रमः । ओषधयः प्राच्यव्यर्थत्किञ्च तनुवाः  
रपः<sup>(११)</sup> याः ॥ ३ ॥

त आतस्थुरात्मानं या आविषिशुः परुः-परुः ।  
तांस्ते यश्मं विवाधन्तामुग्रो मध्यमशीरिव<sup>(१२)</sup> । साकं  
यश्मं प्रपत श्येनेन किकिदीविना । साकं वातस्य  
भ्राज्या साकं नश्य निहाकया<sup>(१३)</sup> अश्वावतीः सोम-  
वतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् । आवित्सि सर्वा ओषधी-  
रस्मा अरिष्टतातये<sup>(१४)</sup> । याः फलिनीर्या अफला  
अपुष्या याश्च पुष्पिणीः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो  
मुञ्चन्त्वहसः<sup>(१५)</sup> याः ॥ ४ ॥

ओषधयः सोमराज्ञीः प्रविष्टाः पृथिवीमनु । तासां  
त्वमस्युत्तमा प्राणो जीवातवे सुव<sup>(१६)</sup> । अवपतन्तीरवदं  
दिव ओषधयः परि । यं जीवमश्रवामहै नसरिष्याति  
पूरुषः<sup>(१७)</sup> । याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।  
इहं सङ्गत्य ताः सवो अस्मै सन्दत्त भेषजं<sup>(१८)</sup> । मा  
वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः । द्विपच्चतु-  
ष्पदस्माकः सर्वमस्त्वनातुरं<sup>(१९)</sup> । ओषधयः संवदन्ते  
सोमेन सह राज्ञा । यस्मै करोति ब्राह्मणस्तः राजन्  
पारयामसि<sup>(२०)</sup> ॥ ५ ॥

रपः । पतञ्जिणीः । याः । अहसोयाः । खनामि वध  
अष्टादश च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां त्रुर्थकाण्डे द्वितीय-  
प्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पञ्चमेऽनुवाके अग्निचेत्रकर्षणमुक्तम् । अथ षष्ठे ओषधिविधौ  
विधीयते । कल्पः, 'या जाता ओषधय इति चतुर्दशभिरोषधी-  
निर्वपति' इति । तच्च प्रथमामाह,—“या जाता ओषधयो  
देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मन्दामि बभ्रूणामहः शतं धामानि सप्त  
च<sup>(१)</sup>” इति । युगशब्दः कालवाची । 'त्रियुगम्' (वर्षाः, शरत्, वसन्तः—  
इति कालत्रयम्) उद्दिश्य 'पुरा' (सृष्ट्यादौ) 'देवेभ्यः' सकाशात् 'याः'  
'ओषधयः' उत्पन्नाः । 'बभ्रूणां' (प्राणिभरणसमर्थानां, परि-  
पाकेन पिङ्गलवर्णानां वा) तासाम् ओषधीनां 'शतं धामानि'  
(शतसङ्ख्याकान् जातिभेदान्) । 'सप्त च' (विशेषाकारेण ग्राम्यान्  
आरण्यांश्च सप्तधाऽन्यभेदान्\*) अवेक्ष्य 'मन्दामि' (हृष्यामि) ।

अथ द्वितीयामाह,—“शतं वो अन्नं धामानि सहस्रं मुत वो  
हहः । अथा शतक्रतो यूयमिमं मे अगदं हत<sup>(२)</sup>” इति । हे  
'अन्न' (मादृश्यानीया ओषधयः), 'वः' (युष्माकं) 'धामानि'  
(जातिभेदाः क्षेत्राणि वा) 'शतं' सन्ति, 'उत' (अपि च) 'वः' (युष्माकं)  
'हहः' (प्ररोहा अङ्कुराश्च) 'सहस्रं' सन्ति; 'शतं'—'सहस्रम्'—

\* सप्त धान्यभेदान् इत्यपि कश्चित् ।

इत्याभ्याम् अपरिमितत्वमुपलक्ष्यते । ‘अथ’ (एवंबहुविधोपेतत्वे सति) (शतसङ्ख्याकास्ताः क्रतवो याभिर्युग्माभिर्निष्पाद्यन्ते तादृशः) ‘शतक्रत्वो’ ‘यूयं’ ‘मे’ (मदोयम्) ‘इमं’ \* (यजमानम्) ‘अगदं कृतं’ (क्षुत्पिपासादिरोगरौघतं कुरुत) ।

अथ हतोयामाह,—“पुष्पावतोः प्रसूवतोः फलिनीरफला उत । अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः<sup>(१)</sup>” इति । अत्र ओषधयो नानाविधैर्विशेषणैः प्रशस्यन्ते । ‘पुष्पावतोः’ काश्चित् ओषधयः (पुष्पमात्रपर्यवसायिन्यो न तु फलन्ति), ‘प्रसूवतोः’ अन्या ओषधयः (पुष्पपूर्वकफलोत्पत्तिस्त्रायिन्यः), ‘फलिनीः’ पराः काश्चिदोषधयः (पुष्पं विना केवलम् फलन युक्ताः); ‘उत’ अपि च ‘अफलाः’ अन्याः काश्चिदोषधयः (फलेन तद्धेतुपुष्पेण च विरहिताः), तदेतत् सर्वं लोकसिद्धानुसारेणादाहरणाय, ‘वीरुधः’ काश्चिदोषधयो (लतारूपाः), ‘पारयिष्णवः’ (फलपाकात्मकं परित्यज्य पारं बज्रमवत्सरावसानं, प्राप्तं शीलं यस्मात्, तास्तथा-विधाः), तद्यथा नागवत्सोप्रभृतयः, ‘अश्वा इव सजित्वरीः’ (यथा अश्वा इव बहवः सह शीघ्रं गत्वा जयशीला भवन्ति, एवमोषधयोऽपि बहवः सहोत्पन्नाः फलपर्यन्तलक्षणजयशीला भवन्ति) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“ओषधीरिति मातरस्तदो देवीरुपब्रुवे । रपांसि विघ्नतोरित रपश्चातयमानाः<sup>(२)</sup>” इति । हि ‘मातरः’ (मातृसमानाः), ‘देवीः’ (देव्यः), इतिशब्देऽच हेत्वर्थे, यस्मात् ‘ओषधीः’ यूयम् (ओषधयः), ‘तत्’ (तस्मात्) ‘वः’ (युष्मान्) ‘उपब्रुवे’



(प्रार्थये) । ‘ओषो’ दाहः,—फलप्राको धीयते स्थाय्यते यासु, ता ओषधयः, अतो युष्मान् प्रति प्रार्थनमुचितमित्यर्थः । कथं प्रार्थनमिति ?—तदुच्यते—‘रपांसि’ ‘विघ्नतीः’ (पापानि विनाशयन्त्यः), ‘रपश्चातयमानाः’ (पापफलं दुःखमपि विनाशयन्त्यः), ‘इत’ (प्राप्नोत) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“अश्वत्ये वो निषदनं पर्णे वो वसतिः कृता । गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्<sup>(५)</sup>” इति । हे ओषधिदेवताः, ‘वः’ (युष्माकम्) ‘अश्वत्ये’ ‘निषदनं’, ‘पर्णे’ (पलाशे वृक्षे) ‘वः’ (युष्माकं) ‘वसतिः कृता’ (निवासकारणं गृहं कृतम्) । देवताधिष्ठितत्वादेव लोकेऽश्वत्यवृक्षः प्रदक्षिणमस्कारादिभिः\* पूज्यते । पलाशवृक्षस्येधादिरूपेण कर्मसाधनसम्पन्नः । ईदृशेऽपि यूयं ‘गोभाज इत्’ (भवदीयस्यावरूपेण भूमिभाज इव) भूत्वा ‘असथ’ ‘किल’ (स्थिता इत्येतल्लोके प्रसिद्धम्) । तत्किमर्थमिति ?—तदुच्यते—‘यत्’ (यस्मात् कारणात्) ‘पूरुषं’ (मनुष्यं) ‘सनवथ’ (अन्नदानेन पोषयथ); तस्मादेवं स्यावरूपावस्थानमित्यर्थः ।

अथ षष्ठीमाह,—“यदहं वाजयन्निमा ओषधीर्हस्ते आदधे । आत्मा यक्षस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा<sup>(६)</sup>” इति । ‘यत्’ (यथा) ‘अहं’ ‘वाजयन्’ (अन्नमिच्छन्) ‘इमाः’ ‘ओषधीर्हस्ते’ आदधामि । तदानीमेव ‘यक्षस्य’ (बुधादिरोगस्य) ‘आत्मा’

\* प्रदक्षिणमस्कारादिभिः इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

† यदेति भवितुं युक्तः ।

(स्वरूपं) 'पुरा' 'नश्यति' (भोजनमात्रागेव नष्टसदृशो भवति) । तत्र दृष्टान्तः, 'यथा' लोके 'जीवगृभः' (धोवरैर्जीवस्य शशादेर्यहणात् पुरा भीतः शंशः कर्णाभ्यां नेत्रे पिधाय भ्रमिसंस्मृतो मृत इव तिष्ठति तदत्) ।

अथ सप्तमीमाह,—“यद्वोषधयः सङ्गच्छन्ते राजानः समिता-  
विव । विप्रः स उच्यते भिषग्वोहाऽमोवचातनः<sup>(७)</sup>” इति । ‘यत्’  
(यदा) ‘ओषधयः’ सर्वाः ‘सङ्गच्छन्ते’ (फलदानाय चेत्सङ्गता  
भवन्ति); तत्र दृष्टान्तः, ‘राजानः समिताविव’ (यथा युद्धे  
प्रतिपक्षिणः सैन्यां जेतुं परस्परमनुकूला राजानः सङ्गच्छन्ते,  
तदत्); तदानीं सङ्गतासु ओषधोषु ‘विप्रः’ (मेधावी रसवीर्य-  
भावनाभिज्ञो यः पुरुषः), ‘स’ ‘भिषक्’ ‘उच्यते’ (क्षुधादिरोगस्य  
चिकित्सक इत्यभिधीयते) । कथं भिषक्त्वमिति ?—तदुच्यते—  
‘रक्षाहा’ (पक्षाभिः एताभिः पुरोडाशं रक्षोघ्नं कृत्वा रक्षसां  
हन्ता, तदुपद्रवरूपं रोगं निवारयति) । ‘अमोवचातनः’  
(ओषधिजन्यपथ्यादिभिरमोवान् रोगांश्चातयति विनाशयतीति  
अमोवचातनः) ।

अथाष्टमीमाह,—“निष्कृतिर्नाम वो माताया यूयं स्य  
सङ्कतोः । सराः पतत्रिणीः स्यन् यदामयति निष्कृत<sup>(८)</sup>” इति । हे  
ओषधयः, ‘वः’ (युष्माकं) ‘निष्कृतिर्नाम’ (क्षुधादिविनाशनमेव)  
‘माता’ (मातृवत् उत्पत्तिनिमित्तं क्षुधादिकं निवारयितुमेव भवती-  
नामुत्पत्तिः) । ‘अथ’ (एवं सति) ‘यूयं’ ‘सङ्कतोः’ ‘स्य’ (सम्यक् स्वकार्ये  
क्षमा भवत) । ‘सराः’ (क्षुधादिविनाशयिञ्चः), ‘पतत्रिणीः’

(प्रतत्रं पत्रं, तस्मात् प्रत्यागमनेतोपेताः) 'म्यन' (भवत) । 'यत्' (क्षुधादिकं) 'आमयति' (रोगवद्वाधेत) तत् 'निष्कृत' (विनाशयत) ।

अथ नवमीमाह,—“अन्या वो अन्यामवलन्यान्यस्या उपावत । ताः सर्वा ओषधयः संविदाना इदं मे प्रावता वचः<sup>(६)</sup>” इति । हे ओषधयः, 'वः' (युष्माकं) मध्ये 'अन्या' काचिदोषधी-व्यक्तिः 'अन्याम्' ओषधीव्यक्तिम् 'अवतु' (रक्षतु) । तथा रक्षिता सा 'अन्या' अपि 'अन्यस्या' रक्षिकाया 'उपावत' (समीपमागत्य तामपि 'अवतु'; सम्भूयकारित्वात् परस्पररक्षित्वमुचितं । तथाविधाः 'सर्वाः ओषधयः संविदानाः' (परस्परमैकमत्यं गताः) 'इदं' 'मे' (मदीयं) 'वचः' (वाक्यं) प्रार्थनारूपं 'प्रावत' (प्रकर्षेण रक्षत) ।

अथ दशमीमाह,—“उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवे-रते । धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष<sup>(१०)</sup>” इति । 'ओषधीनां' 'शुष्माः' (तदुपभोगजन्या बलविशेषाः) 'उत्'—'इरते' (उद्गच्छन्ति) । तत्र दृष्टान्तः, 'गावो गोष्ठादिव' (यथा गावो निवासस्थानाद् गृहादरण्यदेशं प्रतुद्गच्छन्ति तदन्तः) । कीदृशीनामोषधीनां?—‘पूरुष’ ‘तव’ ‘आत्मानं’ ‘धनं’ ‘सनिष्यन्तीनां’ (हे यजमान, त्वदीयं शरीरं धनमिव दातुमिच्छन्तीनां), यथा धनं दास्यन्ति, एवमोषधयोऽपि त्वदीयशरीराकारेण परिष्ठाः शरीरं दास्यन्तीत्यर्थः ।

अथैकादशीमाह,—“अति विश्वाः परिष्ठाः स्नेह इव व्रजमक्रमुः । ओषधयः प्राचुक्षुर्व्यत्किञ्च तनुवा रपः<sup>(११)</sup>” इति । 'परिष्ठाः'

(शरीरस्थोपरिस्था उदरमध्ये प्रविष्टाः) 'विद्याः' सर्वाः 'ओषधयः' 'अति' (अजीर्णादिदोषमर्तिलङ्घ्य) 'अक्रमुः' (क्रान्ताः) देहे व्याप्ता इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः,—'स्तेन इव व्रजं' (यथा राज्ञो गुप्तचरो गोष्ठं प्रविश्य गामपहर्तुं सावधानो गोशालायां सर्वतो व्याप्नोति तद्वत्) । 'तनुवां' (शरीराणां सम्बन्धि) 'यत्किञ्च' 'रपः' (ज्वरगुल्मातीसारारदिरूपं पापफलं यत्किञ्चित्) 'अस्ति, तत्सर्वम् 'ओषधयः' 'प्राचुच्युः\*' (विनाशितवत्यः) ।

अथ द्वादशीमाह,—“यास्त आतस्युरात्मानं या आविविष्टुः परः-परः । तांस्ते यत्नं विवाधन्तामुग्रो मध्यमशोरिव<sup>(१९)</sup>” इति । हे यजमान, 'ते' (तव) 'आत्मानं' (शरीरं) 'याः' (ओषधयः) 'आतस्युः' (आक्रम्य तिष्ठन्ति) । 'याः' (ओषधयः) 'परः-परः' 'आविविष्टुः' (रसरूपेण तत्तत्पर्वं प्रविष्टवत्यः), 'ताः' सर्वाः 'ते' (तव) 'यत्नं' (रोग) 'विवाधन्तां' (विशेषेण नाशयन्तु) । तत्र दृष्टान्तः,—‘मध्यम-शोरिव’,—मध्यमेन स्वकीय-परकीय-पक्षपात-रहितेन शास्त्रीयमार्गेण श्रेते वर्तते, इति 'मध्यमशोः', तादृशो राजा दृष्टान् प्रति 'उग्रो' भूत्वा यथा विनाशयति तद्वत् ।

अथ त्रयोदशीमाह —“साकं यत्नं प्रपत श्येनेन किकिदीविना । स्रक्तं वातस्य भ्राज्या साकं नश्य निहाकया<sup>(१९)</sup>” इति । श्लेष्मा-वहद्वकण्डजन्यध्वनेः† अनुकरणार्थोऽयं 'किकि'-शब्दः, तेन किकिना ध्वनिविशेषेण दौब्यति व्यवहरतीति रोगविशेषः 'किकिदीविः',

\* प्राचुच्युः इति J. पु० पाठः ।

† श्लेष्मावदोषकण्डजन्यध्वनेः इति आदर्शमुक्तकपाठः ।

स च स्नेहजन्यः । स्नेहवत् तीव्रतरत्वात् पित्तजन्यो रोगः 'स्नेहः' ।  
 हे 'यस्मा'—राज (यस्मादिरोग), त्वं पित्तजन्येन स्नेहजन्येन च रोगेण  
 'साकं' 'प्रपत' (प्रकर्षेण नष्टो भव) । तथा 'वातस्य' 'भ्राज्या'  
 (वातरोगस्य गत्या व्याप्त्या) 'साकं' नष्टो भव । तथा यथा  
 पीडया निहतोऽस्मि (हा कष्टमितिशब्दं करोमि), सा 'निहाका',  
 तथा सह नष्टो भव ।

अथ चतुर्दशीमाह,—“अश्वावती० सोमवतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।  
 आवित्ति सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये<sup>(१५)</sup>” इति । काचिद्  
 ओषधोजातिः 'अश्वावती',—अश्वा अस्यां सन्तीति 'अश्वावती',  
 ओषधोसमृद्धौ\* सत्यां धनदारेणाश्वा लभ्यन्त इत्यर्थः । अन्या  
 काचिदोषधोजातिः 'सोमवती',—सोमयागोऽस्यामस्तीति 'सोम-  
 वती', धान्यसमृद्धौ सत्यां सोमयागः कर्तुं शक्यत इत्यर्थः ।  
 अपरा 'ऊर्जयन्ती',—ऊर्जं बलं प्राणचेष्टां वा करोतीत्यर्थः ।  
 अन्या जातिः 'उदोजाः',—उल्लिष्टमोजोऽष्टमधातुरस्मिन् यस्याः,  
 सा 'उदोजाः', अन्नदारेण शरीरधातुन् पोषयतीत्यर्थः । ताः  
 'सर्वाः' 'ओषधीः†' 'आवित्ति' (लब्धवानस्मि) । किमर्थम्?—  
 'अस्मा' 'अरिष्टतातये' (अरिष्टस्य तातिररिष्टतातिः), अस्य  
 यजमानस्य अहिंसानार्त्तित्वायेत्यर्थः‡ । तदेवमोषधिवापार्था  
 चचक्षुतुर्दश आस्तात् ।

\* ओषधीः समृद्धौ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

† ओषधीम् इति भाष्यस्थपाठो न संहितानुसारी ।

‡ 'अहिसाराहित्वायेत्यर्थः' इति आदर्शपुस्तकपाठो न सम्यक् ।

तत्पाठपक्षे हिसाराहित्वायेति पठितुं युक्तः ।

अथात्रैव विकल्पिताः षडृचं आन्नायन्ते,—“याः फलिनीर्वा  
अफलाः अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः । वृहस्पतिप्रसूतास्ता नो  
मुञ्चन्वः हसः<sup>(१५)</sup>” इति । ‘याः’ ओषधयः फलयुक्ताः, ‘याः’  
फलरहिताः, ‘याश्च’ पुष्परहिताः, ‘याश्च’ पुष्पयुक्ताः, ‘ताः’  
सर्वा ‘वृहस्पतिप्रसूताः’ सत्यः । ‘नः’ ‘अंहसः’ (पापात्) मोचयन्तु ।

अथ द्वितीयामाह,—“या ओषधयः सोमराज्ञीः प्रविष्टाः  
‘पृथिवोमनु । तासां त्वमस्यन्तमा प्र णो जीवातवे सुव<sup>(१६)</sup>” इति ।  
सोमो राजा यासां ताः ‘सोमराज्ञीः(?)’ । तादृश्यो ‘या ओषधयः’  
‘पृथिवोमनु’ ‘प्रविष्टाः’, ‘तासां’ मध्ये इदानीम् उष्यमाने हे  
ओषधे, ‘त्वम्’ ‘उत्तमा’ ‘अमि’ । अतः ‘नः’ (अस्मान्) ‘जीवातवे’  
(जीवनौघधाय) ‘प्र’-‘सुव’ (प्रकर्षेण प्रेरय) ।

अथ तृतीयामाह,—“अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयः  
परि । यं जीवमश्रवामहै न स रिष्याति पूरुषः<sup>(१७)</sup>” इति ।  
शुलोकात् पतन्तो वृष्टिविन्दवः ओषधीरूपेणोत्पद्यन्ते । तथा  
चाम्निहेत्रब्राह्मणे समान्नायते, ‘यावन्तः स्तीका अवापद्यन्त ।  
तावतीरोषधयो जायन्ते’ इति । अत्रापि ‘दिवः’ ‘परि’  
(स्वर्गस्थोपरितनप्रदेशात्) ‘अवपतन्तीः’ (अधस्ताद्भूमौ पतन्त्यः)  
‘ओषधयः’ ‘अवदन्’ (वचनमुक्तवत्यः) । कीदृशं वचनम् ?—इति  
तदुच्यते,—‘यं जीवम्’ ‘अश्रवामहै’ (व्याप्नुमः), ‘स’ ‘पूरुषः’ ‘न’  
‘रिष्याति’ (नैव विनश्यति) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परा-  
गताः । इह सङ्गत्य ताः सर्वा असौ संदत्त भेषजम्<sup>(१८)</sup>” इति ।

‘द्यास्व’ ओषधीदेवताः ‘इदं’ (मदीयं प्रार्थनम्) ‘उपशृण्वन्ति’,  
 ‘द्यास्व’ अन्या ओषधीदेवताः ‘दूरं’ यथा भवति, तथा ‘परा-  
 गताः’ सत्यः ईषत् शृण्वन्ति, ‘ताः’ ‘सर्वः’ ओषधीदेवताः ‘इह’  
 (कर्मणि) सङ्गता भूत्वा ‘अस्मै’ (यजमानाय) ‘भेषज’ ‘संदत्त’  
 (क्षुधादिरोगचिकित्सां सन्त्यक् कुरुत) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं  
 खनामि वः । द्विपचतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्<sup>(१९)</sup>” इति ।  
 हे ओषधयः, ‘वः’ (युष्माकं) ‘खनिता’ (चिकित्सायै युष्मदीयं  
 मूलं ग्रहीतुं खननस्य कर्त्ता) ‘मा’ ‘रिषत्’ (मा विनश्यतु) ।  
 ‘अहं’ ‘च’ ‘यस्मै’ (रुग्णाय) चिकित्सार्थं ‘खनामि’ (युष्मन्मूलं  
 ग्रहीतुं खननं करोमि), सोऽपि मा विनश्यतु । लिं वज्जना  
 अस्माकं सम्बन्धि यत् ‘द्विपत् चतुष्पद्’ वा प्राणिजातं युष्मदुपजीवति,  
 तत् ‘सर्वम्’ ‘अनातुरं’ (रोगरहितम्) ‘अस्तु’ ।

अथ षष्ठीमाह,—“ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।  
 यस्मै करोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि<sup>(२०)</sup>” इति ।  
 ‘ओषधयः’ (ओषधिदेवताः) स्वकीयेन स्वामिना ‘सोमेन’ ‘राज्ञा’  
 ‘सह’ संवादं कुर्वन्ति । कथं संवादः?—इति तदुच्यते,—‘यस्मै’  
 (रुग्णाय) चिकित्साम् अस्मदीयमूलादिना ‘ब्राह्मणः’ ‘करोति’,  
 हे ‘राजन्’, ‘तम्’ (‘आतुरं’) वयं ‘पारयामसि’ (व्याधेरुत्तारयाम) ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमोषधिवापं विधत्ते,—“ओषधीर्वपति ब्रह्मणा-  
 न्नमवरुन्धेऽर्केऽर्कसीयते” ( ५।२।५ अ० ) इति । ‘ब्रह्मणा’  
 (ओषधिवापहेतुभूतमन्त्रसामर्थ्येन) ‘अन्नं’ व्याप्नोति । किञ्चैवं सति

‘अर्कः’ (अर्चनीये स्थाने) ‘अर्कः’ (अर्चनीयः) अग्निस्थितो भवति ।

मन्त्रसङ्ख्यां विधत्ते,—“चतुर्दशभिर्वपति सप्त ग्राम्या ओषधयः सप्तारण्या उभयोषामवर्द्ध्या अन्नस्यान्नस्य वपत्यन्नस्यान्नस्यावर्द्ध्यै” (पुं० २।५ अ०) इति । तिल-माष-व्रीहि-यवाः त्रियङ्गुणवो गोधूमा-  
श्चेति सप्त ग्राम्या ओषधयः । वेणु-श्यामाक-नीवार-जर्त्तिला-  
गवेधुकां-मर्कटका-गार्भुताश्चेति सप्त आरण्या ओषधयः नानाविधस्य  
‘अन्नस्य’ बीजवापेन नानाविधमन्नमाप्नोति । तदुक्तं सूत्रकारेण,  
‘सप्त ग्राम्याः कृष्टे सप्तारण्या अकृष्टे’ इति ।

तत्र ग्राम्याणां देशविशेषं विधत्ते,—“कृष्टे वपति कृष्टे  
ह्योषधयः प्रतितिष्ठन्ति” (पुं० २।५ अ०) इति । ‘कृष्टे’ देशे  
‘वपति’ ग्राम्या इति शेषः । मूलानां सर्वतः प्रसरणे दृढावस्थानं  
प्रतिष्ठा ।

एकैकस्यां सीतायां मूलमारभ्याग्रपर्यन्तमनुगतं वपनं विधत्ते,—  
“अनुसीतं वपति प्रजात्यै” (पुं० २।५ अ०) इति । प्रभूतत्वेनोत्पत्तिः  
‘प्रजातिः’ ।

‘सर्वस्वपि सीतासु बीजावापं विधत्ते,—“द्वादशसु सीतासु  
वपति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरेणैवास्मा अन्नं पचति” (पुं०  
२।५ अ०) इति । यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘ग्रामोषधिं नाधिगच्छेत्  
तस्याः स्थाने यवान् मधुमिश्रान् वपेदुप्तं मिऽसीति वा मनसा  
भ्यायेदधिगताया यः प्रथमं दध्ना\* आगच्छेत्, तस्मिन्नैनानुपसन्नह्य  
ये वनस्पतीनां फलग्रहयस्तानिभ्य उपसन्नह्य प्रोच्येत्’ इति ।



तदिदं वनस्पतिप्रोक्षणं विधत्ते,—“यदग्निचिदनवरुद्धस्याग्नी-  
यादवरुद्धेन वृध्येत ये वनस्पतीनां फलयहयस्तानिभोऽपि प्रोक्षे-  
दनवरुद्धस्यावरुद्धे” (५।२।५अ०) इति । यद्ययम् ‘अग्निचित्’  
पुरुषः ‘अनवरुद्धस्य’ सोतास्वनुप्तस्य द्रव्यस्यान्नम् ‘अग्नीयात्’,  
तदानीम् ‘अवरुद्धेन’ सोतासूत्रेन धान्येनापि वियुक्तो भवेत् ।  
अतोऽत्रानुप्तस्याप्युप्तलसिद्धये ‘वनस्पतीनां’ मध्ये ये पुष्पमन्तरेण  
फलं गृह्णन्त्यदुम्बरादयः ‘तान्’ अप्यादाय दग्धेन सह सन्नह्य षोडशं  
कुर्यात् । ततः सर्वमपि भक्ष्यजातमस्यावरुद्धमेव भवति ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

या जा, ग्राम्यास्तथारण्याः कृष्टाकृष्टभुवोर्वपेत् ।

चतुर्दशभिरन्यास्तु षड्त्रैव विकल्पिताः ॥

अथ मीमांसा, दशमाध्यायस्य पञ्चमपादे चिन्तितम् । (अ० ५)

“धूने वपने चाग्नौ सप्त चोक्ताश्चतुर्दश ।”

किमाद्यारम्भनियमः किंवाऽऽरम्भो निजेच्छया ? ॥

कपालवत् क्रमः प्राप्तः, केचित् प्रकरणोदिताः ।

व्यर्थाः स्युस्तेन मन्त्राणामारम्भोऽत्र विकल्पितः ॥

अग्निचयने मन्त्रा आधूननार्था आवपनार्थाश्च बहवः पठिताः,  
प्रयोगे तु तदेकदेशसङ्ख्याभिहिता,—‘सप्तभिराधूनाति चतुर्दशभि-  
र्वपति’ इति । तत्र प्रथमाधिकरणोक्तकपालसामिधेनोन्यायेन  
प्रथमपठितस्यैव मन्त्रस्योपक्रमः प्राप्नोति । तदयुक्तं; कुतः ?  
यथोक्तसङ्ख्यातिरिक्तानां प्रकरणपठितानां मन्त्राणां वैयर्थ्य-

प्रसङ्गात् । तस्मात् प्रकरणेन कसं वाधित्वा निजेच्छयैव प्रथमतो  
मध्यमतोऽन्ततो वोपक्रम्य विहितसङ्ख्या पूरणीया ॥”

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके षष्ठोऽनूवाकः ॥ ० ॥

५१

मा नो हिःसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवः  
सत्यधर्मा जजान । यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै  
देवाय हविषा विधेम<sup>(१)</sup> । अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन  
पयसा सह । वपां ते अग्निरिषितोऽवसर्पतु<sup>(२)</sup> । अग्ने  
यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत् पूतं यद्यज्ञियं । तद्देवेभ्यो  
भरामसि<sup>(३)</sup> । इषमूजमहमित आ ॥ १ ॥

दृढ कृतस्य धाम्नो अमृतस्य योनेः । आ नो गोषु  
विश्रुत्वौषधीषु जहामि सेदिमनिराममौवां<sup>(४)</sup> । अग्ने  
तव श्रवो वयो महि भाजन्त्यर्चयो विभावसो । बृह-  
द्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुपे कवे<sup>(५)</sup> ।  
दूरज्यन्मग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य । स  
दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसिः रयिं<sup>(६)</sup> ।  
जजोऽनपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व ॥ २ ॥

धीतिभिर्हितः । त्वे इषः सन्दधुर्भरिरेतसः चिचो-  
 तयो वामजाताः<sup>(९)</sup> । पावकंवर्चाः शुक्रवर्चा अनून-  
 वर्चा उदियर्षि भानुना । पुत्रः पितरा विचरन्नुपा-  
 वस्युभे पृणस्त्रि रोदसी<sup>(१०)</sup> । च्यतावानं महिषं विश्व-  
 चर्षणिमग्निः सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः । अत्कर्णः  
 सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा<sup>(११)</sup> । निष्कर्तार-  
 मध्वरस्य प्रचेतसं क्षयंतः राधसे महे । रातिं भृगू-  
 णामुशिजं कविकृतुं पृणस्त्रि सानसिं ॥ ३ ॥

रयिं<sup>(१०)</sup> चितं स्थ परिचितं ऊह्वचितं अयध्वं तथा  
 देवतयाऽऽङ्गिरस्वद्भुवाः सीदत<sup>(११)</sup> । आप्यायस्व समेतु  
 ते विश्वतः सोमं वृष्णायं । भवा वाजस्य सङ्गथे<sup>(१२)</sup> ।  
 सन्ते पयाःसि समुयन्तु वाजाः सं वृष्णयान्यभिमा-  
 तिषाहः । आप्यायमानो अमृताय सोमं दिवि  
 अवाःस्यत्तमानि धिष्व<sup>(१३)</sup> ॥ ४ ॥

आ । मन्दस्व । सानसिं । एकोनचत्वारिंशच्च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके  
 सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

षष्ठेऽनुवाके ओषधिवायोऽग्निहितः । अथ सप्तमे लोष्टवेपा-  
दिकमभिधीयते । कथम्, 'भा नो हिंसोऽजनिता यः पृथिव्या  
इति सप्तभिर्दिग्भ्यो लोष्टन् समस्यति येऽन्तर्विधादहिर्विध-  
मापन्ना भवन्ति' इति । कर्षणे ये लोष्टाः परिमिनन्तेचाद् वहिः  
पतन्ति, तान् पुनरन्तःपातयेदित्यर्थः । तत्र प्रथमामाह,—“भा  
नो हिंसोऽजनिता यः पृथिव्या यो वा दिवः सत्यधर्मा जजान ।  
यस्यापसुन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम<sup>(१)</sup>” इति ।  
'यः' प्रजापतिः 'पृथिव्या' 'जनिता' (उत्पादकः), 'यो वा'  
प्रजापतिः 'सत्यधर्मा' (अवितथधारणशक्तिः\* सन्) 'दिवं'  
'जजान' (उत्पादयामास) । पुनरपि 'यः' प्रजापतिः 'सुन्द्राः'  
(आह्लादकारिणोः) 'बृहतोः' (बहुलाः) 'अपः' 'जजान' (उत्पा-  
दयामास) ; तादृशः प्रजापतिः 'नः' (अस्मान्) 'मा' 'हिंसीत्' ;  
तादृशाय 'कस्मै' (प्रजापतये) 'हविषा' 'विधेम' (परिचरेम) ।

अथ द्वितीयामाह,—“अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा  
सह । वपां ते अग्निरिषितोऽवसर्पेतु<sup>(१)</sup>” इति । हे 'पृथिवि',  
'यज्ञेन' अनुष्ठातव्येन, 'पयसा' च तत्फलभूतेन 'सह' 'अभ्यावर्त्तस्व'  
(अस्मदाभिमुख्येनागच्छ) । 'इषितः' (इच्छावान्) 'अग्निः' 'ते'  
'वपां' (त्वदीयवपासदृशम्) इमं प्रदेशम् 'अवसर्पेतु' (प्राप्नोतु) ।

अथ तृतीयामाह,—“अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यद्यज्ञियं ।  
तदेवेभ्यो भगमसि<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'ते' (त्वदीयं) 'यत्'  
अन्नं 'शुक्रं' (दीप्तिमत्), 'यत्' चान्यदन्नं 'चन्द्रम्' (आह्लादकरं),

\* अवितथं धारयशक्तिः इति सर्वत्र पाठो न सत्यम् ।

‘यत्’ अयन्यदङ्गं ‘पूतं’ (शुद्धं), ‘यत्’ अयन्यदङ्गं ‘वज्रिचं’ (घञार्हं), ‘तत्’ सर्वं लोट् रूपं ‘देवेभ्यः’ (देवानामर्थे) ‘भरामसि’ (सन्पादयामः) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“इषमूर्जमहमित आ दद ऋतस्य धाञो अमृतस्य योनेः । आ नो गोषु विशतु आ ओषधीषु जहामि \* सेदिमनिराममीवाम्<sup>(४)</sup>” इति । ‘ऋतस्य’ (यज्ञस्य) ‘धानः’ (स्यानभृतात्) ‘अमृतस्य योनेः’ (कारणभृतात्) ‘इतः’ (देशात्) ‘इषम्’ (अन्नरूपम्) ‘ऊर्जं’ (रसरूपं) लोट्म् ‘आददे’ (स्वीकरोमि) । स लोट्ः ‘नः’ (अस्मदीयेषु) ‘गोषु’ ‘आ-’ ‘विशतु’ (आगत्य प्रविशतु) । तथा ‘ओषधीषु’ ‘आ-’ ‘विशतु’, सोदन्यचेति मेदिर्भूमिः । ‘अनिरां’ (सख्यरहिताम्) ‘अमीवां’ (रोगयुक्तां) ‘सेदिं’ (भूमिं) परित्यजामि ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यं लोष्टानां क्षेत्रमध्ये स्थापनं विधत्ते,—“दिग्भ्या लोष्टान् समस्यति दिशामेव वीर्यमवरुध्य दिशां वीर्येऽग्निं चिनुते” (प्रा२।५।अ०) इति । कर्षणावसरे ये लोष्टा वेणुना विमितादग्निक्षेत्राद् वह्निर्दिक्षु पतिताः, ताभ्यः ‘दिग्भ्यः’ तान् ‘लोष्टान्’ आनीय क्षेत्रे संयोजयेत् । तथा सति ‘दिशां’ सामर्थ्यम् अस्मिन् क्षेत्रे ‘अवरुध्य’ तस्मिन् सामर्थ्ये ‘अग्निं’ चितवान् भवति ।

चतुर्थमन्त्रे कश्चिदिशेषं विधत्ते,—“यं दिव्याद्यत्र सः स्यात् तस्यै दिशो लोष्टमाहरेदिषमूर्जमहमित आदद इतीषमेवोर्जं तस्यै दिशोऽवरुध्ये क्षोधुको भवति यस्तस्यां दिशि भवति” (प्रा२।५।अ०) इति । अयमग्निचित् ‘यं’ (पुरुषं) ‘दिव्यात्’, ‘सः’ (पुरुषः) यस्यां

‘दिशिः’ अतिष्ठेत्, तस्या ‘दिशो’ ‘लोष्टम्’\* ‘इषमूर्जम्’—इति मन्त्रेण आहरेत्, तथा सति तदीयमन्नं रसञ्च स्वीकरोति । स्वीकृते सति ‘तस्यां दिशि’ ‘यो’ द्वेष्टुः ‘भवति’ (वर्तते), स द्वेष्टुः ‘लोधुकः’ (कुधां प्राप्तः) अन्नरक्षितो भवति ।

• यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘उत्तरवेदम् उपवपति यावानग्नि-  
र्याधारणान्तां कृत्वा’ इति । तदेतद्विधत्ते,—“उत्तरवेदिमुपवप-  
त्युत्तरवेद्याः ह्यग्निश्चोयतेऽथो पशवो वा उत्तरवेदिः पशून्वेवाव-  
हन्वेऽथो यज्ञपरुषोऽनन्तरित्यै” (५।२।५ अ०) इति । प्रकृतेन  
प्रकारेण ‘उत्तरवेदिं’ कुर्यात् । तस्याम् ‘उत्तरवेद्यां’ पश्चात्  
‘अग्निश्चोयते’ । अपि च उत्तरवेद्याः समोपगतेषु पशून्वेवाव-  
‘पशवः’ एव ‘उत्तरवेदिः’, उत्तरवेदिः पशूनां प्राप्ताये भवति ।  
‘अथो’ (अपि च) प्रकृतावुत्तरवेदिरूपं यज्ञस्य ‘परुः’ (पर्व),  
तस्यान्तराथो मा भूदित्युत्तरवेदिः कर्त्तव्या ।

कल्पः, ‘अग्ने तव अवा वय इति षड्भिः शिकतां नुष्ठा’ इति ।  
तत्र प्रथमामाह,—“अग्ने तव अवा वयो महि भ्राजन्त्यर्चयो  
विभावसो । बृहद्भानो अवसा वाजमुक्थं दधासि दाशुषे  
कवे(५)” इति । वीयते प्राणिभिरश्र्यते इति वयोऽन्नं । हे ‘अग्ने’,  
‘तव अवः’ (तदीयत्वेन श्रूयमाणं) ‘वयः’ (अन्नं) ‘महि’ ‘महदस्ति’ ।  
‘विभा’ (दीप्तिरेव) ‘वसु’ (धन) यस्यामौ विभावसुः, हे  
‘विभावसो’, ‘अर्चयः’ (तव दीपयः) ‘भ्राजन्ति’ (दीप्यन्ते) । बृहन्तो  
भानवो यस्यामौ बृहद्भानुः । कविः (विद्वान्) यजमानाभि-

\* अत्र सर्वत्र लोष्टशब्दस्थाने लोष्ठ इति आदर्शपुस्तके एवं ।  
J. पुस्तके पाठः ।

प्रायाभिज्ञः । तादृश हे 'अग्ने', 'दाशुषे' (हविर्दत्तवते)  
यजमानाय 'लुक्थं' (शस्त्राद्युपेतं) 'यज्ञयोग्यं' 'वाजम्' (अश्वं)  
'शवसा' (त्वदीयेन बलेन) 'दधामि' ।

अथ द्वितीयामाह,—“इरज्यन् अन्तुभिरस्ये राधो  
अमर्त्य । स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणसि सानसि रयिम्<sup>(१)</sup>”  
इति । हे 'अमर्त्य' (मरणरहित) 'अग्ने', 'जन्तुभिः' (पुरोडाशादि-  
हविःप्रदैः प्राणिभिः) 'इरज्यन्' (दीप्यमानः) सन् 'अस्ये'  
(अस्मासु) 'राय.' (धनानि) 'प्रथयस्व' (विस्तारय) । 'स' 'दर्शतस्य'  
'वपुषः' (दर्शनीयस्य चित्याग्निरूपस्य शरीरस्य) मध्ये 'विराजसि'  
(विशेषेण दीप्यसे), 'सानसि' (बहुविधदानार्हे) 'रयिं' (धनं)  
'पृणसि' (अस्मदर्थं पूरय) ।

अथ तृतीयामाह,—“ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभि-  
र्मन्दस्व धीतिभिर्हितः । त्वे इषः सन्दधुर्भूरिरेतसश्चिचोतयो  
वामजाताः<sup>(२)</sup>” इति । 'ऊर्जः' (अन्नस्य) 'नपात्' (अविनाशयिता),  
तादृश हे 'जातवेदः', 'धीतिभिर्हितः' (दीप्तिभिर्धुक्तः) सन्  
'सुशस्तिभिः' (शोभनाभिः स्तुतिभिः) 'मन्दस्व' (द्रव्यस्य) ।  
'भूरिरेतसः' (प्रभूतधाराः) 'इषः' (अन्नरूपाः) आहुतौः 'त्वे'  
(त्वयि) 'सन्दधुः' (यजमानाः सम्पादितवन्तः) । कोदृशा  
यजमानाः ?—'चिचोतयः' (चिचास्त्वया कृता ऊतयो रक्षा येषां  
रे चिचोतयः), 'वामजाताः' (वननीये\* सम्भजनीये देवे कुक्षे  
चोत्पन्नाः) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा  
उदियर्षि भानुना । पुत्रः पितरा विचरन्नुपावस्युभे पृणक्षि  
रोदमो<sup>(८)</sup>” इति । ‘पावकवर्चाः’ (शोधकदीप्तिः) ‘शुक्रवर्चाः’  
(निर्मलदीप्तिः), ‘अनूनवर्चाः’ (सम्पूर्णदीप्तिः); ईदृशस्त्वं ‘भानुना’  
(भासा) ‘उदियर्षि’ (उत्कर्षे गच्छसि) । ‘उभे’ ‘रोदमो’ (द्यावा-  
पृथिव्यौ) ‘विचरन्’ ‘उपावसि’ (समीपमागत्य रक्षसि), ‘पृणक्षि’ च  
(तयोः सम्पूर्तिमपि करोषि) । परिचरणे दृष्टान्तः, ‘पुत्रः पितरा’,—  
यथा लोके शास्त्रीयमार्गेणानुशिष्टः पुत्रः पितरौ परिचरति  
तद्वत् ।

अथ पञ्चमीमाह,—“ऋतावानं महिषं विश्वचर्षणिमग्निं  
सुन्वाय दधिरे पुरो जनाः । अत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं  
मानुषा युगा<sup>(९)</sup>” इति । ‘मानुषा’ ‘जनाः’ (मनुष्यजातियुक्ताः  
जन्तवः) ‘ऋत्विग्यजमाना’ ‘पुरः’ (पूर्वस्मिन् काले) ‘युगा’ ‘गिरा’  
(योग्यया स्तिरूपया वाचा) ‘सुन्वाय’ (सुखार्थं) ‘अग्निम्’ अत्र  
‘दधिरे’ (स्थापितवन्तः) । कोदृशमग्निम् ?—‘ऋतावानं’ (सत्यवन्तं)  
‘महिषं’ (महान्तं) विश्वचर्षणयो (मनुष्याः) परिचारकत्वेन यस्य  
सन्ति, सोऽयं ‘विश्वचर्षणिः’ । ‘अत्कर्णं’ (शृण्वत्कर्णं),—यदि ज्ञायते,  
तत्सद्य एव कर्णेन श्रुत्वा सम्यादयतीत्यर्थः । ‘सप्रथस्तमं’ (अति-  
शयेन प्रथासहितं, कीर्त्तिमन्तं), तम् ईदृशं त्वां ‘अग्निं’ ‘दैव्यं’  
(देवेभ्यो हितं) ‘दधिरे’ इत्यन्वयः ।

अथ षष्ठीमाह,—“निष्कर्त्तारमध्वरस्य प्रचेतसं चयन्तं  
राधसे महे । रातिं भृगूणामुज्जिजं कविकृतं पृणक्षि सानसि



रयिम्<sup>(१०)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वं (यजमानं) ‘रयिं’  
 (सम्पृक्तं करोषि) प्रापयसीत्यर्थः । कीदृशं यजमानं ?—‘अध्वरस्य’  
 ‘निष्कर्त्तारं’ (यज्ञस्य निष्पादकं), ‘प्रचेतसं’ (प्रकृष्टचित्तयुक्तम्),  
 अद्वास्तुमित्यर्थः ; ‘महे’ ‘राधसे’ (महते राधसे हविर्लक्षणास्य  
 अन्नाय) ‘क्षयन्तं’ (हविर्दातुमिह निवसन्तमित्यर्थः) ; ‘रातिं’  
 (दातारं), ‘भृगूणां’ (महर्षीणां तपस्विनां) मध्ये ‘उग्निजं’  
 (कमनीयं) अत्यन्तं तपोयुक्तमित्यर्थः ; ‘कविक्रतुं’ (कवीनां  
 विदुषामिव क्रतुः कर्मानुष्ठानं यस्यासौ कविक्रतुस्त), सर्वमपि  
 कर्त्तव्यं सम्यक् ज्ञात्वैवानुतिष्ठतीत्यर्थः । सानसिग्धो यजमान-  
 विशेषणं वा, यजमानपक्षे दानशीलमित्यर्थः । धनपक्षे सम्पन्न-  
 नोयमित्यर्थः ।

एतान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“अग्ने तव अत्रो वय इति सिकता  
 निवपत्येतद्वा अग्नौ वैश्वानरस्य सूक्तम् सूक्तेनैव वैश्वानरमवरुन्धे”  
 (५।२।६अ०) इति । एतत् षड्रुचात्मकं ‘वैश्वानरस्य’ (सर्वमनुष्य-  
 प्रियस्य) अग्नेः सम्बन्धि सूक्तम्, अत एतेन सिकतावापे सति  
 वैश्वानररूपमग्निं प्राप्नोति ।

सूक्तगतमन्त्रसङ्ख्यां विधत्ते,—“षड्रुभिर्निवपति षड्रुवा ऋतवः  
 संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः साक्षादेव वैश्वानरमवरुन्धे” (५।  
 २।६अ०) इति । ‘संवत्सरम् उख्यं भूत्वा’ इत्यादौ संवत्सरधारण-  
 सम्बन्धात् अग्नेः संवत्सररूपत्वम् । ऋतुसंवत्सराव्यवधानेन वैश्वानरं  
 साक्षादेव सर्वथैव प्राप्नोति ।

सूक्तगतासु ऋतु परस्परविलक्षणं यच्चन्द्रस्तत् प्रशंसति,—“समुद्रं

वै नामैतच्छन्दः समुद्रमनु प्रजाः प्रजायन्ते यदेतेन सिकृता  
निवपति प्रजानां प्रजननाय” (५।२।६ अ०) इति । यथा  
समुद्रो बहलस्तथा अत्रत्यच्छन्दोऽपि बहुविधत्वात् समुद्रमित्युच्यते ।  
तथा हि प्रथमा विष्टारपङ्क्तिः, मध्यमयोः पादयोरेकादशाक्षर-  
त्वात्; द्वितीया पदपङ्क्तिः, आद्योत्तमपादयोः\* द्वादशाक्षरत्वात् ।  
यथा द्वितीया तथा तृतीया, यथा प्रथमा तथा चतुर्थी ।  
उपरिष्ठाज्ज्योतिः पञ्चमी, चतुर्थपादस्याष्टाक्षरत्वात्, तथा षष्ठी† ।  
एवं बहुविधत्वाच्छन्दसः समुद्रत्वं, लोके हि समुद्रमनुसृत्य प्रजा  
उत्पादयन्ते, समुद्रो बहलः, तथा प्रजा अपि बहुविधाः । तथा  
सति समुद्रसदृशेन छन्दसा सिकृतानिवापः प्रजानामुत्पत्त्यै  
सम्पद्यते ।

कल्पः, ‘चित् स्य परिचितं इत्यपरिमिताभिः शर्कराभि-

\* आद्यतृतीयपादयोः इति ॥ पु० पाठः ।

† एष च सन्दर्भो न पिङ्गलसूत्रसदृश्यो सवादी, तत्र हि तृतीया-  
ध्याये “विस्तारपङ्क्तिरन्तः । ४२ ।” “पदपङ्क्तिः पञ्च । ४६ ।” “उप-  
रिष्ठाज्ज्योतिरन्तेन ॥ ५४ ॥” इति सूत्रत्रयेण, “यदा जागतौ (१२ अ०)  
पादौ मध्ये भवतः, आद्यन्तयोश्च गायत्रौ, (८ अ०), तदा विस्तारपङ्क्ति-  
र्नाम” । “पञ्चका इत्यनुवर्त्तते, यदा पञ्चाक्षरा पञ्च पादा भवन्ति,  
तदा पदपङ्क्तिर्नाम छन्दः ।” “यदा चत्वारो गायत्रा पादा भवन्ति,  
अन्ते च त्रैलुभः (११ अ०) तदा उपरिष्ठाज्ज्योतिर्नाम त्रिलुब् भवति ।  
तथा जगतीत्यनुवर्त्तनीयं, तेन, अन्तेन जागतैन श्रैष्ठेयं गायत्रैश्चतुर्भिः  
उपरिष्ठाज्ज्योतिर्नाम जगती भवति ।” इति तत्सूत्रत्रयेण तद्वृत्त्या च  
अन्यथैव लक्षणाणि प्रदर्शितानि । एवं द्वितीया-तृतीययोः प्रथमा-  
चतुर्थ्योः पञ्चमी-षष्ठेराश्च परस्परं विनक्षणाक्षरसङ्ख्याकतया तुल्यता-  
भिधानमपि न सम्यगिव प्रतिभातीत्यवधेयम् ।

राहवनीयचित्तेगायतनं परिश्रयति' इति । पाठस्तु,—“चित् स  
परिचित ऊर्द्धचितः अयध्वं तथा देवतयाङ्गिरस्वद्भुवाः सोदत<sup>(११)</sup>”  
इति । चोयन्ते भूमौ प्रक्षिप्यन्त इति चितः शर्कराः । हे शर्कराः,  
यूयं 'चितः स्य', (भूमौ प्रक्षिप्ताः स्य) ; 'परिचितः' (परितः  
प्रक्षिप्ताः) स्य । 'ऊर्द्धचितः' (उपरिप्रक्षिप्ताः) स्य । तादृशो यूयं  
'अयध्व' (इमां चितिं सेवध्वं) । युष्माकं मध्ये यस्याः शर्करायाः  
या देवता, 'तया' 'देवतया' सार्द्धं यूयं 'भुवाः' (स्थिराः) सत्यः  
'सोदत' (इह तिष्ठत) । तत्र दृष्टान्तः,—'अङ्गिरस्वत्' (यथा  
अङ्गिरसां चयने भुवाः सोदन्ति तदत्) ।

अनेन मन्त्रेण साध्यं शर्करास्थापनं तिधन्ते,—“इन्द्रो वज्राद्य  
वज्रं प्राहरत् स त्रेधा व्यभवत् स्फ्यस्तृतीयः रथस्तृतीयं यूप-  
स्तृतीयं येऽन्तःशर्करा अशोर्यन्त ताः शर्करा अभवन् तच्छर्कराणां  
शर्करत्वं वज्रो वै शर्कराः पशुर्गर्ग्यच्छर्कराभिरग्निं परिमिनाति  
वज्रेणैवास्मै पशून् परिगृह्णाति तस्माद् वज्रेण पशवः परिगृहीताः  
तस्मात् स्वेयानस्वेयसो नोपहरते” (५।२।६अ०) इति ।  
इन्द्रेण प्रहितो वज्रोऽत्यन्तकठिनं वज्रशरीरं प्राप्य त्रिधा भग्ने-  
ऽभवत् । तेषु त्रिषु भागेषु 'स्फ्य' एको भागः, 'रथः' अपरो  
भागः, 'यूपः' अन्यः । तदा वज्रस्यान्तःशोर्णा अवयवाः भूमौ  
पतिताः, 'ताः' भूमिगताः 'शर्कराः' (अत्यन्तं दृढाः) क्षुद्रपाषाणा  
'अभवन्' । 'शरैः क्रियन्ते निष्पाद्यन्त इति व्युत्पत्त्या शर्करा इति  
नाम सम्पन्नम्; अतो 'वज्रः' एव 'शर्कराः', अग्निस्तु पशु-  
साधनत्वात् पशुस्वरूपः । अतोऽग्निप्रदेशे शर्कराभिः परिश्रयेत् ।

तथा सति 'वज्रैरेव' साधनेन वज्रसमानार्थं 'पशून्' 'परिमृच्छाति' ।  
यस्मादेवं, 'तस्मात्' लोकेऽपि वज्रसमानेन करेण पाशादिना  
वा 'पशवः' 'परिमृष्टोता' भवन्ति । यस्मादत्र अग्रेर्दाक्ष्याय शर्करा-  
पेक्षा न तु 'शर्कराणां' अन्यपेक्षा, 'तस्मात्' लोकेऽपि 'स्थेयान्'  
(स्थिरतरोऽतिप्रबलपुरुषः) . कश्चिदपि . 'अस्थेयसः' (अत्यन्तम्  
अस्थिरान् दुर्बलान्) 'नोपहरते' (नैवाश्रयति) ।

शर्करासु काम्यांश्च विधत्ते,—“त्रिसप्ताभिः पशुकामस्य परि-  
मिनुयात् सप्त वै शीर्षणाः प्राणाः प्राणाः पशवः प्राणैरेवासौ  
पशूनवरुन्धे” (५।२।६अ०) इति । त्रीणि सप्तकानि यासां  
शर्कराणां तास्त्रिसप्ताः, ताभिरेकविंशतिसङ्ख्याकाभिरित्यर्थः,  
'परिमिनुयात्' (परितः स्थापयेत्) । सप्तसङ्ख्याया व्यवस्थिताः  
शिरोगताः 'प्राणाः' स्मर्यन्ते, तैश्च 'प्राणैः' (तद्युक्ताः) 'प्राणाः' 'पशवः',  
तथा सति सप्तसङ्ख्याया 'प्राणैरेव' युक्तान् 'पशून्' प्राप्नोति ।

अथान्यां काम्यां सङ्ख्यां विधत्ते,—“त्रिणवाभिर्भाह्व्यत-  
स्त्रिवृतमेव वज्रं समृत्य भाह्व्याय प्रहरति स्तृण्यै” (५।२।६अ०)  
इति । त्रीणि नवकानि यासां तास्त्रिणवाः सप्तविंशतिसङ्ख्याका  
इत्यर्थः । त्रिणवसङ्ख्यापेतस्त्रिवृतस्त्रोमः स्मर्यते । तमेव त्रिवृतस्त्रोमं  
वज्रत्वेन सम्पाद्य भाह्व्यहिंसा 'प्रहरति' ।

पक्षान्तरं विधत्ते,—“अपरिमिताभिः परिमिनुयादपरि-  
मितस्यावरुन्धे” (५।२।६अ०) इति ।

अथान्वयव्यतिरेकाभ्यां परिश्रयणं दृढीकरोति,—“यं  
कामयेतापशुः स्यादित्यपरिमित्य तस्य शर्कराः सिकता व्यूहेत

अपरिगृहीत एवास्य विषूचीनः रेतः परासिञ्चत्यपशुरेव भवति ।  
 यं कामयेत पशुमान्त्यादिति परिमित्य तस्य शर्कराः, सिकता  
 व्यूहेत् परिगृहीत एवास्मै समीचीनः रेतः सिञ्चति पशुमानेव  
 भवति” (५।५।६ अ०) इति । पूर्वगुप्तायाः सिकताया व्यूहनं  
 विधास्यति । यजमानस्य पशुराहित्यं कामयमानोऽध्वर्युः परितः  
 शर्करास्थापनमकृत्वैव सिकताप्रसारणं कुर्यात्, तथा सति  
 परिश्रयणाभावात् ‘अपरिगृहीत एव’ स्थाने यजमानस्य ‘रेतः’  
 विविधं यथा गच्छति, तथा विनाशयति, ततोऽयम् ‘अपशुरेव  
 भवति’;—सोऽयं व्यतिरेकः ; एतस्माद्विपरोतोऽन्वयः । तस्मात्  
 पशुलाभाय शर्करापरिश्रयणपूर्वकमेव सिकताव्यूहनं कर्त्तव्यमिति  
 तात्पर्यार्थः ।

कल्पः, ‘आषायस्व’ समेतु ते इति सिकता व्यूहत्युत्तरया  
 त्रिष्टुभा राजन्यस्य इति । तत्र प्रथममन्त्रमाह,—“आषायस्व  
 समेतु ते विश्वतः सोम वृष्णि यं । भवा वाजस्य सङ्गये<sup>(१९)</sup>” इति । हे  
 ‘सोम’, त्वम् ‘आषायस्व’ (सर्वतो वर्द्धयस्व(?)), ‘ते’ (तव) ‘वृष्णि यं’  
 (रेतः) ‘विश्वतः’ (सर्वस्मात् वृण्यादाहारात्) ‘समेतु’ (सम्प्राप्नोतु) ।  
 ‘वाजस्य’ (अन्नस्य) ‘सङ्गये’ (सङ्गमने) त्वं निमित्तं ‘भव’ ।

अथोत्तरां त्रिष्टुभमाह,—“सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः  
 सं वृष्णियान्यभिमातिदाहः । आषायमानो अमृताय सोम  
 दिवि अवाऽस्थुत्तमानि धिष्व<sup>(१९)</sup>” इति । हे ‘सोम’, ‘ते’ (तव)  
 ‘पयांसि’ (पातव्यानि क्षीरादीनि) ‘समु यन्तु’ (सम्प्राप्तानि भवन्तु) ।

\* अत्र ‘स’-‘यन्तु’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

तथा 'वाजाः' (अन्नानि) अपि 'मं'-'यन्तु' । 'वृष्णयानि' (रेतांसि) अपि 'सं'-'यन्तु' । कीदृशस्य तव ?—'अभिमातिषाट्' ('अभिमाति' पाप्माने सहते\* तिरस्करोतीत्यभिमातिषाट्, तस्य) । क्षीरादिसम्पत्तौ संध्यां त्वम् 'आप्यायमानः' (वर्द्धमानः) 'अमृताय' (यजमानस्या-मृतत्वाय, देवभावाय) 'दित्रि' (द्युलोके) 'अवांसि' (श्रोतुं प्रियाणि) 'उत्तमानि' (चित्राणि) अन्नानि 'धिव्व' (धारय, सम्पादयेत्यर्थः) ।

तदेतदृग्द्वयं सामान्याकारेण विनियुक्ते, "सौम्या व्यूहति सोमो वै रेतोधा रेत एव तद्वधाति" (५।१।६अ०) इति । सोमो देवतां यस्यामृचि प्रतीयते सेयमृक् सोमो ; 'विश्वतः सोम' इत्याद्यायामृचि असौ प्रतीयते, 'अमृताय सोम' इत्युत्तरस्यामृचि प्रतीयते । तथा 'सौम्या' पूर्वं न्युक्ताः सिकताः विविधं प्रसारयेत् । तथा सति सोमस्य रेतोधारकत्वात् तन्मन्त्रनिष्पाद्य-व्यूहनेन यजमानो 'रेतो' धारयति ।

मन्त्रद्वयस्य पुरुषभेदेन व्यवस्थां दर्शयति,—“गायत्रिया ब्राह्मणस्य गायत्रो हि ब्राह्मणस्त्रिष्टुभा रजन्यस्य त्रैष्टुभो हि राजन्यः” (५।१।६अ०) इति । 'आप्यायस्व' इति गायत्रो, 'सन्ते' इति त्रिष्टुप् ।

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः,—

मा-चतुर्भिः त्रिपेक्षोष्ठान्; अग्ने-षट्केन वासुकाः ।

चित्त, आहवनीयस्य परिश्रयति शर्कराः ॥

\* अत्र पाप्मानं सहते इति पाठो भवितुं युक्तः ।

आप्या, विप्रस्य सिकता व्यूहेत्, सन्ने पयेत्यथ ।

चत्रियस्य भवेद् व्यूह इति मन्त्रास्तयोदश ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्ट-  
यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अभ्यस्याद्विश्वाः पृथना अरातीस्तदग्निराह तद्  
सोम आह । वृहस्पतिः सविता तन्म आह पूषा  
माऽधात् सुकृतस्य लोके<sup>(१)</sup> । यदक्रन्दः प्रथमं जायमान  
उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात् । श्येनस्य पक्षा हरि-  
णस्य बाह्व उपस्तुतं जनिम तत्तै अर्वन्<sup>(२)</sup> । अपां  
पृष्ठमसि योनिर्ग्रेः समुद्रमभितः गिन्यमानं । वृध-  
मानं महः ॥ १ ॥

आ च पुष्करं दिवो माचया वरिणा प्रथस्व<sup>(१)</sup> ।  
ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।  
सुर्वाभ्या उपमा अस्य विष्टाः सतश्च योनिमसतश्च  
विवः<sup>(२)</sup> । हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः  
पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां

कस्मै देवाय इविषा विधेम<sup>(५)</sup> । द्रुष्यस्त्वनन्द पृथिवी-  
मनु ॥ २ ॥

द्यामिमञ्च योनिमनु यश्च पूर्वः । तृतीयं योनिमनु ।  
सञ्चरन्तं द्रुष्यं जुहोम्यनु सप्त होवाः<sup>(५)</sup> । नमो अस्तु  
सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि  
तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः<sup>(५)</sup> । येऽदौ रोचने दिवो ये वा  
सूर्यस्य रश्मिषु । येषामप्सु सदः कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो  
नमः<sup>(५)</sup> । या इषवो यातुधानानां, ये वा वनस्पतोऽ-  
रनु । ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः<sup>(५)</sup> ॥ ३ ॥

महः । अनु । यातुधानानाम् । एकादश च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीय-  
प्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्रे लोष्टसमसनदिकमुक्तम् । अथाष्टमे सूक्तानुपधानं  
वक्तव्यम्, तत्रादौ तावदशक्रमणमुच्यते । कल्पः, 'प्राञ्चमश्वम-  
भ्यस्यादिश्या' इत्यश्वस्य दक्षिणेन पदा दर्भस्तम्भमाक्रमय' इति ।  
पाठस्तु,—“अभ्यस्यादिश्याः पृतना अरातोऽसदग्निराह तदु सोम  
आह । वृहस्पतिः सविता तन्मे आह पूषा मा धाम् सुहृतस्य  
लोके<sup>(१)</sup>” इति । अयमश्वः, 'विश्याः' (सर्वाः) 'पृतनाः' (प्रतिपक्ष-



सेनाः) 'अरातोः' (दातव्यस्यादाहरूपाः) 'अभ्यस्यात्' (पादेन अभि-  
क्रम्य तिष्ठतु) । 'तत्' (अभिक्रमणम्) 'अग्निः' 'आह' (अनुमोदतां);  
'सोमः' अपि 'तत्' 'आह' (तदनुमोदतां); 'वृहस्पतिः' 'मे' (मम)  
'तत्' 'आह' (तदनुमोदतां); तथा 'सविता' अपि तदनुमोदतां;  
'पूषा' 'सुहस्तस्य' 'लोके' (फलभूते स्वर्गे) 'माऽधात्' (मां  
स्थापयतु) ।

कल्पः, 'प्रदक्षिणमावर्त्तयित्वा यदक्रन्द इति पुनरेवाक्रमयति'.  
इति । पाठस्तु,—“यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत्त-  
वा पुरीषात् । श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाह्व उपस्तुतं जनिम तत्ते  
अर्वन्<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अर्वन्', 'यत्' (यस्मात् कारणात्) 'जाय-  
मानः' (उत्पद्यमानः) एव 'प्रथमम्' (आदौ) 'अक्रन्दः' (क्रन्दित-  
वानमि), अहे अग्न्यादीनामहं साधनमिति मद्धान्तं शब्दम्  
अकरोः, 'तत्' (तस्मात् कारणात्) 'जनिम' 'उपस्तुतं' 'ते' (तव  
जन्म समीचीनमिति सर्वैरपि स्तुतम्) आसीत् । जायमानत्वमेव  
विशदीक्रियते,—‘समुद्रात्’ ‘उद्यन्’ (समुद्रोपलब्धितादुदकात् तमु-  
त्पद्यमानः), ‘अप्सुयोनिर्वा अश्वः’ इति श्रुतेः । ‘उत वा पुरीषात्’  
(पुंस्त्वशक्तिसम्पन्नात् महतोऽश्वादुत्पद्यमानः) । जन्मन उपस्तुतत्वे  
दृष्टान्तोऽयमुच्यते,—‘श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाह्व’, उपस्तुतशब्दो-  
ऽत्राध्याहर्त्तव्यः; यथा श्येनाख्यस्य पाक्षिणः पक्षा शीघ्रोत्पन्न-  
हेतुत्वात् ‘सर्वैरुपस्तुतौ, यथा वा ‘हरिणस्य’ (मृगस्य) ‘बाह्व’  
(पादौ) शीघ्रगमनहेतुत्वादुपस्तुतौ, तद्वदित्यर्थः ।

उक्तमन्त्रमाध्यमस्याक्रमणं विधत्ते,—“शंसुं बार्हस्पत्यं मेधो

नोपानमसोऽग्निं प्राविशत् सोऽग्नेः कृष्णो रूपं कृत्वा दायत सोऽश्वं प्राविशत् सोऽश्वस्यावान्तरशफोऽभवद्यदश्वमाक्रमयति य एव मेधोऽश्वं प्राविशत् तमेवावहन्ते” (५।२।६अ०) इति । पुरा कदाचित् शंयुनामानं<sup>१</sup> वृद्धस्यतिपुत्रं केनापि निमित्तेन ‘मेधो’ (यंज्ञपुरुषः) ‘नोपानमत्’ (न प्राप्तवान्) । स पुनः शंयुना अन्विष्यमाणोऽन्तर्धानात् ‘अग्निं’ ‘प्राविशत्’ । तत्राप्यन्वेषणाय शंयावागते सति ‘स’ यज्ञः कृष्णमृगो भूत्वा तदीयं ‘रूपं’ साकल्येन ‘कृत्वा’ ‘अग्नेः’ सकाशात् ‘उदायत’ (उदगच्छत्), उद्गत्य च ‘सोऽश्वं प्राविशत्’, प्रविश्य चाश्वसम्बन्धिनः प्रौढशफस्य मध्ये योऽयम् ‘अवान्तरशफः’, तद्रूपः ‘अभवत्’ । ततः ‘अश्वम्’ आक्रमयेत्; तथा सति ‘यः’ यज्ञः ‘अश्वं’ ‘प्राविशत्’, ‘तमेव’ प्राप्नोति ।

प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“प्रजापतिनाग्निस्येतव्य इत्याहुः प्राजापत्योऽश्वो यदश्वमाक्रमयति प्रजापतिनैवाग्निं चिनुते” (५।२।६अ०) इति । अयम् ‘अग्निः’ ‘प्रजापतिना’ चेतुं योग्यः—‘इति’ अभिज्ञा ‘आहुः’ । अश्वस्य प्राजापत्यत्वात् तदाक्रमणे सति ‘प्रजम्पतिनैव’ चितो भवति ।

कल्पः, ‘अपां पृष्ठमसित्यश्वस्य पदे पुष्करपर्णमुत्तानमुपदधाति’ इति । पाठस्तु,—“अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिबमानं । वर्द्धमानं महः आ च पुष्करं द्विवे मात्रया वरिणा प्रयस्व<sup>(१)</sup>” इति । हे पुष्करपर्ण, त्वम् ‘अपां पृष्ठमसि’ (पृष्ठवत् उपरिभागवर्त्ति\* असि) । तथा ‘अग्नेः’ ‘योनिः’ असि, ‘त्वाम् अग्ने

\* अत्र उपरिभागवर्त्ति इति पाठो भवितुं युक्तः ।

पुष्करादध्ययर्वा निरमन्यत' इति मन्त्रवर्णात् । तथा 'समुद्रमभितः'  
'पिन्वमानं' (समुद्रसमानस्य तटाकजलस्य प्रोतिकरं), 'वर्द्धमानं'  
(अप्युत्पद्य दिने-दिने वृद्धियुक्तं), 'महः' (निर्लेपत्वाद्युक्त्वा पूजनीयं),  
'पुष्करम्' (अग्निनिष्पादनद्वारा पुष्टिकरं) तादृशस्त्वं\* 'मात्रया'  
(परिमाणेन) 'दिवः' 'वरिणा' (आकाशादप्याधिक्येन) 'आ'  
(समन्तात्) 'प्रथस्व' (विस्तृतं भव) ।

अग्नेन मन्त्रेण साध्यं पद्मपत्रोपधानं विधत्ते,—“पुष्करपर्ण-  
मुपदधाति योनिर्वा अग्नेः पुष्करपर्णः स योनिमेवाग्निं चिनुते”  
(५।२।६ अ०) इति ।

तत्र मन्त्रं विनियुक्ते,—“अपां पृष्ठमसोत्युपदधात्यपां वा  
एतत् पृष्ठं यत् पुष्करपर्णः रूपेणैवैनदुपदधाति” (५।२।६ अ०)  
इति । ‘रूपेणैव’ विद्यमानार्थवाचित्वादनुरूपेणैव मन्त्रेण ‘एतत्’  
पुष्करपर्णम् उपहितवान् भवति ।

कल्पः, ब्रह्म जज्ञानमिति पुष्करपर्ण उपरिष्ठान्निर्बाधः इक्ष-  
मुपधाय' इति । पाठस्तु,—“ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विभीमतः  
सुखो वेन आवः । स बुभ्रिया उपमा अस्य विष्मः सतश्च  
योनिमसतश्च विवः<sup>(४)</sup>” इति । ‘प्रथमं’ ‘जज्ञानं’ (आदावुत्पन्नम्) इदं  
इक्षस्वरूपं ‘ब्रह्म’ (परिवृढं अत्यन्तं महदित्यर्थः) । तस्य इक्षस्य  
वृष्टान्तात्वेन सूर्यः प्रपद्यते । ‘पुरस्तात्’ (पूर्वस्थां दिशि) अवस्थितः  
'वेनः' (कीमनीयः सूर्यः) 'सीमतः' (सर्वस्थां सीमि) 'सुखः'  
(शोभनरश्मिविशेषेण) 'आवः' (आवृणोत्) । 'अस्य' (इक्षस्य) उप-

मानभूताः) 'विष्ठाः' (विशेषेणावस्थिताः) 'बुध्नियाः' (बुध्ने भूखे पृथिवीरूपे भग्नाः पदार्थाः), तानपि स 'वेनः' 'विवः' (विवृतवान्, प्रकाशितवानित्यर्थः) । ५. 'भूतश्च' (विद्यमानस्य घटपटादेः) 'योनिं' (कारणं मृदादिरूपं), 'अर्मतश्च' (अविद्यमानस्य नरविषाणादेः) कारणं मनुष्यमूर्द्धादिकमपि विवृतवान्, तथाविधेन सूर्येण सदृशोऽयं रुक्मः प्रकाशंत इति तात्पर्यार्थः ।

तमिमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“ब्रह्म जज्ञानमिति रुक्ममुप-  
दधाति ब्रह्ममुखा वै प्रजापतिः प्रजा असृजत ब्रह्ममुखा एव  
तत्प्रजा यजमानः सृजते” (५।२।७अ०) इति । 'ब्रह्म' (ब्राह्मण-  
जातिः) 'मुखम्' (उपक्रमौ) यासां, ताः 'ब्रह्ममुखाः' ।

अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मपदाभिधेयस्य प्रथमोत्पत्तिवर्णने तात्पर्यं दर्शयति,—“ब्रह्म जज्ञानमित्याह तस्माद् ब्राह्मणा मुख्यः” (५।  
२।७अ०) इति । यस्मात् चत्रियादेर्जन्मप्राप्त्यभ्यनुपन्यस्य ब्रह्म-  
शब्दार्थस्यैव प्रथमजन्म उपन्यस्यते, 'तस्मात्' लोकेऽपि ब्रह्मशब्दार्थो  
'ब्राह्मणः' एव 'मुख्यः' ।

एतद्वेदेनं प्रशंसति,—“मुख्यो भवति य एवं वेद” (५।२।  
७अ०) इति ।

रुक्मोपधानं प्रशंसति,—“ब्रह्मवादिनो वदन्ति न पृथिव्यां  
नान्तरिक्षे न दिव्यग्निश्चेतव्य इति यत् पृथिव्यां चिन्वोत् पृथिवीः  
शुचार्पयेन्नौषधयो न वनस्पतयः प्रजायेरन् यदन्तरिक्षे चिन्वोता-  
न्तरिक्षः शुचार्पयेन्न वयाः सि प्रजायेरन् यदिवि चिन्वोत दिवः  
शुचार्पयेन्न पर्जन्यो वर्षेद्रुक्ममुपदधात्यमृतं वै हिरण्यममृत एवाग्निं

भिनृते प्रजात्यै” (५।१।७अ०) इति । ‘शुचार्पयेत्’ (सन्तापेन योजयेत्), तस्मिन् सन्तापे सति लोकत्रये ये द्रोषास्तद्वावृत्तये वज्रेणाधारत्वेन हृक्प्रमुपदध्यात्; हिरण्यग्निसम्यर्केऽपि विनाशाभावात् तस्मिन् ‘अमृते’ हिरण्ये ‘अग्निं’ चितवान् भवति । अयमेव हृक्प्रोपधानं विदधातीति यदि स्वीक्रियते,\* तदानीमेतदनुवादेन पूर्वा मन्त्रमात्रविधिः; यदि तु स एव विशिष्टविधिः, तदानीम् अर्थवादसम्बन्धाय स एवानूद्यत इति द्रष्टव्यम् ।

कल्पः, ‘हिरण्यगर्भः समवर्त्तताये इति तस्मिन् हिरण्यमयं पुरुषं प्राचीनमुत्तानं दक्षिणेनादृष्टं प्राङ्मुख उपधाय’ इति । पाठस्तु,— “हिरण्यगर्भः समवर्त्तताये भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्यै देवाय हविषा विधेम(१)” इति । ‘हिरण्ये’ ब्रह्माण्डरूपे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिः ‘हिरण्यगर्भः’, स च ‘भूतस्य’ (प्राणिजातस्य) ‘अग्रे’ ‘समवर्त्तत’,—प्राणिजातोत्पत्तेः पूर्वं स्वयं शरीरधारी बभूव, स च ‘जातः’ (उत्पन्नमात्रः) ‘एक’ एवोत्पत्त्यर्मानस्य सर्वस्य जगतः ‘पतिः’ ‘आसीत्’ । अत एव ‘पृथिवीं’ ‘द्यां’ (विस्तीर्णां दिवं) ‘दाधार’ (धृतवान्) । ‘उत’ (अपि च) ‘इमां’ (भूमिं) ‘दाधार’ । तादृशाय ‘कस्यै’ (प्रजापति)-‘देवाय’ ‘हविषा’ ‘विधेम’ (परिचरेम) ।

एतन्मन्त्रसार्थं हिरण्यमयपुरुषोपधानं विधत्ते,—“हिरण्यमयं पुरुषमुपदधाति यजमानलोकस्य विष्टत्यै” (५।१।७अ०) इति ।

‘यजमानलोकस्य’ (लोकः स्थानं तस्य) धारणमनेनोपधानेन भवति ।

देशविशेषं विधत्ते,—“यदिष्टकाया आहूतमनूपदधात् पशूनाञ्च यजमानस्य च प्राणमपिदधाद् दक्षिणतः प्राञ्चमुप-  
दधाति दाधार यजमानलोकं न पशूनाञ्च यजमानस्य च प्राणमपिदधात्यथो खल्विष्टकाया आहूतमनूपदधाति प्राणानाम् उत्सृज्ये” (५।२।७अ०) इति । इष्टका रक्कारूपा, तस्या ‘आहूतं’ गलबन्धनसूत्रार्थं किद्रं, यदि तच्छिद्रम् ‘अनूपदधात्’, अस्य किद्रस्य पिधानेन ‘पशूनां’ ‘यजमानस्य’ ‘च’ प्राणः पिहितो भवेत्,—प्राणसञ्चारच्छिद्रस्य पिहितत्वेन आसो न निर्गच्छेदित्यर्थः । तस्मात् . तद्दोषपरिहाराय पश्चिमदिग्भागे तच्छिद्रमुपेक्ष्य रक्कारूपाया इष्टकाया दक्षिणस्यां दिशि प्राक्शिरमं पुरुषम् अवस्थापयेत् । एवञ्च सति आहवनीयस्य दक्षिणदेशरूपो यो यजमानस्य लोकः, स विधतो भवति, तच्छिद्रस्यानावृतत्वात्, ‘यजमानस्य’ ‘पशूनाञ्च’ प्राणोऽप्यनावृतो भवति । ‘अथो’ ‘खलु’-इति पञ्चान्तरोपन्यासः,—रक्कारूपाया ‘इष्टकायाः’ किद्रमनूप-  
लक्ष्यैव पुरुषमुपदधात् । सति हि किद्रे ‘प्राणानाम्’ उत्सर्गः (सञ्चारो) भवति ।

कल्पः,—‘द्रष्टव्यस्कन्देति पुरुषमभिमृश्य’ इति । पाठस्तु,—  
द्रष्टव्यस्कन्दं पृथिवीमनु योनिमनु चोनिमनु यश्च पूर्वः । ततोयं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रष्टुं जुहोम्यनु सप्त होत्राः (१)” इति ।  
द्रव्यानन्तरमङ्गुलेन स्फुटितो हिरण्यपुरुषस्यावयवलोकाः ‘द्रष्टव्यः’

स च 'पृथिवीमनु' 'चस्कन्द' (पृथिव्यां पतित इत्यर्थः) । स च 'द्रुप्तः' ऊतः सन् स्थानत्रये 'अनु'-सञ्चरति,—द्युलोकेऽन्तरिक्ष-लोके भूलोके च । तदेतदभिप्रेत्य स्मर्यते,—

“अग्नौ प्रास्ताऊतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्दृष्टेरन्न ततः प्रजाः”॥ इति (मनु०) । सोऽयमर्थो 'द्याम्' इत्यादिनाऽभिधीयते,—‘द्यामिमञ्च योनिमनु’ (अन्तरिक्षरूपम् 'इम' स्थानम् 'अनु'-मञ्चरति), 'यश्च पूर्वः' (यो हि 'पृथिवीमनु चस्कन्द' इति पूर्वोक्तः स्थानविशेषः), तमपि 'अनु'-सञ्चरति; 'तृतीयं योनिं' (द्युलोकमादित्यस्थानम्) 'अनु'-सञ्चरति, तम् इमं त्रिषु स्थानेषु 'अनु'-सञ्चरन्तं 'द्रुप्तं जुहोमि' (मनसा ऊतमिव भावयामि) । कुत्र होमः ?—तदुच्यते,—‘सप्त होत्राः’ इति । यस्यां दिशि 'द्रुप्तः' पतितः, तद्व्यतिरिक्ता होमयोग्याः याः सप्त दिशः सन्ति, तामामनुक्रमेण 'जुहोमि' । यथाऽयं द्रुप्तः ऊत आदित्यादिस्थानत्रयेषु सञ्चरन्नुपकरोति, तथा भावयामोत्यर्थः ।

तमिमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“द्रुप्तश्चस्कन्देत्यभिमृशति. होत्रा-स्वेवेनं प्रतिष्ठापयति” (५।२।७ अ०) इति । 'होत्रासु' (होत्र-मैत्रावरुणादिषु सप्तसु, अथवा द्रुप्तस्कन्ददिग्व्यतिरिक्तासु होमयोग्यासु सप्तसु दिधु) ।

कल्पः, 'नमो अस्तु सर्पेभ्य इति' तिष्ठभिरभिमन्त्र्य इति । तत्र प्रथमामाह,—“नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः(१)” इति । 'ये'

केचित् सर्पाः 'पृथिवीमनु'-गताः, 'तेभ्यः' 'सर्पेभ्यः' 'नमः' 'अस्तु' ।  
 'अन्तरिक्षे' (यच्चगन्धर्वादिलोके) वर्त्तमाना 'ये' सर्पाः, 'ये' 'च'  
 'दिवि' (द्युलोके) वर्त्तमाना राजप्रभृतयः, 'तेभ्यः' 'सर्पेभ्यः' 'नमः'  
 'अस्तु' ।

अथ द्वितीयामाह,—“येऽदो रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य  
 रश्मिषु । येषामसु सदः कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः<sup>(८)</sup>” इति ।  
 'दिवः' (अन्तरिक्षस्य) 'रोचने' (भामके) 'अदः' (अमुष्मिन्)  
 'सूर्यस्य' मण्डले 'ये' सर्पा वसन्ति, 'ये' चान्ये 'सूर्यस्य रश्मिषु'  
 (अस्माभिरदृश्यमाना वर्त्तन्ते), 'येषाम्' (अन्येषां सर्पाणाम्)  
 'असु' (जलमध्ये) 'सदः' (स्थानं) 'कृतं', 'तेभ्यः सर्पेभ्यः' (कृत्स्नेभ्यः)  
 'नमः' अस्तु ।

अथ तृतीयामाह,—“या इषवो यातुधानानां ये वा  
 वनस्पतीरनु । ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः<sup>(९)</sup>” इति ।  
 'याः' सर्पजातयः 'यातुधानानां' (रक्षसाम्) 'इषवः' (वाणरूपाः)  
 वर्त्तन्ते, 'ये वा' अन्ये 'वनस्पतीन्' (चन्दनादिवृक्षान्) 'अनु'-  
 वेक्ष्य अवस्थिताः, 'ये' चान्ये 'अवटेषु' (विलेषु) 'शेरते', 'तेभ्यः'  
 'सर्पेभ्यः' 'नमः' अस्तु । एते मन्त्राः स्पष्टार्थत्वात् ब्राह्मणे  
 उपेक्षिताः ।

यथा पुष्करपर्णरूपाहिरण्यपुरुषोक्तनाममृन्मयेष्टकानामुप-  
 धानं विहितं, तथैव सूचोरमृन्मयेष्टकयोरुपधानं विधत्ते,—  
 “सुचावुपदधाति” (५।२।७अ०) इति ।

तयोः सुचयोर्विशेषणं दर्शयति,—“आज्यस्य पूर्णां कार्त्तर्यः-



मयीं दध्नः पूर्णमौदुम्बरीम्” (५।२।७अ०) इति । श्रीपर्णाख्यो वृक्षविशेषः कार्श्र्यः, तेन निर्मिता काचित् सुक् ‘कार्श्र्यमयी’ । सा राज्येन पूर्णा ; उदुम्बरेण निर्मिता काचित्, सा च दध्ना\* पूर्णा । एतद्गुणविशिष्टयोः सुचोरुपधानस्य विधानान्न वाक्यभेदः शङ्कनीयः ।

ते च विशिष्टे सुचौ लोकद्वयरूपेण प्रशंसति,—“इयं वै कार्श्र्यमय्यसावौदुम्बरीमे एवोपधत्ते” (५।२।७अ०) इति ।

इष्टकान्तरोपधानवत्समन्तवस्य शङ्कां लौकिकवाक्यं निवारयितुं विधत्ते,—“द्वणीमुपदधाति न हीमे यजुषामुर्हति” (५।२।७अ०) इति । यस्मादाच्चातो मन्त्रो नास्ति, तस्माद् ‘यजुषा’ (मन्त्रेण) एते उपधातुं ‘न’ ‘अर्हति’ ।

तयोर्दिग्विशेष विधत्ते,—‘दक्षिणां कार्श्र्यमयोमुत्तरामौदुम्बरीं तस्मादस्या अमावुत्तरा” (५।२।७अ०) इति । यस्माद् द्युलोकरूपा उदुम्बरी सुगुत्तरस्यां दिश्युपहिता, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि ‘असौ’ (द्यौः) ‘अस्याः’ (पृथिव्याः) ‘उत्तरा’ (जर्द्धभाविनी) ।

स च दिग्विशेषः सूत्रकारेण स्पष्टमभिहितः, ‘आज्यस्य पूर्णां कार्श्र्यमयीं दक्षिणेन पुरुषमुपदधाति दध्नः पूर्णमौदुम्बरोमुत्तरेण पुरुषम्’ इति ।

प्रकारान्तरेण सुश्विशेषं प्रशंसति,—“आज्यस्य पूर्णां कार्श्र्यमयीं वज्रो वा आज्य वज्रः कार्श्र्यो वज्रेणैव यज्ञस्य दक्षिणतो

\* दध्नः इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

† एवमेव सर्वत्र पाठः । शङ्कया इति तु भवितुं युक्तः ।

रक्षाऽस्यपहन्ति दध्नः पूर्णाभौदुम्बरो पशवो वै दधि उर्कु उदुम्बरः  
पशुष्वेवोर्जं दधाति” (४।२।७अ०) इति ।

आज्यस्य वज्रत्वं शानूनमब्राह्मणे समास्नातम्, ‘घृतं खलु वै  
देवा वज्रं कृत्वा सोममग्नन्’ इति ।

कार्त्तव्यस्य रक्षोपघाते(?) हेतुवाद्वज्रत्वं, तदप्यातिथ्यब्राह्मणे  
समास्नातम्. ‘ते कार्त्तव्यमयान् परिधीनकुर्वन्त तैर्वै ते रक्षाऽ-  
स्यपाग्नन्त’ इति ।

सुचोर्दध्याज्यपूर्णत्व प्रशंसति,—“पूर्णे उपदधाति पूर्णे एवेनम्  
अमृशिल्लेक उपतिष्ठेते” (५।२।७अ०) इति ।

सुगुपधानं प्रशंसति,—“विराज्यग्निश्चेतव्य इत्याहुः सुग्वै  
विराट्-यत् सुचावुपदधाति विराज्येवाग्निं चिनुते” (५।२।७अ०)  
इति । विविधे राजमाने प्रदेशे चेतव्योऽग्निरित्यभिज्ञा ‘आहुः’ ।  
‘सुक’ चाज्यादिपूर्णत्वात्\* विशेषेण राजते, तस्मात् तत्र चयनाय  
‘सुचौ’ उपदध्यात् ।

पाशुकोत्तरद्वेदिवद्रुक्मस्योपरि व्याघारणीं विधत्ते,—“यज्ञमुखे  
यज्ञमुखे वै क्रियमाणे यज्ञः रक्षाऽसि त्रिधाऽमन्ति यज्ञमुखः  
रुक्मो यद्रुक्मं व्याघारयति यज्ञमुखादेव रक्षाऽस्यपहन्ति” (५।  
२।७अ०) इति । यज्ञमन्त्रिन् एकेकस्याङ्गस्यानुष्ठानं ‘यज्ञमुखम्’  
अनेन रुक्मोपधानस्यापि यज्ञमुखत्वात् तत्र प्राप्तानां रक्षसाम्  
उपघाताय व्याघारयेत् ।

‘कृण्वपाज(?) इति पञ्चभिः’ इति सूत्रकारेण ये मन्त्रा उदाहृतास्तानत्र विनियुक्ते,—“एञ्चभिर्व्याधारयति पाङ्क्तो यज्ञो यावानेव यज्ञस्तस्माद्वाचाऽस्य पदहन्ति” (पू।२।७अ०) इति । ‘धानाः करम्भः’ इत्यादिभिर्हविर्भिर्यः(?) ‘पञ्चभिः’ यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम् ।

सूत्रकारेण, ‘दक्षिणमऽसमुत्तराऽऽग्निं दक्षिणां आग्निम् उत्तरमंसं मध्यमिति’ इति पाण्डुकोत्तरवेदिव्याधारेण येयं वक्र-रोतिरुक्ता, तामत्र विधत्ते,—“अच्छण्या व्याधारयति तस्मादच्छण्या पशवोऽङ्गानि प्रहरन्ति प्रतिष्ठित्यै” (पू।२।७अ०) इति । ‘अच्छण्या’ (वक्ररोत्या) । अत एवाधारस्य विविधत्वात् व्याधा-रणमित्युच्यते, यस्मादाधारणे वक्रक्रमः, ‘तस्मात्’ ‘पशवः’ गमन-काले स्वकीययागाङ्गानि वक्ररोत्या ‘प्रहरन्ति’ (प्रवर्त्तयन्ति),—पुरोवर्त्तिनं दक्षिणं पादं पुरतः प्रक्षिप्य पाश्चात्यं वामपादं पुरतः प्रवर्त्तयन्ति । तस्मात् प्रतिष्ठायै तदिदं वक्रत्वं सम्पाद्यते\* ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

अभ्यश्वं क्रमयेद्भै, यदावृत्तिः प्रदक्षिणम् ।

अपां, दध्यात् पद्मपत्रं, ब्रह्म, रुक्मोपधानकम् ॥

हिर, खर्णमयं दध्यात्, द्रुम, स्तस्याभिमर्शनम् ।

नम, स्त्रिभिर्मन्त्रैरेत मन्त्रा अत्र नवेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

ध्रुवासि धरुणाऽसृता विश्वकर्मणा सुकृता । मा त्वा  
संमुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णा व्यथमाना पृथिवीं ह॑ह<sup>(१)</sup> ।  
प्रजापतिस्त्वा सादूथतु पृथिव्याः पृष्ठे व्यचस्वतीं  
प्रयस्वतीं प्रथोऽसि पृथिव्यसि भूरसि भूमिरस्यदिति-  
रसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्ची पृथिवीं  
यच्छ पृथिवीं ह॑ह पृथिवीं मा हि॑सीर्विश्वस्मै  
प्राणायानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै ॥ १ ॥

चरिचायामिस्त्वाभिपातु मद्या स्वस्त्या छर्दिषा  
शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद्ववा सीद<sup>(२)</sup> । काण्डात्  
काण्डात् प्ररोहन्तो परुषः परुषः परि । एवा नो दूर्वे  
प्रतनु सहस्रेण शतेन च<sup>(३)</sup> । या शतेन प्रतनोषि  
सहस्रेण विरोहन्ति । तस्यास्ते देवोष्टके विधेम हविषा  
वयम<sup>(४)</sup> । अषाढासि सहमाना सहस्वारातोः सह-  
स्वारातोयतः<sup>(५)</sup> । सहस्व पृतनाः सहस्व पृतन्यतः ।  
सहस्रोवीर्या ॥ २ ॥

असि सा मा जिन्व<sup>(६)</sup> । मधु वाता ऋतायते मधु  
क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्वोषधीः<sup>(७)</sup> । मधु  
नक्तमुतौषसि मधुमत् पार्थिव रजः । मधु द्यौरस्तु  
नः पिता<sup>(८)</sup> । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाः अस्तु ह्येः ।  
माध्वोर्गावो भवन्तु नः<sup>(९)</sup> । मही द्यौः पृथिवी च न

इमं यज्ञं मिमिक्षतां । पिष्टृतां नो भरीमभिः<sup>(११)</sup> ।  
तद्विष्णो परमं ॥ ३ ॥

पदः सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततं<sup>(१२)</sup> ।  
ध्रुवाऽसि पृथिवि सहस्र पृतन्दतः । स्यूता देवेभि-  
रमृतेनाऽऽगाः<sup>(१३)</sup> । यास्ते अग्ने सूर्ये रुचं उद्यतो दिव-  
मातन्वति रश्मिभिः । ताभिः सर्वाभीरुचे जनाय नः  
कृधि<sup>(१४)</sup> । या वा देवाः सूर्ये रुचो गोघ्नश्चेषु या रुचः ।  
इन्द्राग्नौ ताभिः सर्वाभीरुचं नो धत्त दृढस्पते<sup>(१५)</sup> ।  
विराट् ॥ ४ ॥

ज्योतिरधारयत् सम्राट् ज्योतिरधारयत् स्वराट्  
ज्योतिरधारयत्<sup>(१६)</sup> । अग्ने युत्वा हि ये तवाश्वासे  
देव साधवः । अरं वहन्त्याशवः<sup>(१७)</sup> । युत्वा हि देव  
हूतमाः अश्वाः अग्ने रथोरिव । नि होता पूर्यः  
सदः<sup>(१८)</sup> । द्रुष्यश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमञ्च योनि-  
मनु यश्च पूर्वः । तृतीयं योनिमनु सच्चरन्तं द्रुषं  
जुहोम्यनु सप्त ॥ ५ ॥

होवाः<sup>(१९)</sup> । अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिन-  
मग्नेवैश्वानरस्य च । अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिषान्  
रुक्मो वचसा वचस्वान<sup>(२०)</sup> । कृचे त्वा रूचे त्वा<sup>(२१)</sup> ।  
समित्स्ववन्ति सुरितो न धेनाः । अन्तद्दृढा मनसा

पूयमानाः । घृतस्य धारा अभि चाकशोमि हिरण्ययो  
 वेतसो मध्य आसां<sup>(१)</sup> । तस्मिन् सुपर्णो मधुकृत  
 कुलायो भजन्वास्ति मधु देवताभ्यः । तस्यासते  
 हरयः सप्त तीरे, स्वधां दुहाना अमृतस्य धारा<sup>(१)</sup> ॥  
 ॥ ६ ॥

प्रतिष्ठायै । सहस्रवीर्या । परमं । विराट् । सप्त ।  
 तीरे । चत्वारि च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके  
 नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अष्टमोऽनुवाके पुष्करपर्णाद्यमृत्सयंष्टकोपधानमुक्तम् । अथ  
 नवमे खयमाह्णादीष्टकोपधानमुच्यते । कल्पः, 'भुवासि धरुणा-  
 स्तृतेति खयमाह्णामभिमृत्वाश्वेनापचाप्य प्रजापतिस्त्वा सादयतु  
 पृथिव्याः पृष्ठ इत्यावदुषा ब्राह्मणेन सह मध्येऽग्रेरुपदधाति' इति ।  
 तत्राभिमर्शनमन्त्रपाठस्तु,—“भुवासि धरुणाऽस्तृता विश्वकर्मणा  
 सुकृता । मा त्वा समुद्र उदधीन्मा सुपर्णोऽव्ययमाना पृथिवी  
 दृष्टु<sup>(१)</sup> इति । हे खयमाह्णे, त्वं 'भुवा' (स्थिरा) 'असि' ।  
 कीदृशी?—‘धरुणा’ (भूमिरूपेण विश्वस्य धारयित्री), अत एव  
 ‘अस्तृता’ (केनाप्यहिंसिता), ‘विश्वकर्मणा’ (जगत्कर्त्रा) ‘सुकृता’  
 (सुष्ठु निर्मिता) ; ‘समुद्रः’ त्वां ‘मा’ ‘उदधीन्’ (खोदरमथे

मज्जनलक्षणं बन्धं मा कार्षीत्); 'सुपर्णः' (पक्षिराजः) अपि सर्पोद्धरणवेलायां त्वामादाय 'मा' 'उद्धधीत्' (दूरे परित्याग-लक्षणं बन्धं मा कार्षीत्); एवं सति 'अध्ययमाना' (भयरहिता) त्वं 'पृथिवीम्' इमां 'दृङ्' (दृढीकुरु) ।

उपधानमन्त्रपाठस्तु,—“प्रजापतिस्त्वा सादयतु पृथिव्याः पृष्ठे व्यचस्वतो प्रथस्वतो प्रथोऽसि पृथिव्यसि भूरसि भूमिरसीदिति-रमि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृङ् पृथिवीं मा हिंसीर्विश्वस्मै प्राणायपानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै । चरित्रायाग्निस्त्वाभिपातु मद्या स्वस्त्या हृदिषा श्रान्तमेन तथा देवतयाऽङ्गिरस्वद्भ्रुवा सोद<sup>(१)</sup>” इति । हे स्वयमादत्ते, ‘प्रजापतिः’ त्वाम् अस्मिन् प्रदेशे ‘पृथिव्याः’ उपरि ‘सादयतु’ । कीदृशीं त्वां ?—‘व्यचस्वतो’ (विस्तारयुक्तां), ‘प्रथस्वतो’ (पृथुलां), ‘प्रथोऽसि’ अस्याश्रितेः (प्रथनं विस्ताररूपमसि), त्वया हि चितेर्विस्तारो भवति ; पृथिव्यामुत्पन्नत्वात् ‘पृथिव्यसि’ । ‘भूरसि’ सुखानां (भावयित्वसि), ‘भूमिरसि’ (मृण्मयपृथिव्यभिमानी\*—भूमिदेवताऽसि), ‘अदितिरसि’ (अखण्डनीयाऽसि) । ‘विश्वधायाः’ (विश्वस्य पोषयित्र्यसि), तथा ‘विश्वस्य’ ‘भुवनस्य’ (सर्वलोकस्य) ‘धर्त्री’ (धारयित्र्यो) असि । तादृशी त्वं ‘पृथिवीं’ ‘यच्छ’ (नियतां कुरु); ‘पृथिवीं’ “दृङ्” (दृढीकुरु), ‘पृथिवीं मा हिंसीः’

\* मृण्मयपृथिव्यभिमानीति इति J. पु० पाठः । मृण्मयपृथिव्यभि-  
मानि-इति पाठो भवितुं युक्तः ।

(पृथिव्या हिंसां मा कुङ्क्ष) । 'विश्वस्मै' (सर्वस्मै) प्राणापानव्याघ्रा-  
दानाख्यवायुवृत्तिलाभाय, 'प्रतिष्ठाये' (स्वर्गहस्तितिलाभाय),  
'चरित्राय' (शालीयाचरणलाभाय) । प्राणिनामेतस्य सर्वस्य  
सिद्ध्यर्थम् अयम् 'अग्निः' तामभितः 'पातु' । केन रक्षणम् इति?—  
तदुच्यते,—'मद्या स्वस्त्या' (मद्यत्या योगक्षेमसम्पत्त्या) 'शन्तमेन'  
'हृदिषा' (अत्यन्तसुखकारिणा दीप्तिविशेषेण) तव स्वामिभूता या  
देवता, 'तया' अनुगृहीता त्वं 'भ्रुवा' (स्थिरा) सती 'सोद'  
(इहोपविश), 'अङ्गिरस्वत्' (अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने यथा त्वं  
भ्रुवा (स्थिरा), तदत्) ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“स्वयमादृष्टामुपदधातीयं  
वै स्वयमादृष्टमेवोपधत्ते” (५।२।७अ०) इति । शर्करा-  
ख्यानां क्षुद्रपाषाणानां मध्ये पुरुषप्रयत्नमन्तरेण या स्वत एव  
क्षिद्रयुक्ता, सेयं, शर्करा 'स्वयमादृष्टा', तामवोपदध्यात् । सा च  
स्वयमादृष्टा पृथिवीजन्यत्वात् पृथिव्येव, अतः पृथिवीमेवोपधत्ते ।

तस्याः स्वयमादृष्टाया अद्वैतपद्मापणं विधत्ते,—“अश्वम्  
उपध्रापयति प्राणमेवास्यां दधात्यथो प्राजापत्यो वा अश्वः  
प्रजापतिर्नैवाग्निं चिनुते” (५।२।७अ०) इति ।

• अन्तरस्था इष्टकायाः स्वतःसिद्धच्छिद्रं प्रशंसति,—“प्रथमे-  
ष्टकोपधीयमाना पशूनाञ्च यजमानस्य च प्राणमपि दधाति  
स्वयमादृष्टा भवति प्राणानामुत्सृष्ट्या अयो सुवर्गस्य लोकस्या-  
नुख्यात्यै” (५।२।७अ०) इति । पुष्करपर्णादिषूपधेयत्वसाम्येन  
इष्टकालमुपचरितं । 'स्वयमादृष्टा' तु यद्यपि पुरुषैरनिर्मिता,



तथापि तस्या इष्टकालं मुख्यमित्यभिप्रेत्या मुख्यास्त्रिष्टकास्त्रिष्टकाः प्राचन्यमुच्यते । प्रथमा इष्टका उपधीयमाना सती पशूनां यजमानस्य च श्वासं निरुध्यात्, अतः श्वासस्य निर्गमनाय स्वतःसिद्धच्छिद्रयुक्ता कार्या । ‘अथो’ (अपि च) सच्छिद्रत्वे सति आवरणाभावात् स्वर्गलोकोऽपि प्रकाशितो भवति ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘अविदुषा ब्राह्मणेन सह मध्येऽग्रेरुपदधाति’ इति । तदेतद्विधत्ते,—“अग्नावग्नियेतय इत्याहुरेष वै अग्निर्वैश्वानरो यद्ब्राह्मणस्तस्मै प्रथमामिष्टकां यजुष्कृतां प्रयच्छेत्तां ब्राह्मणश्चोपदध्यात् तामग्नावेव तदग्निं चिनुते” (५।१।७अ०) इति । अग्निमेवाधारं कृत्वा तस्मिन् ‘अग्नौ’ एवायम् ‘अग्नियेतय इति’ अभिज्ञा ‘आहुः’ । तस्य क उपायः इति ?—तदुच्यते,—योऽयं ब्राह्मणः, स एवाधारभूतो वैश्वानरनामकोऽग्निः, अग्नेर्ब्राह्मणाभिमानिदेवत्वाद् ब्राह्मणस्याग्नित्वम् । अतोऽग्निरूपस्य ब्राह्मणस्य हस्ते मन्त्रसंस्कृतां स्त्रयमाह्वयं दद्यात् । ततः स ब्राह्मणोऽध्वर्युश्च मिलित्वा “ताम्” उपदध्यातां, तावता अग्निसितो भवति ।

यदुक्तं सूत्रकारेण, ‘अविद्वान् ब्राह्मणो वरं ददात्येकं द्वौ चीन्वा’ इति । तदेतद्विधत्ते,—“द्वैश्वरो वा एष आर्त्तिमार्त्तो योऽविद्वानिष्टकामुपदधाति चीन् वरान् दद्यात् तयो वै प्राणाः प्राणानां स्त्रयै द्वावेव देयौ द्वौ हि प्राणावेक एव देय एको हि प्राणः” (५।१।७अ०) इति । ‘यः’ स्त्रयम् ‘अविद्वान्’ सन् स्त्रयमाह्वयाम् ‘इष्टकामुपदधाति’, स ‘एषः’ ‘आर्त्तिम्’

आप्तं समर्थं भवति । अतस्तत्परिहारायाध्वर्थवे वरद्वान्  
कुर्थात् । वरशब्देन श्रेष्ठत्वाद् गौरुष्यते । चीन्, द्वौ, एकः-इति  
यच्चा विकल्पिताः । प्रीणोऽपानो व्यान इति त्रित्वं; व्यानमन्त-  
र्भाष्य प्राणापानाविति द्वित्वम्; अपानमन्तर्भाष्य प्राण इत्येकत्वम् ।

कल्पः, 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्तीति द्वाभ्यां दूर्वेष्टकाम्' इति ।  
'उपदध्यात्' इत्यनुवर्त्तते' इति । तत्र प्रथमामाह,—“काण्डात्  
काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषः परि । एवा नां दूर्वे प्रतनु  
सहस्रेण शतेन च<sup>(१)</sup>” इति । 'काण्ड'-शब्दः स्तम्बाची । 'परुः'-  
शब्दः (पर्ववाची) । यावन्तः काण्डाः (स्तम्बाः) सन्ति, तत्रैकैकस्मात्  
स्तम्बात् प्रकर्षेण दूर्वा उत्पद्यते; एकस्मिन्नपि स्तम्बे यावन्ति परुषि  
(पर्वणि) सन्ति, तेष्वेकैकस्य पर्वणः परितः प्रकर्षेण दूर्वा उत्पद्यते ।  
हे 'दूर्वे', त्वं तत्तत्काण्डोत्पत्त्यात् तत्तत्पर्वणि प्रकर्षेणोत्पद्यमाना  
वर्त्तसे । 'एव' । (एवमनेन) प्रकारेण 'नः' (अस्मदर्थं) शत-  
सङ्ख्याकेन सहस्रसङ्ख्याकेन च त्वदीयभेदेन त्वत्स्वरूपं 'प्रतनु'  
(प्रकर्षेण विस्तृतं कुरु) ।

अथ र्द्वितीयामाह,—“या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि ।  
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्<sup>(२)</sup>” इति । हे दूर्वे, 'या'  
त्वं शतसङ्ख्याकेन स्वरूपेण 'प्रतनोषि' (अत्यन्तं विस्तारयसि) ।  
तथा सहस्रसङ्ख्याकेन आकारेण 'विरोहसि' (विविधमुत्पद्यते)\* ।  
हे 'इष्टके' 'देवि' 'तस्यास्तं' 'वयं' 'हविषा' 'विधेम' (परिचरेम) ।

\* विविधमुत्पद्यसे इति भवितुं युक्तः ।

एतन्मन्त्रद्वयसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“पशुर्वा एष यदग्निर्न  
खलु वै पशव आ-यवसे रमन्ते दूर्वेष्टकामुपदधाति पशूनां धृत्यै”  
(५।२।७अ०) इति । पशुप्राप्तिहेतुत्वादग्नेः पशुत्वम् । इषदर्थवाची  
आङ् । यवशब्दे घासवाची । अल्पघासे प्रदेशे पशवो नैव ‘रमन्ते’;  
अतः पशूनां धारणाय घासरूपां दूर्वेष्टकामुपदध्यात् ।

तस्याश्च स्वरूपं सूत्रकारेणोक्तं, ‘सलोष्टः हरितं दूर्वास्तम्बम्  
अप्रच्छिन्नायम्’ इति ।

मन्त्रद्वयं प्रशंसति,—“द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।२।७अ०) इति ।

प्रथममन्त्रस्य प्रथमपादार्थः प्रसिद्ध इति दर्शयति,—“काण्डात्  
काण्डात् प्ररोहन्तीत्याह काण्डेन काण्डेन ह्येषा प्रतिष्ठिति”  
(५।२।७अ०) इति ।

द्वितीयेऽर्द्धे सहस्रशब्दतात्पर्यं दर्शयति,—“एवा नो दूर्वे  
प्रतनु सहस्रेण शतेन चेत्याह साहस्रः प्रजापतिः प्रजापतेराष्ट्रै”  
(५।२।७अ०) इति । सहस्रसंख्याकप्राण्युत्पादकत्वात् प्रजापतेः  
साहस्रत्वम् ।

कल्पः, ‘अषाढासीति द्वाभ्यामषाढामुपरिष्टालक्षणात्’ इति ।  
उपदध्यादिति शेषः । तत्र प्रथमामाह,—“अषाढाऽसि सहमाना  
सहस्रारातीः सहस्रारातोयतः<sup>(५)</sup>” इति । उखानिर्माणकाल एव  
चेयमिष्टका निर्मिता, सैयम् ‘अषाढा’; तथा च सूत्रकारेणोक्तं,  
‘य उखां करोति सोऽषाढामेतस्या एव नृदस्तृष्णीं चतुरां  
आलिखितामिष्टकाम्’ इति । हे इष्टके, त्वम् ‘अषाढा’ (केनापि  
अपरिभृता), ‘सहमाना’ (विरोधिनीः परिभवन्ती) ‘असि’ ।

ये अस्मभ्यं दातव्यं न प्रयच्छन्ति, तथात्रिधान् अरातीन् (शत्रून्) 'सहस्र' (परिभव) । ये तु पूर्वमरातयो न भवन्ति, इतः परम् अरातित्वमिच्छन्ति, तानपि अरातीन् (शत्रून्) 'सहस्र' (परिभव) ।

अथ द्वितीयामाह,—“सहस्र पृतनाः सहस्र पृतन्यतः । सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व(१)” इति । हे इष्टके, ‘पृतनाः’ (वैरिसेनाः) ‘सहस्र’ (परिभव) । ये तु पूर्वं सेनारहिता अपि वैरिण इतः परं सेनामिच्छन्ति, तानपि ‘पृतन्यतः’ वैरिणः ‘सहस्र’ (परिभव) । (सहस्रमष्ट्याकं वीर्यं यस्या. मा) ‘सहस्र-वीर्याऽसि’, ‘सा’ (तादृशी) त्वं मां ‘जिन्व’ (प्रीणय) ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामषाढायाः स्यापनप्रकारविशेषं विधत्ते,—  
“देवलक्ष्मं वै आलिखिता तमुत्तरलक्ष्माणं देवा उपादधताधर-  
लक्ष्माणमसुरा यं कामयेत वसीयान्त्यादित्युत्तरलक्ष्माणं तस्योप-  
दध्यादधीयानेव भवति यं कामयेत पापीयान्त्यादित्यधरलक्ष्माणं  
तस्योपदध्यादसुरधानिमेवैनमनु पराभावयति पापीयान् भवति”  
(५।२।८३) इति । यस्याम् आर्द्रायाम् इष्टकायां त्रिपुण्ड्रवद्रेखात्रय,  
स्येय ‘आलिखिता’, तत् आलिखितत्वं देवानां चिह्नं । ततो  
देवास्त्रामषाढाम् ऊर्ध्वदेशवर्त्तिचिह्नयुक्ताम् ‘उपादधत’ । ‘असुराः’  
तु अधोदेशवर्त्तिचिह्नयुक्ताम् ‘उपादधत’ । तस्माद् देववत्  
धनसंभृद्ध्यर्थमूर्ध्वभाविचिह्नयुक्तामेव ‘उपदध्यात्’ ; सेऽयमन्वयः ।  
असुरवत् अधोमुखचिह्नत्वे सति ‘एनं’ (यजमानम्) असुरजात्यन-  
सारिणं कृत्वा पराभूतं करोति ।

अथ देवचिह्नं विधत्ते,—“आलिखिता भवतीमे वै लोका-  
स्त्यालिखितैभ्य एव लोकेभ्यो आहव्यमन्तरेति” (५।२।८अ०)  
इति । तिसृभिरङ्गुलिभिर्लिखिता ‘आलिखिता’, तथाविधां  
कुर्यात्; तथा सति त्रितमाम्यालोकत्रयरूपा भवति । तेन  
लोकत्रयाद् आहव्यः निःसारितो भवति ।

कल्पः, ‘मधु वाता ऋतायते इति तिसृभिर्दध्ना मधुमिश्रेण  
कूर्ममभ्यज्य’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“मधु वाता ऋतायते मधु  
चरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्वोषधीः<sup>(७)</sup>” इति । ऋतं (यज्ञं)  
आत्मन इच्छतीति ‘ऋतायत्’, तस्मै (यजमानाय) ‘वाताः’  
(वायवः) ‘मधु चरन्ति’ (मधुरं रसं स्थावयन्ति) । ‘सिन्धवः’  
(समुद्राः) च मधुरं रसं स्थावयन्ति । ‘ओषधीः’ (ओषधयः) अपि  
‘नः’ (अस्मादर्थे) ‘माध्वीः’ (मधुररसोपेताः) ‘सन्तु’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“मधु नक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं  
रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता<sup>(८)</sup>” इति । ‘नक्तं’ (रात्रौ) ‘मधु’  
अस्माकम् ‘अस्तु’ । ‘उत’ (अपि च) ‘उषसि’ (प्रभाते) ‘मधु’  
‘अस्तु’ । तथा यत् ‘पार्थिवं रजः’, तत्सर्वं ‘मधुमत्’ (माधुर्य-  
रसोपेतम्) ‘अस्तु’ । ‘नः’ (अस्माकं) ‘पिता’ (पितृस्थानीया)  
‘द्यौः’ ‘मध्वस्तु’ (मधुररसोपेतोऽस्तु) ।

अथ तृतीयामाह,—“मधुमान्नो वनस्यतिर्मधुमाः अस्तु  
सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः<sup>(९)</sup>” इति । ‘वनस्यतिः’ (अश्व-  
त्यादिः) ‘नः’ (अस्मादर्थे) ‘मधुमान्’ ‘अस्तु’ (माधुर्यरसोपेतोऽस्तु) ।  
‘सूर्यः’ अपि ‘मधुमान्’ (सन्तापराहित्यलक्षणमाधुर्यरसोपेतो-

ऽस्तु) । तथा 'गावः' 'नः' (अस्मदर्थे) 'माध्वीः' (मध्वरक्षीरोपेताः) 'भवन्तु' ।

कल्पः, 'मही द्यौः पृथिवी च न इति पुरस्तात् स्वयमाह्वयायाः प्रत्यञ्चं जीवन्तं कूर्मं प्राङ्मुख उपदधाति' इति । पाठस्तु,— "मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षतां । पिष्टतां नो भरीमभिः<sup>(१०)</sup>" इति । 'मही द्यौः' येयं (महतो द्यौः) 'पृथिवी' 'च' (द्यावापृथिवी), ते उभे 'नः' (अस्मदीयम्) 'इमं' 'यज्ञं' 'मिमिक्षतां' (फलवृक्षादि (?) सेक्तुमिच्छतां); ततः 'भरीमभिः' (भरणशक्तिभिः) 'नः' (अस्मान्) 'पिष्टतां' (पूरयन्ताम्) ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यतः पुरोडाशः कूर्मो भूत्वाऽनु प्रासर्पद् यत् कूर्ममुपदधाति यथा क्षेत्रविदञ्जसा नयत्येवमेवैनं कूर्मः सुवर्गं लोकमञ्जसा नयति” (५। २। ८ अ०) इति । 'अङ्गिरसः' महर्षयो यदा स्वर्गं 'लोकं' गन्ताः, तदा तान् 'अनु' 'कूर्मः' अपि अन्नगच्छत् । अतः स्वर्गमार्गाभिन्नः 'कूर्मः' क्षेत्रज्ञ इव सम्यक् नेतुं शक्त इति तन्मन्त्रोपदधात् ।

• प्रकारान्तरेण कूर्मोपधानं प्रशंसति,—“मेधो वा एष पशूनां यत् कूर्मो यत् कूर्ममुपदधाति स्वमेव मेधं पश्यन्तः पशव उपतिष्ठन्ते” (५। २। ८ अ०) इति । योऽयं 'कूर्मः', स एव 'पशूनां' 'मेधः' (यज्ञवत्प्राप्तिहेतुः), अतः कूर्मोपधनेन 'पशवः' तं 'कूर्मं' स्वहेतुभृतयज्ञत्वेन 'पश्यन्तः' यजमानगृहे प्राप्ता भवन्ति ।

उपधेयस्य कूर्मस्य जीवनोपेतत्वगुणं विधत्ते,—“अश्वानं वा एतत् क्रियते यन्मृतानां पशूनां शीर्षाण्युपधीयन्ते यन्जीवन्तं

कूर्ममुपदधाति तेनाग्निज्ञानचिदास्तथो वा एष यत् कूर्मः” (५।२।८अ०) इति । ‘मृतानां’ ‘पशूनां’ (अश्वर्षभवृष्टिणिवस्तानां) शिरांसि उपधेयानीत्युपरिष्ठाद्वक्ष्यति, ततः ‘एतत्’ स्थानं ‘अग्निज्ञानं’ एव कृतं भवति । जीवत्कूर्मोपधाननायं यजमानः ‘अग्निज्ञानचित्’ न भवति । किञ्च यः कूर्मोऽस्ति, स एव ‘वास्तव्यः’ (निवासयोग्यः), कूर्मपृष्ठे भूमेरवस्थितत्वात्, ततोऽपि कूर्मोपधानमित्यर्थः ।

उपधानात् पूर्वमभ्यञ्जनं विधत्ते,—“मधु वाता ऋतायत इति दध्ना मधुमिश्रेणाभ्यनक्ति स्वदयत्येवैनम्” (५।२।८अ०) इति । अभ्यञ्जनेनैव कूर्मं स्वादूकरोति ।

अभ्यञ्जनसाधनद्रव्यद्वयं प्रशंसति,—“ग्राम्यं वा एतदन्नं यद् दध्यारण्यं मधु यद् दध्ना मधुमिश्रेणाभ्यनक्तुमयस्यावरुध्यै” (५।२।८अ०) इति । ‘उभयस्य’ ग्राम्यस्यारण्यस्य च भोग्यजातस्य ।

कूर्मोपधानमन्त्रे द्यौः पृथिवी चेति शब्दद्वयस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“महो द्यौः पृथिवी च न इत्याह्वाभ्यामेवैनमुभयतः परिगृह्णाति” (५।२।८अ०) इति ।

स्वयमावृणायाः पूर्वदेशं कूर्मस्य विधत्ते,—“प्राञ्चमुपदधाति सुवर्गस्य लोकस्य समष्टौ” (५।२।८अ०) इति । ‘प्राञ्चं’ प्राग्देशवर्त्तिनं; स्वर्गलोकोऽपि प्राग्देशवर्त्ती ।

तस्मिन् प्राग्देशे कूर्मस्य प्रत्यङ्मुखत्वं विधत्ते,—“पुरस्तात्प्रत्यङ्चमुपदधाति तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यङ्चः पशवो मेधमुपतिष्ठन्ते” (५।२।८अ०) इति । स्वयमावृणायाः पुरस्तात् उपधेयः कूर्मः, तं कूर्मं प्रत्यङ्मुखमुपदधात्; यस्मादेवं, ‘तस्मात्’ आहवनीयस्य

‘पुरस्तात्’ यूपे बद्धाः ‘पशवः’ प्रत्यङ्मुखा यज्ञं सेवन्ते । यदङ्कं सूत्रकारेण, ‘प्रादेशमात्रं चतुश्रं- (?)—मौदुस्वरमुलूखलमुत्तरेऽङ्के प्रयुनक्ति सर्वाषधस्य पूरयित्वावहत्य परा यूपेदं विष्णुर्विचक्रम इति मध्येऽग्नोरुपदधाति’ इति ।

• तदेतद्विधत्ते,—“यो वा अपनाभिमग्निं चिनुते यजमानस्य नाभिमबुप्रविशति स एनमोश्चरो हिंसितोरुलूखलमुपदधात्येषा वा अग्नेर्नाभिः स नाभिमेवाग्निं चिनुते हिंसायाः” (५।२।८अ०) इति । नाभिरहितत्वेन चीयमानोऽग्निः, ‘यजमानस्य’ ‘नाभिं’ प्रविश्य हिंसितुं प्रभवति, अतो नाभिस्थानीयम् ‘उलूखलम्’ उपदधात् । तथा सति सनाभित्वेनास्य हिंसा न भवति ।

उलूखलस्य प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते,—“औदुस्वरं भवत्यूर्वा उदुस्वरं कर्जमेवावरुन्धे” (५।२।८अ०) इति ।

देशविशेषं विधत्ते,—“मध्यत उपदधाति मध्यत एवास्मा ऊर्जं दधाति तस्मान्मध्यत ऊर्जा भुञ्जते” (५।२।८अ०) इति ।

हस्तेनाभिनीय उलूखलस्य • प्रादेशपरिमाणं विधत्ते,—“इयङ्गवति प्रजापतिना यज्ञमुखेन मस्मितम्” (५।२।८अ०) इति ।

उपधानात् पूर्वभाविनं सर्वाषधाववघातं विधत्ते,—“अवहृत्यन्नमेवाकरोत्” (५।२।८अ०) इति ।

भातस्यन्ति

अन्यत्रास्नातम्, ‘इदं विष्णुः’ इति, मुन्त्रमुलूखलस्योदयं विनियुङ्क्ते,—“वैष्णव्या ऋचा उपदधाति विष्णुर्वै यज्ञमास्नातम्, वनस्पतयो यज्ञ एव यज्ञं प्रतिष्ठापयति” (५।२।८अ०) । ‘सर्वाभिः’

कल्पः, ‘तद्विष्णोः परमं पदमिति मुमलम्’ इति । काशं कुह ।



अथ द्वितीयामाह,—या वो देवाः सूर्ये रचो गोव्यश्वेषु या रचः । इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभीरुचन्नेो धत्त वृहस्पते<sup>(१४)</sup> इति । हे ‘देवाः’, ‘वः’ (युष्माकं) सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्त्तमाना या ‘रचः’ (दीप्यः) सन्ति, तथा ‘गोषु अश्वेषु’ च या दीप्यः सन्ति । हे ‘इन्द्राग्नी’, हे ‘वृहस्पते’, त्रयोऽपि यूयं, ‘नः’ (अस्मदर्थे) ‘रचं’ ‘धत्त’ (प्रकाशं सम्पादयत) । एतन्मन्त्रसार्थं वामभट्टाख्याया दृष्टकाया उपधानमौपानुवाक्यकाण्डे द्रष्टव्यम् ।

कल्पः, ‘विराड्ज्योतिरिति तिस्रो रेतःसिचः’ इति । पाठस्तु,—“विराड्ज्योतिरधारयत् सम्राड्ज्योतिरधारयत् खराड्ज्योतिरधारयत्<sup>(१५, १६, १७)</sup>” इति । विशेषेण राजत इति ‘विराट्,— एवंविधा रेतःसिगाख्या प्रथमेष्टका अस्मदनुग्रहार्थं ‘ज्योतिरधारयत्’ । सम्यक् राजत इति ‘सम्राट्’, तादृशी द्वितीया रेतःसिगिष्टका । स्वयमेव राजत इति ‘खराट्’, तादृशी तृतीया रेतःसिगिष्टका ।

कल्पः, ‘अग्ने युच्वा हि ये तव युच्वा हि देवहृतमानिति द्वाभ्यामुखायाः ऊच्वा’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“अग्ने युच्वा हि ये तवाश्यासो देव साधवः । अरं वहन्त्याश्वः<sup>(१८)</sup>” इति ॥ हे ‘अग्ने’, देवसम्बन्धिनः ‘अश्यासो’ ये केचिद् (अश्याः) ‘साधवः’ (दान्ताः) सन्तः ‘आश्वः’ (शीघ्रगामिनो) भूत्वा ‘अरं’ (अलं) ‘वहन्ति’, सुष्ठु वहन्तीत्यर्थः, तन्न अश्वान् ‘युच्व’ (योजय) ।

अथ द्वितीयामाह,—“युच्वा हि देवहृतमाः अश्याः अग्ने रथोरिव । निहोता पूर्यः सदः<sup>(१९)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, त्वं ‘देवहृतमान्’ (देवानामतिशयेन आक्राहन्) ‘युच्व’ (योजय) ।

‘हि’-शब्दः प्रसिद्धवाची । प्रसिद्धेऽस्मिन् कर्मणोत्तरार्थः । योजने  
 हेतुान्तः,—‘रथो’ ‘अश्वान्’ ‘इव’ इति, (रथो खामी यथा  
 अश्वान् योजयति तद्वत्) । किञ्च त्वं ‘पूर्वः’ (पुरातनः) ;  
 ‘हेता’ (हेतामत्यादको) भूत्वा ‘नि’-‘षदः’ (अस्मिन् यागस्थाने  
 निषीद) । वाममृगमन्त्रयोरिव रेतःसिङ्मन्त्राणां हेतुमन्त्रयोश्च  
 ब्राह्मणमौपानवाक्यकाण्डे द्रष्टव्यम् ।

कल्पः, ‘पुरुषशिरसि हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति द्रुपश्चस्कन्दे-  
 त्यास्येऽभृदिदं विश्वस्य भुवनस्येति वर्चे त्वेति दक्षिणाक्षिगोलके  
 रुचे त्वेति मध्ये द्युते त्वेति कर्णयोर्भासे त्वेति दक्षिणस्यां नासिकायां  
 ज्योतिषे त्वेत्युत्तरस्याम्’ इति । उदाहृतेषु मन्त्रेषु प्रथमानुचमाह,  
 —“द्रुपश्चस्कन्दं पृथिवीमनु द्यामिमञ्च योनिमनु यश्च पूर्वः ।  
 तृतीयं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रुपं जुहोम्यनु सप्त होत्रा(१०)” इति ।  
 द्रव्यान्तरसङ्घट्टनेन स्फुटितो हिरण्यशकलो ‘द्रुपः’, ‘पृथिवी’  
 ‘अनु’ ‘चस्कन्द’, पृथिव्यां पूरित इत्यर्थः । स च द्रुपो ऊतः  
 सन् स्थानत्रये ‘ऽनु’-सञ्चरति (द्युलोके अन्तरिक्षलोके भूलोके च) ।  
 तद्वत्तदभिप्रेत्य स्मर्यते,

“अग्नौ प्रास्ताऊतिः सम्यगादयमुपनिष्ठते ।

आद्रित्याज्जायते दृष्टिर्दृष्टेरन्नं ततः प्रजाः” इति (मनु०) ।

त्रेऽयमर्थो द्यामित्यादिनाऽभिधीयते । ‘द्यामिमञ्च योनि-  
 मनु’ (अन्तरिक्षरूपमिदं स्थानमनु सञ्चरति) । ‘यश्च पूर्वः’  
 (योऽपि पृथिवीमनु चस्कन्देति पूर्वोक्तस्थानविशेषः), तमयनु-  
 सञ्चरति । ‘तृतीयं योनिं’ (द्युलोकरूपमादित्यस्थानम्) अनु-

सञ्चरति । तमिमं त्रिषु स्थानेषु 'अनु सञ्चरन्तं' 'द्रुप्तं' 'जुहोमि' (मनसा ऊतमिव भावयामि) । कुत्र होमः ?—इति—तदुच्यते—  
'अनु सप्त होत्रा' इति । यस्यां दिशि द्रुप्तः पतितः, तद्व्यति-  
रिक्ता होमयोग्याः सप्त दिशो याः सन्ति, तासु अनुक्रमेण  
जुहोमि । यथा द्रुप्तो ऊत आदित्यादिस्थानत्रयेषु सञ्चरन्नुप-  
करोति, तथा भावयामीत्यर्थः ।

अथ विकल्पितां द्वितीयामुच्यमाह,—“अभृदिदं विश्वस्य  
भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च । अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान्  
रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्<sup>(१)</sup>” इति । 'इदं' (हिरण्यं) 'विश्वस्य'  
'भुवनस्य' (भूतजातस्य) 'वाजिनम्' (अद्वम्) अभृत् । तथा  
'वैश्वानरस्य' 'च' (विश्वेषां नराणां स्वामिनः) 'अग्ने' 'च'  
अन्नमभृत् । अयम् 'अग्निः' हिरण्येन 'ज्योतिषा' स्वयं\* 'ज्योति-  
ष्मान्' अभृत्, तथा 'रुक्मः' (रोचमानोऽग्निः) 'वर्चसा'  
(हिरण्यकान्त्या) 'वर्चस्वान्' (स्वयमपि कान्तिमान्) अभृत् ।  
बाहुगतप्रभा ज्योतिः, शरीरगतकान्तिर्वर्च इति ।

“अचे त्वा, रुचे त्वा<sup>(२१)(२२)</sup>” इति यजुर्द्वयं । हे हिरण्यशकल,  
येयम् ऋक् स्तोत्ररूपा, तदर्थं त्वां दक्षिणाक्षिगोलके प्रत्यस्यामि ।  
तथा हे हिरण्यशकल, याऽमौ रुक् (दोषिः), तदर्थं त्वां वामा-  
क्षिगोलके प्रत्यस्यामि ।

एतैर्मन्त्रैर्यस्यावयवेषु हिरण्यशकलानि प्रत्यस्यन्ते तस्य पुरुष-  
शोर्षस्थोपधानं विधत्ते,—“सहस्रं वै प्रति पुरुषः पशूनां यच्छति

\* वयामिति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

सहस्रमन्ये पशवो मध्ये पुरुषशीर्षमुपदधाति सवीर्यत्वाय” (५।२। ६ अ०) इति । अत्र हि पुरुषशीर्षाश्वभट्टाणिवस्तानां शिरा-  
स्तुपधेयानि । तेषां ‘मध्ये’ यः ‘पुरुषः’ स एक एव ‘पशूनां’  
‘सहस्रं’ यजमानाय ‘प्रयच्छति’ । ‘अन्ये’ तु अश्वर्षभट्टाणिवस्ता-  
स्त्यारः ‘पशवः’ मिलित्वा ‘पशूनां’ ‘सहस्रं’ प्रयच्छन्ति । तथा सति  
अश्वादिभ्यः पुरुषस्यातिप्रशस्तत्वात् तदीयं शिरो मध्ये उप-  
दधात् । तच्चोपधानं वीर्यसाहित्याय सम्यद्यते ।

तस्य पुरुषशीर्षस्योखासमोपदेशं विधत्ते,—“उखायामपिदधाति  
प्रतिष्ठामेवैनङ्गमयति” (५।२।८ अ०) इति । ‘उखायां’ उखासमोपे ।

तस्य पुरुषशीर्षस्य आस्थादिच्छिद्रेषु हिरण्यशकलप्रक्षेपं विधत्ते,  
—“वृद्धं वा एतत् प्राणैरमेध्यं यत् पुरुषशीर्षम् अमृतं खलु वै  
प्राणा अमृतं हिरण्यं प्राणेषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति  
प्रतिष्ठामेवैनङ्गमयित्वा प्राणैः समर्द्धयति” (५।२।८ अ०) इति ।  
तदेतत् पुरुषस्य शिरः ‘प्राणैः’ वियुक्तवाद्यज्ञानर्हं; प्राणास्तु  
मरणहीनत्वात् ‘अमृतम्’ इत्युच्यन्ते, लोके हि, प्राणवियोगे  
सति शरीरस्यैव मरणं, न तु प्राणानां । ‘हिरण्यं’ चाग्नि-  
संयोगे सति विनाशाभावात् ‘अमृतम्’; अतः प्राणसञ्चारम्यानेषु  
आस्थादिषु हिरण्यशकलान् प्रक्षेपेत्, तथा सति उखायां प्रति-  
ष्ठापितं शिरः ‘प्राणैः’ समर्द्धं भवति ।

कल्पः, ‘समित्स्ववन्तीति वृत्तातङ्गेन दध्ना मधुमिश्रेण पुरुष-  
शिरः पूरयति’ इति । पाठस्तु,—“समित्स्ववन्ति सरितो न  
धेनाः । अन्तर्हदा मनसा पूयमानाः । घृतस्य धारा अभि-

चाकृशीमि । हिरण्यो वेतसो मध्य-आसाम्<sup>(१४)</sup> इति ।  
 'धेनाः' (पाणयोग्याः) दधिमध्वयवाः 'समित्सवन्ति' (सम्यक्  
 प्रवहन्त्येव) । तच्च दृष्टान्तः,—'सरितो न' (सरित इव), यथा  
 नद्यः प्रवहन्ति, तद्वत् । ते च 'अन्तः' (शरीरस्थाभ्यन्तरे) 'हृदा'  
 'मनसा' (हृदयपुण्डरीकवर्तिनाऽन्तःकरणेन) 'पूयमानाः' (शोध्य-  
 मानाः) दधिमध्वयवाः 'घृतस्य धाराः' सम्पद्यन्ते । ताश्च 'धाराः'  
 'अभिचाकशीमि' (अभितः प्रकाशयामि) अनुभवामीत्यर्थः ।  
 'आसां' घृतधाराणां 'मध्ये' 'हिरण्यः' (सुवर्णमय इव तेजोरूपः)  
 पुरुषस्य मूर्द्धा 'वेतसः' (जलप्रवाहमध्यगतवेतसवृक्ष इव) अवभासते ।

एतन्मन्त्रसाधं पूरणं विधत्ते,—“दध्ना मधुमिश्रेण पूरयति  
 मध्व्योऽसानीति” (५।२।८अ०) इति । अहं 'मध्व्योऽसानि'—(मधुर-  
 रसभोगयोग्यो भवानि)—इत्यभिप्रायेण तत्पुरुषशिरो मधुसम्पृक्तेन  
 'दध्ना' पूरयेत् ।

तस्य दध्ना गुणविशेषं विधत्ते,—“शृतातश्चेन मेधत्वाय”  
 (५।२।८अ०) इति । द्विविधं दधि तच्चैकं रजतप्रक्षेपादिना  
 स्वयमेव घनीभवति, अन्यत्तु पक्वचीराद्यातश्चेन जम्ब्यद्यते ;  
 तच्च पक्वचीरातश्चेनाभ्यां निष्पन्नं यागयोग्यं, तस्मात् तादृशेनैव  
 पूरयेत् ।

तदिदं दधिमधुद्वयं प्रशंसति,—“याम्यं वा एतदन्नं यत्  
 दधि आरण्यं मधु यद्दध्ना मधुमिश्रेण पूरयत्युभयस्यावहै”  
 (५।२।८अ०) इति ।

कल्पः, 'तस्मिन् सुपर्णे मधुक्रतु कुलायीति पुरुषश्चिर आदाय

इति । पाठस्य,—“तस्मिन्सुपर्णे मधुकृत् कुलायी भजन्नास्ते  
मधुदेवताभ्यः । तस्यासते हरयः सप्ततीरे खधां दुहाना अमृतस्य  
धाराम्(१५)” इति । \* ‘तस्मिन्’ (वेतसस्थानीये) पुरुषशिरसि ।  
‘मधुकृत्’ कश्चित् (मधुकरः) ‘आस्ते’ । कोदृशः?—‘सुपर्णः’ (शोभन-  
पक्षोपेतः); ‘कुलायी’ (कुलायो मधुकराणां निवासस्थानं, सो-  
ऽस्यास्तीति कुलायी) । किं कुर्वन्?—‘देवताभ्यः’ (देवतार्थं)  
‘मधु’ ‘भजन्’ (सम्पादयन्), ‘तस्य’ (पुरुषशिरसः) ‘तीरे’ (समापे)  
‘हरयः’ (मधुहरणशीलाः) सप्तच्छिद्रवर्त्तित्वेन सप्तसङ्ख्याका मधु-  
करा ‘आसते’ । किं कुर्वन्तः?—‘खधा’ (खधाकारोपलक्षित-  
भोग्यवस्त्ररूपम्\*) ‘अमृतस्य’ (मधुनः) ‘धारां’ ‘दुहानाः’ (स्नाव-  
यन्तः) ते । पुरुषशिरसि प्राणसमृद्धिमम्पादनाय हिरण्यशकलप्रक्षेपः  
पूर्वमभिहितः, प्राणेषु समृद्धेषु सत्तु चेतनं जीवात्मानमासाद्य  
\* मधुकररूपत्वं मम्पाद्य तेन पुरुषशिरः प्रशस्यते । यथा श्लोके,  
मधुकरः कस्मिंश्चिद् वृत्ते स्वनिवासाय कुलायं कृत्वा मधु स-  
म्पादयति, तत्र सध्वर्थं यदपूर्वं कुलायं कृतं, तस्य छिद्ररूपासु  
नाडीषु जुष्टा मधुकराः स्वस्वशक्नुभारेण मधु सम्पादयन्तो  
वर्त्तन्ते, तद्वत् । तदेतत्सर्वमत्र रूपकान्त्यनया सम्पादितम्, इत्थं  
प्रशस्तमिदं पुरुषशिरोऽनेन मन्त्रेण स्वीकुर्यात् । यत् पूर्वं विहितं  
पुरुषशीर्षमुपदधातीति, तदेतदुपधानं कर्तुमिदं पुरुषशीर्षादानं  
द्रष्टव्यम् ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

ध्रुवेति स्वयमाहृणां स्पृशेत्, प्रेति दधाति तां ।  
 काण्डाद्, दूर्वेष्टकां, द्वाभ्यामषाढां, मधुमक्षिभिः ॥  
 अनक्ति मधुमिश्रेण दध्ना कूर्मै, महीति च ।  
 कूर्मै दधोत, तद्विष्णोर्मुमलं हि, ध्रुवेत्युखाम् ॥  
 यास्ते वाममृतं द्वाभ्यां, विराड्, रेतःसिचस्त्रिभिः ।  
 अग्ने-द्वाभ्यामुखाद्देमो द्रष्टः पुरुषशीर्षके ॥  
 आस्ये स्वर्णे क्षिपेत्तत्र, मन्त्रोऽभूदिति वा भवेत् ।  
 षष्ठे रुचे द्वयोरक्ष्णोः सुवर्णशकले क्षिपेत् ॥  
 समिद्द्वा च मधुना पूरयेन्नरशीर्षकम् ।  
 तस्मिन्, तच्छिर आदत्त, पञ्चविंशतिरीरिताः ॥

अथ मोमांसा,—तृतीयाध्यायस्याष्टमे पादे द्वितीयाधिकरणे,  
 चिन्तितम्,—

“इष्टका वरदानं किं स्वामिनः स्यादुत्तर्षिजः ।

स्वामिनः पूर्वधनैवमध्वर्योर्वचनादिति ॥

‘य एतामिष्टकामुपदध्यात् स चीन् वरान् दद्यात्’ इत्याचा-  
 ष्याध्वर्योर्गो-त्रयदानं वाचनिकं, न ह्यस्ति वचनस्यातिभारः ॥”

इति सायनाचार्यविरचिते, माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
 यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

आदित्यं गर्भं पर्यसा समञ्जन्त्सहस्रस्य प्रतिमां  
 विश्वरूपं । परिदृष्टिं हरसा माभिमृष्टः शतायुषं  
 कृणुहि चीयमानः<sup>(१)</sup> । इमं मा हिंसीर्हिपादं पशूनां  
 सहस्रांश्च मेध आचीयमानः । मयुमारण्यमनु ते दि-  
 शामि तेन चिन्वानस्तनुवो निपीद<sup>(२)</sup> । वातस्य धाजिं  
 वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानः सरिरस्य मध्ये । शिशुं  
 नदीनां हरिमद्रिबुद्धमग्ने मा हिंसीः ॥ १ ॥

परमे व्योमन्<sup>(३)</sup> । इमं मा हिंसीरेकशफं पशूनां  
 कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । गौरमारण्यमनु ते  
 दिशामि तेन चिन्वानस्तनुवो निपीद<sup>(४)</sup> । अजस्र-  
 मिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचितौ नमोभिः । स  
 पर्वभिर्चतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदिति वि-  
 राज<sup>(५)</sup> । इमं समुद्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं  
 भुवनस्य मथ्यं घृतं दुहानामदिति जनायाम्ने मा ॥  
 ॥ २ ॥

हिंसीः परमे व्योमन् । शवयमारण्यमनु ते दि-  
 शामि तेन चिन्वानस्तनुवो निपीद<sup>(६)</sup> । वरुचिं त्वष्टु-  
 र्वरुणस्य नाभिमविं ; जज्ञानां रजसः प्ररस्मात् ।  
 मही साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे  
 व्योमन्<sup>(७)</sup> । इमामूर्णायुं वरुणस्य मायां त्वचं पशूनां



द्विपदां चतुष्पदां । त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनिचममे  
मा हिंसीः परमे व्योमन् । उष्ट्रमारण्यमनु ॥ ३ ॥

ते दिशामि तेन चिन्वानस्तनुवो निषीद<sup>(८)</sup> । यो  
अग्निरग्नेस्तपसोऽधिजातः शोचात् पृथिव्या उत वा  
दिवस्परि येन प्रजा विश्वकर्मा व्यानत् तमग्ने हेडः  
परि ते वृणक्तु<sup>(९)</sup> । अजा ह्यग्नेरजनिष्ट गभात् सा वा  
अपश्यज्जनितारमग्ने । तथा रोहमायन्नुप मेध्यास्तया  
देवा देवतामग्र आयन् । शरभं, -मारण्यमनु ते दि-  
शामि तेन चिन्वानस्तनुवो निषीद<sup>(१०)</sup> ॥ ४ ॥

अग्ने मा हिंसीः । अग्ने मा । उष्ट्रमारण्यमनु ।  
शरभं । नव च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीय-  
प्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

नवमोऽनुवाके स्वयमावृणाद्युपधानमुक्तम् । दशमे पशुशीर्षो-  
पधानं वक्तव्यम् । कल्पः, 'आदित्यं गर्भमित्युखायां पुरस्ता-  
च्चुवुकं प्राचीनमुत्तानं प्राङ्मुख उपधाय' इति । पुरुषश्चिर-  
इत्यनुवर्त्तते । पाठस्तु,—“आदित्यं गर्भं पयसा समञ्जसहस्तस्य  
प्रतिमां विश्वरूपं । परिवृन्धि हरसा माभिष्टुचः शतायुषं कृणुहि  
वीथमानः<sup>(१)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वं 'वीथमानः' संन् 'आदित्यं'

‘गर्भेण’ (अदितिदेवतायाः समन्त्रि तत्कार्यरूपं गर्भसदृशम्) । इदं पुरुषकारेण ‘परिचरि’ (परितो चरितं कुरु) । ‘हरसा’ (तेजसा) । अदीयज्वालाकूपेण ‘माऽभिमृचः’ (अभिमर्शनं स्वर्गं मा कुरु) । ज्वालायां सर्वं दहस्येतत्पुरुषशीघ्रे मा दहेत्यर्थः । अनेन दाहाभावेन तं गर्भं यजमानं वा ‘व्रतायुषं’ ‘हणुहि’ (कुरु) । कीदृशं गर्भं ?—‘सहस्रस्य’ ‘प्रतिमां’ (पशुसहस्रेण तुल्यं, सदृशम्) । अत एव ब्राह्मणेऽभिहितम्, ‘सहस्रं वै प्रतिपुरुषः पशूनां यच्छति सहस्रमन्ये पशूनां मध्ये पुरुषशीर्षमुपदधाति सवीर्यत्वाय’ इति ।

कल्पः, ‘पशुशीर्षाण्युपदधाति यं कामयेतापशुः स्यादिति विषूचीनानि तस्मैत्युक्तं, वातस्य भ्राजिमिति पुरस्तात् प्रतोचोनम् अथस्य, अजस्तमिन्दुमिति पश्चात् प्राचीनमृषभस्य, वहन्ति त्वष्टुरिति दक्षिणत उदीचीनं वृष्णेः, यो अग्निरग्रेरित्युत्तरतो दक्षिणं वस्यस्य तान्यथवायेनोत्सर्गेऽपतिष्ठते इमं मा हिः सोर्दिपादमिति पुरुषस्य इमं मा हिः सोरेकमफमित्यथस्य, इमं समुद्रमित्यृषभस्य, इमामूर्धायुमिति वृष्णेः, अजा ह्यग्न इति वस्यस्य’ इति । तत्तत्पूर्वापधानमन्त्रेभ्योऽनन्तरमेवाकातास्तत्तदुपस्थानमन्त्राः, ‘अनु ते दिव्यानि’ इत्युत्सर्गस्त्रिषुत्वादुत्सर्गा इत्युच्यन्ते, । तेऽसौर्मन्त्रैस्तत्तत्स्मिन्नस्य चव-  
त्सार्यं कुर्यात् ।

तत्र पुरुषशीर्षोपस्थानमन्त्रमाह,—“इमं मा हिः सोर्दिपादं पशूनां सहस्राद्य मेध आचोयमानः । मयुमारण्यमनु ते दिव्यानि तेन विश्वानस्तनुवां निषोद(१)” इति । ये ‘सहस्राद्य’ (सहस्र-  
सहस्राकं ज्वालाकूपचतुर्युक्तं), ये ‘मेध’ (यज्ञविश्वारदकं), ‘आ-

बीजगतः' (सर्वतः पशुमूर्द्धाभिरुपचयं प्राप्तवानः), 'पशूनां'  
(याम्याणामारण्यानाञ्च) मध्ये 'इमं' (पशुवशीर्ष-मूर्द्धरूपं) 'हि-  
पादं' (याम्यपशुं) 'मा हिंसोः' (दाहरूपं, हिंसां मा कार्षीः) ।  
अदि तव भक्ष्यापेक्षा, तर्हि 'ते' (तव) भक्षणाय 'इमं' 'आरण्यं'  
'मधु' (हृष्यामृगं) 'अनु'-दिशामि' (पुरुषशीर्षमनु तद्भक्ष्यत्वेनानु-  
सृजामि) । 'तेन' (मधुभक्षणेन) ज्वालाकृपाः 'तनुवः' (त्वदीय-  
तनुः) 'चिन्वानः' (पोषयन्) 'निषीद' ।

अथाश्वगिरस उपधानमन्त्रमाह,—“वातस्य भ्राजिं वरुणस्य  
नाभिमशं जह्वाणः सरिरस्य मध्ये । शिशुं नदीनाः हरि-  
मद्रिबुद्धमग्ने मा हिंसोः परमे व्योमन्(१)” इति । हे 'अग्ने',  
'अश्वं' 'मा हिंसोः' (ज्वालाया मा दह), (विविधरोगरक्षणमर्दाहः),  
सहस्रमशस्य रोगाः सन्ति, तेभ्यः सर्वेभ्यः पालनमित्यर्थः । तच्च  
परमम् (उत्कृष्टं), रक्षितस्याश्वस्य पुनरुपद्रवकदा\* यथा न जायते  
तथा रक्षणं, रक्षणस्य परमत्वं ; तादृशस्यां परमे व्योमन् एनम्  
अश्वं स्थापयेति शेषः । कीदृशमश्वं ?—‘वातस्य’ ‘भ्राजिं’ (वायो-  
गतिस्वरूपं) वायुवच्छीघ्रगतिमित्यर्थः । तथा ‘वरुणस्य’ ‘नाभिं’  
(अपारमधिपतेर्वरुणस्य नाभिस्थानीयं), यथा स्त्रोदरमध्यवर्तिनी  
नाभिर्वस्त्रप्रावरणादिना पाख्यते, तद्वदत्यन्तप्रियत्वाद् वरुणेन  
पालनीयमित्यर्थः । ‘अत एव प्रियत्वमभिप्रेत्य, ‘प्रजापतिर्वरुणाया-  
श्चमनयत्’ इत्याज्जायते । अश्वमेधकाण्डेऽपि, ‘वारुणो वा अश्वः’

\* पुनरुपद्रवः कदापि इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† तादृशे इति पाठो भवितुं युक्तः ।

इत्याकातम् । 'हरिरस्य' 'मध्ये' 'जज्ञानं' (समुद्रजलस्य मध्ये वज्रवारूपेणोत्पन्नम्), अत एव 'अक्षयोनिर्वा अश्वः' इत्यस्य च अतः । 'नदीनां' 'त्रिष्टु' (यथा नदीनां पतिः समुद्रः पूर्वोक्तन्यायेन पिता, तथा नदीनां मातृत्वादयं तच्छिष्टुः) ; 'हरिं' (उपर्याकृष्टस्य पुंसस्य हर्तारं नेतारम्) ; 'अद्रिबुद्धं' (मार्गमध्ये खुरैर्युषीकृता ये अद्रयः क्षुद्रपाषाणाः, तैर्बुद्धं तादृशान् पाषाणान् बृहद् मार्गेऽस्मिन् अश्वो गत इति बोद्धुं शक्यते) ।

अथाश्वभिरस उपस्थानमन्त्रमाह,—“इमं मा हिंसीरेकशफं पशूनां कनिकदं वाजिनं वाजिनेषु । गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तनुवो निधीद<sup>(४)</sup>” इति । 'पशूनां' (चतुष्पदां) मध्ये 'एकशफं' 'इमम्' अश्वं 'मा हिंसीः' । कीदृशमश्वं?—'कनिकदं' (हेमास्वरूपेणात्यन्तकन्दनेनोपेतं) । 'वाजिनेषु' 'वाजिनं' (घोषगतिद्युक्तेषु प्राक्षिषु अत्यन्तघोषगतिद्युक्तं) । 'गौरः' सिंहः । श्रेष्ठं पुंवत् ।

अथ अश्वभिरस उपधानमन्त्रमाह,—“अजस्रमिन्दुमर्षं भुरष्टुमग्निमीडे पूर्वचितौ नमोभिः । स पर्वभिर्ऋतुभ्यः कल्पमानो गां मा हिंसीरेदिति विराजम्<sup>(५)</sup>” इति । पूर्वेषां महर्षिणां चितिर्बुद्धिः, 'पूर्वचितः'; पूज्यमानमिति शेषः; तैर्ऋयम् एतम् 'अग्निं' 'नमोभिः' (नमस्कारैः) युक्तः अश्वं 'ईडे' (क्षौमि) । कीदृशमग्निं?—'अजस्रमिन्दुं' (निरन्तरं परमेश्वर्योपेतम्) । 'अहः'—अश्वो मर्मवाचो, मर्मसङ्गतं\* 'भुरष्टु' (भरन्तं पोषयन्तं),—

\* मर्मसंभाषमिति J. पु० पाठः ।

यद्यपि यजमानस्य कर्माणि वैरिणो नोद्वाटयन्ति तथाऽप्युप-  
नित्यः । 'सः' (अग्निः) आदित्यरूपेण स्त्रिया 'पूर्वभिः' (अमा-  
वास्यादिभिस्त्रिभिः) 'अतुष्टः' (तस्मिन् तस्मिन् अतौ) 'कल्पमानः'  
(कर्माणि संपादयन् वर्तते); तादृशं च अग्ने, 'गां' (अवध-  
मूर्द्धानम्) एतं 'मा हिंसोः' । कीदृशमग्निं ?—'अदिति' (अखण्ड-  
नीयं) 'विराजं' (विशेषेण राजमानम्) ।

अथ अष्टमश्रिरस उपस्थानमन्त्रमाह,—“इमं समुद्रं  
व्रतधारमुत्तं व्यच्यमानं भुवनस्य मध्ये । घृतं दुहानामदितिं  
जनायागे मा हिंसीः परमे व्योमन् । गवयमारण्यमनु ते  
दिशामि तेन चिन्वानस्तनुवो निषीद<sup>(१)</sup>” इति । 'जनाय'  
(यजमानार्थम्) 'इमं' (गाम् अष्टममूर्द्धानं) 'मा हिंसोः', किन्तु  
'परमे व्योमन्' (उत्तमे विविधरक्षणे) स्थितं कुह । कीदृशं ?—  
'इमं' 'समुद्रं' (सम्यगुन्नत) 'व्रतधारं' च (स्वजातीयधेनुद्वारा  
व्रतसंज्ञाकक्षीरधारोपेत); अत एव 'उत्त' (जलप्रवाहसदृशं) ।  
'भुवनस्य मध्ये' 'व्यच्यमानं' (विद्यमानं\*, वेद्यमानं वा); 'घृतं  
दुहानां' (स्वजातीयधेनुक्षीरादिद्वारा घृतदोहनयुक्तां); 'अदिति'  
(अखण्डनीयां?) । 'गवयोः' गोसदृश आरण्यमृगविशेषः । शेषं  
पूर्ववत् ।

अथ दृष्टिश्रिरसं उपधानमन्त्रमाह,—“वरुणिं तदुर्वक्षस्य  
नाभिमविंजज्ञानां रजसः परस्मात् । महीं साहसामसुरस्य  
मायायागे मा हिंसीः परमे व्योमन्<sup>(२)</sup>” इति । हे 'अग्नि', 'अदिति'

(वृष्णिश्चिरः) 'मा द्विषोः' । कीदृशीमत्रि ?—'त्वष्टुः' 'वक्षसि' (वक्षसां निर्माता वक्षसा, तस्यावयवादरण्यरूपवृक्षा) । 'वक्षस्य माभि' (अग्निष्टनिवारकस्थानेनाभिस्थानोयां), 'परस्मात्' 'रजसः' 'जज्ञानां' (उत्पद्यमानगद्रजनात् प्रजापत्युरवः 'जज्ञानाम्' उत्पत्त्यां) । सप्तमकाण्ड, 'उरमो वाज्रभ्याम्' इत्यादिवाक्ये 'अविः पशूनाम्' इति श्रुतं । 'मही' (महती) सहस्रमूर्त्या 'असुरस्य मायां' (सुवर्मानोरसुरस्य समन्वित्वेन निर्मितां) । अत एव द्वितीयकाण्डे 'सुवर्मानुः' इत्यादिवाक्येनाभिहिता ।

वृष्णिश्चिरस उपस्थानमन्वमाह,—“इमामूर्णां वक्षस्य मायां त्वचं पशूनां द्विषदां चतुष्पदां । त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनिचमग्ने मा द्विषोः परमे व्योमन् । उद्गमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तनुवो निषोद<sup>(५)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'इमामूर्णां' (अविं) वृष्णिश्चिरारूपाम् 'मा द्विषोः' । कीदृशी ?—'वक्षस्य' 'मायां' (अग्निष्टनिवारकस्थानेः समन्वित्वेन निर्मितां); 'द्विषदां' (मनुष्याणां) 'चतुष्पदां' (गवादीनां) च 'त्वचं' (त्वक्सदृशीं), यथा त्वचा शरीरमावृतं, तथा द्विषदे । मनुष्याः शीतनिवारणाय अविजन्त्येन कम्बलेनाच्छादिता भवन्ति ; चतुष्पादोऽप्यस्या वस्त्रोवदांश्च भारवाहने मार्दवाय पृष्ठे कम्बलेनाच्छादिता भवन्ति । तथा 'त्वष्टुः' (प्रजापते) सकाशादुत्पद्यमानानां 'प्रजानां' मध्ये 'प्रथमं' 'जनिचं' (प्रधानं त्वनोत्पन्नं), प्राधान्यस्य 'वीर्यवत्त्वात्' ; वीर्यवत्त्वस्य वाज्रजन्यानां सर्वेषामाद्यातं, 'तस्मात् ते वीर्यावन्ता वीर्याधिसृज्यन्त' इति । 'उद्गः' प्रसिद्धः ।



तेन चिन्तामस्तुषो निचोद(१ः)" इति । 'हि' (वस्मात्) इष्टम्  
 'अजा' 'अग्नेः' 'गर्भात्' (उदरात्) 'अजनिष्ट' । अत एव आन्नातं,  
 'अ' आत्मनो वपामुदक्षिदत् तामग्नौ प्रागृष्टात् ततोऽजस्तूपरः  
 समभतत् इति । 'सा' एव अग्नेः प्रजापतेस्तोत्पन्न(?)—'जनितां'  
 (स्तोत्पादकं) प्रजापतिम् 'अवश्यत्' (उत्पत्त्यनन्तरमेव दृष्टवती);  
 अस्मादेवम् अजा प्रगृह्णा, तस्मात् 'तया' (अजया) 'मेध्यासः'  
 (धागयोग्याः) यजमाना 'रोहं' (स्वर्गम्) 'उपायन्' (सामीप्येनैव  
 प्राप्ताः) विस्त्रम्भन्तरेण प्राप्ता इत्यर्थः । किञ्च इदानीं वर्त्तमाना  
 'देवाः' अग्नेः पूर्वस्मिन् जन्मनि 'तया' एव (अजया) कर्माण्युपाय  
 'देवताम्' 'आयन्' (दैवलं प्राप्ताः) । ईदृशस्य वक्षश्चिरसो  
 भविमेति तात्पर्यार्थः । 'अरभः' सिंहघातो क्रूरमृगः ।

उक्तैर्मन्त्रैः साध्यं श्रोत्रोपधानं विधत्ते,—“पशुश्रीर्षाणामुप-  
 दधाति पशवो वै पशुश्रीर्षाणि पशून्नेवावरुन्धे” (४।२।८अ०)  
 इति ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पशुश्रीर्षाणां पशुश्रीर्षाभिमुख्यं विधत्ते,—  
 “यं कामयतापशुः स्यादिति विषूचीनां तस्योपदध्याद्विषूची  
 एवास्मात् पशून् दधात्यपशुरेव भवति यं कामयेत पशुमागत्या-  
 दिति समीचीनानि तस्योपदध्यात् समीच एवास्मै पशून् दधाति  
 पशुमानेव भवति” (५।२।८अ०). इति । 'विषूचीनां' (वज्र-  
 मुखाणि, पुरुषश्चिरः प्रति विमुखानोत्यर्थः), सोऽयं व्यतिरेकः ।  
 'समीचीनानि' (पुरुषश्चिरः प्रत्यभिमुखानोत्यर्थः), सोऽयमन्वयः ।

सांमान्येन विहितं पुनर्विज्ञेयाकारेण विधत्ते,—पुरस्तात्



प्रतीचीनमन्त्रोपदधाति पश्चात् प्राचीनमन्त्रमन्त्रापश्चो वा अन्त्रे  
गोअन्त्रेभ्यः पश्चो गोअन्त्रानेवात्सौ समीचो दधाति" (५।१।  
८अ०) इति । अन्त्राग्रिः पूर्वस्यां दिशि प्रत्यङ्मुख उपदधात्,  
अन्त्रमग्रिः प्रतीच्यां दिशि प्राङ्मुख उपदधात् । 'गोअन्त्रेभ्यः'  
अ ये 'पशवः', ते जातितः पशुत्वं तु अग्रस्तत्वात् 'अपशवः' एव;  
तस्मात् प्रशस्तयोगवाअग्रिमोराभिमुख्योपधानेन यजमानार्थं  
सर्वान् 'पशून्' अभिमुखान् 'एव' करोति ।

अथोपस्थानमन्त्रेस्वारणानामनुदेशनं य तात्पर्यं दर्शयति,—  
“एतावन्तो वै पशवो द्विपादस्तुष्ट्यादस तान् वा एतद्ग्नौ  
प्रदधाति यत् पशुग्नौर्षाण्युपदधात्यमुमरिण्यमनु ते दिशामोत्याह  
यान्त्रेभ्य एव पशुभ्य आरणान् पशून्क्षुचमनूत्सृजति तस्मात्  
समावत् पशूनां प्रजायमानानामारणाः पशवः कनोयांसः  
शुचा दृताः” (५।१।८अ०) इति । ये 'द्विपादः' (मनुष्यादयः),  
येऽपि 'स्तुष्ट्यादः' (गवादयः), 'एतावन्तः' एव लोके विद्यमानाः  
'पशवः', एवं सति पुरुषग्नौर्षस्य पशुग्नौर्षाण्युपधानेन 'तान्'  
सर्वान् 'अग्नौ' प्रक्षिपति । अतस्तत्परिहारायारण्यपशून्मनुदेशनं ।  
तेन चानुदेशनेन 'यान्त्रेभ्यः' 'पशुभ्यः' अपहृत्य 'आरणान्'  
'पशून्' प्रति 'शुचं' (वह्नितापं) प्रेरयति । 'हि' (यस्मात्)  
'आरणाः' 'शुचा' (वह्नितापेन) 'क्षताः' (प्राप्ताः), 'तस्मात्  
यान्त्रेः पशुभिदत्पत्तिसाम्येऽपि ते 'कनोयांसः' (मूल्यानर्हाः) ।  
अदुक्तं सूचकारेण, 'गमो अष्टु सर्पेभ्य इति दक्षिणेऽङ्गे सर्पेभिर  
उपदधादिषूचीनं पशुग्नौर्वैरपि वा यजुरेव वदन्नोपदधात्' इति ।

तत्रोपधानं विधत्ते,—“सर्पश्चोर्वमुपदधाति यैव सर्पे त्विषि-  
क्षामेवावहन्ते” (५।२।८ अ०) इति । त्विषिर्दोषिः ।

मन्त्रपाठमात्रं विधत्ते,—“यत् समोचीनं पशुश्चोर्वमुपदध्याद्  
याम्यान् पशून् दृष्ट्वाः स्वर्यद्विषूचीनमारण्यान् यजुरेव  
वदेदवतां त्विषिः हन्ते या सर्पेन याम्यान् पशून् हिनस्ति  
मारण्यान्” (५।२।८ अ०) इति । सर्पश्चोर्वस्य सम्मुखविमुखत्वे च  
बाधकसङ्गात्वात् प्रकारान्तरसम्भवाच्च तदुपधानं परित्यज्य मन्त्रमेव  
पठेत्, तदा मन्त्रपाठेन सर्पत्विषिरपि प्राप्यते; सम्मुखविमुखत्वयो-  
रभावात् दोषद्वयमपि नास्ति ।

तमिमं केवलमन्त्रपक्षमुपेक्ष्य उपधानपक्षस्यैव प्राप्तिप्रतिप्रसवं  
विधत्ते,—“अथो खलूपधेयमेव यदुपदधाति तेन तां त्विषि-  
मवहन्ते या सर्पे यद्यजुर्वदति तेन शान्तम्” (५।२।८ अ०) इति ।  
‘सर्पे’ ‘या’ ‘त्विषिः’ ‘ताम्’ उपधानेन लभते; मन्त्रपाठेन  
सर्पश्चिरसः शान्तत्वात् दंशनमपि न भवति ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

आद्युखायां शिरो धत्ते, इममित्युपतिष्ठते ।

वाताश्वस्य शिरः प्राच्यां दध्यादिमं, जपेत्तथा ॥

अज-र्वभशिरः पद्यादिममित्यभिमन्त्रणम् ।

वेद, दक्षिणतो दृष्ट्वाशिरस्तन्मन्त्रणं त्विमां ॥ •

यो, उदीच्यां वस्तुशिरस्तन्मन्त्रणमजेत्यतः ।

दशमे त्वमुवाकेऽस्मिन् दश मन्त्रा उदीरिताः ॥

अथ मीमांसा,—प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे षोडशाधिकरणे चिन्तितम् ।

“पशवोऽन्ये गवाश्चेभ्योऽपशवो वा इति श्रुतम् ।

अजादिष्वपशुत्वं हि गुणवादोऽथ वा श्रुतिः ? ॥

स्तुत्यभावाद्गुणक्षेपे पशुकार्थनिषेधनम् ।

अशक्यत्वान्निषेधस्य घटाद्यर्थाभिधायिना ॥

पशवोऽपशुशब्देन प्राशस्त्याभावसाम्यतः ।

लक्ष्यास्तत्र निमित्तन्तु प्रशस्येव गवाश्चयोः ॥

इदमाम्नायते, ‘अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवः’ इति । तत्राजादिषु श्रूयमाणं यदपशुत्वं, तत्सार्थवादत्वं न सम्भवति; पशुत्वमात्रनिषेधेन स्तुतेरप्रतिभानात्, ततः पशुकार्थनिषेधरूपो गुणोऽभिधीयते इति चेत् । मैवं, अजादिपशुविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गेन निषेद्धमशक्यत्वात् । अपशुशब्दः पशुव्यतिरिक्तं घटादिपदार्थम् अभिदधाति, तस्मिन् घटादौ गवाश्चवत् प्राशस्त्यं नास्ति, सोऽयं प्राशस्त्याभावोऽजादिषु पशुष्वस्तीति, -अनेनाभिप्रायेण पशव एव सन्तोऽप्यजादयो घटादिषाम्यादपशुशब्देन लक्ष्यन्ते । पूर्वञ्च यजमानकार्यसिद्धिराग्नेये मुखजत्वमादित्यतेजस्वित्वञ्च यजमानादि-शब्दानां प्रस्तराद्यर्थेषु प्रवृत्तिनिमित्तं, तत्प्रवृत्तिफलं प्रस्तरादि-प्रशंसा ; इह तु अपशुशब्दस्याजादिषु प्रवृत्तौ गवाश्चयोः प्रशस्येव निमित्तं फलञ्च । द्विप्रकारा हि प्रशंसा, -वस्तुनि विद्यमान-गुणोत्कर्ष एकः प्रकारः, स्तावकेन शब्देन सम्यादितो गुणोत्कर्षोऽपरः प्रकारः । “गवाश्चयोरजादिभ्यः उत्कर्षो लोकसिद्धो यः

सोऽच निमित्तं । अजादयः पञ्चवोऽपि सन्तो गवाश्वेभ्यः पञ्चवः\*  
 सम्यन्ताः, ईदृशो गवाश्वयोर्महिमेति स्तुतिः फलं । तस्मात् 'अ-  
 पञ्चवो वा अन्ये' इत्ययमर्थवादः । अयमेव न्याय उदाहरणान्तरे  
 योजनीयः;—'अयज्ञो वा एष योऽसामा' इत्येकमुदाहरणम् 'असचं  
 वा एतद्यदच्छन्दोमम्' इत्यप्रमुदाहरणम् । अग्निहोत्रदर्शपूर्ण-  
 मासादिर्यज्ञोऽपि सामहीनत्वादयज्ञा भवति, ईदृशः सामो  
 महिमा । कन्दोमशब्देन चतुर्विंशत्युत्तराग्निशोऽष्टाचत्वारिंश  
 इत्येते त्रयस्तोमा उच्यन्ते, अचरमह्यासाम्येन गायत्री-त्रिष्टुप्-  
 जगतोच्छन्दाभिर्भियमानत्वात् । तेषाञ्च विष्टुतिः सामब्राह्मणे  
 द्रष्टव्या । स्वतःसचमपि चतुर्दशरात्रादिकं कन्दामरहितत्वादसचं  
 भवतोत्थं स्तावकवादर्थवादत्वम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

. इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूपथः । तदां  
 चेति प्रवीर्य<sup>(१)</sup> । अथद्वृचमुत सनेति वाजमिन्द्रा यो  
 अग्नी संहुरी सपर्यात् । इरंज्यन्ता वसव्यस्य भूरेः

\* अपञ्चवः इति पाठो भवितुं युक्तः ।

सहस्तमा सहसा वाजयन्ता<sup>(१)</sup> । प्र चर्षणिभ्यः पृतना-  
हवेषु प्र पृथिव्या रिरिचाये दिवश्च । प्र सिन्धुभ्यः प्र  
गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्रो विश्वा भुवनात्यन्या<sup>(२)</sup> ।  
मरुतो यस्य हि ॥ १ ॥

क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो  
जनः<sup>(३)</sup> । यज्ञैर्वा यज्ञवाहसो विप्रस्य वा मतीनां ।  
मरुतः शृणुता हव<sup>(४)</sup> । श्रियसे कं भानुभिः संमिमिक्षिरे  
ते रश्मिभिस्त ऋक्भिः सुखादयः । ते वाशीमन्तो  
इक्षिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः<sup>(५)</sup> ।  
अवते हेड उदुत्तमं<sup>(६)</sup> कया नश्चिच आभुवदूती  
सदा वृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता<sup>(७)</sup> ॥ २ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भा-  
मिनो दुर्हणायून् आसन्निषन् हृत्वसो मयोभून्  
एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्<sup>(१०)</sup> । अमे मयाऽऽ देवानां  
<sup>(११।१२)</sup> शन्नो भवन्तु वाजे वाजे<sup>(११।१४)</sup> । अप्सवमे सधिष्टव  
सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भे सज्जायसे पुनः<sup>(१५)</sup> । वृषा  
सोम द्युमाः असि वृषा देव वृषव्रतः । वृषा धर्माणि  
दधिषे<sup>(१६)</sup> । इमं मे वरुण तत्त्वा यामि<sup>(१७।१८)</sup> त्वन्ना अमे  
स त्वन्ना अमे<sup>(१९।२०)</sup> ॥ ३ ॥

हि । वृता । मे । एकादश च ॥ ११ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि । दिवस्पतिः । अक्षपते । अपेक्ष ।  
समितं । यः जाता । मां मोहिःसीत् । अभ्यस्थात् ।  
भ्रुवासि धरुणा । आदित्यं गर्भम् । इन्द्राग्नौ रोचना ।  
एकादश ॥ ११ ॥

विष्णोः (१अ०) । अस्मिन् हव्या (३अ०) । इति  
त्वाहं (५अ०) । धीतिभिः (७) । होत्रा (९अ०) । अष्टा-  
चत्वारिंशत् ॥ ४८ ॥

॥ \* ॥ हरिः ओम् ॥ \* ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे द्वितीय-  
प्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

॥ ० ॥ समाप्तश्च द्वितीयः प्रपाठकः ॥ ० ॥

दशमेऽनुवाके पशुशिरमामुपधातमुक्तम् । अथैकादशे याज्या-  
नुवाक्या उच्यन्ते । चातुर्मास्येषु वरुणप्रघामाख्यं यद्वितीयं पर्व,  
तस्मिन् हवींषि चत्वार्यान्नातानि । 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं, मासतो-  
मामिचां, वारुणीमामिचां कायमेककपालम्' इति । तत्रैन्द्राग्नस्य  
पुरोऽनुवाक्यामाह,—“इन्द्राग्नौ रोचना दिवः परिर वाजेषु  
भृषयः । तद्वा चेति प्र वीर्यम्<sup>(१)</sup>” इति । ‘दिवः’ (द्युलोकस्य)  
‘रोचना’ (भासकौ), हे ‘इन्द्राग्नौ’, ‘वाजेषु’ (हविर्लक्षणेऽश्वेषु)

‘परि’-‘भूषयः’ (परितः, प्राप्तः) भागमिति शेषः । ‘तत्’ (तस्मात् कारणात्) ‘वां’ (युवयोः) ‘वीर्ये’ (सामर्थ्ये), ‘प्र’-‘चेति’ (प्रकर्षणाज्ञायि) लोके सर्वज्ञातमित्यर्थः ।

तत्रैव याज्यामाह,—“अथदृक्प्रमुत सनोति वाजमिन्द्रा यो अग्नी सज्जरो सपर्यात् । इरज्यन्ता वसव्यस्य भूरेः सहस्रमा सहसा वाजयन्ता(१)” इति । ‘यः’ (यजमानः) ‘इन्द्रा’-‘अग्नी’ ‘सपर्यात्’ (परिचरति) । कोदृशाविन्द्राग्नी ?—‘सज्जरो’ (समानाङ्गानौ) । स यजमानः ‘वृचं’ (वैरिणं) ‘अयत्’ (विनाशयति) । ‘उत’ (अपि च) ‘वाजम्’ (अन्नं) ‘सनोति’ (सर्वेभ्यः प्रयच्छति) । पुनरपि ‘भूरेः’ (वज्रलस्य) ‘वसव्यस्य’ ‘इरज्यन्ता’ (ईश्वरत्वं प्राप्तवानौ) । ‘सहसा’ (स्वकीयेन बलेन) ‘सहस्रमा’ (अतिशयेन सोढारौ) पर-बलस्य अभिभवितारावित्यर्थः । ‘वाजयन्ता’ (वाजमन्नमात्मन इच्छन्तौ) ।

तत्रैव विकल्पितां याज्यामाह,—“प्र चर्षणिभ्यः पृतनाह्वेषु प्र पृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च । प्र सिन्धुभ्यः प्र गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्नी विश्वा भुवनात्यन्या(१)” इति । हे ‘इन्द्राग्नी’, ‘पृतना’ (सङ्ग्रामेषु) ‘आह्वेषु’ (हविःस्वीकारार्थेषु आङ्गानेषु) च ‘चर्षणिभ्यः’ (मनुष्येभ्यः) ‘प्र’-‘रिरिचाथे’ (प्रतिकौ अतिरिक्तौ भव्यः) सर्वानपि मनुष्यान्तिरिच्य वर्त्तेथे इत्यर्थः । तथा ‘पृथिव्या’ ‘दिवश्च’ ‘प्र’-‘रिरिचाथे’ (तदुभयमतिरिच्य वर्त्तेथे) । तथा ‘सिन्धुभ्यः’ ‘प्र’-‘रिरिचाथे’ । तथा ‘गिरिभ्यः’ (पर्वतेभ्यः) ‘प्र’-‘रिरिचाथे’ । किञ्चज्ज्ञा ?—‘अत्यन्या’ (अत्यन्तमितराणि) , ‘विश्वा’ ‘भुवना’

(सर्वाणि भुवनानि) 'महिला' (स्वकीयेन महिष्या) युवां अति\*-  
'प्र'रिच्छाये' (अतिरिच्य वर्त्तये) ।

अथ माहत्या आमिच्छायाः पुरोऽनुवाक्यामाह,—“मरुतो  
यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः<sup>(१)</sup>”  
इति । हे 'मरुतः', 'दिवः' (द्युलोकात्) आगता यूयं 'यस्य'  
(यजमानस्य) 'क्षये' (गृहे) 'पाथ' (रक्षां कुरुय) । कोदृशा  
मरुतः?—'विमहसः' (विशिष्टं महस्तेजो येषां ते) 'विमहसः' ।  
'स' 'जनः' (तादृशो यजमानः) 'सुगोपातमः' (अतिशयेन रक्षको  
भवति) ।

तत्रैव विकल्पित्वामनुवाक्यामाह,—“यज्ञैर्वा यज्ञवाहसो  
विप्रस्य वा मतीनां । मरुतः शृणुता हवम्<sup>(२)</sup>” इति । 'यज्ञ-  
वाहसः' (यज्ञस्य बोद्धारः) हे 'मरुतः', 'यज्ञैर्वा' निमित्तभूतैः  
'हवं' (मदीयाङ्गानं) 'शृणुत' । अथ वा 'विप्रस्य' (यजमानस्य)  
'मतीनां' (चित्तवृत्तीनां) अनुग्रहाय 'हवं' (मदीयाङ्गानं)  
'शृणुत' ।

• तत्रैव याज्यामाह,—“अथसे कं भानुभिः सन्निमिचिरे ते  
'रश्मिभिस्ते ऋक्भिः सुखादयः । ते वाशीमन्त इन्निणो अभी-  
रवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः<sup>(३)</sup>” इति । हे मरुतः,†  
पुरोवातस्वरूपाः सन्तः 'कं' 'अथसे' •(प्राणिभिराश्रयितुं)  
'भानुभिः' (भासुरैः) 'रश्मिभिः' (सूर्यरश्मिभिः) सहिताः

\* अयम् 'अति'शब्दाऽधिक इव प्रतिभाति ।

† अथ 'त' (मरुतः) इति पाठो भवितुं युक्तः ।



‘सन्निमिचिरे’ (मेघवृष्ट्या भूमिं सम्यक् चेकमिच्छन्ति) । ‘ते’ (मरुतः) ‘सृक्कमिः’ (याज्यापुरोऽनुवाक्यारूपाभिः सृग्भिः) सृताः सन्तः ‘सुखादयः’ (शोभनं हविः खादितवन्तः) । ततः ‘ते’ मरुतः, ‘वाग्मीमन्तः’ (उत्साहप्रयुक्तघोषरूपवज्रविध्वंसवन्तः), ‘हृश्णिणः’ (स्वगृहान्प्रति गमितवन्तः), ‘अभीरवः’ (स्वकार्यस्य निष्पन्नत्वेन विघ्नकारिभ्यः असुरेभ्यो भयरहिताः), ‘प्रियस्य’ ‘मादृतस्य’ ‘धाक्कः’ (मरुतां सम्बन्धि यत् प्रियं ज्ञानं तत्) ‘विद्रे’ (लब्धवन्तः) ।

अथ वारुणोमामिच्छामित्यस्य याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“अवते हेडो, उदुत्तमम्<sup>(७-८)</sup>” इति । ‘अवते हेडः’ इति पुरोऽनुवाक्या, ‘उदुत्तमम्’ इति याज्या । एतच्चोभयं “वैश्वानरो न ऊत्या” इत्यस्मिन्ननुवाके (१।५।११ अ०) व्याख्यातम् ।

अथ कायमेककपालमित्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“कया नश्चिन्न आभुवदूती सदा वृधः सखा । कया श्चिष्ठया वृता<sup>(९)</sup>” इति । कस्य (प्रजापतेः) सम्बन्धिनोत्यस्मिन्नर्थे स्तोलिङ्गः, केतिशब्दो वर्तते । ‘ऊति’-शब्दो रक्षणवाची । ‘कया’ ऊत्या (प्रजापति-सम्बन्धिना रक्षणेन) ‘चिन्न’ ‘आभुवत्’ (विचित्रोऽयं यज्ञः) ‘नः’ (अस्मान् प्रति) आगतः । कोदृशो यज्ञः ?—‘सदा वृधः’ (सदा वर्द्धमानः); ‘सखा’ (सखिवत् प्रियतमः) । स च यज्ञः ‘कया’ (प्रजापतिसम्बन्धिन्या) ‘श्चिष्ठया’ (अतिशयितया ब्रह्म्या) ‘वृता’ (युक्त इत्यर्थः) ।

अथैव याज्यामारु—“को अद्य युक्ले धुरि ना हतस्व  
 शिमोवतो भामिनो दुर्हणायून् । आसन्निषून् हतस्वसो मयो-  
 भून् य एषां हृत्यामृणधत् स जीवात्<sup>(१०)</sup>” इति । ‘कः’ (प्रजा-  
 पतिः) ‘अद्य’ (अस्मिन् दिने) ‘हतस्व’ ‘धुरि’ (यज्ञस्य भारे)  
 यज्ञप्रवृत्तिवैलामित्यर्थः । ‘गाः’ (वामिशेषान् अस्मदीयस्तुति-  
 रूपान्) ‘युक्ले’ (स्वस्तित्रे योजयति) । कीदृशान् वामिशेषान् ?—  
 ‘शिमोवतः’ (शर्मयुक्तान्) एतत्कर्मयोग्यानित्यर्थः । ‘भामिनः’  
 (स्वार्थावभासकान्) ‘दुर्हणायून्’ (दुःखहरणशीलान्) ‘आसन्निषून्’  
 (अस्मदीयमाख्यं मुखम् इव्यन्ति गच्छन्तोत्यासन्निषवः तान्);  
 ‘हतस्वसः’ (हस्तु स्तुत्यानां हृदयेषु तिष्ठन्तीति हतस्वसः तान्)  
 हृदयङ्गमान् अतिप्रियानित्यर्थः । ‘मयोभून्’ (सुखस्व भावयितृन्) ।  
 ‘यः’ (यजमानः) ‘एषां’ (वामिशेषाणां) ‘हृत्यां’ (भरणक्रियां)  
 ‘अणधत्’ (वर्द्धयति) पुनःपुनः क्षौतोत्यर्थः । ‘स’ (यजमानः)  
 ‘जीवात्’ (चिरं जीवति) ।

अथ खिष्टकृते याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“अग्ने  
 नयांऽऽ देवानाम्<sup>(११-१२)</sup>” इति । ‘अग्ने नय सुपथा’ इति  
 पुरोऽनुवाक्या । ‘आ देवानामपि पन्था’ इति याज्या ।  
 एतच्चोभयम् “उभा वामिन्द्राग्ने” इत्यनुवाके (१।१।१४ अ०)  
 व्याख्यातम् ।

आमिच्चानुनिष्यादिनो वाजिनहविषो याज्यानुवाक्ययोः  
 प्रतीके दर्शयति,—“अन्नो भवन्तु वाजे वाजे<sup>(१२-१३)</sup>” इति ।  
 ‘अन्नो भवन्तु वाजिनो हविषु’ इति पुरोऽनुवाक्या । ‘वाजे वाजे

‘वत्त वाजिनः’ इति याज्या । एतच्चोभयं ‘देवस्याहः सवितुः प्रभवे’ इत्यनुवाके (१।७।८अ०) व्याख्यातम् ।

अथावभृथे प्रथमाज्यभागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“अश्वमे सधिवृष मौषधीरनुहृथसे । गर्भे सञ्जायसे पुनः<sup>(१५)</sup>” इति । हे ‘अश्वे’, ते (तव) ‘सधिः’ (सहो बलम्) ‘अश्व’ वर्तते । ‘स’ त्वम् ‘मौषधीरनुहृथसे’ (ब्रीहियवाद्योषधीरनुसरति\*), जांठराग्नि-रूपेण तत्स्वीकारात् । अरण्योः ‘गर्भे’ स्थितः सन् ‘पुनः’-पुनर्जायसे ।

अथ द्वितीयाज्यभागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“वृषा सोम शुमाः अमि वृषा देव वृषव्रतः । वृषा धर्माणि दधिषे<sup>(१६)</sup>” इति । हे ‘सोम’, त्वं ‘वृषा’ (कामानां वर्षयिता) ‘अमि’ । ‘शुमान्’ (दीप्तिमान्) च ‘अमि’ । हे ‘देव’, यस्मात् त्वं ‘वृषा’ (वर्षयिता) तस्मात् त्वं ‘वृषव्रतः’ (वर्षणनिमित्तं व्रतं कर्म यस्य अशो वृषव्रत) । किञ्च यस्मात् त्वं ‘वृषा’ (वर्षयिता), तस्मात् ‘धर्माणि’ (पुण्यानि) ‘दधिषे’ हे सोम (धारयिता अमि) ।

अथ वारुणस्य याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“इमं मे वरुण तत्त्वा यामि<sup>(१७-१८)</sup>” इति । ‘इमं मे वरुण शुधि’ इति पुरोऽनुवाक्या, ‘तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः’ इति याज्या । एतच्चोभयम् “इन्द्रो वो विश्वतस्परोन्द्रं नरः” इत्यनुवाके (२।१।११अ०) व्याख्यातम् ।

\* सरसि इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अथाग्निवारुणस्त्रिवृक्षतः संयज्ययोः प्रतोके दर्शयति,—“त्वन्नो अग्ने स त्वन्नो अग्ने<sup>(१९-२०)</sup>” इति । ‘त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्’ इति पुरोऽनुवाक्या, स त्वन्नो अग्नेऽवमो भवति’ इति याज्या । एतच्चोभयम् “आयुष्ट आयुर्दा अग्ने” इत्यस्मिन्ननुवाके (२।५। १२अ०) व्याख्यातम् ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

वारुणाख्यप्रघासेषु याज्या अन्त्यानुवाकगाः ।

इन्द्राग्नौ तिस्र ऐन्द्राग्नेर्मास्तं तु मरु दयम्\* ॥

अवोद्, वारुणे रोगे, कया, कायाख्ययागको† ।

अग्ने, आ देव, संयज्ये, शन्नो वाजेति वाजिने ॥

अप्सु, -द्वयं चावभृथेऽनुवाक्ये आज्यभागयोः ।

इमं, तत्त्वा, प्रधानस्य प्राक्ते, त्वं स त्वमित्यमू ॥

संयज्ये इति मन्त्रास्तु विंशतिः समुदीरिताः ॥

• वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातोर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनमचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठक्ते एकादशेऽनुवाकः ॥ • ॥

\* अत्र ‘अयम्’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अत्र ‘कया को काययागको’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरत्रैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुद्ध-  
भूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये  
वेदार्थप्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयः  
अपाठकः सम्पूर्णः ॥०॥

॥०॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

---

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः

अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वाद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा  
भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वा-  
ऽयने सादयामि<sup>(१-५)</sup> अणवे सद्ने सीद समुद्रे सद्ने  
सीद सलिले सद्ने सीदापां ह्यये सीदापां सधिषि  
सीद<sup>(१-१०)</sup> अपां त्वा सद्ने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे  
सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा येनौ,  
सादयाम्यपां त्वा पायसि सादयामि<sup>(११-१५)</sup> गायत्रीछ-  
न्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगतीछन्दोऽनुष्टुप्छन्दः पङ्क्तिच्छन्दः  
(१६-२०) ॥ १ ॥

येनौ । पञ्चदश च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।  
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥  
प्रपाठके द्वितीये हि चितिचेत्रं निरूपितम् ।  
वाच्यास्तृतीयके पञ्च चितयोऽत्र त्रयोदश ॥  
अनुवाकास्तिभिर्द्वाभ्यां तथा द्वाभ्यां चतुष्टयात् ।  
एकेन चितयो याज्या इत्यर्था अनुवाकगाः ॥

तत्र प्रथमानुवाके प्रथमचितिगता अपस्याभिधाना इष्टका  
उच्यन्ते । कल्पः, 'अपस्या उपदधात्यपां त्वेमन्त्सादयामीति पञ्च  
पुरस्तात् प्रतीचीरर्णवे सद्ने सोदेति पञ्च दक्षिणत उदीचीरपां  
त्वा सद्ने सादयामीति पञ्च पश्चात् प्राचीर्गायत्रीच्छन्द इति  
पञ्चोत्तरतो दक्षिणा' इति । तत्र प्रथमपञ्चकमन्त्रानाह,—“अपां  
त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्गन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा  
ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वाऽयने सादयामि<sup>(१-५)</sup>” । हे इष्टक, त्वाम्  
'अपाम्' 'इमन्' (जलसम्बन्धिप्रवाहादिगमनप्रकारे) 'सादयामि'  
(स्थापयामि) । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । 'ओद्गन्' (वोची-  
तरङ्गादिरूपे उदके), 'भस्मन्' (भासके शुक्तरूपे), 'ज्योतिषि'  
(प्रकाशनैर्मन्त्रे इत्यर्थाः) । 'अयने' (नदीकूपाद्याधारे) ।

अथ द्वितीयेष्टकापञ्चकमन्त्रानाह,—“अर्णवे सद्ने सोद समुद्रे  
सद्ने सोद सखिले सद्ने सोदापां क्षये सोदापाः सधिषि

सोद<sup>(१-१०)</sup>” इति । अर्णवशब्देन सादृश्यात् प्रौढतटाकाद्युपलक्ष्यते । तच्च ‘अपां’ सदनं । तस्मिन् स्थाने हे इष्टके, ‘सोद’ (उपविश) । ‘समुद्रः’ प्रसिद्धः । सलिलशब्देन अनिर्द्धारितविशेषो जलमात्रा-  
धरो लक्षितः । चोयन्ते शुष्यन्त्यापोऽचेति शुष्कतटाकादिः  
क्षयः । जलेन सह मंघे धीयते स्थाप्यते इति सधोर्वर्षापलादिः ।

अथ ततोयपञ्चकमन्त्रानाह,—“अपां त्वा सद्ने सादयाम्यपां  
त्वा सधस्ये सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा योनौ  
सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि<sup>(११-१५)</sup>” । हे इष्टके, त्वाम्  
‘अपां’ ‘सद्ने’ (नद्यादौ) ‘सादयामि’ (स्थापयामि) । अग्निः  
सह विद्युदादयो यत्र मेघे तिष्ठन्ति, सोऽयं मेघः ‘सधस्यः’ ।  
पुरीषशब्देन नद्यादिगताः सिकता उच्यन्ते । योनिशब्देन जल-  
कारणभूतोऽग्निरुच्यते । ‘अग्रेरापः’ इति श्रुतेः । पीयते जलं  
मेघैरन्नेति पाथः समुद्रः ।

अथ चतुर्थपञ्चकमन्त्रानाह,—“गायत्रीकन्दत्तिष्टुपूकन्दो  
जगतीकन्दोऽनुष्टुपूकन्दः पङ्क्तिश्चन्दः<sup>(१६-२०)</sup>” इति । हे इष्टके,  
त्वं गायत्र्याख्यच्छन्दोरूपासि । एवमितरत्रापि ।

एतैर्भन्तैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“पशुर्वा एष यदग्निर्योनिः  
खलु वा एषा पशोर्विक्रियते यत् प्राचोनमेष्टकाद्यजुः क्रियते रेतोऽ-  
प्रस्था अप्रस्था उपदधाति यानावेव रेतो दधाति” (५।२।१० अ०)  
इति । योऽयम् ‘अग्निः’, स ‘एष’ पशुप्राप्तिहेतुत्वात् ‘पशुः’ एव ।  
इष्टकोपधानात् पूर्वं यदङ्गजातमनुष्ठोयते, तेन पशोरेषा योनिरेव  
विक्रता भवति । यथा लोके ऋतुकाले विक्रता योनिः रेतो-



धारणमपेक्षते' तददित्यर्थः । अक्षिप्तगते' मन्त्रैरुपधेया इष्टका  
'अपस्थाः' तास्य रेतस्यानीयाः, अतस्ता उपदध्यात् । तदुपधानेन  
'योनाविव' 'रेतो' धारितं भवति ।

सामान्येन विहितं विशेषाकारेण पुनर्विधत्ते,—“पञ्चोपदधाति  
पाङ्गाः पञ्चवः पञ्चूनामेवासौ प्रजनयति” (५।२।१० अ०) इति ।  
अत्र पुरस्तादित्यध्याहर्त्तव्यं । पूर्वस्यां दिशि पञ्चेष्टका उपदध्यात् ।  
सपुष्कैः पादैः पञ्चभिर्योगात् 'पञ्चवः' 'पाङ्गाः' ।

अथ द्वितीयपञ्चकस्य देशं विधत्ते,—“पञ्च दक्षिणतो वज्रो  
वा अपस्था वज्रेणैव यज्ञस्य दक्षिणतो रक्षाः स्यपहन्ति” (५।२।  
१० अ०) इति । वज्रवद्दैरनिवारणसमर्थत्वादपस्थानां वज्रत्वम् ।

अथ तृतीयपञ्चकस्य देशं विधत्ते,—“पञ्च पश्चात् प्राचीरुप-  
दधाति पश्चाद् वै प्राचीनः रेतो धीयते पश्चादेवासौ प्राचीनः  
रेतो दधाति” (५।२।१० अ०) इति । 'प्राचीः' (प्राङ्मुखाः) ।  
लोके पश्चिमस्यां दिशि अवस्थितेन प्राङ्मुखेन पुरुषेण 'रेतः'  
'प्राचीनं' सम्मुखमेव गर्भाशये स्थाप्यते । अतो यजमानार्थमपि  
तथा कृतं भवति ।

पूर्वपश्चिमयोरिष्टकाः सह प्रशंसति,—“पञ्च पुरस्तात् प्राची-  
रुपदधाति पञ्च पश्चात् प्राचीस्तस्मात् प्राचीनः रेतो धीयते  
प्रतोचोः प्रजा जायन्ते” (५।२।१० अ०) इति । 'प्रतोचोः'  
प्रत्यगपवर्गाः । प्राच्यां प्रथमामाधात् ततः पश्चिमायां द्वितीयां

ततोऽपि पश्चिमायां हतीयेति\* एषा रीतिः । प्राचीरित्यत्र तद्विपरीता रीतिः ; स्त्रेकेऽपि पुरोऽभिमुखत्वेन रेतःस्त्रापनं, तद्विपर्ययं प्रजननम् ।

चतुर्थपञ्चकस्य देशं विधत्ते,—“पक्षोत्तरतः कृन्धस्थाः पशवो वै कृन्धस्थाः पशून्नेव प्रजातान्त्स्वमायतनमभिपर्षूहते” (५।१।१० अ०) इति । पूर्वापधानेन ‘प्रजातान्’ ‘पशून्’ अनेनोपधानेन स्वस्थानं प्रापयति ।

देशविशेषान् विधाय समुदायाकारेण प्रशंसति,—“इयं वै अग्नेरतिदाहाद्विभेत् सैता अपस्या अपश्यन्ता उपाधत्त ततो वा इमां नात्यदहद्यदपस्या उपदधात्यस्या अनतिदाहाय” (५।१।१० अ०) इति । अपां भ्रान्तत्वादपस्याभिरतिदाहस्य परिहारः ।

पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“उवाच देयमददित् ब्रह्मणा-  
ऽन्नं यक्ष्येता उपधीयानौ य उ चैन्मा एवं वेददिति” (५।१।१० अ०)  
इति । ‘यस्य’ (यजमानस्य) ‘एताः’ अपस्या उपधीयन्ते, ‘यः’  
‘उच’ विद्वान् एता अपस्या उक्तप्रकारेण जानाति, ‘य’  
(यजमानः) स च वेदिता ‘ब्रह्मणा’ (मुख्याया वृत्त्या) ‘अन्नम्’  
‘अददित्’ (अन्नमन्ति), ‘एवं’ इदं वाक्यम् ‘इयं’ पृथिवी ‘उवाच’  
‘य’ । तस्मात् अपस्याः प्रशस्या इति तात्पर्यार्थः ॥

\* हतीयामिति इति पाठो भविष्युं युक्तः ।

अथ विनियोगसंग्रहः,—

अपामपस्या दिक्षेता उपधेयास्तु विंशतिः ।

इति साधनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्यायकः—  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके प्रथमोऽंगुवाकः ॥ • ॥

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः  
प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्रीयै गायत्रं गाय-  
त्रादुपांशुरुपांशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं रथन्त-  
रादसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं  
युक्तामि प्रजाभ्यः<sup>(१)</sup> अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो  
वैश्वकर्माणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुग्रीष्मी त्रिष्टुभं ऐदमै-  
वादन्तर्यामोऽन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद्  
बृहतो भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनः॥  
॥ १ ॥

युक्तामि प्रजाभ्यः<sup>(१)</sup> अयं पञ्चादिविश्वकर्मास्तस्य  
चक्षुर्वैश्वकर्मासं वर्षाणि चाक्षवाणि जगती वार्षी

जगत्या ऋक्षममृक्षमाचक्षुः शुक्रात् सप्तदशः सप्त-  
दशाद्वैरूपं वैरूपादिश्वामिच ऋषिः प्रजापतिगृही-  
तया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः<sup>(१)</sup> इदमुत्तरात्  
सुवस्तस्य ओचः सौवः शरश्चौत्थनुष्टुपहारद्यनुष्टुभः  
स्वारः स्वारान्मन्यी मन्यिनः एकविंश एकविंशद्  
वैराजं वैराजाज्जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया ॥ २ ॥

“ त्वया ओचं गृह्णामि प्रजाभ्यः<sup>(४)</sup> इयमुपरि मतिः ।  
तस्यै वाङ्माती हेमन्तो वाच्यायनः पंक्तिर्हेमन्ती पंक्तौ  
निधनवन्निधनवत आग्रयण आग्रयणाचिणवचय-  
स्त्रिंशौ चिणवचयस्त्रिंशाभ्यां शाकररैवते शाकर-  
रैवताभ्यां विश्वकर्मर्षिः । प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं  
गृह्णामि प्रजाभ्यः<sup>(५)</sup> ॥ ३ ॥

त्वया मनः । जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया ।  
चिंशच्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीय-  
प्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

प्रथमोऽनुवाके अपत्या उक्ताः । अथ द्वितीये प्राणभृत  
उच्यन्ते । कल्पः, ‘अयं पुरो भुव इति पञ्चाशत् प्राणभृतो दश

इह प्रतिदिशमच्छण्या इह अथोऽनरामुपधास्य' इति । तत्र  
 पूर्व्यां दिशुपधेयानां दशेष्टकायां मन्त्रमाह,—“अयं पुरो  
 भुवश्च प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणस्यनो गायत्री वासन्ती  
 गायत्रियै गायत्रं गायचादपाऽऽशुदंषाऽशोक्लित्व चित्तो  
 रथन्तरं रथन्तराद् वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया प्राणं  
 गृह्णामि प्रजाभ्यः<sup>(१)</sup>” इति । भवत्यस्माज्जगदिति ‘भुवः’,  
 भुवःशब्दः\* प्रजापतिमाचष्टे । ‘पुरः’ (पूर्व्यां) दिशि ‘अयं’ ‘भुवः’  
 वर्तते इति शेषः; हे इष्टके, तद्रूपाऽसीत्यभिप्रायः । एवम्  
 उत्तरेष्वपि वाक्येषु योज्य । ‘तस्य’ (भुवःशब्दाभिधेयस्य) प्रजापतेः  
 सम्बन्धो ‘प्राणः’, अत एवापत्यलमुपचर्य ‘भौवायनः’ इत्युच्यते ।  
 तस्य च प्राणस्य आसृष्टिरूपस्त्रापत्यत्वेनोपचरितः ‘प्राणायनो’  
 वसन्तर्तुः । तस्य च सम्बन्धिनी ‘वासन्ती’ ‘गायत्री’ । तस्मा-  
 न्मन्त्रोरूपाया गायत्र्याः सम्बन्धि ‘गायत्रं’ साम । तस्माच्च  
 गायत्र्यस्य उत्पन्न इव ‘अपांशु’-यहः । तस्माच्चेपांशुयहादुत्पन्न  
 इव ‘चित्त’ सोमः । तस्मात् चित्तसोमादुत्पन्नमिव ‘रथन्तरं’  
 साम । तस्माद्रथन्तरस्य उत्पन्न इव वसिष्ठस्य ‘ऋषिः’ ।  
 हे इष्टके, यथोक्तप्रकारेण प्रजापति-प्राण-वसन्तादिरूपोपचारेण  
 ‘प्रजापतिगृहीतया’ ‘तया’ ‘प्रजाभ्यः’ (सर्वासां प्रजायां) ‘प्राणं’  
 ‘गृह्णामि’ (प्रजानां प्राणसिद्धये त्वाम् उपदधामीत्यर्थः) ।  
 यद्यप्ययमेकवाक्यत्वादेक एव मन्त्रः, तथापि प्रतीष्टकादृश्या इह  
 सप्तधाः सन्त्युन्ते ।

\* भवशब्द इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ दक्षिणस्यां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“अथ दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्माणं यीशो मायवर्जितुम्-  
येषी नितुम ऐदमैदोदेन्तर्यामोऽन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशाद्  
वृष्टवृष्टो भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया तया मन्त्रे  
गृह्णामि प्रजाभ्यः(१)” इति । विश्वाणि कर्माणि जगद्धापारुषाणि  
अथ, अथौ ‘विश्वकर्मा’ (प्रजापतिः) । ‘दक्षिणा’ (दक्षिणस्यां)  
दिशि यः ‘अथ’ विश्वकर्मा, हे इष्टके, तद्रूपा त्वमसि । प्राक्-  
वसन्तादिपरम्परेव मनोयीमादिपरम्परा व्याख्येया । ‘ऐदम्’-इति  
सामविशेषः ।

अथ पश्चिमायां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“अथ पश्चिदिश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाणि चाक्षुषाणि जगती  
वर्षी जगत्या ऋक्षममृक्षमाच्छुक्रः शुक्रात् सप्तदशः सप्तदशाद्  
वैरूपं वैरूषादिश्यामिच ऋषिः प्रजापतिगृहीतया तया चक्षु-  
र्गृह्णामि प्रजाभ्यः(१)” इति । विश्वं (सर्वं जगत्) व्यचति व्याप्नोति  
इति ‘विश्वव्यचाः’ प्रजापतिः । शेषं पूर्ववद्योजनीयम् । ‘वर्षाणि’  
वर्षर्तुः । ‘ऋक्षमम्’ इति सामविशेषः ।

अथोत्तरस्यां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“इदम्  
उत्तराक्षुवस्तस्य ओषः सौवः शरत् औती अनुष्टुप् भारदी  
अनुष्टुभः स्वारः स्वारान्मन्यो मन्थिन एकविंश एकविंशादेराजं  
वैराजोव्यमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया तया ओषं गृह्णामि  
प्रजाभ्यः(१)” इति । औति सर्वं जगत् प्रेरयतीति सुवन्नमः  
प्रजापतिवाचो । उत्तरस्यां दिशि यदिदं ‘सुवः’ (प्रजापतिमरीरं),

हे दृष्टके, त्वं तद्रूपाऽसीति योज्यम् । स्वारमिति सामविशेषः ।  
शेषं पूर्ववद्वाख्येयम् ।

अथ मध्यमदेशे उपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“इयम्  
उपरि मतिः तस्यै वाङ्मातो हेमन्तो वाङ्मायनः पङ्क्तिर्हेमन्ती  
पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत् आग्रयण आग्रयणास्त्रिणवचयस्त्रिंशो  
त्रिणवचयस्त्रिंशद्वाभ्यां शाकररैवते शाकररैवताभ्यां विश्वकर्मर्षिः  
प्रजापतिमृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः<sup>(५)</sup>” इति ।  
मन्यते ह्यत्तं जगज्जानातीति ‘मतिः’ प्रजापतिः । ऊर्ध्वायां  
दिशि येयं ‘मतिः’ (प्रजापतिर्मतिः), हे दृष्टके, तद्रूपा त्वमसि ।  
मतिनाम्नः प्रजापतेस्त्यपत्यरूपा या इयं ‘वाक् मातो’ । वाचोऽपत्तं  
‘वाङ्मायनः’ । ‘निधनवत्’ इति सामविशेषः । तत्रैकैकस्मिन् मन्त्रे  
प्रजापतिः इन्द्रियम् ऋतुः क्रन्दः सामविशेषयष्टः सोमः पृष्ठस्रोत्रं  
साम ऋषिरिति नवानामेतेषां पदार्थानां यद्यपि लोकप्रसिद्धो  
जन्यजनकभावो नास्ति, तथापि मन्त्रार्थत्वेन मर्नसा भावयितु-  
मिदमुक्तमित्यविरोधः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“प्राणभृत उपदधात्ति  
रेतस्येव प्राणान् दधाति तस्माददन् प्राणं पश्यन्कृण्वन् पशु-  
र्जायते” (५।२।१० अ०) इति । पूर्वं रेतोरूपा अपस्या उपहिताः,  
तत ऊर्ध्वं प्राणभृतमुपधानेन ‘रेतसि’ प्राणं स्थापयन्ति । यस्मात्  
एवं गर्भाशये सिक्ते ‘रेतसि’ प्राणाः स्थाप्यन्ते, तस्मात् रेतः-  
कार्यपशुर्वदनादिभिर्वागादिव्यापारैर्युक्तो जायते ।

सामान्येन विहितं पुनर्विशेषकारेण विधत्ते,—“अयं पुनो

भुव इति पुरस्तादुपदधाति प्राचमेवैताभिर्दाधार, अयं दक्षिणः  
विश्वकर्मेति दक्षिणतो मन एवैताभिर्दाधार, अयं पश्चाद्विश्वस्यच  
इति पश्चाच्चतुरेवैताभिर्दाधार, इदमुत्तरात् सुवरित्युत्तरतः  
ओचमेवैताभिर्दाधार इत्युपरि मतिरित्युपरिष्टाद् वाचमेवैताभि-  
र्दाधार” (५।१।१० अ०) इति । तत्तद्विष्टकोपधानेन चित्यस्या-  
ग्रेयजमानस्य वा प्राणादयो धृता भवन्ति ।

एकैकस्यां दिशुपधेयानामिष्टकानां सङ्ख्यां विधत्ते,—“दश-  
दशोपदधाति सवीर्यत्वाय” (५।१।१० अ०) इति । एकैकं मन्त्रं  
दशकृत्य आवर्त्य दशेष्टका उपदध्यात् । तथा सति चित्तेः  
सवीर्यत्वदाह्यं भवति ।

तत्रोपधाने वक्रत्वं विधत्ते,—“अक्ष्णोपदधाति तस्मादक्ष्णया  
पञ्चवोऽङ्गानि प्रहरन्ति प्रतिष्ठित्यै” (५।१।१० अ०) इति ।  
प्रतीच्यामुपक्रम्य प्राच्यामवसाने सति आर्जवं भवति । नैर्ऋत्या-  
मुपक्रम्य नैऋत्यां समापनं वक्रत्वम्; एवमितरत्रापि; तदिदम्  
‘अक्ष्णया’ इत्यनेनेत्यते । पञ्चवोऽपि दक्षिणं पुरोवर्त्तिपादं  
प्रचास्य वामायवर्त्तिपादं प्रचास्यन्ति, एवं पञ्चूनां पादचालने  
वक्रत्वम् ।

तत्तद्विष्टविष्टा इष्टकास्तन्मन्त्रगतान् वसिष्ठादीनृषींश्च  
प्रशंसति,—“थाः प्राचीस्ताभिर्वसिष्ठ\* आर्भन्त, या दक्षिणा  
ताभिर्भरदाजो, याः प्रतीचीस्ताभिर्विश्वामित्रो, या उदीचीस्ताभि-

\* वसिष्ठ इति आदर्शसंहितामुक्ते पाठः ।



जंमदग्निर्वा जज्ञासाभिर्विचकर्माः' (५।१।१०अ०) इति ।  
स्यटम् ।

एतदेदं प्रशंसति,—“य एवमेतासाम्निं वेदं चोत्थेव, य  
आसामेवं बन्धुतां वेदं बन्धुमान् भवति, यं आसामेवं कृत्तिं वेदं  
कल्पते आसो, य आसामेवमाद्यतनं वेदं आद्यतनवान् भवति, य  
आसामेवं प्रतिष्ठां वेदं प्रत्येव तिष्ठति” (५।१।१०अ०) इति ।  
'कृत्तिः' (समृद्धिहेतुत्वम्) । बन्धूनां समूहे 'बन्धुता', दत्तानां  
समूहाकार इत्यर्थः । 'कृत्तिः' वक्रकल्पना । 'आद्यतनं' प्रागादि-  
देशविशेषः । 'प्रतिष्ठा' तच्च स्थापनम् ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

अयं प्राणभूतो दध्यात् पञ्चाशत् पञ्चमन्त्रकैः ।

अथ मीमांसा, प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे अष्टादशाधिकारके  
चिन्तितम् ।

“सृष्टिवत् प्राणभूत् तच्च बाहुष्यं सिद्धभूततः ।

अनेकमन्त्रगो ज्ञिज्ञसमुदायो विज्ञेयते ।

‘प्राणभूत उपदधाति’ इत्यत्रापि सृष्टिन्यायेन मन्त्रविधिरिति  
पूर्वः पक्षः । सिद्धप्रकरणप्राप्तमन्त्रानुवादेन इष्टकोपधाने विधिः ।  
‘रेतस्यैव प्राणान् दधाति’ इत्यस्य वक्ष्यमाणस्यार्थुनादस्योपपन्नये  
प्राणस्यैव मन्त्रानुवादः । पूर्वच द्वितीयादिमन्त्रेषु सृष्टिर्निष्ठाणां  
वाक्यकम्, इह तु प्रथममन्त्र एव प्राणस्यैव सिद्धमावाचते,—‘अयं  
पुरो भुवःस्य प्राणो भौवायनः’ इति । एकस्यैव मन्त्रस्य प्राण-

मृत्वेऽपि 'हृषिणो गच्छन्ति' इतिवत् तत्सहचरिताः सर्वेऽपि  
मन्त्राः प्राणभृच्छब्देन लक्ष्यन्ते ॥

• इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टव्यम्:-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके द्वितीयोऽनवाकः ॥ ० ॥

• प्राचीं दिशं वसन्त ऋतूनामग्निदेवता ब्रह्म द्रविणं  
चिद्वत्स्तोमः • स उ पञ्चदशवर्त्तनिस्थविर्वयः कृतम-  
यानां पुरोवातो वातः सानग ऋषिः<sup>(१)</sup> दक्षिणा दिशं  
ग्रीष्म ऋतूनामिन्द्रो देवता क्षुचं द्रविणं पञ्चदशः  
स्तोमः स उ सप्तदशवर्त्तनिर्दित्यवाङ् वयस्त्रेताऽयानां  
दक्षिणादातो वातः सनातन ऋषिः<sup>(२)</sup> प्रतीची दिशं  
वर्षा ऋतूनां विश्वे देवा देवता विट् ॥ १ ॥

द्रविणः सप्तदशः स्तोमः स उ वेकविंशवर्त्तनि-  
स्त्विद्वत्स्तो वयो द्वापुरोऽयानां यश्चादातो वातोऽहभून्  
ऋषिः<sup>(३)</sup> उदीची दिशः शरदृतूनां मिचावरुणौ  
देवता पुष्टं द्रविणमेकविंशः स्तोमः स उ त्रिणव-  
वर्त्तनिस्तुर्यवाङ् वय आस्कन्दोऽयानामुत्तरादातो वातः  
प्रज ऋषिः<sup>(४)</sup> ऊर्द्धा दिशः हेमन्तशिशिरादृतूनां  
हृहस्पतिदेवता वसो द्रविणं त्रिणवः स्तोमः • स उ

अथस्त्रिंशवर्त्तनिः पष्टवाद्यो, अभिभूरयानां विष्णवातो  
 वातः सुपर्ण ऋषिः<sup>(१)</sup> पितरः पितामहाः परेऽवरे ते  
 नः पान्तु ते नोऽवन्वस्मिन् ब्रह्मन्वस्मिन् स्रुचोऽस्यामा-  
 शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मन्वस्यां देवहृत्याम्<sup>(२)</sup> ॥

॥ २ ॥

विट् । पष्टवाद्यो । अष्टाविंशतिश्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
 तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

द्वितीयेऽनुवाके प्राणभृत इष्टका उक्ताः । अथ तृतीये अपान-  
 भृत उच्यन्ते । कल्पः, 'वाच्यां प्राची दिशामिति पञ्चाशतमपान-  
 भृतो यथा प्राणभृतः' इति । प्राच्यां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां  
 मन्त्रमाह,—“प्राची दिशां वसन्त ऋतूनामग्निर्देवता ब्रह्म द्रविणं  
 त्रिवृत्सोमः स उ एषदशवर्त्तनिस्त्यविर्वयः कृतमथानां पुरो-  
 वातो वातः सानग ऋषिः<sup>(१)</sup>” इति । हे इष्टके, 'दिशां' मध्ये  
 या 'प्राची', सा त्वमसि । 'ऋतूनां' मध्ये यो 'वसन्तः', तद्रूपाऽसि ।  
 २. 'नां' मध्ये यः, 'अग्निः', तद्रूपाऽसि । स्वकीयत्वेन सप्तादनी-  
 यानां ऋषीणां मध्ये विशिष्टब्राह्मणरूपं यद्वनं, तद्रूपा त्वमसि ।  
 सोमानां मध्ये त्रिवृत्सोमको यः 'सोमः', तद्रूपा त्वमसि ।  
 'स उ' (सोऽपि, त्रिवृत्सोमः) 'पञ्चदशवर्त्तनिः' (पञ्चदशसोमः)

प्रवर्त्तकः), बहिष्यवमानस्तोमः चितृत्सोमप्रवृत्तौ सत्यां तत ऊर्ध्वभाविषु आज्यस्तोत्रेषु पञ्चदश स्तोमाः प्रवर्त्तन्ते, तत्रप्रवर्त्तन-  
शक्तिरूपा त्वमसि । वयसां मध्ये सार्द्धसंवत्सररूपं यद् 'वयः',  
तद्रूपा त्वमसि । 'अविः'-शब्दः सार्द्धसंवत्सरमुपलक्षयति ; तथाहि  
अविजातौ प्रायेण गर्भधारणमारभ्य षष्ठे मास्येव शिशुर्जायते ;  
त्रिषष्ट्याकां अविजन्मकाला यस्य वयसः, तत् वयः अविशब्देनो-  
च्यते । 'अयानां' मध्ये यत् द्युतयुगं, तद्रूपा त्वमसि । वायूनां  
मध्ये पुरोवाताख्यो यो वायुः, तद्रूपा त्वमसि । ऋषीणां मध्ये  
यः सानगाख्य 'ऋषिः', तद्रूपा त्वमसि ।

अथ दक्षिणस्यां दिक्षुपधेयानां मन्त्रमाह,—“दक्षिणा दिशां  
ग्रीष्म ऋतूनामिन्द्रो देवता चतुर्द्रविणं पञ्चदशः स्तोमः स उ  
सप्तदशवर्त्तनिर्दित्यवाङ् वयस्तेताऽयानां दक्षिणाद्वातो वातः सना-  
तन ऋषिः<sup>(१)</sup>” इति । माध्यन्दिनसवने पञ्चदशस्तोममनुष्ठाय तत  
ऊर्ध्वभाविषु पृष्ठस्तोत्रेषु सप्तदशस्तोमोऽनुष्ठायतव्यः, तथा च स एव  
पञ्चदशस्तोमः सप्तदशस्तोमं प्रवर्त्तयति ; तत्र या प्रवर्त्तनशक्तिः,  
सा त्वमसि । वयसां मध्ये द्विसंवत्सरत्रयोरूपाऽसि ; 'दित्यवाट्'-  
शब्देन संवत्सरद्वयमुपलक्ष्यते, तथाहि 'दित्यं' (पुरुषं बालं\*) वह-  
तीति 'दित्यवाट्', अजादिभेदेषु कश्चिदवान्तरजातिरेङ्कः, स च  
संवत्सरद्वयेन बालं वहतीति दित्यवाट्शब्दः संवत्सरद्वयोपलक्षकः ।  
दितिः खण्डनं भाण्डभङ्गादिचापलं, तदर्हतीति 'दित्यः' पुंवाच

\*. बाणमित्येतन्मात्रो का० ह० पु० पाठः । एवं परत्र ।

इत्यर्थः । दक्षिणादित्यव्ययं, तत् दक्षिणस्यां दिक्षीत्यनुमर्थं ब्रूते ।  
यो वायुर्दक्षिणस्यां वाति, स 'दक्षिणादातः' । तेन वातविशेषणेन  
विशेष्यो यो वायुः, तद्रूपा त्वमसि । शेषं पूर्ववत् ।

प्रतीच्यां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“प्रतीचो  
दिशां वर्षा ऋतूनां विश्वे देवा देवता विड्वविष् सप्तदशः  
सोमः स उ वेकविंशवर्त्तनिस्त्रिवत्सो वयो द्वापरोऽयानां  
पश्चादातो वातोऽहभून् ऋषिः<sup>(१)</sup>” इति । चयो वत्सः वत्सरा-  
वत्सामौ त्रिवत्सः, वर्षत्रयं, तत्परिमितं यद्वयः, तद्रूपा त्वमसि ।  
अयन्ति गच्छन्ति तत्तत्कालानुसारेण वर्त्तन्ते प्राणिनोऽचेति,  
अथा\* युगविशेषः । तेषां मध्ये यः 'द्वापरः', तद्रूपा त्वमसि ।  
पश्चिमायां दिशि यो वायुर्वाति, तस्य 'पश्चादातः' इति सञ्ज्ञा,  
एतत्सञ्ज्ञको यो वातविशेषः, तद्रूपा त्वमसि । 'अहभून्' इति  
कस्यचिद्वर्षेर्नामधेयम् ।

उदीच्यां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“उदीचा  
दिशां षड्रतूनां मित्रावरुणौ देवता पुष्टं द्रविणैकविंशः  
सोमः स उ त्रिणवर्वर्त्तनिस्तुर्यवाङ् वय आस्कन्दोऽयानामुत्तरा-  
दातो वातः प्रत्न ऋषिः<sup>(२)</sup>” इति । पुष्टशब्दः परिचर्यया वर्ष-  
त्रयप्रोषकत्वाच्छूद्रजातिमाचष्टे । अत एव वाजसनेयिनः सम्म-  
मनन्ति, 'स शौद्रां वर्षमसृजत् पूषणम्' इति । तुर्यं चतुर्थं

\* एवमेव सर्वत्र पाठः, किन्तु 'अयः' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† रौमिति आ० ३०० ३५० पाठः ।

चतुर्थसंवत्सरोपक्रमं वहतीति, 'तुर्थवाट्', साङ्ख्यसंवत्सररूपं, यत्  
 'वयः', तद्रूपा त्वमसि । 'आ, (समन्तात्) स्कन्दनं (धर्मस्य शोषणं)  
 यस्मिन् कलौ', सोऽयम् 'आस्कन्दः' । 'प्रत्न' इति कस्यचिद्वृत्ते-  
 नाम ।

मध्यदेश उपधेयानामिष्टकानां मन्त्रमाह,—“ऊर्ध्वा दिशाऽ  
 हेमन्तशिशिरावृत्तनां बृहस्पतिर्देवता वर्चा द्रविणं त्रिणवः स्तोमः  
 स उ चरत्तिः शर्वर्तनिः पष्ठवादयोऽभिभूरयानां विष्वग्वाता  
 वातः सुपर्ण ऋषिः<sup>(५)</sup>” इति । 'वर्चः' वर्चस्वान् चतुर्व्यपि वर्णेषु यो  
 बलवान्, तद्रूपं धन त्वमसि । 'पष्ठे' (पृष्ठे) भारं वहतीति 'पष्ठवाट्'  
 स एवां दकारान्तशब्देनोच्यते । चतुर्थवर्षे सम्पूर्णे सति प्रायेण  
 बलवर्द्धं भारं वहति, अतो वर्षचतुष्टयरूपं यद् 'वयः', तद्रूपा  
 त्वमसि । ह्यत्तं धर्ममभिभवतीति 'अभिभूः', -कलियुगावसानकालः,  
 तद्रूपा त्वमसि । नानादिक्षु साङ्ख्येण सञ्चरन् वायुः विष्वग्वात-  
 सञ्ज्ञकः, तथाविधो यो वायुः, तद्रूपा त्वमसि । 'सुपर्ण' इति  
 'कस्यचिद्वृत्तेर्नामधेयम् ।

सर्वेच्छेतेषु पञ्चसु मन्त्रेषु अनुषञ्जनीयशेषमन्त्रमाह,—“पितरः  
 पितामहाः परेऽपरे ते नः पान्तु ते नोऽवन्त्वस्मिन् ब्रह्मन्वस्मिन्  
 ऋचेऽस्थामाग्निव्यस्थां पुरोधायामस्मिन् कर्मन्वस्थां देवकृत्याम्<sup>(६)</sup>”  
 इति । हे 'पितरः', हे 'पितामहाः', हे 'परे' (प्रपितामहा

\* काको इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् । काको इत्यपि भूतमिति ।

† एवमेव सर्वत्र पाठः, एव इति पाठो भवितुं युक्तः ।

हे 'अवरे' (भाट्टपुत्रादयः) । ईदृशा यो भवन्तः सन्ति, 'ते' (भवन्तः) 'नः' (अस्मान्) कर्मणुष्ठानाय 'पान्तु' (पालयन्तु) । किञ्च 'ते' (भवन्तः) 'नः' (अस्मान्) पालनसिद्ध्यर्थं 'अवन्तु' । 'अस्मिन्' 'ब्रह्मन्' (अस्यां ब्राह्मणजातौ) 'अस्मिन्' 'क्षत्रे' (अस्यां क्षत्रियजातौ) 'अस्याम् अग्निषि' (एतस्यां कामनायाम्) 'अस्यां' 'पुरोधायाम्' (एतस्यां राजपौरहित्यवृत्तौ) 'अस्मिन्' 'कर्मन्' (अस्मिन्स्ययरूपे कर्मणि) 'अस्यां देवहृत्याम्' (एतस्यां देवता-ज्ञानरूपायां) क्रियायाञ्च निमित्तभूतायां सत्यां हे इष्टके त्वामुपदधामोति शेषः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“प्राणभृत उपधाय संयत उपदधाति प्राणानेवास्मिन् धित्वा संयद्भिः संयच्छति तत् संयताः संयत्नमथो प्राणे एवापात्रं दधाति तस्मात् प्राणापानौ सञ्चरतः” (५।२।१० अ०) इति । अन्तर्देशे प्राणभृदाख्याः पूर्वोक्ता इष्टका 'उपधाय' बहिर्देशे संयदाख्या इमा अपानभृत उपदधात् । तथा सति अग्नौ प्राणान् स्थापयित्वा संयदन्त्यभिरिष्टकाभिः 'संयच्छति' (दृढीकरोति) । अतः संयच्छत्येताभिरिति व्युत्पत्त्या संयत्नाम सम्पन्नम् । अपि च बहिःसञ्चाररूपे 'प्राणे' पुनरन्तःसञ्चाररूपम् 'अपानं' स्थापयति । तस्मात्सोकेऽपि 'प्राणापानौ' सम्भूय 'सञ्चरतः' ।

स्माद्विप्राणभृशो विपरीतप्रकारं विधत्ते,—“विषूचीरुपदधाति त-भृतामपानौ प्राणापानौ” (५।२।१० अ०) इति । यस्मात् प्राणा-वाञ्च अन्योन्यविपर्ययक्रमः, तस्मात्सोकेऽपि प्राणा-

पानौ अन्योन्यविपरीतस्वरूपाः । बहिर्गतिः प्राणः, अन्तर्गतिरुपान इति विपर्ययः ।

संयतामासामुपधानं प्रशंसति,—“यद्वा अग्नेरसंयत-मसुवर्ग्यं-  
मंस्य तत् सुवर्ग्योऽग्निर्यत् संयत उपदधाति समेवैनं यच्छति  
सुवर्ग्यमेवाकरः” (५।२।१० अ०) इति । अग्नेः सम्बन्धि यदङ्गं  
सम्यङ्निमित्तं न भवति, तदङ्गं स्वर्गहितं न भवति, अग्निर्यत्  
स्वर्गहितोऽस्माकमपेक्षितः, तस्मादङ्गं स्वर्ग्यं कर्तुं संयत उप-  
दधात् ।

प्रथममन्त्रे कस्यचिदंशस्य तात्पर्यमाह,—“अविर्वयः कृत-  
मयानामित्याह वयोभिरेवायानवहन्धे यैर्वयाऽसि” (५।२।  
१० अ०) इति । सार्द्धमवत्सरादिरूपैर्वयोविशेषैरयाभिधेयानि  
कृतादियुगानि प्राप्नोति, तैश्च युगैस्तान् वयोविशेषान् प्राप्नोति,—  
न हि वयोविशेषमन्तरेण जन्महीनस्य कृतादियुगेः सम्बन्धोऽस्ति,  
नापि कृतादियुगरूपस्य कालस्याभावे कश्चिद्वयोविशेषः सम्भवति ।  
महाप्रलये युगद्वयस्य जन्मरहितानां वयोविशेषाद्यदर्शनात् ।  
तस्मादन्येभ्यसापेक्षयोर्वयोयुगयोस्त्वभयोऽस्यत्रैवापादानम् ।

पञ्चस्यपि मन्त्रेषु पुरोवातो दक्षिणाद्वात इत्यादीन् वायु-  
विशेषान् प्रशंसति,—“सर्वतो वायुमतोर्भवन्ति तस्मादयं सर्वतः  
पवते” (५।२।१० अ०) इति । यस्मादैतां दृष्टकाः सर्वा अपि  
वायुसंश्लेषेतमन्त्रैरुपधेयाः, ‘तस्मादयं’ लोकेऽपि वायुः सर्वासु  
दिक्षु सञ्चरति ।



अथ विनियोगसंग्रहः,—

प्राचीत्यपानभृत्संयदिति-नामद्वयान्विताः ।

पञ्चाशत् पूर्ववद्विचु मध्ये चोपदधति ताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-  
यज्ञःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके तृतीयोऽनवाकः ॥ ० ॥

ध्रुवश्चितिर्ध्रुवयोनिध्रुवासि ध्रुवां योनिमासीद  
साध्या । उख्यस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादश्विनाध्वर्यू सा-  
दयतामिह त्वा<sup>(१)</sup> । स्वे दक्षे दक्षपितेह सीद देवचा  
पृथिवी वृहती रराणा । स्वासस्था तनुवा संविशस्व  
पितेर्वैध सूनव आ सुशेवांश्विनाध्वर्यू सादयतामिह  
त्वा<sup>(१)</sup> । कुलायिनी वसुमती वयोधारयिन्नो वञ्च  
बहुलः सुवीर ॥ १ ॥

अपामंतिं दुर्मंतिं बाधमाना रायस्पोषे यज्ञपति-  
माभजन्ती सुवर्धेहि यजमानाय पोषमश्विनाध्वर्यू सा-  
दयतामिह त्वा<sup>(१)</sup> । अग्नेः पुरीषमसि देवयानी तां  
त्वा विश्वे अभियुणन्तु देवाः । स्तोमपृष्ठा धृतवतीह  
सीद प्रजावदस्मे द्रविणाऽऽयजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयता-

मिह त्वा<sup>(१)</sup> । दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिविष्टम्भनी  
दिशामधिपत्नी भुवन्नानां ॥ २ ॥

जुर्मिद्र<sup>१</sup>सो अप्रामसि विश्वकर्मा ते ऋषिरश्विना-  
ध्वर्युं सादयतामिह त्वा<sup>(१)</sup> । सजूर्जुतुभिः सजूर्वि-  
धाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्द्रैः सजूर्रादित्यै सजूर्विश्वे-  
देवैः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्रये त्वा वैश्वानरा-  
याश्विनाध्वर्युं सादयतामिह त्वा<sup>(११०)</sup> । प्राणं मे  
पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्या, वि  
भाहि ओचं मे श्लोक्य<sup>(११-१५)</sup> अपस्विन्वौषधीर्जिह्व  
हिपात् पाहि चतुष्पादव दिवो वृष्टिमेरय<sup>(११-१०)</sup> ॥ ३ ॥

सवीरं । भुवनानाम् । उर्या । सप्तदश च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां नवतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

तृतीयेऽनुवाके अपानभृदाख्या इष्टका उक्ताः । तावता प्रथमा  
चितिः संमाप्ता । अथ चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयया चितौ आश्विन्याख्या  
इष्टका अभिधीयन्ते । कथं—‘सोभूते पौर्वाहिकीभ्यां प्रथमै  
द्वितीयां चितिं चिनोति भुवचितिर्भुवयोगिरिति पञ्चाशिङ्गीर्य-

इह्याति' इति । तच्च प्रथमामाह,—“भ्रुवक्षितिर्भ्रुवयोनिर्भ्रुवक्षि  
 भ्रुवां योनिमासीद साध्या । उख्यस्य 'केतुं प्रथमं पुरस्तादग्नि-  
 नाध्वर्यू सादयतामिह त्वा<sup>(१)</sup>” इति । ‘भ्रुवा’ (स्थिरा) ‘क्षितिः’  
 (निवासभूमिः) यस्या इष्टकायाः, सा ‘भ्रुवक्षितिः’; यस्यां भूमा-  
 विष्टका निवसन्ति तस्या भूमेसाक्षस्याभावात् स्वेयं द्रष्टव्यम् ।  
 ‘भ्रुवा’ (नाशरहिता) ‘योनिः’ (उत्पत्तिहेतुर्मुद्रूपा) यस्या इष्ट-  
 कायाः, सा ‘भ्रुवयोनिः’ । हे इष्टके तादृशे, त्वं स्वरूपतोऽपि  
 ‘भ्रुवक्षि,’ अर्मकपालादिभिः संयोज्य निर्मितत्वात् भ्रुवत्वं । ‘साध्या’  
 अस्माभिः (साधनीया, उपधातव्या) त्वं ‘भ्रुवां योनिं’ (भ्रुवं अग्नि-  
 जेवरूपं स्थानं), आसीद, (आगत्योपविश) । तदेव स्थानं वि-  
 श्रियते,—‘उख्यस्य’ (उखायां स्थितस्य) ‘अग्नेः’ (केतुं) (ज्ञापकं) ‘प्रथमं’  
 (इष्टकोपधानात् पूर्वमेव निष्यन्नं), अतो हे इष्टके, ‘इह’ (अस्मिन्)  
 अग्निजेने ‘पुरस्तात्’ (पूर्वस्थां) दिशि देवताम् ‘अध्वर्यू’—उभौ  
 अग्निनौ त्वां ‘सादयतां इह’ (अस्मिन् स्थाने स्थापयन्तम्) ।

अथ द्वितीयामाह,—“स्वे दक्षे दक्षपितेह सीद-~~देव्या~~ पृथिवी-  
 दृहती रराणा । स्त्रासस्था तनुवा संविशस्व पितेवैभि स्तनव  
 आ-सुशेवाग्निनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा<sup>(१)</sup>” इति । हे इष्टके,  
 स्वस्थाने निषीद । तच्च दृष्टान्तः,—‘दक्षपिता’ इति, सुतोपमा,—  
 यथा ‘दक्षपिता’, दक्षाणीं व्यवहारकुशलानां पुत्राणां गृहे पिता  
 निषीदति महतम् । ‘देवचा’ (देवेषु मध्ये) ‘तनुवा’ (संकीर्णेन  
 शरीरेण) ‘संविशस्व’ (सम्यगवस्थिता भव) । कीदृशी?—‘पृथिवी,’  
 (मृत्कार्षणेन भूमिस्वरूपा) ‘दृहती’ (मौढा); ‘रराणा’ (निस्पद्रव-

आह्रममाणा); 'स्वायत्या' (सुखकरेऽस्मिन् स्थाने स्थिता) हे इष्टके,  
'आ-सुमेवा' (सर्वतः सुखेन सेवितुं शक्या) 'एधि' (भव); क इव,  
'सुनवे' 'पितेव' (यथा पुत्रार्थं पिता सुखेन सेव्यो भवति,  
तद्वत्) । अश्विनेत्यादि पूर्ववत् ।

अथ तृतीयामाह,—“कुलायिनी वसुमती वयोधा रथिज्ञो  
वर्द्धं बज्रलं सुवीरं । अपामतिं दुर्मतिं वाधमाना रायस्योषे  
यज्ञपतिमाभजन्तो सुवर्धेहि यजमानाय पोषमश्विनाध्वर्यू माद-  
यतामिह त्वा<sup>(१)</sup>” इति । हे इष्टके, त्वं 'कुलायिनी' (निवास-  
स्थानवती); 'वसुमती' (धनवती) धनप्रदेत्यर्थः । 'वयोधाः' (दीर्घा-  
युष्यस्य सन्पादिका) सती 'नः' (अस्मदर्थे) 'बज्रलं' 'रथि' (प्रभूतं  
धनं) 'सुवीरं' (शोभनपुत्रत्वं) च 'वर्ध' (सम्पादय) । 'अमतिं'  
(प्रज्ञामान्द्यं) 'दुर्मतिं' (पापबुद्धिं) 'अप'-'वाधमाना' (निःश्रेष्ठेण  
विनाशयन्तो) 'रायस्योषे' (धनपुष्टौ) 'यज्ञपतिं' 'आभजन्तो' (सर्वतः  
प्रापयन्तो) 'सुवः' (स्वर्गलोके) 'यजमानाय' (यजमानार्थं) 'पोष'  
(पुष्टिं) 'धृष्टिः' (सम्पादय) । अश्विनेत्यादि पूर्ववत् ।

• अथ चतुर्थीमाह,—“अग्नेः पुरीषमसि देवयानी तां त्वा  
विश्वे अभिगृणन्तु देवाः । स्तोमपृष्ठा घृतवतोहू सोद प्रजावदस्ये  
द्रविणाऽऽयजस्वाश्विनाध्वर्यू मादयतामिह त्वा<sup>(२)</sup>” इति । हे इष्टके,  
'देवयानी' (देवान् प्राप्तुवतो) त्वम् 'अग्नेः पुरीषमसि' (चित्त्व-  
स्वाग्नेः पूरकं वस्त्वसि); 'तां' (तादृशीं) त्वां 'विश्वे' 'देवाः' (सर्वे-  
ऽपि देवाः) 'अभिगृणन्तु' (सर्वतः कीर्त्तयन्तु) । 'स्तोमपृष्ठा' (सर्व-  
स्तोमैर्युक्तानि पृष्ठस्तोत्राणि यस्याः सा स्तोमपृष्ठा), 'पृष्ठैरपतिष्ठते'

इति वक्ष्यति । 'वृत्तवती' (होव्यमाश्रुतसंयुक्ता) स्त्री 'इह' (आस्थान्) सधत्ते 'सीद' (तिष्ठ) । 'अस्ते' (अस्माभ्यं) 'प्रजापत' (पुत्रपैत्रादियुक्तं) 'द्रविणा' (धनम्) 'आर्यत्रय' (सर्वतो देवि) । अग्निनेत्यादि पूर्ववत् ।

अथ यज्ञमोमाह,—“दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिर्विष्टम्भनी दिशामधिपज्ञी भुवनानां । जर्मिर्द्रष्टो अपामसि विश्वकर्मा ते अग्निरग्निनाध्वर्युं सादयतामिह त्वा<sup>(५)</sup>” इति । हे इष्टके, त्वं सर्वात्मिका असि, कथम्?—इति, तदुच्यते,—‘दिवो मूर्धासि’ (द्युलोकस्य शिरस्थानीय आदित्योऽसि); ‘पृथिव्या नाभिः’ (भूमेर्नाभिस्थानीया, भूमेर्गिरसि)\* । ‘दिशां’ ‘विष्टम्भनी’ (प्राच्यादीनां दिशां विविधसाङ्ख्येण संस्तम्भयन्ती व्यवस्थापयन्ती); तथा ‘भुवनानां’ सर्वेषाम् ‘अधिपज्ञी’ (आधिक्येन पालयित्री) । ‘अपां’ य ‘जर्मिः’ ‘द्रष्टः’ च तदुभयरूपाऽसि; ‘विश्वकर्मा’ (प्रजापतिः) एव तव ‘अग्निः’ (द्रष्टा) । अग्निनेत्यादि पूर्ववत् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्वमुपधानं विधत्ते,—“उत्सन्नयज्ञो वा एष यदग्निः किं न ह्येतस्य क्रियते किं वा न यदै यज्ञस्य क्रियमाणस्यान्तर्यग्निं पूयति वा अस्य तदाग्निनोरुपदधाति अग्निनौ वै देवानां भिषजौ ताभ्यामेवास्मै भेषजं करोति (५।३।१ अ०)” इति । योऽयं योयः सानोऽग्निः, स ‘एष’ ‘उत्सन्नयज्ञः’ एव—अस्मिन्नग्नावनुष्ठेवानां अतिबलवत्त्वात्-सर्वथापि प्रमादादिना कचित् किञ्चिदङ्गम् ‘उत्सन्नं’ भूयत्येव, एतस्याग्नेः सम्बन्धि किं नाम अङ्गमनुष्ठितमिति । को

\* यस्मैव सर्वेषां पाठः । भूमेरग्निरसि इति पाठो भवितुं युक्तः ।

ज्ञातुं प्रकरोति, (अहमन्वे निषेधार्थः) सर्वथा ज्ञातुं न प्रकरोत्येव,  
तथा सत्यनुष्ठेयमानस्य 'यज्ञस्य' 'यत्' अगम् 'अन्तर्यन्ति' (अन्त-  
रितं कुर्वन्ति) 'अस्य' (यज्ञस्य) एतत् अङ्गं 'पूयति' एव (नञ्-  
त्येव) । 'तत्' (तस्मात्) अन्तरायदोषपरिहारार्थम् 'आश्विनीः'  
दृष्टका उपदध्यात् । आश्विदेवयुक्तैर्मन्त्रैरुपधेया दृष्टका आश्विन्यः ।  
तदुपधानेन देवभिषगभ्याम् 'अस्मै' (यज्ञाय) औषधं 'करोति' ।

सञ्ज्ञां विधत्ते,—“पञ्चोपदधाति पाङ्क्तो यज्ञो यावानेव यज्ञ-  
स्तस्मै भेषजं करोति” (५।३।१२०) इति ।

कल्पः, 'सजूर्द्धतुभिरिति पञ्चतया आश्विनोरनूपधाय'  
इति । पाठस्तु,—“सजूर्द्धतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्द्वै-  
सजूर्दादित्यैः सजूर्विश्वेदेवैः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा  
वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यु सादयतामिह त्वा(१०)” इति । हे दृष्टके,  
त्वं 'सजुभिः' (वसन्तादिभिः) 'सजूः' (समानप्रीतिः) अग्निः वस-  
न्तादीनां यादृशी प्रीतिः, तादृशी तवेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि  
सजूःशब्दे श्रेयः । (विविधं जगद्धति पोषयन्ति इति) ब्रह्मादयो  
'विधाः' ; एतैः 'विधाभिः' ; वसवो, रुद्राः, आदित्याः, विश्वे देवा,  
देवाश्च प्रसिद्धाः । तैरेतैः पञ्चविधैः पञ्चधा मन्त्रभेदः ।  
पूर्वोत्तरभागौ सर्वचानुषज्येते । 'विधाभिः' इत्यन्तः पूर्वा भागः ;  
'सजूर्देवैर्वयोनाधैः' इत्याद्युत्तरो भागः । एतस्मिन् भागे पूर्वोक्ताः  
सर्वेषां समानदेवशब्दाभिधेयाः ; तै च सर्वे 'वयोनाधाः,' आद्यु-  
प्रदा इत्यर्थः । तादृशैः 'देवैः' समानप्रीतिस्त्वं 'वैश्वानराय'  
'अग्नये' (सर्वपुरुषाणां हितकारि-वस्तुर्थं) त्वामुपदधाति इति

शेषः । मयोपहितां त्वां देवानाम् 'अध्वर्यू' आश्विनौ\* 'दृष्ट' चेवे  
स्थापयताम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“अतव्या उपदधाति  
अतवर्णां कृष्टै” (५।३।१अ०) इति । वसन्तादीनाम् अतवर्णां  
स्वस्वव्यापारसामर्थ्याय एतदुपधानम् ।

दृष्टकासङ्ख्यां विधत्ते,—“पञ्चोपदधाति पञ्च वा अतवो<sup>१</sup>थावर्णा  
एवर्त्तवस्तान् कल्पयति” (५।३।१अ०) इति । हेमन्तशिशिरयोः  
समासेन अतवर्णां पञ्चत्वं । ‘कल्पयति’ (स्वस्वोचितव्यवहारसमानं  
करोति) ।

मन्त्राणामाद्यन्तानुषङ्गौ विधत्ते,—“समानप्रभृतयो भवन्ति  
समानोदर्कास्तस्मात् समाना अतवः” (५।३।१अ०) इति ।  
‘सजूर्ध्वतुभिः सजूर्विधाभिः’ इत्ययमुपक्रमो भागः ‘प्रभृतिः’ ।  
समानप्रभृतयश्च समानधर्माः, नोपक्रमाः सर्वे मन्त्रा इत्यर्थः ।  
‘सजूर्देवैर्वयोनाधैः’ इत्याद्यवसानम् ‘उदर्कः’; सोऽपि सर्वेषां मन्त्राणां  
समानः । यस्मात् मन्त्राः समानाः, ‘तस्मात् ऽष्टेप्तेऽग्नि मास-  
इत्यात्मकत्वेन सर्वेऽपि अतवः समानाः ।

मन्त्रेषु समानमंशमुक्त्वा भेदकमंशं दर्शयति,—“एकेन पदेन  
व्यावर्त्तन्ते तस्मादृतवो व्यावर्त्तन्ते” (५।३।१अ०) इति ।  
‘वसुभिः’ इत्येकं पदं, त्रिनेतरेभ्यो मन्त्रेभ्य आद्यमन्त्रो व्यावर्त्तते ।  
एवं रुद्रादित्यादिभिर्व्यावर्त्तिर्योजनीया । यस्मादचोपक्रमोऽव-

\* ‘अश्विनौ’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

ज्ञानशान्ते पदमात्रेण व्यावृत्तिः, तस्मात्लोके मासद्वयात्मकत्व-  
शान्तेऽपि वसन्तपीशादिपदभेदेन चतुर्णां परस्परं व्यावृत्तिः ।

कल्पः,—‘प्राणं मे पाहीति पञ्च प्राणभृत चतव्या अनूपधाय’  
इति । पाठस्तु,—“प्राणं मे पाक्षपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि  
चक्षुर्मे उर्या विभाहि ओन्नं मे श्लोकय (११-१५)” इति । हे  
इष्टके, ‘मे’ (मदीयं) ‘प्राणं’ ‘पाहि\*’ (पालय), एवमुत्तरत्रापि ;  
, ‘उर्या’ (विशालया दृष्ट्या) ‘वि-’ ‘भाहि’ (विशेषेण प्रकाशय) दर्शन-  
समर्थं कुर्वित्यर्थः ; ‘श्लोकय’ (शब्दसङ्घाते शक्तं कुरु) बहुवेदशास्त्र-  
अवणसमर्थं कुर्वित्यर्थः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“प्राणभृत उपदधाति  
चतुर्व्येव प्राणान् दधाति तस्मात् समानाः सन्त चतवो न  
जीर्यन्ति अथो प्रजनयति एवैवान्” (५।३।१अ०) इति । चत-  
व्योपधानादूर्ध्वं प्राणभृत उपधाने सति ‘चतुर्व्येव प्राणान्’  
स्थापयति । यस्मादेषु स्थापिताः प्राणाः, ‘तस्मात्’ पुनःपुनरा-  
वृत्तावपि ‘अस्तुः’ ‘समाना’ एव दृश्यन्ते, न तु जीर्णा भवन्ति ।  
अपिच प्राणस्थापनादेतानृतृन् पुनरुत्पादयत्येव ।

\* अथ “भं दे नं चं तुं ना यं रं स्वं रं हि” इत्यधिकः  
पाठः संवर्धैवास्ति अतः सम्भाव्यते,—यत्, एकस्मिन् पुस्तके प्रथमं,  
कर्त्तव्यचिह्नेन प्रत्यक्षरमर्पितेनानुसारेण अयं पाठोऽधरोक्तः, ततश्च,  
यथादृष्टं तथा लिखितमिति न्यायेन सर्वैरेव प्रतिनिधिकृद्भिस्तथैवा-  
वेष्टीति अस्माभिरधिगतानां पुस्तकानामेकमेव मूलपुस्तकमासीदिति ।



चतुष्पाद्य उत्तरभाविनीः प्राणभृतः प्रकारान्तरेण प्रवर्तन्ति,—  
 “एष वै वायुः यत् प्राणो यत् अतथा उपधाय प्राणभृत उच्य-  
 दधाति तस्मात् सर्वानृतनम् वायुरावरोवर्त्ति” (५।३।१अ०)  
 इति । योऽयं ‘प्राणः’, स ‘एष’ ‘वायुः’ एव । तथा सति  
 चतुष्पाद्यानामूर्द्धं प्राणभृतामुपधानेन ‘सर्वान्’ अपि ‘अृतनम्’ ‘अनु-  
 सृत्य’ वायुः पुनरावर्त्तते ।

कल्पः, ‘अपस्मिन्वेति पञ्चापस्या अनुपरिहारम्’ इति ।  
 पाठस्तु,—“अपस्मिन्वैषधीर्जिन्व दिपात्पाहि चतुष्पादव दिवो  
 वृष्टिमेरय(११ १०)” इति । हे इष्टके, त्वं ‘अपो’ (जलानि) ‘पिन्व’  
 (प्रीणय) ; ‘ओषधीः’ अपि ‘जिन्व’ (प्रीणय) ; ‘दिपात्’ (मनुष्य-  
 शरीरं) ‘पाहि’ (पालय) ; ‘चतुष्पात्’ (पशुशरीरम्,) ‘अव’  
 (रक्ष) ; ‘दिवः’ सकाशात् ‘वृष्टिम्’ ‘आ-ईरय’ (आ समन्तात्  
 प्रवर्त्तय) ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“वृष्टिसन्नेरुपदधाति  
 वृष्टिमेवावर्त्तन्ते” (५।३।१अ०) इति । ‘वृष्टिसन्नेः’ वृष्टिप्रदानेन  
 एतन्नामका इष्टकाः ।

तच्च प्रकारविशेषं विधत्ते,—“यदेकधोपदध्यादेकमृतुं वर्षेदनु-  
 परिहारः सादयति तस्मात् सर्वानृतनम् वर्षति” (५।३।१अ०)  
 इति । पञ्चानामेकप्रथमोपधाने सति एकस्मिन् एव चतुर्धा वृष्टि-  
 र्भवेत्, नेतरेष्वप्यतुषु, अतस्तत्परिहाराय अनुक्रमेण परितो  
 हत्वा स्थापयेत्,—प्राचीमुपधाय प्रदक्षिणमिष्टकामावर्त्त दक्षिणा-  
 मुपदध्यात् ; पुनरपि इष्टकाद्वक्त्रः प्रदक्षिणीकृत्य पश्चिमांमुप-

इष्ट्यादित्येवं योजनोयं । तथा सति सर्वानप्युत्तुङ् प्रति दृष्टि-  
र्भवति ।

प्राणभृतां दृष्टिसनीनां च पूर्वोत्तरभावं प्रशंसति,—“यत् प्राणभृत उपधाय दृष्टिसनीरुपदधाति तस्माद् वायुप्रच्युता दिवो दृष्टिरोर्त्ते” (५।३।१ अ०) इति । यस्मात् प्राणभृतः पूर्वभाविन्यः, दृष्टिसनयः पश्चाद्भाविन्यः, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि ‘दिवः’ सकाशात् पूर्व वायुना प्रेरिता ‘दृष्टिः’ पश्चात् प्रवर्त्तते ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

द्वितीयस्यां चितौ पञ्च भ्रुवेत्याद्याम्बिनीस्तथा\* ।

पञ्चतव्याः सजूर्मन्त्रैराद्यन्तावनुषङ्गकौ ॥

वसुद्रादित्यविश्वेदेवैर्मन्त्रभिदा भवेत् ।

प्राणं प्राणभूतः पञ्च ह्यपोऽपस्याश्च पञ्च हि ॥

ता एव दृष्टिसंख्याः प्रोक्ता मन्त्रास्तु विंशतिः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवोये वेदार्थप्रकाशे छण्यजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ० ॥

\* तथा इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् । तथा इति तु भवितुं युक्तः ।  
एवं 'आन्विणीः' इति द्वितीयान्तः पाठोऽपि न समीचीनः ।

अविर्वयस्त्रिष्टुपच्छन्दो दित्यवाङ् वयो विराट्  
 छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् वय उष्णिह  
 छन्दस्त्रिष्टुप् वयोऽनुष्टुप् छन्दः षष्ठ्याद् वयो दृष्टी  
 छन्द उष्णा वयः सतो दृष्टी छन्दः अष्टमो वयः ककु-  
 छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दोऽनङ्गान् वयः पङ्क्ति-  
 छन्दो वस्ती वयो, विवस्त्रं छन्दो दृष्टिर्वयो विशालं  
 छन्दः पुरुषो वयः, तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं  
 छन्दः सिंहे वयश्छदिच्छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपति-  
 छन्दः । क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो दिश्वकर्मा वयः  
 परमेष्ठी छन्दो मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः<sup>(१९)</sup> ॥ १ ॥

पुरुषो वयः । षड्विंशतिश्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीय-  
 प्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥.० ॥

चतुर्थानुवाके आश्विन्यादीष्टका उक्ताः । अथ पञ्चमे वयसा-  
 ण्या दृष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'अविर्वय इति पञ्च दक्षिणस्याः  
 ओष्णां, षष्ठ्याद् वय इति पञ्चोत्तरस्याः, वसो वय इति दक्षिणेऽऽखे,  
 दृष्टिर्वय इत्युत्तरेऽऽखे, व्याघ्रो वय इति दक्षिणे पक्षे, सिंहे  
 वय इत्युत्तरे, एतद्वा विपरीतं; पुरुषो वय इति मध्ये, विष्टम्भो  
 वय इति चतस्रो वयस्याः पुरस्तात् प्रतीचीः' इति । पाठश्च,—  
 "अविर्वयस्त्रिष्टुपच्छन्दो<sup>(१)</sup> दित्यवाङ् वयो विराट्छन्दः<sup>(१)</sup> . पञ्च-

विर्वयो गायत्री छन्दः<sup>(१)</sup> . चित्तो वय उष्णिशो छन्दः<sup>(२)</sup>  
 तुर्धवाङ्मयोऽनुष्टुप्छन्दः<sup>(३)</sup> षष्ठवाङ्मयो वृहती छन्दः<sup>(४)</sup> उक्षां  
 वयः सतो वृहती छन्दः<sup>(५)</sup> ऋषभो वयः ककुब्धः<sup>(६)</sup> धेनुर्वधेः  
 जगती छन्दः<sup>(७)</sup> अग्न्यान् वयः पङ्क्तिः<sup>(८)</sup> बल्लो वधो  
 विबलं छन्दः<sup>(९)</sup> वृष्णिवयो विशालो छन्दः<sup>(१०)</sup> पुष्पो वयः  
 तम्रं छन्दः<sup>(११)</sup> व्याघ्रो वयोऽमाष्टुष्टं छन्दः<sup>(१२)</sup> सिंहे वयः  
 छदिः<sup>(१३)</sup> विष्टभो वयोऽधिपतिः<sup>(१४)</sup> क्षत्रं वयो मथम्रं  
 छन्दः<sup>(१५)</sup> विश्वकर्मा वयः परमेष्ठो छन्दः<sup>(१६)</sup> मूर्धा वयः  
 प्रजापतिः<sup>(१७)</sup> इति । 'अवि'-शब्दः पूर्वोक्तरीत्या मास-  
 षट्कमुपलक्षयति । ततः सार्द्धसंवत्सरपरिमितः कालः 'अविः'  
 इत्युच्यते । हे दृष्टके, तथाविधं यत् 'वयः' तद्रूपाऽसि ।  
 'विष्टुप्' चतुश्चत्वारिंशदक्षरा, तादृश 'छन्दः' त्वमसि । एवं  
 सर्वत्र—जोष्यं ! 'दित्यवाट्' (दिसंवत्सरपरिमितं) । 'पञ्चाविः'  
 (सार्द्धदिसंवत्सरपरिमितं) । 'त्रिंशतः' (संवत्सरत्रयपरिमितं) ।  
 'तुर्धवाट्' (सार्द्धसंवत्सरत्रयपरिमितं) । 'षष्ठवाट्' (संवत्सरचतु-  
 ष्ठयपरिमितं) । 'उक्षा' (सार्द्धसंवत्सरचतुष्टयपरिमितं) । तां विति  
 हि काले गोः भोक्ता भवति\* । एवम् ऋषभादिशब्दैः  
 तैश्च तच्च प्रसिद्धार्थदारेण तत्तदर्थसम्बन्धिवयोविशेषत्वमभिधा-  
 तव्यं । विबलं विशालं दिशब्दा लोकाप्रसिद्धाश्चन्दोऽसि अग्नभिर्दधानी  
 अपि गतपथब्राह्मणादिप्रसिद्धाश्चन्दोविशेषवाचिन इति द्रष्टव्यं ।  
 'विश्वकर्मा'-शब्दः प्रजापतिवाची ; तत्साक्षिभ्याद् 'विष्टभ-क्षत्र-

\* सोक्षा भवति इति पाठो भवितुं युक्तः ।

मूर्द्ध'-शब्दाच्च तदीयमेकदेशविशेषमाचक्षते । तच्च विश्वकर्म-  
शब्देन प्रजापत्यायुःपरिमितः कालः 'उपलक्ष्यते'; 'विष्टम्'-  
शब्देन जगद्धारणवाचिना एकस्याः सृष्टेः स्थितिकाल उपलक्ष्यते ।  
'क्षय'शब्दो बलवाची, ततः यावता कालेनोत्पन्नं ब्राह्मण्यं प्रवर्धं  
भवति, तावान् कालः क्षयशब्देनोपलक्ष्यते, 'मूर्द्ध'शब्दो द्युलोक-  
रूपं विराजो मूर्द्धानमाचष्टे, तेन द्युलोकस्य यावान् कालः,  
तावान् कालो लक्ष्यते । नानाविधवयोरूपा, नानाविधच्छन्दो-  
रूपा च त्वमसीति तात्पर्यार्थः ।

एतैर्मन्त्रैरुपधेया वयस्याख्या इष्टकाः; तासां पूर्वानुवाकावसाने  
पठिताभिरपस्याभिः सह पौर्वापर्यं निश्चेतुं प्रसूति,—"पशवो  
वै वयस्या नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभि  
समनसः" (५।३।१ अ०) इति । वयस्यानां पशुप्राप्तिहेतुत्वात्  
तद्रूपत्वं, पशवस्य नानाविधरुचियुक्ताः,—यस्मै\* पशवे प्रादृशं  
दृष्टादिकं रोचते, तादृशमेवान्यस्यापि रोचते इति नास्ति  
निश्चयः; एकेनाघ्राय परित्यक्तस्यापि दृष्टस्यान्येन मन्त्रदर्शनात्;  
अतो नानामनस्कत्वं । ततो 'नानाव्रताः' (भिन्नकर्माणः),—एकः  
पशुर्लोकं वहति, अपरः शकटं, अन्यस्तु पृष्ठभारम्,—एवं  
विविधरुचयो विविधव्यापारा अपि पशवः 'अपः' अभिलक्ष्य  
सर्वेऽपि समानमनस्का एव, मध्याह्नकाले युगपदुदकपानदर्श-  
नात् ।

\* यत्र यस्मै इत्यस्य स्थाने एकस्मै इति पाठो भवितुं युक्तः, अन्यथा  
साक्षाद्भूता स्यात् ।

तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां 'वयस्यानामुत्तरभावित्वं विधत्ते,—यं कामयेतापशुः स्यादिति' वयस्यास्तस्योपधायापस्या उपदध्याद-  
 सञ्ज्ञानमेवासौ पशुभिः करोत्यपशुरेव भवति; यं कामयेत्  
 पशुमान्स्यादित्यपस्यास्तस्योपधाय वयस्या उपदध्यात् सञ्ज्ञान-  
 मेवासौ पशुभिः करोति पशुमानेव भवति" (५।३।१अ०)  
 इति । 'वयःशब्दोपेतैः "अविर्वयस्तिष्ठपृच्छन्दः" इत्यादिभिर्मन्त्रै-  
 रूपधेया इष्टका वयस्याः\* । अपशब्दोपेतैः "अपस्मिन्" इत्या-  
 दिभिर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपस्याः, तत्रापस्यानामुत्तरभावित्वे  
 ताभिरितरासां पशुरूपाणामभिभूतत्वात् अस्य यजमानस्य  
 'पशुभिः' 'असञ्ज्ञानं' 'करोति',—पशुनिमित्तकं सञ्ज्ञानमकृतं  
 भवति†, अतः पशूनामवज्ञातत्वात् पशुरहितो भवति । पशु-  
 रूपाणां वयस्यानामुत्तरभावित्वे पुनः अभिभूतत्वात्‡ अस्य यज-  
 मानस्य 'पशुभिः' 'सञ्ज्ञानं' 'करोति',—पशुनिमित्तकं 'सञ्ज्ञानं'  
 कृतं भवति॥ अवज्ञाविपरोत आदिरः सञ्ज्ञानं । तेनाय 'पशुमान्'  
 भवति 'श्वद' । ब्रह्मादपस्याः पूर्वभावित्वः, वयस्या उत्तरभावित्वं  
 इत्यर्थः । .

'विष्टम्भो वयः' इत्यादिभिर्मन्त्रैरुपधेयानां प्रदेशं विधत्ते,—

\* 'वस्याः' इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

† असञ्ज्ञानमकृतं भवति इति आदर्शपुस्तके का० इ० पुस्तके च  
 पाठो न सम्यक् । असञ्ज्ञानं, कृतं, भवति इति का० सं० पुस्तकपाठः  
 सञ्ज्ञानमकृतं भवति इति पुस्तकान्पाठो वा साधु ।

‡ गुणानभिभूतत्वादिति पुस्तकान्तरपाठः ।

§ असञ्ज्ञानमकृतं भवति इति आदर्शपुस्तके पाठः ।



इत्यनुवर्तते । आत्रसिंहधारभिकवीर्योपेतत्वादेवेनोपधात्तदर्थेन  
पञ्चयोर्वीर्यं स्यात्तद्युगेव ।

अन्वेन मन्त्रेणोपधेयाया स्यान्नं विधत्ते,—“पुरुषो वय इति  
मध्ये तस्मात् पुरुषः ‘पशूनामधिपतिः’ (५।३।१अ०) इति ।  
यस्मान्मध्यदेश उपधानमन्त्रे पुरुषशब्दोऽस्ति, ‘तस्मात्’ लोके  
‘पुरुषः’ ‘पशूनां’ स्वामी भवति; इतरास्तु वयस्याः पञ्चव  
इति ह्युक्तम् ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

तं\* अविस्तु वयस्यास्तु दध्यादेकोनविंशतिः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवोये वेदार्थप्रकाशे छान्दोग्यजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

११३

इन्द्राग्नीः अव्ययमानामिष्टकां ददतं युवं । पृष्ठेन  
द्यावापृथिवी अन्तरिक्षञ्च विबाधतां<sup>(१)</sup> । विश्वकर्मा  
त्वा सादयत्वंन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रयस्वतीं  
भास्वतीं स्वरिमतोमा या द्यां भास्या पृथिवीमा-  
वन्तरिक्षमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दहान्तरिक्षं मा  
हिः सोविश्वस्मै प्राणायानाय व्यानायोदानाय  
प्रतिष्ठायै चरिचय वायुत्वाऽभिपातु मध्या स्वस्था  
बुद्धिषा ॥ १ ॥

\* तमिति मरुद् द्यादर्थपुस्तके नास्ति ।



शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद्भ्रुवा सीद<sup>(१)</sup> ।  
 राक्षसि प्राची दिग्<sup>(२)</sup> विराडसि दक्षिणा दिक्<sup>(३)</sup>  
 सम्राडसि प्रतीची दिक्<sup>(४)</sup> स्वराडस्युदीची दिग्<sup>(५)</sup>  
 अधिपत्यसि दृहती दिक्<sup>(६)</sup> आयुर्मे पाहि<sup>(७)</sup> प्राणं  
 मे पाहि<sup>(८)</sup> अपानं मे पाहिं<sup>(९)</sup> व्यानं मे पाहि<sup>(१०)</sup>  
 चक्षुर्मे पाहि<sup>(११)</sup> ओचं मे पाहि<sup>(१२)</sup> मनो मे जिह्व<sup>(१३)</sup>  
 वाचं मे पिन्व<sup>(१४)</sup> आत्मानं मे पाहि<sup>(१५)</sup> ज्योतिर्मे  
 यच्छ<sup>(१६)</sup> ॥ २ ॥

छर्दिषा । पिन्व । षट् च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
 षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पञ्चमेऽनुवाके वयस्याख्या इष्टका उक्ताः । 'तावता' द्वितीयां  
 चितिः समाप्ता । अथ षष्ठे तृतीयस्यां चितौ स्वयमादृशाद्या  
 उच्यन्ते । कल्पः,—‘श्रोभूते पौर्वाहिकीभ्यां प्रचर्य तृतीयां चितिं  
 चिनोतीन्द्राग्नी अव्ययमानामिति स्वयमादृशामभिमृश्याग्नेनोप-  
 चाय्य’ इति । पाठस्तु,—“इन्द्राग्नी अव्ययमानामिष्टकां इह हतं  
 युवं । पृष्ठेन द्यावापृथिवी अर्नृरिचञ्च विबाधताम्<sup>(१)</sup>” इति ।  
 हे ‘इन्द्राग्नी’, ‘युवं’ (युवां) ‘अव्ययमानां’ (भङ्गरहितां) स्वय-  
 मादृशाख्याम् ‘इष्टकां’ ‘इह हतं’ (इदोक्तु हतं) । इयञ्छेष्टका

स्वकीयेनोपरिभागेन लोकत्रयं 'विबाधतां' (बाधमानेव) व्याप्नो-  
त्वित्यर्थः ।

कल्पः, 'विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठ इत्यविदुषा  
ब्राह्मणेन सह मध्येऽग्रेरुपदधाति' इति । पाठस्तु,—“विश्वकर्मा  
त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्रतीं प्रथस्रतीं भास्रतीं स्मरि-  
मतीम् आ या द्यां भासि आ पृथिवीम् आ उरु अन्तरिक्ष-  
मन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृष्ट्वान्तरिक्षं मा हिंसोर्विश्वस्यै  
प्राणायानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठाय चरित्राय वायुस्वा-  
ऽभिपातु मद्यां स्वस्था कर्दिषा शन्तमेन तथा देवतयाऽङ्गिर-  
स्वद्भ्रुवा सीद<sup>(१)</sup>” इति । (विश्वानि कर्माणि यस्यासौ 'विश्वकर्मा'  
प्रजापतिः) हे स्वयमादृष्टे, प्रजापतिः, त्वाम् 'अन्तरिक्षस्य' 'पृष्ठे'  
(उपरि) 'सादयतु' । कोदृशी?—'व्यचस्रतीं' (व्यक्तियुक्तां),  
'प्रथस्रतीं' (विस्तारयुक्तां), 'भास्रतीं' (भायुक्तां), 'स्मरिमतीं'  
(विद्वद्भिर्ज्ञत्विभिर्युक्तां), तां; 'या' इयं स्वयमादृष्टा, सा त्वं दुलोकम्  
'आ'-'भासि' (सर्वतः प्रकाशयसि) । तथा 'पृथिवीम्' 'आ'-  
'भासि' । 'उरु' (विस्तीर्णम्) 'अन्तरिक्षं' त्वम् 'आ'-'भासि' ।  
तादृशी त्वम् 'अन्तरिक्षं' इदं 'यच्छ' (गन्धर्वाप्सरोगणादि-  
धारकतया नियमय) । तथा 'अन्तरिक्षं' 'दृष्ट्व' (परोपद्रवराहित्येन  
दृढीकुरु) । त्वमपि तत् 'अन्तरिक्षं' 'मा हिंसोः' । 'विश्वस्यै'  
(सर्वस्यै) प्राणायानव्यानेऽदानाख्यवायुवृत्तिसाभाय, 'प्रतिष्ठायै'  
(स्मर्यै प्रतिष्ठासाभाय), 'चरित्राय' (शास्त्रीयाचरणाय), प्राणि-  
जानेतस्य सर्वस्य सिद्ध्यर्थं अयं 'वायुः' त्वाम् 'अभितः' 'पातु' ।

केन रक्षणमिति ? तदुच्यते,—‘मह्या ‘स्वस्वा’ (महत्या धोगक्षेम-  
सम्पत्त्या) ‘शान्तमेन’ ‘कृदिषाः’ (सुखकारिणा द्वीप्तिविशेषेण)  
तत्र स्वामिभूता या देवता, ‘तथा’ अनुगृह्यता, ‘तथा’ ‘ध्रुवा’  
(स्थिरा) सती ‘सीद’ (इहोपविश) । ‘अङ्गिरस्वत्’ अङ्गिरसौ  
चयमानुष्ठाने यथा ध्रुवा (स्थिरा) तद्वत् ।

एतन्मन्त्रद्वयसाध्यमभिमर्शनपूर्वकमुपधानं विधत्ते,—“इन्द्राग्नी  
अव्ययमानामिति स्वयमाह्वानमुपदधातीन्द्राग्निभ्यां वा इमौ लोकौ  
विधृतावनयोर्लोकयोर्विधृत्यै” (५।३।२अ०) इति । यस्मा-  
दिन्द्राग्निभ्यां लोकद्वयं विधृतं, तस्मादत्रापि लोकद्वयधारणाय  
‘इन्द्राग्नी’ इति मन्त्रः प्रयुज्यते ।

प्रकारान्तरेणैन्द्राग्नी मन्त्रगतौ प्रशंसति,—“अधृतेव वा एषा  
यन्मन्त्रमा चित्तिरन्तरिक्षमिव वा एषेन्द्राग्नी इत्याहेन्द्राग्नी वै  
देवानामेजोऽमृतावोजमैवैनामन्तरिक्षे चिनुते धृत्यै” (५।३।  
२अ०) इति । अधस्ताच्चित्तिद्वयं पूर्वमुक्तं, उपरितनन्तु चित्तिद्वयं  
वक्ष्यते, तस्मात् इयं तृतीया चितिर्मध्यमा । सा च भूमि-  
स्यर्थाभावात् केनापि ‘अधृता’ वर्तते, अतोऽन्तरिक्षमदृशौ,  
अतस्तस्याश्चित्तर्धृतिमिध्यर्थमिन्द्राग्नी इति मन्त्रं पठेत् । देवानां  
मध्ये ताविन्द्राग्नी बलधारिणौ, तद्वलेनैवैनान्तरिक्षे भूमिस्यर्था-  
मन्तरेण ‘चिनुते’ । भूमिस्यर्थाभावेऽपि तद्वलेन चित्तत्वात् धृता  
भवति ।

पूर्वं विहितां स्वयमाह्वानमनूद्य प्रशंसति,—“स्वयमाह्वानमुप-  
दधात्यन्तरिक्षं वै स्वयमाह्वानाऽन्तरिक्षमेवोपधत्ते” (५।३।२अ०)

इति । भूमिस्थशाभावादन्तरिक्षसादृश्यं । यदा तु अयम् उपधान-  
विधिः, तदानामेव ब्रह्मवादेन पूर्वोक्तो मन्त्रविनियोगो द्रष्टव्यः ।

उपधानात् प्राचीनमश्वोपघ्नपणं विधत्ते,—“अश्वमुपघ्नापयति  
प्राणमेवास्यां दधात्यथो प्राजापत्यो वा अश्वः प्रजापतिर्नैवाग्निं  
चिनुते” (५।३।२अ०) इति ।

दृष्टकागतच्छिद्रं प्रशंसति,—“स्वयमादृशा भवति प्राणानाम्  
उत्सृष्ट्या अथो सुवर्गस्य लोकस्यानुख्यात्ये” (५।३।२अ०) इति ।  
सति हि छिद्रे आसोऽनुपबृद्धः सन् निर्गच्छति, आवरणाभावात्,  
स्वर्गोऽपि द्रष्टुं शक्यते ।

कल्पः,—“राज्ञसि प्राची दिगिति पञ्च दिग्धाः प्रतिदिग्मेकां  
मध्ये” इति । पाठस्तु,—“राज्ञसि प्राची दिक्<sup>(१)</sup> विराडसि दक्षिणा  
दिक्<sup>(२)</sup> सम्राडसि प्रतोची दिक्<sup>(३)</sup> खराडस्युदीची दिक्<sup>(४)</sup>  
अधिपत्यसि वृहती दिक्<sup>(५)</sup>” इति । हे दृष्टके, त्वं राजमाना  
दीप्यमाना सती ‘प्राची दिक्’ ‘असि’ (पूर्वदिगूपाऽसि) । ‘विराट्’  
(विविधं राजमाना) ‘दक्षिणा’ ‘दिक्’ ‘असि’ । ‘सम्राट्’ (सम्यक्  
राजमाना) ‘प्रतोची’ ‘दिक्’ ‘असि’ ‘खराट्’ (स्वयमेव राजमाना)  
‘उदीची’ ‘दिक्’ ‘असि’ । (अधिकं पातीति) ‘अधिपत्यो’, तादृशी  
त्वं, ‘वृहती’ (प्रौढा) ‘जड्जा’ ‘दिक्’ ‘असि’ ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“देवानां वै सुवर्गं लोकं  
यतां दिशः समस्तीयन्त त एता दिग्धा अपश्यन्ता उपादधत  
ताभिर्वेते दिग्धो बृहन् यदिग्धा उपदधाति दिग्धां विष्टत्ये”  
(५।३।२अ०) इति । देवाः पुरा भूमौ स्थिताः, कदाचित्

स्वर्गे 'लोकं' गताः, तच्च गच्छतां 'देवानां' सम्बन्धिन्यो या  
भृथिष्ठा 'दिशः', 'ताः' 'समन्वीयन्त' (रक्षकाभावात् सम्बन्ध  
विशोर्णाः) । दिग्वर्तिनां प्राणिनां अस्वास्थ्यमेव दिशां विशरणम् ।  
'ते' तदा विचार्य, दिशां धारणसमर्था 'एता दिश्या' नामेष्टका  
'अपश्यन्' । 'दिक्'-शब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका 'दिश्याः' ।  
तदुपधानात् 'देवानां' इव यजमानस्यापि दिशो दृढा भवन्ति ।

कल्पः, 'आयुर्मे पाद्मेति दश प्राणभृतः पुरस्तादुपधाय' इति ।  
पाठस्तु,—“आयुर्मे पाद्मे<sup>(८)</sup> प्राणं मे पाद्मे<sup>(९)</sup> अपानं मे पाद्मे<sup>(१०)</sup>  
व्यानं मे पाद्मे<sup>(११)</sup> चक्षुर्मे पाद्मे<sup>(१२)</sup> ओचं मे पाद्मे<sup>(१३)</sup> मनो  
मे जिह्व<sup>(१४)</sup> वाचं मे पिन्व<sup>(१५)</sup> आत्मानं मे पाद्मे<sup>(१६)</sup> ज्योतिर्मे  
यच्छ<sup>(१७)</sup>” इति । हे इष्टके, मदीयम् 'आयुः' 'पाद्मे' (रक्ष) ।  
एवमुत्तरत्रापि योज्यं । 'जिह्व' (प्रीणय) । 'आत्मानं' (जीवस्वरूपं) ।  
'ज्योतिः' आभिः 'यच्छ' (देहि) ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यरूपधानं विधत्ते,—“दश प्राणभृतः पुरस्ताद्  
उपदधाति नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी प्राणानेव पुरस्ताद्भूते  
तस्मात् पुरस्तात् प्राणाः” (५। ३। २ अ०) इति । प्राणशब्दोपेतां  
मन्त्रान् उपधानकाले विभ्रतीति 'प्राणभृतः' । शिरसि सप्त  
श्चिद्राणि, अधस्तादुभे, तेषु किद्रेषु सञ्चरन्तः 'प्राणा' 'नव'-  
सङ्ख्याकाः, 'नाभिर्दशमी' (किद्रूपा), अतस्तत्रत्यप्राणेन सह 'दश'  
प्राणान् पूर्वस्थां दिश्युपहिताः, 'तस्मात्' लोके प्राप्नुवन्त्येव पुरुषस्य  
आसदृष्टिप्रसारादयः पूर्वस्थामेव दिशि भवन्ति ।

चरममन्त्रे ज्योतिःशब्दं प्रशंसति,—“ज्योतिश्चतीमुत्तमाम्प-

दधाति तस्मात् प्राणावां 'वा ज्योतिरुत्तमा" (५।३।२२०)  
इति । ज्योतिःशब्दयुगेन मन्त्रेशोपधातव्या इष्टका 'ज्योतिमती' ।  
यस्मात् सा चरमा, 'तस्मात्' लोकेऽपि स्वार्थप्रकाशकत्वेन ज्योतीरूपा,  
वाक् सर्वेषामिन्द्रियाणाम् 'उत्तमा' भवति ।

सङ्ख्यां प्रशंसति,—“दशोपदधाति दशाक्षरा विराट् विराट्  
कन्दर्पां ज्योतिर्ज्योतिरेव पुरस्ताद्धत्ते तस्मात् पुरस्ताज्ज्योति-  
रूपास्महे” (५।३।२२०) इति । दीप्तिवाचिना राजति-  
धातुजन्येन निर्दिश्यमानत्वादियं 'विराट्' 'कन्दर्पां' मध्ये 'ज्योतिः' ।  
तथा सति तादृग्दशानां पूर्वदिश्युपधानेन ज्योतिरेव तत्र धारितं  
भवति । यस्मात् पूर्वस्थां दिशि ज्योतिर्घृतं, 'तस्मात्' वयं प्रातः-  
सन्ध्याकाले पूर्वस्थां दिशि ज्योतिर्मण्डलम् 'उपास्महे' ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

हतोयस्यां चिताविन्द्रा, स्वयमादृषकां सृष्टेत् ।

विश्वेत्युपधात्येनां, राज्ञि\* दिश्यास्तु पञ्चभिः ।

आयुर्दश प्राणभृतो मन्त्राः सप्तदशेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छणायजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे हतीयप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

\* श्वमेव सर्वत्र पाठः, 'राज्ञी' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दोऽस्त्रीविष्कन्दः  
 पंक्तिष्कन्द उस्मिहा छन्दो वृहती, छन्दोऽनुष्टुप्छन्दो  
 विराट्छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगती छन्दः  
 पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौष्कन्दः समाम्छन्दो  
 नक्षत्राणि छन्दो मनष्कन्दो वाक् छन्दः कृषिष्कन्दो  
 हिरण्यं छन्दो गौष्कन्दोऽजा छन्दोऽश्वष्कन्दः । अग्नि-  
 देवता ॥ १ ॥

वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो  
 देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता विश्वे देवा देवता  
 मरुतो देवता वृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो  
 देवता<sup>(१-२९)</sup> मूर्धासि राट् भ्रुवासि धरुणा यंत्यसि  
 यमिचीषे त्वोर्जे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा<sup>(३०-४९)</sup> यन्त्री  
 राट् भ्रुवासि धरणी धर्त्यसि धरित्याऽऽयुषे त्वा,  
 वचसे त्वौजसे त्वा बलाय त्वा<sup>(४४-५०)</sup> ॥ २ ॥

देवता । आयुषे त्वा । षट् च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
 सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

षष्ठेऽनुवाके स्वयमाहवाद्यां इष्टका उक्ताः । अथ सप्तमे  
 वृहत्याख्या इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'षट्चिन्त्रतं वृहतीर्मा छन्द

इति द्वादश दक्षिणतः पृथिवी क्कन्द इति द्वादश पञ्चादग्निर्देवतेति  
 द्वादशोत्तरतः इति । पाठस्तु—“मा कन्दः<sup>(१)</sup> प्रमा कन्दः<sup>(२)</sup>  
 प्रतिमा कन्दः<sup>(३)</sup> अस्त्रीविष्कन्दः<sup>(४)</sup> पङ्क्तिष्कन्दः<sup>(५)</sup> उष्णिहा..  
 कन्दः<sup>(६)</sup> वृहतो कन्दः<sup>(७)</sup> अनुष्टुप्कन्दः<sup>(८)</sup> विराट्कन्दः<sup>(९)</sup>  
 गायत्री कन्दः<sup>(१०)</sup> चित्रुष्टुप्कन्दः<sup>(११)</sup> जगतो कन्दः<sup>(१२)</sup> पृथिवी  
 कन्दः<sup>(१३)</sup> अन्तरिक्षं कन्दः<sup>(१४)</sup> द्यौष्कन्दः<sup>(१५)</sup> समाष्कन्दः<sup>(१६)</sup>  
 वृक्षचाणि कन्दः<sup>(१७)</sup> मनष्कन्दः<sup>(१८)</sup> वाक्कन्दः<sup>(१९)</sup> कृषिष्कन्दः<sup>(२०)</sup>  
 हिरण्यं कन्दः<sup>(२१)</sup> गौष्कन्दः<sup>(२२)</sup> अजा कन्दः<sup>(२३)</sup> अश्वष्कन्दः<sup>(२४)</sup> ।  
 अग्निर्देवता<sup>(२५)</sup> वातो देवता<sup>(२६)</sup> सूर्यो देवता<sup>(२७)</sup> चन्द्रमा  
 देवता<sup>(२८)</sup> वसवो देवता<sup>(२९)</sup> रुद्रा देवता<sup>(३०)</sup> आदित्या देवता<sup>(३१)</sup>  
 विश्वे-देवः देवता<sup>(३२)</sup> मरुतो देवता<sup>(३३)</sup> वृहस्पतिर्देवता<sup>(३४)</sup> इन्द्रो  
 देवता<sup>(३५)</sup> वरुणो देवता<sup>(३६)</sup>” इति । अत्र ‘मा’-‘प्रमा’-‘प्रतिमा’-  
 ‘ऽस्त्रीविष्कन्द’-‘पङ्क्तिविष्कन्दो’विशेषाः, केचिद् वेदे प्रसिद्धाः, केचि-  
 स्तोकेष्वपि प्रसिद्धाः । हे इष्टके, त्वं ‘मा’-नामच्छन्दोरूपाऽसि ।  
 एवं सर्वत्र योज्यम् । अन्यादीनां देवतात्वं तु प्रसिद्धं । हे  
 इष्टके, त्वम् अग्निदेवतारूपासि । एवमुत्तरचापि योज्यम् ।

एतैर्मन्त्रैरिष्टकोपधानं विधातुं प्रसूतिः—“कन्दाऽसि पशु-  
 ब्वाजिमयुस्तान् वृहत्युदजयत् तस्मादार्हताः पञ्चव उच्यन्ते”  
 (५।३।१अ०) इति । पुरा कदाचित् गायत्र्यादिच्छन्दोदेवताः  
 परस्परं मात्सर्येण कञ्चित् ‘आजिं’ (मर्यादां) प्राप्ताः । अहमेव  
 पशून् स्त्रीकरिष्यामीति प्रतिज्ञां मर्यादा । तदानो वृहत्याख्या  
 कन्दोदेवता देवतान्तराणि उल्लङ्घ्य स्वयमेव ‘अजयत्’ । अतःसंक्षेप-



मासा 'पशवः' 'वार्हताः' इत्येवं प्रसिद्धं गताः । यथा वृहती  
कन्दसां मध्ये प्रशस्ता, एवं वृहत्याख्या इष्टका अपि प्रशस्ता  
इति तात्पर्यार्थः ।

तत एता इष्टका देशविशेषेषु विधत्ते—“मा कन्द इति  
दक्षिणत उपदधाति तस्मादक्षिणावृतो मासाः, पृथिवी कन्द इति  
पश्चात् प्रतिष्ठित्यै, अग्निर्देवतेत्युत्तरत ओजो वा अग्निरोज  
एवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायो जयति” (५।३।  
२अ०) इति । ‘मा’-शब्देन ‘मासाः’ उच्यन्ते । दक्षिणदिग्-  
विधानेन दक्षिणादिवृत्तिः, सूर्यस्य गोलकप्रदक्षिणावृत्त्या निष्पाद्य-  
मानत्वाच्चैत्रादिमासा ‘दक्षिणावृतः’ । पश्चिमदिक्षुपधेयानाम्  
इष्टकानां मन्त्रेष्वादौ ‘पृथिवी’-शब्दः पठितः, पृथिवी च सर्वस्य  
जगतः प्रतिष्ठा; तस्मात् तदुपधानं ‘प्रतिष्ठित्यै’ भवति । उदीच्यां  
दिशि उपधेयानामिष्टकानां मन्त्रादौ ‘अग्नि’-शब्दः पठितः,  
अग्निश्च दाहकशक्तिद्युक्त्वात् ‘ओजः’ इत्युच्यते, तस्मात् ‘ओजः’  
‘एव’ उदीच्यामुपहितं भवति । यस्मात् उदीच्याऽग्न्यादि-  
देवताशक्तिरूपं ‘ओजः’ तिष्ठति, ‘तस्मात्’ उत्तराभिमुखत्वेन  
प्रयाणं कुर्वन् तीर्थयात्रादिजन्यपुण्योपेतत्वात् परलोक ‘जयति’ ।

मन्त्रपाठप्राप्तामिष्टकां प्रशंसति,—“षट्त्रिंशत् सम्यद्यन्ते षट्-  
त्रिंशदक्षरा वृहती वार्हताः पशवो वृहत्येवासौ पशून्वरुन्धे  
वृहती कन्दसां स्वाराज्यं परीयाय यस्यैता उपधीयन्ते गच्छति  
स्वाराज्यम्” (५।३।२अ०) इति । वृहत्या जितत्वात् पशूनां  
वार्हतत्वेन जेतृत्वादेव वृहत्याः स्वाराज्यमपि ।

कथम्, 'मूर्द्धासि राडिति सप्त वाक्यविख्याः पुरस्तात् प्रतीची-  
 र्गन्त्री राडिति सप्त पश्चात् प्राचीः' इति । पाठस्तु,—“मूर्द्धासि  
 राट्<sup>(१०)</sup> भुवासि धरणी<sup>(१८)</sup> यन्त्र्यसि यमित्री<sup>(१९)</sup> इषे त्वा<sup>(२१)</sup>  
 ऊर्जे त्वा<sup>(२२)</sup> ह्यै त्वा<sup>(२३)</sup> चेमाय त्वा<sup>(२४)</sup> यन्त्री राट्<sup>(२५)</sup>  
 भुवासि धरणी<sup>(२६)</sup> धर्त्र्यसि धरित्री<sup>(२७)</sup> आयुषे त्वा<sup>(२८)</sup> वर्चसे  
 त्वा<sup>(२९)</sup> ओजसे त्वा<sup>(३०)</sup> बलाय त्वा<sup>(३१)</sup>” इति । हे इष्टके, त्वं  
 मूर्द्धवदुत्तमा 'राट्' (राजमाना) च 'असि' । हे इष्टके, त्वं 'भुवा'  
 (स्थिरा) 'धरणी' (धारणहेतुः) च 'असि' । हे इष्टके, त्वं 'यन्त्री'  
 (स्वयमपि नियन्ता), 'यमित्री' (सर्वेषां नियमनकारिणी) च  
 'असि' । हे इष्टके, 'इषे' (अन्नाय) त्वां उपदधामिति शेषः ।  
 'ऊर्जे' (बलाय) त्वां उपदधामि, 'ह्यै' (सत्यनिष्पत्तये) त्वां  
 उपदधामि, 'चेमाय' (सम्पादितस्य धनस्य रक्षणाय) त्वां उप-  
 दधामि । एतैः सप्तभिर्मन्त्रैः पुरस्तादुपधेयाः । हे इष्टके, त्वं  
 'यन्त्री' (नियन्त्रोपेता) 'राट्' (राजमाना) च 'असि' ; तथा  
 'भुवा' (स्थिरा), 'धरणी' (धारणहेतुः) च 'असि' । 'धर्त्री'\*  
 (धारणं कुर्वन्ती), 'धरित्री' (भूमिरूपा) च 'असि' । 'आयुषे'  
 (आयुर्वृद्ध्यर्थं), 'वर्चसे' (कान्त्यर्थं), 'ओजसे' (अष्टमधातुवृद्ध्यर्थं),  
 'बलाय' इति प्रत्येकमन्त्रयि ; (कार्यार्थं) त्वां उपदधामि । एतेर्मन्त्रैः  
 पश्चिमाद्यां दिश्युपधानम् ।

तेरेतैश्चयविधैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“सप्तवाक्यविख्याः

\* अत्र धरित्री इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

पुरस्तादुपदधाति सप्त पञ्चात् सप्त त्रै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववासौ प्राणानां स्वोर्थत्वाय” (५।३।२अ०) इति । बालखिल्यानामकै-  
र्मुनिभिरादौ दृष्टत्वात् इष्टका अपि बालखिल्याख्याः । इष्टका-  
गतया सप्तसङ्ख्याया शीर्षण्यच्छिद्रसाम्यं; पुरस्तात् एकं सप्तकं,  
पञ्चात् एकं सप्तकमिति सप्तकयोर्द्वित्वादधोदेशवर्त्तिच्छिद्रद्वय-  
साम्यम्, अतः सर्वेषां ‘प्राणानां’ ‘स्वोर्थत्वाय’ इदमुपधानम् ।

सप्तकद्वये मन्त्रविभागं विधत्ते,—“मूर्द्धासि राडिति पुरस्ताद्  
उपदधाति, यन्त्रो राडिति पञ्चात्, प्राणानेवास्मै समीचो  
दधाति” (५।३।२अ०) इति । सप्तकद्वयस्थानां प्राणानां  
परस्पराभिमुख्ये सम्यक्त्वं सम्पद्यते । सम्यक्त्वं नाम स्वस्वव्यापार-  
क्षमत्वम् ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

मा, दक्षिणस्यां वृद्धतीः, पृथि पञ्चादथोत्तरा ।

अग्निरित्यादिकाः सर्वा द्वादश द्वादशोदिताः ॥

मूर्द्धा, यन्त्रो, बालखिल्याः पुरः पञ्चाच्च सप्तभिः ।

सप्तमे त्वनुवाकेऽस्मिन् मन्त्राः पञ्चाशदोरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजु-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे द्वितीयप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

आशुः, चिद्वृद्धान्तः पञ्चदशो व्योम सप्तदशः प्रतूर्ति-  
 रष्टादशस्तपो नवदशोऽभिवर्त्तः सविंशो धरुण एक-  
 विंशो वर्चो द्वाविंशः सम्भरणस्त्रयोविंशो योनिः-  
 चतुर्विंशो गर्भोः पञ्चविंश ओजस्त्रिणवः क्रतुरेक-  
 विंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो  
 नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो धूर्चश्चतु-  
 ष्टोमः<sup>(१-१८)</sup> ॥ १ ॥

आशुः । सप्तत्रिंशत् ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
 अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अष्टमेऽनुवाके दृष्ट्याद्या इष्टकां अभिहिताः । तावता तृतीयां  
 चितिः समाप्ता । अथाष्टमे चतुर्थीं चितौ । अत्तणयास्तोमोयाख्ये-  
 ष्टकासु काश्चिदुच्यन्ते । कल्पः, 'श्रोभूते पौर्वाहिकीभ्यां प्रचर्य  
 चतुर्थीं चितिं चिनेत्याशुस्त्रिवृदग्नेर्भागोऽमोत्येताभ्यामनुवाकाभ्यां  
 यथा ब्राह्मणमुपधाय' इति । तत्राद्यनुवाकपाठस्तु,—“आशु-  
 स्त्रिवृत्<sup>(१)</sup> भान्तः पञ्चदशो<sup>(२)</sup> व्योम सप्तदशः<sup>(३)</sup> प्रतूर्तिरष्टादशः<sup>(४)</sup>  
 तपो नवदशः<sup>(५)</sup> अभिवर्त्तः सविंशो<sup>(६)</sup> धरुण एकविंशो<sup>(७)</sup>  
 वर्चो द्वाविंशः<sup>(८)</sup> सम्भरणस्त्रयोविंशः<sup>(९)</sup> योनिश्चतुर्विंशः<sup>(१०)</sup>

गर्भाः पञ्चविंशः<sup>(११)</sup> ओजस्त्रिंशः<sup>(१२)</sup> क्रतुरेकविंशः<sup>(१३)</sup> प्रतिष्ठा  
 चयस्त्रिंशः<sup>(१४)</sup> ब्रध्नश्च विष्टपं चतुस्त्रिंशः<sup>(१५)</sup> नाकः पञ्च-  
 विंशः<sup>(१६)</sup> विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशः<sup>(१७)</sup> धर्मश्चतुष्टोमः<sup>(१८)</sup> इति ।  
 अथ चिष्टत्यञ्चदशसप्तदशाष्टादशनवदशादिब्रध्ना सोमविशेष-  
 वाचिनः । सोमाश्च त्वचनिष्ठस्य साञ्च आवृत्तिभेदान्नियम्यन्ते ।  
 आवृत्तिप्रकारस्तु चिष्टत्यञ्चदशसप्तदशानां 'समिधमातिष्ठति'  
 इत्यस्मिन्ननुवाके सामब्राह्मणेदाहरणेनास्माभिर्याख्यातः ; एक-  
 विंश-त्रिणव-चयस्त्रिंशाख्या अपि सोमाः सामब्राह्मणे  
 निरूपिताः ; अष्टादश-नवदशादयस्तु न्यायेनोक्तेयाः उपसोमाः,  
 ते तु ब्राह्मणे आस्तात्, तदुक्त्यनार्थस्त्वावृत्तिप्रकारः साम-  
 सृञ्चादवगन्तव्यः, अथ चिष्टदादयस्तुष्टोमान्ता अष्टादशसङ्ख्याका-  
 सोमविशेषा आस्तात् । 'आशुः' 'भान्तः'—इत्यादीनि सोम-  
 विशेषाणि, तत्र कानिचिद्विष्टपवाचोनि कानिचिद्द्रव्यवाचोनि,  
 तथा सति गुणसम्बन्धद्रव्यतादात्म्यं सोमेषूपचर्य तत्तत्सोमरूपत्वं  
 तत्तदिष्टकायाः प्रशंसार्थमुपन्यस्यते । तत्रैवमचरयोजना,—'आशुः'  
 (श्रेष्ठगुणोपेतः) 'चिष्टत्'-सोमः ; हे इष्टके, तद्रूपा त्वमसि ।  
 हवमुत्तरचापि योज्यं । 'भान्तः' (भासमानः), 'द्योम' (प्रसिद्धं  
 द्रव्यं) । (प्रकृष्टा त्वर्त्तिः [त्वरा] यंस्त्वसौ) 'प्रत्वर्त्तिः' शीघ्रकारिणीत्यर्थः ।  
 'तपः' प्रसिद्धं, 'अभिवर्त्तः' सामविशेषः । (संह विंशत्या  
 सङ्ख्याया वर्त्तते इति) 'सविंशः' सोमविशेषः । 'धर्मः' धारकः ।  
 'धर्मः' बलहेतुः । 'सम्भरणः' सम्यक् पोषकः । 'द्योनिः' ।  
 'प्रवेत्त्याद्रकः' । 'गर्भाः' प्रसिद्धाः । 'ओजः' अष्टमो धातुः ।

‘कतुः’ ज्योतिष्टोमादिः । ‘प्रतिष्ठा’ स्थितिहेतुः । ‘ब्रध्नस्व’ आदित्य-  
स्वः, ‘विष्टपं’ निवासस्थानं, ‘असौ वा आदित्यो ब्रध्नः’ इति  
श्रुत्यन्तरात् । ‘नाकः’ खर्गाख्या भोगभूमिः । विपरीतत्वेन वर्तमानं  
यस्यासौ ‘विवर्तः’ । चिद्वृत्त्यश्च दश-सप्तदशैकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंशं  
अनेनैवास्मात्क्रमेण कचिदनुष्ठेयम्, कचिच्च विपरीतक्रमेण ;  
अत एक सूचकारेण कचिदुक्तं,—‘त्रयस्त्रिंशारम्भणास्तिवृद्धत्तमाः’  
इति । ‘धर्षः’ धारकः । ‘चतुष्टोमः’ चिद्वृत्त्यश्च दशसप्तदशैकविंशानां  
समूहः । एतैः सोमवाचिभिरष्टादशभिर्मन्त्रैः सोमहपत्वमापा-  
दिता अष्टादशेष्टका उपदध्यात् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यरूपधानं विधत्ते,—‘देवा वै यद्यज्ञे अकुर्वन्  
तदसुरा अकुर्वन् । देवा एता अक्ष्णयासोमीया अपश्यन् ता  
अन्यथाऽनूचान्यथोपादधत् तदसुरा नान्वायन् ततो देवा  
अभवन् पुरासुरा यदक्ष्णयासोमीया अन्यथाऽनूचान्यथोपादधाति  
भ्रातृव्याभिभूत्यै भवत्यात्मना पद्मास्य भ्रातृव्यो भवति” (५।३।  
३ अ०) इति । पुरा कदाचित् देवसाम्यं प्राप्तुं ‘असुरा’  
देवसमीपे गूढचारिणं पुरुषमवस्थाप्य तन्मुखेनावगत्य ‘देवा’ ‘यज्ञे’  
‘यत्’ (यत् अङ्गम्) अकुर्वन्, ‘तत्’ सर्वं स्वयमपि तथैवानुष्ठित-  
वन्तः । ततोऽसुरान् वद्वयितुं ‘देवा’ ‘अक्ष्णयासोमीयाख्या  
‘एता’ इष्टका ‘अपश्यन्’ । सोमवाचिशब्देऽप्येतैर्मन्त्रैरुपधेयत्वात्  
‘सोमीयाः’, तथापि मन्त्रपाठक्रममुक्तं वक्रत्वेनानुष्ठेयत्वात्  
‘अक्ष्णयासोमीयाः’ । कथं वक्रत्वमिति ?—तदुच्यते,—‘अन्यथा’  
मन्त्रानुवचनम्, ‘अन्यथा’ इष्टकोपधानमिति वक्रत्वं । ‘भान्तः

पञ्चदशः' इत्ययम् अनुवचने द्वितीयो मन्त्रः ; उपधाने तुरीयः ।  
 'व्योम सप्तदशः' इत्यनुवचने तृतीयो मन्त्रः, उपधाने तु द्वितीयः ।  
 एवं सर्वत्र वक्तृत्वं द्रष्टव्यं । तदानीं गूढचारो विभ्रान्तः, तन्मुखा-  
 दनवगतशब्दा 'असुरा' अपि देवान् अनुगन्तुं नाशक्नुवन् । ततो-  
 ऽसुराणां पराभवो देवानां जयश्चाभोत् । तस्मात् यजमानोऽपि  
 तथैव उपदध्यात्, तदुपधानं भ्रातृव्यस्याभिभृत्यै स्वस्य जथाय च  
 सम्पद्यते ।

तदेवं सामान्याकारेण विधाय विशेषाकारेण प्रथमं मन्त्रं  
 विनियुक्ते,—“आग्नेस्त्रिवृदिति पुरस्तादुपदधाति यज्ञमुखं वै  
 त्रिवृद् यज्ञमुखमेव पुरस्ताद्विधातयति” (५।३।३अ०) इति ।  
 स्तोमानां मध्ये प्रथमभावित्वात् त्रिवृतो यज्ञमुखत्वं । तन्मन्त्रणो-  
 पधानेन पूर्वस्यां दिशि यज्ञमुखं प्रसारयति ।

अथानुवचने तृतीयं मन्त्रं विनियुक्ते,—“व्योम सप्तदश इति  
 दक्षिणतोऽन्नं वै व्योमान्नः सप्तदशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्माद्  
 दक्षिणेनान्नमद्यते” (५।३।३अ०) इति । व्योमत्रदाकाशज्जले  
 ज्ञेये बहुधान्यनिष्पत्तेर्व्योमोऽन्नत्वं । सप्तदशस्तोमस्यान्नसम्पादकै-  
 र्वैश्वैः सह प्रजापतेर्मध्यदेशादुत्पन्नत्वादन्नत्वं । यस्मादोदृशेन मन्त्रेण  
 दक्षिणस्यां दिश्युपधानं तद्दिशि अन्नोपधानतुल्यं, 'तस्मात्'  
 लोकेऽपि दक्षिणेन हस्तेनान्नं भुज्यते ।

अथ सप्तमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“धरुण एकविंश इति पश्चात्  
 प्रतिष्ठा वा एकविंशः प्रतिष्ठित्यै” (५।३।३अ०) इति । सामि-  
 धेनीप्रकरणे एकदिंशस्तोमानां प्रतिष्ठेत्याज्ञातत्वादस्य प्रतिष्ठात्वम् ।

अथ द्वितीयं मन्त्रं विनियुक्ते,—“भान्तः पञ्चदश इत्युत्तरत  
ओजो वै भान्त ओजः पञ्चदश ओज एवोत्तरतो धत्ते तस्मात्  
उत्तरतोऽभिप्रयायी जयति” (५।३।३अ०) इति । भाष्यस्य  
ओजःकार्यत्वादोजस्त्वं । अन्यत्र ‘पञ्चदशो वज्रः’ इत्यास्मात्त्वात्  
ओजोवद्बलहेतुत्वादोजस्त्वं !

अथ चतुर्थं मन्त्रं विनियुक्ते,—“प्रतर्त्तिरष्टादश इति पुर-  
स्तादुपदधाति द्वौ चिष्टतावभिपूर्वं यज्ञमुखे वियातयति” (५।  
३।३अ०) इति । अष्टादशस्तोमस्य पूर्वोत्तरभागयोरनवसङ्ख्योपेत-  
त्वात् द्वौ चिष्टतौ सम्पद्येते । तौ च ‘अभिपूर्वम्’ (अनुक्रमेण)  
‘यज्ञमुखे’ प्रसारयति ।

अथ षष्ठं मन्त्रं विनियुक्ते,—“अभिवर्त्तः सविंश इति दक्षि-  
णतोऽन्नं वा अभिवर्त्तोऽन्नं सविंशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मात्  
दक्षिणेनान्नमग्नते” (५।३।३अ०) इति । अभिवर्त्तसोऽन्नोऽन्न-  
साधनत्वादन्नत्वं । विंशस्तोमस्य दशसङ्ख्याकद्वयोपेतस्य विराड्द्वारा

विना-

अथाष्टमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“वर्चो द्वाविंश इति पश्चाद्  
यद्विंशतिर्दे तेन विराजौ यद् द्वे प्रतिष्ठा तेन विराजोरेवाभि-  
पूर्वमन्नाद्ये प्रतितिष्ठति” (५।३।३अ०) इति । द्वाविंशति-  
सङ्ख्यामध्ये यां ‘विंशतिः’, ‘तेन’ (विंशतिसङ्ख्याविशेषेण) दशसङ्ख्यापेते  
‘द्वे’ ‘विराजौ’ सम्पद्येते । विंशतेरूपं ‘यत्’ ‘द्वे’ (या द्विसङ्ख्या-  
विशेषेण) पादयोरिव प्रतिष्ठाहेतुत्वात्, ‘प्रतिष्ठा’, ‘तेन’ (तादृश-  
द्विसङ्ख्याविशेषेण) तथा सति ‘विराजोः’ सम्बन्धिन्येव अन्नाद्ये क्रमेण  
प्रतिष्ठितो भवति ।



अथ नवमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“तपो नवदश इत्युत्तरतस्मात् सव्यो हस्तयोस्तपस्वितरः” (५।३।३अ०) इति । यस्मात् उदीच्यां दिशि ‘तपः’ इति मन्त्रः प्रवर्तते,\* ‘तस्मात्’ उत्तरदिमूर्त्तिं वामहस्तो द्योर्हस्तयोर्मध्ये अतिशयेन तपस्वी, दक्षिणहस्तवङ्गो जग-  
शक्त्यभावात्, अनशनस्य तपोरूपत्वात् ।

अथ दशमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“द्योनिश्चतुर्विंश इति पुर-  
स्तादुपदधाति चतुर्विंशत्यचरा गायत्री गायत्री यज्ञमुखं यज्ञ-  
मुखमेव पुरस्ताद्वियातयति” (५।३।३अ०) इति । प्रातःसवने  
प्रवृत्ते यज्ञायथा यज्ञमुखत्वम् ।

अथैकादशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“गर्भाः पञ्चविंश इति  
दक्षिणतोऽन्नं वै गर्भा अन्नं पञ्चविंशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते  
तस्माद्दक्षिणेनान्नमद्यते” (५।३।३अ०) इति । गर्भाणामन्नकार्यत्वा-  
दन्नं, पञ्चविंशस्यान्नहेतुत्वादन्नम् ।

अथ द्वादशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“ओजस्तिणव इति पञ्चादिने  
वै लोकास्तिणव एष्वेव लोकेषु प्रतितिष्ठति” (५।३।३अ०) इति ।  
त्रिणवे त्रिसङ्ख्याया विद्यमानत्वात् लोकत्रयरूपत्वम् ।

अथ नवमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“सम्भरणस्तयोविंश इत्युत्तरत-  
स्मात् सव्यो हस्तयोः सम्भार्यतरः” (५।३।३अ०) इति । सम्यग्-  
भरणीयं भिक्षापात्रादिकं येन वामहस्तेन, सोऽयं ‘सम्भार्यतरः’,  
स च अतिशयेन हस्तयोर्भयोर्मध्ये धार्यं धारयति ।

अथ त्रयोदशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“क्रतुरेकत्रिंश इति

\* प्रवर्तन्ते इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

पुरस्तादुच्यते वाग्-वै क्रतुर्थश्चमुखं वाक् यज्ञमुखमेव पुरस्ताद् विद्यातयति” (५।३।३अ०) इति । मन्त्रनिष्पाद्यत्वात् क्रतोर्वाग्-रूपत्वं, सा च ‘वाक्’ यज्ञस्य ‘मुखं’, प्रथमं मन्त्रमुच्चार्य ‘पश्चा-दनुष्ठेयत्वात् ।

अथ पञ्चदशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंश इति दक्षिणतोऽसौ वा आदित्यो ब्रध्नस्य विष्टपं ब्रह्मवर्चसमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मादक्षिणोऽर्द्धो ब्रह्मवर्चसितरः” (५।३।३अ०) इति । यद्यप्यादित्य एव ‘ब्रध्नः’, ‘विष्टपं’ तु तस्य निवासस्थानं, तथाप्यत्राभेद उपचर्यते । दक्षिणस्याम् आदित्यमन्त्रेणोपधानात् दक्षिणहस्तो ब्रह्मवर्चःसाधिकः । यद्वैदिकहोमपूजादिकं धारयति, ‘तस्मात्’ दक्षिणभाग एवातिशयेन ब्रह्मवर्चसयुक्तः; अत एव आग्नीर्वादादौ स एव प्रसक्तः ।

अथ चतुर्दशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंश इति पश्चात् प्रतिष्ठित्यै” (५।३।३अ०) इति । मन्त्रगतेनैव प्रतिष्ठा-शब्देन प्रतिष्ठा सूचिता ।

अथ षोडशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“नाकं षट्त्रिंश इत्युत्तरतः सुवर्गा वै लोको नाकः सुवर्गस्य लोकस्य समश्चै” (५।३।३अ०) इति । नाकशब्दार्थः प्रसिद्ध एव ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

आश्रयस्थादशादध्यादक्षणायास्तोमसंयुता इति ।

इति सायनाचार्यविरचितं माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्ण-यजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥०॥

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं चि-  
 वत्स्तोमः<sup>(१)</sup> इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं  
 स्पृतं पञ्चदशः स्तोमः<sup>(२)</sup> नृचक्षसां भागोऽसि धातु-  
 राधिपत्यं जनिचक्षुः स्पृतं सप्तदशः स्तोमः<sup>(३)</sup> मित्रस्य  
 भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वाता स्पृता  
 एकविंशः स्तोमः<sup>(४)</sup> अदित्यै भागोऽसि पूषा आधि-  
 पत्यमेजः स्पृतं चिण्वः स्तोमः<sup>(५)</sup> वसूनां भागोऽसि ॥  
 ॥ १ ॥

रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात्स्पृतं चतुर्विंशः स्तोमः<sup>(६)</sup>  
 आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः  
 पञ्चविंशः स्तोमः<sup>(७)</sup> देवस्य सवितुर्भागोऽसि वृहस्पते-  
 राधिपत्यं समीचीर्दिशं स्पृताश्चतुष्टोमः स्तोमः<sup>(८)</sup>  
 यावानां भागोऽस्ययावानामाधिपत्यं प्रजा स्पृता-  
 श्चतुश्चत्वारिंशः स्तोमः<sup>(९)</sup> ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां  
 देवानामाधिपत्यं भूतं निशान्तं स्पृतं त्रयस्त्रिंशः  
 स्तोमः<sup>(१०)</sup> ॥ २ ॥

वसूनां भागोऽसि । षट्चत्वारिंशच्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
 नवमोऽनुवाकः ॥०॥

अष्टसेऽनुवाके, काश्चिदक्षण्यास्तोमीयाख्या इष्टका उक्ताः ।  
अथ नवमेऽवशिष्टास्ता, उच्यन्ते । तासामवशिष्टानामिष्टकानां  
मन्त्रेषु प्रथमं मन्त्रमाह,—“अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं  
ब्रह्म स्पृतं चिद्वत्स्तोमः<sup>(१)</sup>” इति । हे इष्टके, योऽयम् ‘अग्नेर्भागः’  
(हविर्लक्षणः), यच्च ‘दीक्षाया’ ‘आधिपत्यं’ (स्वामित्वं), ‘स्पृतं’  
‘ब्रह्म’ (देवानां प्रीतिकरं मन्त्रजातं ब्राह्मणजातिर्वा), योऽपि  
चिद्वदाख्यः स्तोमविशेषः; तत्सर्वं त्वम् ‘असि’ ।

अथ द्वितीयं मन्त्रमाह,—“इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधि-  
पत्यं चक्रं स्पृतं पञ्चदशः स्तोमः<sup>(२)</sup>” इति । हे इष्टके, योऽयम्  
‘इन्द्रस्य भागः’ (हविर्विशेषः), यच्च ‘विष्णोः’ (परमेश्वरस्य)  
‘आधिपत्यं’, यदपि ‘स्पृतं’ (प्रीतिहेतुं) ‘चक्रं’ (बलं क्षत्रियजाति-  
र्वा), योऽपि पञ्चदशाख्यः ‘स्तोमः’; तत्सर्वं त्वम् ‘असि’ ।

अथ तृतीयं मन्त्रमाह,—“नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं  
जनित्रं स्पृतं सप्तदशः स्तोमः<sup>(३)</sup>” इति । ये मनुष्याः सन्तः  
चक्षन्ति (वेदं व्यक्तमुच्चारयन्ति), ते ‘नृचक्षसाः’ (ऋत्विगादयः) ;  
तेषां ‘भागः’ दक्षिणारूपो गन्नादिः, ‘धातुः’ प्रजापतेर्यत् ‘आधि-  
पत्यं’, यच्च ‘स्पृतं’ (प्रीतिकरं) ‘जनित्रं’ (जननशीलम् अन्नं) यो  
हि सप्तदशाख्यः स्तोमविशेषः, तत्सर्वं त्वम् ‘असि’ ।

अथ चतुर्थं मन्त्रमाह,—“मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधि-  
पत्यं दिवो वृष्टिर्वाताः स्पृता एकाविंशः स्तोमः<sup>(४)</sup>” इति ।  
प्रीतिहेतवः ‘वाताः’ (वायुविशेषाः) ‘दिवः’ सकाशादागताः;  
‘वृष्टिः’ च ।

अथ पञ्चमं मन्त्रमाह,—“अदित्यै भागोऽसि पूष्य आधि-  
पत्यमोजः स्यूतं त्रिणवः सोमः<sup>(५)</sup>” इति । ‘ओजः’ (वसम्  
प्रष्टमधातुर्वा) ।

अथ षष्ठं मन्त्रमाह,—“वसूनां भागोऽसि रुद्राणांमाधिपत्यं  
चतुष्पात् स्यूतं चतुर्विंशः सोमः<sup>(६)</sup>” इति । ‘चतुष्पात्’ (गवा-  
श्चादिः) ।

अथ सप्तमं मन्त्रमाह,—“अदित्यानां भागोऽसि मरुता-  
माधिपत्यं गर्भा स्यूताः पञ्चाविंशः सोमः<sup>(७)</sup>” इति । ‘गर्भाः’  
द्विपदां चतुष्पदां चोदरगताः ।

अथाष्टमं मन्त्रमाह,—“देवस्य सवितुर्भागोऽसि वृहस्पतेराधि-  
पत्यं समीचीर्दिशः स्यूताश्चतुष्टोमः सोमः<sup>(८)</sup>” इति । यास्तु दिव्य-  
वस्थिताः प्राणिनोऽनुकूलाः ता ‘दिशः’ समीच्यः ता एव ‘स्यूताः’ ।

अथ नवमं मन्त्रमाह,—“यावानां भागोऽस्ययावानामाधि-  
पत्यं प्रजाः स्यूताश्चतुश्चत्वारिंशः सोमः<sup>(९)</sup>” इति । युतो  
(मिश्रोभवतः) शुक्लकण्णपत्नौ अत्रेति ‘यावाः’ मासाः । अर्द्धाया-  
विधत्वात् ‘अयावाः’ अर्द्धमासाः ।

अथ दशमं मन्त्रमाह,—“ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवा-  
नामाधिपत्यं भूतं निशान्तं स्यूतं त्रयस्त्रिंशः सोमः<sup>(१०)</sup>”  
इति । ऋभुशब्दे देवसामान्यवाची । गणविशेषोविश्वे-देवाः ।  
‘भूतं’ निष्पन्नं । ‘निशान्तं’ गृहं ।

एतैर्मन्त्रैरपधेयासु अर्चयामासीयासु इष्टकासु मन्त्रविशेषेषु  
देशविशेषेषु च सहापधानं विधीयते ।

तत्र प्रथममन्त्रं विनियुक्ते,—“अग्नेर्भागोऽसीति पुरस्तादुप-  
दधाति यज्ञमुखं वा अग्निर्यज्ञमुखं दीक्षा यज्ञमुखं ब्रह्म यज्ञ-  
मुखं चिदृद् यज्ञमुखमेव पुरस्ताद्विधातयति” (५।३।३अ०) ।  
इति । प्रथमम् आहितेऽग्नौ पश्चाद्यज्ञस्य प्रवृत्तेरग्निः ‘यज्ञमुखं’ ।  
सोमयागस्य दीक्षोपक्रमत्वाद् दीक्षाया यज्ञमुखत्वं । यज्ञस्य  
अतिगर्वरणपूर्वकत्वात् आर्त्तिज्यस्य च ब्राह्मणधर्मत्वात् ब्राह्मण-  
जातिः ‘यज्ञमुखं’ । स्तोत्राणां मध्ये प्रथमस्तोत्रस्य वहिष्यवमानस्य  
चिदृतस्तोमेन निष्पाद्यमानत्वात् चिदृतो यज्ञमुखत्वं । अनेन  
मन्त्रेणोपधाने ‘यज्ञमुखं’ सर्वं ‘पुरस्तात्’ प्रसारयति ।

अथ तृतीयं मन्त्रं विनियुक्ते,—“नृचक्षसां भागोऽसीति  
दक्षिणतः शुश्रुवांसो वै नृचक्षसोऽन्नं धाता जातायैवास्मै  
अन्नमपि दधाति तस्माज्जातोऽन्नमन्ति जनित्रः स्युतः सप्तदशः  
स्तोम इत्याद्यन्नं वै जनित्रमन्नः सप्तदशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते  
तस्मात् दक्षिणेनान्नमद्यते” (५।३।३अ०) इति । वेदशास्त्रपारं-  
गतां—‘शुश्रुवांसुः’ एव ‘नृचक्षाः’-शब्देनाभिधीयन्ते, चक्षते व्यक्तं  
ब्रुवन्ते इति, ‘चक्षसः’, नरस्य ते चक्षस इति ‘नृचक्षसः’, यद्वा  
गृध्र मनुष्येषु मध्ये चक्षसो (व्यक्तं वक्तारः) । धातुरन्नोत्पादकत्वा-  
दन्नत्वं, अतो मन्त्रे धातुशब्दपाठेनोत्पन्नाय यजमानाय ‘अन्नं’  
सम्यादयति । तस्मिन् मन्त्रे ‘जनित्रम्’ इत्याद्युत्तरभागमपि  
ब्रूयात् । जायत इति व्युत्पत्त्या जनित्रशब्देऽन्नवाचीन सप्तदश-  
स्तोमस्य अन्नकारणत्वादन्नत्वं । एवं सति कृत्स्नमपि ‘अन्नं’ दक्षिणस्यां

दिशि सप्तादयति । यस्मात् दक्षिणदिशोऽन्नभागित्वं, 'तस्मात्' दक्षिणहस्तेनाद्यं भुङ्क्ते ।

अथ चतुर्थं मन्त्रं विनियुङ्क्ते,—“मित्रस्य भागोऽसीति पश्चात् प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः प्राणापानावेवास्मिन् दधाति दिवो वृष्टिर्वाताः स्यूता एकविंशस्त्रोम इत्याह प्रतिष्ठा वा एकविंशः प्रतिष्ठित्यै” (५।३।३अ०) इति । मित्रावरुणयोः प्राणापानाभिमानित्वात् तद्रूपत्वं । तस्य मन्त्रस्योत्तरभागे सर्वस्त्रोमप्रतिष्ठारूपस्य एकविंशस्याभिधानं 'प्रतिष्ठित्यै' सम्पद्यते ।

अथ द्वितीयं मन्त्रं विनियुङ्क्ते,—“इन्द्रस्य भागोऽसीत्युत्तरतं ओजो वा इन्द्र ओजो विष्णुरोजः ज्ञचमोजः पञ्चदश ओज एवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायो यजति” (५।३।३अ०) इति । इन्द्रादीनां बलवत्त्वात् ओजरूपत्वं । ततः सर्वमपि 'ओजः' उदीच्यां दिशि स्थापितं भवति । ओजोयुक्तत्वादेव उत्तरदिग्गामी तीर्थयात्रादिपुष्टेन स्वर्गं 'यजति' ।

अथ षष्ठं मन्त्रं विनियुङ्क्ते,—“वसूनां भागोऽसीति पुरस्तादुपदधाति यज्ञमुखं वै वसवो यज्ञमुखं रुद्रा यज्ञमुखं चतुर्विंशो यज्ञमुखमेव पुरस्ताद्वियातयति” (५।३।३अ०) इति । 'वसूनां' प्रातःसवनाभिमानित्वात् यज्ञमुखत्वं । प्रातःसवनाभिमानित्वञ्च कन्दोग्ग आमनन्ति, 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद् वसूनां प्रातःसवनम्' इति । 'रुतं' (शब्द मन्त्ररूपं) द्रव्ययन्ति\* ।

इति 'रुद्राः', तथा सति रुद्रप्रवर्त्तितमन्त्रपूर्वकत्वात् यज्ञस्येति रुद्राणां यज्ञमुखलोपचारः । 'चतुर्विंशः'\* चतुश्चत्वारिंशाष्टा-  
चत्वारिंशरूपेषु स्तोमेषु प्रथमत्वाच्चतुर्विंशस्य यज्ञस्य यज्ञमुखत्वम् ।  
अथ सप्तमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“आदित्यानां भागोऽसीति दक्षिणतोऽन्नं वा आदित्या अन्नं मरुतोऽन्नं गर्भा अन्नं पञ्च-  
विंशोऽन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मात् दक्षिणेनान्नमद्यते” (५।  
३।३३०) इति ।

“आदित्याज्जायते दृष्टिर्दृष्टेरन्नं ततः प्रजाः” । (मनु०)  
इत्यन्नहेतुत्वादादित्यानामन्नत्व । मरुतां वैश्वरूपत्वेनान्नमप्यादक-  
त्वादन्नत्व । गर्भाणामन्नकार्यत्वादन्नत्वं । पञ्चविंशस्तोमस्य शास्त्र-  
सिद्धान्नहेतुत्वादन्नत्वम् ।

अथ पञ्चमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“अदित्यै भागोऽसीति पश्चात् प्रणिष्ठः वा अदितिः प्रतिष्ठा पूषा प्रतिष्ठा त्रिणवः प्रतिष्ठितौ” (५।३।३३०) इति । 'अदितिः' भूमिः, सा च निवासंश्चेत्तत्वात् 'प्रतिष्ठा' । पूष्णः पोषकत्वेन प्रतिष्ठात्वं । त्रिणव-  
स्तोमस्य शास्त्रसिद्धं प्रतिष्ठात्वम् ।

अथाष्टमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“देवस्य सवितुर्भागीऽसीत्युत्तरतो ब्रह्म वै देवः सविता ब्रह्म दृहस्यतिर्ब्रह्म चतुष्टोमो ब्रह्मवर्चस-  
मेवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरोऽर्द्धो ब्रह्मवर्चसितरः सावित्रवतो भवति प्रसृत्यै तस्माद् ब्राह्मणानामुदीचो सनिः प्रसृता” (५।३।



६ अ०) इति । प्रातःसन्ध्यादौ ब्राह्मणैरुपाख्यत्वात् सवितुः ब्रह्मत्वं । वृहस्पतेर्ब्राह्मणजात्यभिमानित्वाद् 'ब्रह्मत्वं' । तच्च, 'ब्रह्म वै देवानां वृहस्पतिः' इति श्रुत्यन्तरादवगम्यते । चतुष्टोमस्य शास्त्रसिद्धं ब्रह्मत्वं । सवित्प्रतिपादको मन्त्रः सावित्रः, तेन मन्त्रेणोपहितेष्टका 'सावित्रवती', अतः सा प्रसवाय सम्यच्यते । यस्माद् ब्रह्मरूपसवित्प्रतिपादकमन्त्रेण साध्या इष्टका उत्तरस्थां दिशि उपहिता, 'तस्मात्' 'ब्राह्मणानां' 'उदीची' 'मनिः' 'प्रसृता' (उत्तरस्थां दिशि यज्ञभिन्नादिरूपा याच्ञा शास्त्रेणाभ्यनुज्ञाता) । विन्ध्यस्योत्तरभागे हि पुण्यभूमौ शुद्धा ब्राह्मणा वर्तन्ते, तस्मात् तत्र प्रतियहः प्रशस्तः ।

पूर्वानुवाकान्नातौ सप्तदशाष्टादशमन्त्रावितः पूर्वं न विनियुक्तौ । तत्राष्टादशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“धर्चश्चतुष्टोम इति पुरस्तादुपदधाति यज्ञमुखं वै धर्चो यज्ञमुखं चतुष्टोमो यज्ञमुखमेव पुरस्ताद्वियातयति” (५।३।३ अ०) इति । 'धर्चः' (धारयिता) 'अग्निष्टोमः', स च सोमयागानां प्रथमभारवित्यात् यज्ञमुखं । 'चतुष्टोमः' तस्य यज्ञभूतत्रिवृदाद्यात्मकत्वात् 'गंश-मुखत्वम्' ।

अथ प्रकृतानुवाकगतं नवमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“यावानां भागोऽभीति दक्षिणतौ मासा वै यावा अर्द्धमासा अयावाः तस्माद्दक्षिणावृता मासा अन्नं वै यावा अन्नं प्रजा अन्नमेव दक्षिणतो धत्ते तस्मात् दक्षिणेनान्नमच्यते” (५।३।३ अ०) इति । गोलोकस्य प्रादक्षिणेण सञ्चरता आदित्येन सम्पाद्यत्वान्मासानां

दक्षिणावृत्तं । यावच्छब्दवाच्यानां मासानां कालरूपाणामन्यथाक-  
हेतुत्वादन्तत्वं । प्रजीनामनभिर्भृत्त्वादन्तत्वं ।

अथ दशमं मन्त्रं विनियुक्ते,—“अभृणां भागोऽसीति पश्यान्  
प्रतिष्ठित्यै” (५।३।३५०) इति । देवानामनन्याहकत्वेन प्रतिष्ठा-  
हेतुत्वम् ।

अथ पूर्वानुवाकगतं सप्तदशं मन्त्रं विनियुक्ते,—“विवर्त्तो-  
ऽष्टाचत्वारिंश इत्युत्तरतोऽनयोर्लोकयोः सर्वोर्यवाय तस्मादिमौ  
लोकौ समावदोर्यौ” (५।३।३५०) इति । स्तोमानां मध्ये  
‘अष्टाचत्वारिंशः’ स्तोमः सर्वोत्तमः, ततोऽभ्यधिकस्तोमस्याभावात्,  
मनुष्यलोके दिशां मध्ये विन्ध्यादुत्तरा दिक् उत्तमा ; अत  
उत्तमद्वयमेलनेन मनुष्यलोको वीर्यवान् सम्पन्नः । स्वर्गस्य  
लोकस्य देवाधिष्ठितत्वात् वीर्यवत्त्वं प्रसिद्धम् । एवञ्च सति उभयोः  
‘लोकयोः’ समानवीर्यत्वं भवति । यस्मादेवं मनुष्यलोकस्य वीर्यवत्त्वं  
सम्पादितं, ‘तस्मात्’ ‘इमौ’ ‘लोकौ’ ‘समावदोर्यौ’ ; मनुष्यलोकः  
पुण्यानुष्ठाननिष्पन्नत्वेन वीर्यवानिति समत्वम् ।

अनुवक्त्रद्वयेन वक्त्रत्वेनोपहितानाम् दृष्टकानां मध्ये एकैकस्यां  
दिशि या उपहितास्ताः सर्वा दिग्विशेषोपाधिना संगृह्य  
प्रशंसति,—“यस्य मुख्यवतीः पुरस्तादुपधीयन्ते मुख्य एव भवति आ  
अस्य मुखो जायते यस्यान्नवतीर्दक्षिणतोऽस्ति अन्नम् आ अस्या-  
न्नादो जायते यस्य प्रतिष्ठावतीः पश्चात् प्रयेव तिष्ठति यस्यौ-  
जस्वतोऽत्तरत ओजस्वेव भवति आ अस्यौजस्वी जायते”  
(५।३।३५०) इति । मुख्यत्वेन पूर्वोक्तेषु अर्थवादिषु कृतां दृष्टकां

‘मुख्यवत्यः’ । तासां पूर्वस्थां दिश्युपधानेन स्वयं ‘मुख्यो’ भवति, स्वपुत्रश्च ‘मुख्यो’ ‘जायते’ । अन्नत्वेन स्तुता इष्टका अन्नवत्यः । तस्मात् दक्षिणस्थां दिश्युपधानेन स्वयं पुत्रश्चान्नवन्नौ सम्पद्येते । प्रतिष्ठात्वेन स्तुता इष्टकाः प्रतिष्ठावत्यः । तासां पश्चिमार्थी दिश्युपधानेन प्रतिष्ठितो भवति । ओजस्त्वेन स्तुता इष्टका ओजस्वत्यः । तासामुत्तरस्थां दिश्युपधानेन स्वयं पुत्रश्चोजस्विनौ भवतः ।

वक्रत्वेन योऽयमपधानप्रकारोऽभिहितः तमेतं स्तोत्रशस्त्ररूपत्वेन प्रशंसति,—“अर्को वा एष यदग्निस्तस्यैतदेव स्तोत्रमेतच्छस्त्रं यदेषा विधा विधीयतेऽर्के एव तदर्कमनुविधीयते” (५।३।३अ०) इति । यः ‘अग्निः’ अस्ति, स ‘एष’ ‘अर्कः’ (अर्चनीयः), तस्य अर्चनाङ्गत्वेन स्तोत्रशस्त्रे अपेक्षिते, तथा सति योऽयं वक्रत्वेनापधानप्रकारोऽभिहितः, तत्रैकेनानुवाकेनोक्तं ‘स्तोत्रम्,’ इतरेणानुवाकेनोक्तं ‘शस्त्रं’ । एवं सति अर्चनीये वक्रौ एवार्चनूयोऽयमनुष्ठानक्रमेण सम्पादित भवति ।

एतदनुष्ठानं तद्देदनञ्च प्रशंसति,—“अत्यन्नम्, आ अस्यान्नादो जायते यस्यैषा विधा विधीयते य उ चैनामेवं वेद” (५।३।३अ०) इति । ‘एनां’ विधाम् ।

अत्र त्रिनियोगसंग्रहः,—

अग्ने, शिष्टा दशादध्यादक्षण्यास्त्रोमसञ्ज्ञका इति ।

इति सौयनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

एकयाऽस्तुवत प्रजां अधीयन्त प्रजापतिरधिपति-  
 रासीत्<sup>(१)</sup> तिसृभिरस्तुवत ब्रह्माऽसृज्यत ब्रह्माणस्पति-  
 रधिपतिरासीत्<sup>(२)</sup> पञ्चभिरस्तुवत भूतान्दऽसृज्यन्त  
 भूतानां पतिरधिपतिरासीत्<sup>(३)</sup> सप्तभिरस्तुवत सप्तर्ष-  
 योऽसृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीत्<sup>(४)</sup> नवभिरस्तुवत  
 पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्यासीत्<sup>(५)</sup> एकादशभिर-  
 स्तुवतर्तवोऽसृज्यन्तार्तवोऽधिपतिरासीत्<sup>(६)</sup> त्रयोदश-  
 भिरस्तुवत माता असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिः ॥ १ ॥

आसीत्<sup>(७)</sup> पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यन्तेन्द्रो-  
 ऽधिपतिरासीत्<sup>(८)</sup> सप्तदशभिरस्तुवत पशवोऽसृज्यन्त  
 दृहस्पतिरधिपतिरासीत्<sup>(९)</sup> नवदशभिरस्तुवत शूद्रा-  
 र्यावसृज्येतमहेराचे अधिपत्नी आस्ताम्<sup>(१०)</sup> एकविं-  
 शत्यास्तुवतैकशपाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपति-  
 रासीत्<sup>(११)</sup> त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त  
 पूषाधिपतिरासीत्<sup>(१२)</sup> पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पश-  
 वोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत्<sup>(१३)</sup> सप्तविंशत्यास्तुवत  
 द्यावापृथिवी वि ॥ २ ॥

एतां वसवो रुद्रा आदित्या अनु व्यायन् तेषामा-  
 धिपत्यमासीत्<sup>(१४)</sup> नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृ-  
 ज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत्<sup>(१५)</sup> एकविंशतास्तुवत प्रजा

असृज्यन्त यावानाञ्चायावानाञ्चाधिपत्यमासीत्<sup>(१९)</sup>  
 चयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाभ्यन् प्रजापतिः परमे-  
 ष्ठाधिपतिरासीत्<sup>(२०)</sup> ॥ ३ ॥

संवत्सरोऽधिपतिः । वि । पञ्चविंशच्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
 दशमोऽनुवाकः ॥०॥

नवमेऽनुवाके अवशिष्टा अक्ष्णयास्तोमीया उक्ताः । अथ,  
 दशमे सृष्टिशब्दाभिधेया इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'एकयाऽस्तुवतेति  
 सप्तदश सृष्टोः' इति । पाठस्तु,—“एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त  
 प्रजापतिरधिपतिरासीत् तिस्रभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्माणस्पति-  
 रधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पति  
 रधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्तर्षयोऽसृज्यन्त धाताऽधिपति-  
 रासीन्नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्यासीदेकादश-  
 भिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्तवोऽधिपतिरासीत् त्रयोदशभिरस्तुवत  
 मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत  
 क्षत्रमसृज्यन्तेन्द्रोऽधिपतिरासीत् सप्तदशभिरस्तुवत पशवोऽसृज्यन्त  
 वृहस्पतिरधिपतिरासीन्नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यौ असृज्येतामहो-  
 रात्रे अधिपतौ आस्तामेकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त  
 वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त

पूषाऽधिपतिरासीत् पञ्चविंशत्यास्तुवत् आरण्याः पशवोऽसृज्यन्त  
 वायुरधिपतिरासीत् सप्तविंशत्यास्तुवत् द्यावापृथिवी वि एतां  
 वसवो रुद्रा आदित्या अनु वि आचन् तेषामाधिपत्यमासीन्नव-  
 विंशत्या अस्तुवत् वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेक-  
 चिंशतास्तुवत् प्रजा असृज्यन्त यावानाञ्चायावानाञ्चाधिपत्यमा-  
 सीत् त्र्यंस्त्रिंशतास्तुवत् भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठो अधि-  
 पतिरासीत्<sup>(११७)</sup> इति। पूर्वं महर्षयः कदाचित् यागकाले 'एकया'  
 स्तोत्रियया च्छत्वा स्तुतिमकुर्वन्, तत्सामर्थ्यात् 'प्रजाः' 'अधीयन्त'  
 (तैः महर्षिभिः उदपाद्यन्त) ; तदानीं 'प्रजापतिः' तासां, प्रजानां  
 'अधिपतिरासीत्' । अथ कदाचित् 'तिसृभिः' स्तोत्रियाभिः  
 'अस्तुवत्', तत्सामर्थ्यात् 'ब्रह्मा' (ब्राह्मणजातिः) तैः 'असृज्यत';  
 'ब्रह्मणस्पतिः' इति प्रसिद्धो देवः, स ब्राह्मणजातेः 'अधिपति-  
 रासीत्' । एवं सर्वत्र योज्यम् । 'भूतानां पतिः' कश्चिद्देवविशेषः ।  
 अत एवान्यत्रास्मात्, 'भूतानां पतये स्वाहा' इति । सोऽयमत्र  
 'भूतानां पतिः' 'अधिपतिः' (स्वामी) 'आसीत्' । 'धाता' जगत्-  
 स्रष्टा । 'अदिति' भूमिः । 'आर्क्षवः' चतुर्पालकः कश्चिद्देव-  
 विशेषः । 'चचं' चत्रियजातिः । शूद्रः वैश्यश्चेति जातिद्वयम् ।  
 'अहर्देवता' रात्रिदेवता चेत्येते जातिद्वयस्य 'अधिपत्नी' (स्वामि-  
 रूपे) 'आस्तां' । सप्तविंशतिस्तोत्रसामर्थ्यात् पूर्वमेकीभूते 'द्यावा-  
 पृथिव्यौ' परस्परं वियुक्ते अभूतां । तयोर्वियोगम् 'अनु' वस्त्रा-  
 द्यस्तयो गणाः परस्परं वियुक्ता अभवन् । 'तेषां', रक्षादीनां  
 द्यावापृथिव्यौ प्रति 'आधिपत्यम्' 'आसीत्' । 'यावाः' (मास-

देवताः) । ‘अथावाः’ (अर्द्धमासदेवताः), उभयविधदेवतानां प्रजाः प्रति ‘आधिपत्यमासीत्’ । ‘भूतान्यशाम्यन्’ (प्राणिनः शान्तान् उपद्रवरहितान् अकुर्वत) । परमे सत्यलोके तिष्ठतीति ‘परमेष्ठी’ तादृशः प्रजापतिः स्वामी अभूत् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“सृष्टीरुपदधाति यथा-  
सृष्टमेवावस्थे” (५।३।३५०) इति ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

एक, सप्तदशादध्यादिष्टकाः सृष्टिसञ्ज्ञिकाः ।

अथ मीमांसा, प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम् (अ०१७) ।

“सृष्टीरुपदधातीति ये मन्त्राः सृष्टिलिङ्गिकाः ।

विधेयास्तं गुणत्वेन वादो वाच गुणो विधिः ॥

आख्यातेनाभिसम्बन्धाद्विध्यन्तरयोगतः ।

लिङ्गप्रकरणप्राप्तेर्मन्त्राणां विध्यसम्भवात् ॥

ताननूद्येष्टकाधानं विदध्यात् स्तोष्यते यतः ।

यथासृष्टेत्यनेनातः सृष्टीरित्यत्र वादगोः ॥

एकयाऽसृक्नेत्यादौ मन्त्रसङ्गः क्वचिन्नहि ।

सृष्टिशब्दस्तथार्थक्तिः सृष्टिशब्देन भूमतः ॥

अग्निचयने श्रूयते, ‘सृष्टीरुपदधाति’ इति । सृष्टिशब्दोपेता मन्त्रा यामामिष्टकानाम् उपधानं विद्यन्ते, ता इष्टकाः सृष्टय इत्युच्यन्ते; सृष्टिमान् आसामुपधानो मन्त्रः इति विगृह्य “तद्वान्

आसामुपधानः” (४।४।२२ सू०) इत्यादिव्याकरणसिद्धप्रक्रियया तन्निष्पादनात् । सृष्टिशब्दोपेतास्योपधानमन्त्रा “एकयाऽस्तुवत” इत्यस्मिन्ननुवाके समाज्ञाताः, ब्रह्मासृज्यत भूतान्यसृज्यन्त इत्यादिना सृजतिधातोस्तेषु मन्त्रेषु प्रयुक्तात् । ते च मन्त्रा अत्र सृष्टिशब्देन उपधाने गुणत्वेन विधीयन्ते । कुतः ? उपदधातो-त्यनेनाख्यातेन सम्बन्धात् । न चार्थवादत्वमस्य सम्भवति, विध्य-ज्ज्ञेन सहैकवाक्यत्वाभावात् ।

इति प्राप्ते ब्रूमः,—अग्निचयनप्रकरणे पठितत्वात् तेषां मन्त्राणां सामान्यतश्चयनसम्बन्धो गम्यते; विशेषसम्बन्धस्तु सृजति-लिङ्गादवगन्तव्यः । तथा सति प्राप्तत्वान्न ते मन्त्रा अत्र विधीयन्ते, किन्तु तान् मन्त्राननूद्य इष्टकोपधानं विधीयते । सृष्टिशब्देनानुवादस्तु वक्ष्यमाणार्थवादोपपत्त्यर्थः । यथा ‘सृष्ट-मेवावृत्त्यर्थे’ इति हि वक्ष्यमाणोऽर्थवादः । यदि विधिवाक्ये मन्त्राणामनुवादः सृष्टिशब्देन स्यात्, तदानोमर्थवादे सृष्टिशब्द-प्रयोगाद् विध्यर्थवादयोर्वैयधिकरणभ्रमः\* स्यात् । तस्मान्मन्त्रानु-वादी सृष्टिशब्दो न गुणविधायकः किन्त्वर्थवादः । ननु प्रथममन्त्रे सृजतिधातुर्न प्रयुक्तः, ‘एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त’ इति पाठात् । बाधं । तथापि द्वितीयतृतीयादिषु सृजतिधातुप्रयोगात् भ्रमरूप-सादृश्यमस्ति,—यत्र सर्वाणि वाक्यानि सृष्टिशब्दोपेतानि तत्र

\* वैयधिकरण इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् । वैयधिकरणभ्रम इत्यत्र वैयधिकरणमेव स्यात् इति का० ह० पु० पाठः ।



यथा सृष्टिभ्रमात्, तथाचापि भ्रममुण्योणेन सृष्ट्यसृष्टिचक्रे सृष्टि-  
शब्दप्रयोगः ॥”

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्यां चरति  
प्रविष्टा । वधूज्जान नवगज्जनिची चयं एनां महि-  
मानः सचन्ते<sup>(१)</sup> । छन्दस्वती उषसा पेपिशाने समानं  
योनिमनु सञ्चरन्ती । सूर्यपत्नी विचरन्तः प्रजानती  
केतुं कृण्वाने अजरे भूरिरेतसा<sup>(२)</sup> । कृतस्य पन्था-  
मनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मासो अनु ज्योतिषागुः ।  
प्रजामेका रक्षत्यूजमेका ॥ १ ॥

व्रतमेका रक्षति देवयूनां<sup>(३)</sup> । चतुष्टोमो अभवद्या  
तुरीया यज्ञस्य पक्षावृषयो भवन्ती । गायत्रीं त्रिष्टुभं  
जगतीमनुष्टुभं वृहदूर्कं युञ्जानाः सुवराभरन्निदं<sup>(४)</sup> ।  
पञ्चभिधाता त्रिदधाविदं यत्तासाः स्वसृरजनयत्  
पञ्च पञ्च । तासामु यन्ति प्रयवेण पञ्च नानारूपाणि  
कृतवो वसानाः<sup>(५)</sup> । त्रिःशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतः  
समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः ॥ २ ॥

कृतून्स्तम्बते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परि  
यन्ति भास्वती<sup>(४)</sup> । ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो  
राची देवो सूर्यस्य वृतानि । वि पश्यन्ति पशवो जाय-  
माना नानारूपा मातुगस्या उपस्थे<sup>(५)</sup> । एकाष्टका  
तपसा तप्यमाना जज्ञन् गर्भं महिमानमिन्द्रं । तेन  
दस्युन् व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः<sup>(६)</sup> ।  
अनानुजामनुजां मामकर्त सत्यं वदन्यन्विच्छ एतत्  
भूयासं ॥ ३ ॥

अस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो अन्यामति मा  
प्रयुक्त<sup>(७)</sup> । अभून्ममं सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठा-  
मविद्वि गाधं । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या  
वो अन्यामति मा प्रयुक्त<sup>(८)</sup> । पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा  
गां पञ्चनाम्नोमृतवोऽनु पञ्च । पञ्च दिशः पञ्चदशेन  
क्षृताः समानमूर्ध्वीरभिलोकमेकं<sup>(९)</sup> ॥ ४ ॥

कृतस्य गर्भः प्रथमा व्युष्ट्यपासेका महिमानं वि-  
भर्ति । सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका सवि-  
तैकां नियच्छति<sup>(१०)</sup> । या प्रथमा व्यैच्छत् सा धनुर  
भवद्यमे । सा नः पयस्वती धुत्वोत्तरामुत्तराऽसमां<sup>(११)</sup> ।  
शुक्रर्षभा नभसा ज्योतिषाऽऽगाद् विश्वरूपा शवली-  
रग्निकेतुः । समानमर्थः स्वपस्यमाना विधती जरा-

मंजर उष आगाः<sup>(१५)</sup> । ऋतूनां प्रती, प्रथमेवमाया-  
दह्नां नेचो जनिचो प्रजानां । एका सती बहुधोषो  
व्युच्छस्यजीणा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्<sup>(१५)</sup> ॥ ५ ॥

उर्जमेका । प्रतिमुच्चमाना । भूयास्म् । एकं ।  
पत्नी । एकोनविंशतिश्च ॥ १६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीय-  
प्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

दशमेऽनुवाके सृष्टिनामका दृष्टका मन्त्राः उक्ताः । अथैका-  
दशे व्युष्टिनामका उच्यन्ते । कल्पः, 'इयमेव सा यां प्रथमा  
व्यौच्छदिति षोडश व्युष्टीः' इति । तत्र प्रथमामाह,—“इयमेव  
सा या प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्थां चरति प्रविष्टा” । बधूर्जजान  
नवगज्जनिचो त्रय एनां महिमान् सचन्ते<sup>(१)</sup>” इति । अत्रेप-  
धीयमाना 'या' दृष्टकास्ति, 'इयमेव' 'सा' (तथाविधव्युष्टिरूपा,  
तच्छब्देन परामृश्यमानां पुनर्विविच्यते), सेयं व्युष्टिरूपा कालानां  
प्रथमभूता सती 'व्यौच्छत्' (विशेषेण प्रकाशरूपाऽभूत्) ।  
आदिसृष्टिकाले प्रथमो यः प्रभातकालः तद्रूपेयमिष्टकेत्यर्थः ।  
'सा' (सृष्टिकास्तीना) 'प्रथमा' व्युष्टिरादित्येनानु'प्रविष्टा' सती  
'अस्यां' (पृथिव्यां) दैनन्दिनप्रभातरूपेण 'चरति' । तत्र दृष्टाकाः,  
'बधूर्जजान नवगज्जनिचो' (नवं वरं गच्छतीति) 'नवमन्' (नूतन-

विवाहवती) 'वधूः' (जज्ञिचो) (उत्तरोत्तरप्रजोत्पादिका) 'जज्ञान' (जाता), तदुदितमपि । व्युष्टिरुत्तरोत्तरप्रभातनिष्पादिवेत्यर्थः । 'त्रयः' (त्रिसङ्ख्याकाः) 'महिमानः' (महिमोपेताः) अग्निस्वर्यचन्द्ररूपाः देवता 'एनी' (व्युष्टि) 'सचन्ते' (समवयन्ति) । देवतान्नयप्रकाश-  
कानुग्रहादस्याः प्रभातरूपत्वमित्यर्थः । एवंविधा\* व्युष्टिरूपा-  
मिष्टकामपदधामीत्यभिप्रायः ।

अथ द्वितीयमाह,—“कृन्दस्वती उषसा पेपिशाने समानं  
योनिमनु सञ्चरन्तो । सूर्यपत्नी विचरतः प्रजानती केतुं छण्डाने  
अजरे भूरिरेतसां<sup>(१)</sup>” इति । द्वे ह्युषसौ,—एका सृष्टिकालीना,  
‘प्रथमा’ इति पूर्वमन्त्रोक्ता; अपरा प्रतिदिनसञ्चारिणी, सापि  
‘अस्यां चरति प्रविष्टा’ इति पूर्वमन्त्रोक्ता । एवं सती ‘उषसा’  
‘विचरतः’ (द्वे अयुषसौ विविधं चरतः); रात्रावपि प्रलयकाले  
तिरोहितजगत् आविर्भावलक्षणसृष्टिरूपा सती दिवससादृश्य-  
मापादयति, तदिदमेकस्यां चरणम्, शार्वरतमोनिवर्त्तकत्वमपरस्यां  
चरणं । कीदृशौ उषसौ ?—‘कृन्दस्वती’ (कृन्देयुक्तैर्मन्त्रैः स्तव्य-  
मानतया कृन्दस्वत्यौ); ‘पेपिशाने’ (भृशं प्रकाशयन्त्यौ); ‘समानं’  
‘योनिं’ ‘अनुसञ्चरन्तो’, उभयोः कालविशेषत्वात् कालसामान्यमेव  
येनिः (हेतुः), स चोभयोः समानः,—महाप्रभातं सृष्टिरूपं  
कल्पप्रभातं दैनन्दिनं चेत्युभौ कालविशेषौ, तौ च स्वकीयं

\* एवंविधमिति सर्वत्र पाठः न सम्यक् ।

† 'सहप्रभातं दृष्टिरूपकल्पप्रभातम्' इति का० इ० पु० एवं  
B. पु० पाठः । वस्तुतः 'महाप्रभातं दृष्टिरूपम्, कल्पप्रभातम्' इति  
पाठो भवितुं युक्तः ।

काश्रयामान्यम् 'अनु'-सृत्य वर्त्तते इति 'अनु'-सञ्चरन्तौ उच्यते ;  
 ते च 'सूर्यपत्नी' (सूर्यस्य जाये) ; 'प्रजानती' (स्वयं देवता-  
 रूपत्वेन प्रज्ञानवत्यौ) ; 'केतुं' 'हृण्वाने' (ज्ञानं कुर्वन्तौ),  
 प्रकाशप्रदानेन हि प्राणिनां रूपज्ञानं जनयन्तः) ; 'अजरे'  
 (कदाचिदपि जरारहिते) ; 'भूरिरेतसा' (प्रभूतरेतस्के) वज्र-  
 व्यापारकारणभूते इत्यर्थः ।

अथ तृतीयामाह,—“सृतस्य पन्थामनु तिस्र आऽगुस्तयो  
 घर्मासो अनु ज्योतिषाऽऽगुः । प्रजामेका रचत्यूर्जमेका व्रतमेका  
 रचति देवयूनाम्<sup>(१)</sup>” इति । 'तिस्रः' उच्यते 'सृतस्य' (यज्ञस्य)  
 'पन्थां' (मार्गम्) 'अनु'-‘आ’-‘अगु’ (अनुप्राप्ताः) यज्ञरचकत्वेन  
 व्यक्ता व्यवस्थिता इत्यर्थः । 'त्रयो घर्मासः' (दीप्तिरूपा) अग्नि-  
 चन्द्रादित्याः 'ज्योतिषा' (प्रकाशदानेन यज्ञमार्गम्) 'अनु'-‘आ’-  
 'अगुः' (अनुप्राप्ताः) । तिसृणामुषसां देवीनां मध्ये यजमानस्य  
 'प्रजामेका' 'रचति' ; यजमानस्य 'ऊर्ज' (बलम्) 'एका'  
 'रचति' ; देवान् आत्मन इच्छतां यजमानानां 'व्रतं' (कर्मनुष्ठानम्)  
 'एका' 'रचति' ।

अथ चतुर्थीमाह,—“चतुष्टोमो अभवद् या तुरीया यज्ञस्य  
 पञ्चावृषयो भवन्तो । गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं वृहदकं  
 युञ्जानाः सुवराभरन्निदम्<sup>(२)</sup>” इति । यद्यप्येकैव उषा, तथापि  
 जगद्रक्षणाय योगैश्वर्यादनेकशरीरस्त्रीकारे सति बहव उषसो  
 भवन्ति । तत्र 'या' 'तुरीया' (चतुर्थी), सा च उषा 'चतुष्टोमः'  
 (चिददादिस्त्रोमचतुष्टययुक्ताग्निष्टोमक्रतुरूपः) 'अभवत्' । कीदृशी?—

‘पञ्चस्र’ . ‘पञ्चै’ (प्राच्यप्रतीत्याङ्गरूपौ. पञ्चमदृशौ द्वाववयवौ)  
 ‘भवन्ती’ (भावयन्ती) सम्भावयन्तीत्यर्थः, तथा ‘उषसः’ (उषोन्  
 यज्ञनिष्पादकान् उत्विजः) जनयन्ती; तथा ‘दृढदर्क’ (मौढः  
 मर्चनारूपं स्तोत्रं) ‘युञ्जानाः’ (सम्पादयन्ती); गायत्र्यादिदेवता-  
 स्तस्रः, ‘सुवः’ (फलभूतं स्वर्गम्), ‘इदं’ कर्म च ‘आभरन्’ (सर्वतो  
 हरन्ती) पोषयन्तीत्यर्थः ।

अथ पञ्चमोमाह,—“पञ्चभिर्धाता विदधाविदं यत्तासां  
 खसृरजनयत् पञ्च-पञ्च । तासामु यन्ति प्रयवेण पञ्च नाना-  
 रूपाणि क्रतवो वंसानाः<sup>(५)</sup>” इति । ‘यत्’ ‘इदं’ अस्ति तत्सर्वं ‘धाता’  
 (स्रष्टा प्रजापतिः) ‘पञ्चभिः’ उषोभिर्देवोभिः ‘विदधौ’ (निर्मित-  
 वान्) । ‘तासां’ (पञ्चानामुषसां) प्रत्येकं ‘पञ्च’-‘पञ्च’ ‘खसृ-  
 रजनयत्’ । एवञ्च सति पञ्चसङ्ख्याका ज्येष्ठा उषसः, तासां खसारः  
 पञ्चविंशतिसङ्ख्याका इत्येकस्मिन् मासि प्रतिपदादिरूपास्त्रिंशदुषसः  
 सम्पद्यन्ते । ‘तासामु’ (तासामपि) उषसां ‘प्रयवेण’ (प्रकृष्टरूपेण  
 मिश्रणेन) ‘पञ्च’ मुख्या उषसः ‘क्रतवः’ (क्रतुनिष्पादिकाः),  
 ‘वंसानाः’ (आच्छादयन्त्यः, क्रत्वङ्गानि सर्वाणि व्याप्नुवन्त्यः),  
 ‘नानारूपाणि’ (वज्रविधस्वरूपाणि) ‘यन्ति’ (प्राप्नुवन्ति) । तत्रैका  
 दिनं दिनम् अग्निहोत्रं निष्पादयन्ति; ततो द्वे दर्शपूर्णमासौ  
 निष्पादयतः; त्रौपवसथ्यदिनकृत्यम् एका निष्पादयति; सुत्या-  
 दिनकृत्यमेकेत्येवं पञ्चानामुपयोगात् प्रकृष्टमिश्रणानां\* प्रकृष्टोप-  
 कारित्वं, क्रत्वान्तरभेदनिष्पादकत्वेन† नानारूपत्वम् ।

\* प्रकृष्टमित्यंशानामिति कश्चित् पाठः ।

† वान्तरनिष्पादकत्वेन इति B. एवं का० ह० पु० पाठः ।

अथ षष्ठीमाह,—“त्रिंशत् स्वसार उपयन्ति निष्कृतम् सप्तमं  
केतुं प्रतिमुञ्चमानाः । अष्टसंस्वते कवयः प्रजानतीर्मध्येऽहन्दाः  
परि यन्ति भास्वतीः<sup>(१)</sup>” इति । ‘त्रिंशत्’ (मासतिथिरूपेण  
त्रिंशत्सङ्ख्याकाः) ‘स्वसारः’ (भगिन्यः) उषसो देव्यो ‘निष्कृतम्’  
(अजस्रं कृतम्\*) अग्निहोत्रादिकर्म ‘उपयन्ति’ (प्राप्नुवन्ति) ।  
कीदृशः ?—‘समानं केतुं’ (सदृश चिह्नं) प्रकाशरूपं ‘प्रति-  
मुञ्चमानाः’ (कञ्चुकवद्धारयन्त्यः); तास्य ‘कवयः’ (विद्वत्समानाः);  
‘प्रजानतीः’ (तत्तद्दिनसम्पादनीयं प्रजानन्त्यः); ‘अष्टसंस्वते’  
(स्वयमेव पुनःपुनरावर्त्तनेन वसन्तादीन् अष्टान् सम्पादयन्ति);  
अहन्दां वेदानां मध्ये तिष्ठतीति ‘मध्येऽहन्दाः’ सूर्यः; तथा  
चान्यत्रास्मायते, ‘अग्निः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे  
तिष्ठति मध्येऽहः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरष्टसं-  
स्वतिभिरेति सूर्यः’ इति । तस्य ‘मध्येऽहन्दाः’ (सूर्यस्य) ‘परि’  
(पार्श्वेषु) ‘भास्वतीः’ (भास्वत्यः प्रकाशमानाः) ‘यन्ति’ (गच्छन्ति)  
वर्त्तन्ते इत्यर्थः ।

अथ सप्तमीमाह,—“ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्रौ देवी  
सूर्यस्य व्रतानि । वि पश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातु-  
रस्या उपस्थे<sup>(२)</sup>” इति । सेयमुषा ‘ज्योतिष्मती’ (ज्योतीरूपैर्नक्षत्रै-  
र्युक्तात्); ‘रात्रौ’ प्रियं, सूर्योदयात् पूर्वभावितात्; ‘देवी’  
दीप्यमाना; तादृगुषा ‘नभः’ (नभस्य[?]) ‘सूर्यस्य’ ‘व्रतानि’  
(सूर्यसम्बन्धित्वेन व्रतवन्धितानि) रश्मिजास्तानि ‘प्रति’-‘मुञ्चते’

(कञ्जुकमिव स्वीकरोति)। तस्यामुषसि 'नानारूपाः' (गोमहिवादि-  
जातिभेदभिन्नाः) 'अभवः' • 'जायमानाः' (जन्मसङ्घट्टं निद्रायाः  
प्रबोधं प्राप्नुवन्तः) ; 'मातुः' (मातृसमानायाः) 'अस्याः' भूत्वा,  
'उपस्थे' (उत्सङ्गे) पश्यन्ति\* (विविधमरण्यगमनादिव्यवहारमव-  
लोकयन्ति) ।

अथाष्टमीमाह,—“एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं  
महिमानमिन्द्रं । तेन दस्यून् व्यसहन्त देवाः हन्ताऽसुराणामनेव-  
श्वशीभिः<sup>(८)</sup>” इति । 'एकाष्टका' इति माघकृष्णाष्टमी कथ्यते,  
तथा चापस्तम्बः, 'या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टात् द्वाष्टका  
तस्यामष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते तामेवेष्टकेत्याचक्षते' इति । सेयम्  
'एकाष्टका' 'तपसा तप्यमाना' (पुत्रार्थं तपस्वरन्ती) 'महिमानं'  
(महिमोपेतं) 'गर्भं' (स्त्रोदरवर्त्तिनं) 'इन्द्रं' 'जजान' (उत्पाद-  
यामास), 'तेन' (इन्द्रेण) 'देवाः' सर्वे 'दस्यून्' (तस्कररूपान्  
राक्षसान्) 'व्यसहन्त' (विशेषेणाभिभूतवन्तः) । स चेन्द्रः 'श्वशीभिः'  
(स्त्रीकीयशक्तिभिः) 'असुराणां' 'हन्ता' 'अभवत्' ।

अथ नवमीमाह,—“अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वद-  
न्वन्विच्छ एतत् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो  
अन्यामति मा प्रयुक्त<sup>(९)</sup>” इति । 'हे एकाष्टका देव्यो, 'मां'  
सजमानं पूर्वम् 'अनानुजां' सन्तम् इदवनीं 'अनुजां' 'अकर्त्त'  
(कृतवत्यः) । 'आ' (समन्तात्) कर्मानुष्ठानस्यानुकूलत्वेन ज्ञायत इति  
'अनुजा', तद्विपरीतस्तु 'अनानुजाः'; अनुष्ठानरहितं 'मां' अनु-

\* यत्रमेव सर्वत्र पाठः । वि-पश्यन्ति इति पाठस्तु भविष्यं युक्तः ।



छानोपेतं कृतवत्य इत्यर्थः । कोदृश एकाष्टकाः ?—‘सत्यं वदन्तिः’  
 (अवितथं धर्मं वदन्त्यः) हे यजमान, एवमेतं धर्ममनुतिष्ठेत्येवं  
 बोधयन्त्य इत्यर्थः । अतस्त्वत्प्रसादात् सन्मार्गवृत्तिरहम् ‘एतत्’  
 ‘अन्विच्छे’ (वक्ष्यमाणमेतत् अपेक्षितं प्रार्थये) । किन्तदपेक्षितमिति ?—  
 तदुच्यते, हे एकाष्टकाः, ‘यूयम्’ ‘अस्य’ (युष्मत्पुत्रस्य) इन्द्रस्य  
 ‘सुमतौ’ (कल्याणबुद्धौ) ‘यथा’ स्थिताः, एवमहमपि ‘अस्य’  
 (इन्द्रस्य) ‘सुमतौ’ अनुग्रहचित्ते ‘भूयासं’ । ‘वः’ (युष्माकं) मध्ये  
 ‘अन्यां’ (इतरां) ‘अति’-लङ्घ्य ‘मा प्रयुक्त’ (प्रयोगव्यवहारं न करोति)  
 किन्तु परस्परानुकूल्येनैव व्यवहरन्ति\* ; तद्वदहमप्युत्तिजामनुकूल-  
 व्यवहारयुक्तो ‘भूयासम्’ ।

अथ दशमोमाह,—“अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट  
 प्रतिष्ठामविदद्धि गाध । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वा  
 अन्यामति मा प्रयुक्त<sup>(१०)</sup>” इति । ‘मम’ यजमानस्य ‘सुमतौ’  
 (भक्तियुक्तायां बुद्धौ) ‘विश्ववेदाः’ (सर्वजगदभिज्ञा) इयमुषा ‘अभूत्’  
 (स्थितवती) । सा च ‘प्रतिष्ठां’ ‘आष्ट’ (अस्मदनुग्रहे स्वीर्यं व्यप्ति-  
 वती ; ‘हि’ (यस्मात्) इयमुषा ‘गाधं’ (प्रतिष्ठानिमित्तभूतं)  
 यजमानम् ‘अविदत्’ (लब्धवती), तस्मान्मदनुग्रहे स्वीर्यवतीत्यर्थः ।  
 भूयासमित्यादि पूर्ववत् ।

\* एवमेव सर्वत्र पाठ । वक्तुतः—‘अन्या’ (इतरा) ‘अन्याम्’  
 (इतराम्) ‘अति’-लङ्घ्य ‘यथा’ ‘मा प्रयुक्त’ (प्रयोगव्यवहारं न  
 करोति) किन्तु परस्परानुकूल्येनैव व्यवहरन्ति इति पाठो भवितुं  
 युक्तः ।

## शुद्धिपत्रम् ।

| वृत्ताय । | पङ्क्तिः । | अशुद्धम् ।          | शुद्धम् ।                      |
|-----------|------------|---------------------|--------------------------------|
| ३६० ..    | २ ..       | पुरुषशीर्ष ..       | पुरुषशीर्ष                     |
| ३६५ ..    | ६ ..       | यस्मादेवम् ..       | यस्मादेवम्                     |
| ३६७ ..    | ५ ..       | सर्पेण ..           | सर्पेण                         |
| ३७० ..    | १३ ..      | आसन्निधन् ..        | आसन्निधुन्                     |
| ३७३ ..    | २२ ..      | ‘त’ ..              | ‘ते’                           |
| ३९४ ..    | १० ..      | कर्मणः ..           | कर्मण                          |
| ४० ..     | १५ ..      | चक्षुः ..           | चक्षु                          |
| ” ..      | ” ..       | चाक्षुषाणि ..       | चाक्षुषाणि                     |
| ३९८ ..    | ११ ..      | मन्त्र ..           | मन्त्रे                        |
| ३२९ ..    | १२ ..      | स उ वेक ..          | स वेक इति पाठो<br>अवितु युक्तः |
| ३२६ ..    | १ ..       | (भाटपुत्रादयः) । .. | (भाटपुत्रादयः)                 |
| ३२६ ..    | १ ..       | नाभिर्वि ..         | नाभिर्वि                       |
| ३३८ ..    | १४ ..      | आश्विन्यादीष्टका .. | आश्विन्यादीष्टका               |
| ३४८ ..    | ११ ..      | प्रशंसति ..         | प्रशंसति                       |
| ” ..      | १७ ..      | स्थित ..            | स्थिते                         |
| ३४६ ..    | १८ ..      | ‘ऊर्द्धा’ ..        | ऊर्द्धा                        |
| ३५२ ..    | ६ ..       | लोक ..              | लोक                            |
| ३५६ ..    | १६ ..      | कुर्वन्ती ..        | कुर्वन्ती                      |
| ३५७ ..    | ४ ..       | त्रयस्त्रिंश ..     | त्रयस्त्रिंश                   |
| ३६१ ..    | १० ..      | वर्चसा ..           | वर्चसाऽ                        |
| ३६४ ..    | २२ ..      | सहापधान ..          | सहापधान                        |
| ३६५ ..    | १५ ..      | नृचक्षाः ..         | नृचक्षुः                       |
| ” ..      | १६ ..      | जजिन्नम् ..         | जनिन्नम्                       |
| ३६८ ..    | २२ ..      | प्रादक्षिण्येण ..   | प्रादक्षिण्येन                 |
| ३७६ ..    | ११ ..      | रक्षत्युज ..        | रक्षत्युर्ज                    |
| ३७६ ..    | १५ ..      | धाता ..             | धाता                           |



अथैकादशीमाह,—“पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्च-  
 नाभीन्ततोऽनु पञ्च । पञ्च दिशः पञ्चदशेन कृत्वाः समान-  
 मूर्ध्नि रभि लोकमेकम्<sup>(११)</sup>” इति । अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासौपवंसंख्य<sup>६</sup>.  
 संख्याख्यकर्मनिष्पादिकाः पञ्च मुख्याः उषसो याः पूर्वमुक्ताः,  
 तान्<sup>(?)</sup> ‘पञ्च व्युष्टीरनु’ पञ्चात्मकं सर्वमिदमुत्पन्नमिति । तदुच्यते—  
 ‘पञ्च दोहा’ उत्पन्नाः,—तमिन्ना ज्योत्स्ना सन्ध्याद्वयम् अहरित्येते  
 पञ्च दोहाः । ते च होत्रब्राह्मणे, ‘इदं वा अग्ने नैव किञ्चन  
 आसीत्’ इत्यनुवाके, ‘यास्य सा तनूरासीत् । तामपाहत । सा  
 तमिन्नाऽभवत्’ इत्यादिना समान्नाताः । तत्रैव, ‘तेभ्यो मृण्मये  
 पात्रेऽन्नमुदहत्’ इत्यादिना दोहा आन्नाताः । आन्नाय चान्ते  
 तदुपसंस्तम्,—‘एते वै प्रजापतेर्दोहाः’ इति । एते ‘पञ्च दोहाः’  
 ‘पञ्च व्युष्टीरनु’ उत्पन्नाः । येयं गौः (पृथिवी), ‘पञ्चनाम्नी’ (पञ्च-  
 विधनामोपेत्यम्) अपि पञ्च व्युष्टीरनुत्पन्नां विद्यात्,—वसन्तर्त्तौ  
 पुष्पवतीति नाम, ग्रीष्मर्त्तौ तापवतीति नाम, वर्षर्त्तौ वृष्टिवतीति  
 नाम, शरदर्त्तौ\* जलप्रसादवतीति नाम, हेमन्तशिशिरयोः शैत्य-  
 वतीति नाम, सैव पञ्चनाम्नी व्युष्टीरनुत्पन्ना । तथा हेमन्त-  
 शिशिरयोरैक्येन<sup>१२</sup> ‘पञ्च’ ‘ऋतवो’ व्युष्टौः ‘अनु’ उत्पन्नाः । तथा  
 प्राच्यादयः सहोर्द्ध्या ‘पञ्च’ ‘दिशो’ व्युष्टीरनुत्पन्नाः । पञ्चदशाख्य-  
 स्तोमेन ‘कृत्वाः’ (सम्पादिताः), पञ्चविधवृत्त्युपेताः स्तोत्रियाः पञ्च

\* शरदर्त्तौ इति सर्वत्र पाठः, शरदर्त्तौ इति शरदृतौ इति वा पाठो  
 भवितुं युक्तः । एवं वृष्टिवतीत्यत्र वृष्टिमतीति पाठो भवितुं युक्तः ।

† व्युष्टीरनुत्पन्नाः इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

व्युष्टीरनूत्पन्नाः । तस्य सोमस्य विधायके ब्राह्मणे 'पञ्चभ्यो  
 हिङ्करोति' इत्येवं त्रिवारमाज्ञातं । तां एताः पञ्च व्युष्टयः । 'एका'  
 'लोकम्' 'अभि' 'समानमूर्द्धीः',—'लोकः' आलोकः प्रकाशः,  
 तमेकं प्रति समानस्वभावाः । मूर्द्धशब्द उत्तमाङ्गवाचो सन् मुख्यं  
 स्वभावमुपलक्षयति । मुख्यस्वभावस्य व्युष्टीनां प्रकाशत्वं । एवं-  
 विधव्युष्टिरूपेयमिष्टकेति स्मर्यते ।

अथ द्वादशीमाह,—“स्यतस्य गर्भः प्रथमा व्युष्ट्युपामेका  
 महिमानं विभर्त्ति । सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका  
 सवितैकां नियच्छति<sup>(११)</sup>” इति । या एताः पूर्वोक्ताः पञ्चोषसो  
 मुख्याः, तासां मध्ये 'प्रथमा' या व्युष्टिरुषःकालरूपाऽस्ति, सा  
 'स्यतस्य' (सत्यस्य) 'गर्भः' (गर्भसदृशी) तेन आदित्येन सहैव  
 वर्त्तते । 'एका' काचिदुषाः रश्मिसहकारिणी 'अपां' 'महिमानं'  
 'विभर्त्ति' (घर्मकाले रश्मिद्वारा जलमानीय स्नेहोदरे गर्भ-  
 रूपत्वं महत्त्वं पोषयति) । 'एका' काचिदन्या उषाः 'सूर्यस्य'  
 सम्बन्धिषु 'निष्कृतेषु' प्रदेशेषु 'चरति' (प्रकाशं कुर्वती वर्त्तते) ।  
 'एका' काचिदन्योषाः 'घर्मस्य' (दीप्यमानस्य) अग्नेः सम्बन्धिषु  
 'चरति' (प्रकाशं करोति) । 'एकां' काचिदन्यामुषसं 'सविता'  
 'नियच्छति' (देनन्दिनं प्रकाशकारित्वेन नियतां करोति) ।

अथ त्रयोदशीमाह,—“या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभवद्  
 यमे । सा नः पयस्वती धुञ्जोत्तरामुत्तराऽसमाम्<sup>(१२)</sup>” इति ।  
 मुख्यासु पञ्चसु उषःसु 'या' 'प्रथमा' उषा 'व्यौच्छत्' (तमो  
 व्यवाधयत्) प्रकाशोत्पादनेन तमो निराकरोतीत्यर्थः । 'सा'

(तादृगुषाः) 'यमे' 'धेनुरभवत्' (यमस्त्रामिके लोके प्रकाश-  
प्रदानेन धेनुवत् प्रीतिहेतुरभवत्) । तथाविधे उषः, 'सा' त्वं  
'पयस्वतो' (व्युद्युदकयुक्ता सती) 'नः' (अस्माकं) उत्तरोत्तरेषु,  
सर्वेष्वपि संवत्सरेषु निरन्तरं 'धुञ्ज' (दोहनं कुरु) । यथा धेनुः  
क्षीरं प्रयच्छति, तद्वत् त्वं व्युष्टिं प्रकाशस्व\* प्रयच्छेत्यर्थः ।

अथ चतुर्दशीमाह,—“शुक्लर्षभा नभसा ज्योतिषाऽऽगादिश्व-  
रूपा शबलीरग्निकेतुः । समानमर्थं स्वपस्यमाना विभ्रतो  
जरामजर उष आगाः<sup>(१४)</sup>” इति । येयमुषा 'शुक्लर्षभा' (शुक्लेषु  
प्रकाशरूपेषु नक्षत्रादिषु मध्ये श्रेष्ठा), सेयमुषाः 'नभसा' 'ज्योतिषा'  
(आकाशवर्त्तिप्रकाशेन युक्ता) 'आगात्' (इह समागता) ।  
कीदृशी?—'विश्वरूपा' (सर्वाणि प्रकाशानि यस्याः सा 'विश्वरूपा'),  
'शबलीः' (सूर्यादयात्पूर्वम् अन्धकारलेशानुवृत्तेर्मिश्रवर्णा); 'अग्नि-  
केतुः' (अग्निहोत्रिभिरुषःकाले विहृत्य प्रज्वालिता येऽग्नयस्ते  
केतवो ध्वजस्थानीया यस्याः सा 'अग्निकेतुः' । 'समानमर्थं'  
'विभ्रती',—सूर्यस्य यत्प्रयोजनम् अन्धकारनिवारणरूपं,—तदेवो-  
षसोऽपि प्रयोजनं, अतः सूर्येण सह समानप्रयोजनोपेता;  
'स्वपस्यमाना' (श्रेष्ठिनान्यपांसि कर्माणि तानि आत्मन इच्छतीति  
'स्वपस्यमाना' । हे 'अजरे' 'उषः', त्वं 'जराम्' 'आगाः' (बली-  
पलितादिरूपं जरारहितापि सृष्ट्यादिमारभ्य प्रवृत्तत्वात् चिर-  
काललक्षणां जरां प्राप्ताऽसि । तादृगुषारूपा इयमिष्टकेत्यर्थः ।

\* व्युष्टिः प्रकाशश्च इति सर्वत्र प्रथमानुपाठो न सम्यक् ।

† शतयोजनम् इति का० ह० प० पाठः ।

अथ पञ्चदशीमाह,—“ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादङ्गा  
नेत्री जनित्री प्रजानां । एका सती बज्रधोषा व्युच्छसिजोषा त्वं  
जरयसि सर्वमन्यत्<sup>(१५)</sup>” इति । ‘इयं’ ‘प्रथमा’ उषा ‘आगात्’  
(इह कर्मण्यागता) । कीदृशी ?—‘ऋतूनां’ (वसन्तादीनां) ‘पत्नी’  
(पालयित्री), उषःकालस्वासकृद्राट्त्वा ऋतवः सम्पद्यन्ते । ‘अङ्गा’  
‘नेत्री’ (नयनस्य हेतुः, प्रकाशप्रदानेन निष्पादिकेत्यर्थः) । ‘प्रजानां’  
‘जनित्री’ (उत्पादयित्री) उषःकालट्त्वा हि नवमासगर्भ-  
धारणादिना प्रजा उत्पद्यते । हे ‘उषः’, ‘त्वं’ स्वरूपेण ‘एका’  
‘सती’ ‘बज्रधा’ (दिनभेदेन बज्रप्रकारा) भूत्वा ‘व्युच्छसि’  
(तमो वासयसि) निष्कासयसीत्यर्थः । कीदृशी त्वं ?—‘अजोषा’  
(बलीपलितादिजरारहिता) । ‘सर्वम् अन्यत्’ (मनुष्यशूरीरादिकं)  
‘जरयसि’ (जीर्णं करोसि) । इत्थं पञ्चदशाङ्गाताः, षोडशी  
त्वन्यत्र द्रष्टव्या ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“न वा इदं दिवा न  
नक्तमासीदव्यावृत्तं ते देवा एता व्युष्टीरपश्यन् ता उपादधत्  
ततो वा इदं व्यौच्छद्यस्यैतः उपधीयन्ते व्येवास्मा उच्छत्यथोत्तम  
एवापहते” (५।३।४अ०) इति । ‘इदं’ कालस्वरूपं यत्  
दिवारात्रयोर्व्यावृत्तिकया उषसा रहितत्वात् ‘अव्यावृत्तं’ ‘आसीत्’,  
तथा सति ‘दिवा’ अपि ‘न’ ‘आसीत्’, ‘नक्तम्’ अपि ‘न’ ‘आसीत्’  
व्यावृत्तस्वरूपस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्, तदानीं ‘देवाः’ व्यावृत्ति-  
कारिणीर्व्युष्टिसञ्ज्ञका ‘एता’ इष्टका ‘अपश्यन्’ । (विशेषेण) ‘उच्छति’  
तमो विनाशयतीति ‘व्युष्टिः’ उषःकालः, तदा च कश्चिदेनोपेतैर्मन्त्रैरुप-

धेया इष्टका व्युष्टयः ।, 'ताः' व्युष्टीरिष्टो\* 'उपादधत्' । 'ततः' ऊर्द्धम् 'इदं' कालस्वरूपं 'व्यौच्छत्' (व्यावृत्तिकया व्युष्ट्या दिवा-  
नक्तभेदेन व्यावृत्तमासीत्) । तस्मात् व्युष्टीरुपदध्यात् । तदुपधागे  
हि यजमानार्थं 'व्युच्छति' एव । अपि च बुद्धिगतभ्रान्तिरूपं  
'तमो' विद्याशयति ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

इयं व्युष्टिरुपादध्यात् मन्त्राः पञ्चदशेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयंजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्नं जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजाता जात-  
वेदो नुदस्व । अस्मे दीदिहि सुमना अहेडन्तव स्या  
शमं चिवरूथ उद्भित्<sup>(१)</sup> । सहसा जातान् प्रणुदा नः  
सपत्नान् प्रत्यजातां जातवेदो नुदस्व । अधि नो ब्रूहि  
सुमनस्यमानो वयं स्याम प्रणुदा नः सपत्नान्<sup>(२)</sup> ।  
चतुश्चत्वारिंशः स्तोमो वर्चो द्रविणं<sup>(३)</sup> षोडशः स्तोम  
आजो द्रविणं<sup>(४)</sup> पृथिव्याः पुरीषमसि ॥ १ ॥

\* व्युष्टीदृष्ट्या इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।



असौ नाम<sup>(५)</sup> । एवञ्छन्दो वरिवञ्छन्दः शम्भूञ्छन्दः  
परिभूञ्छन्द आच्छच्छन्दो मनञ्छन्दो व्यञ्छन्दः सिन्धु-  
ञ्छन्दः समुद्रं छन्दः सलिलं छन्दः संयच्छन्दो वि-  
ञ्छन्दो वृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायञ्छन्दो विवध-  
ञ्छन्दो गिरञ्छन्दो भजञ्छन्दः सष्टुपञ्छन्दोऽनष्टुपञ्छन्दः  
ककुञ्छन्दस्त्रिककुञ्छन्दः काव्यं छन्दोऽंकुपं छन्दः ॥ २ ॥

पदपंक्तिञ्छन्दोऽक्षरपंक्तिञ्छन्दो विष्टारपंक्तिञ्छन्दः  
क्षुरोभृज्वां छन्दः प्रछच्छन्दः पक्षछन्दः एवञ्छन्दो  
वरिवञ्छन्दो वयञ्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विशालं छन्दो  
विष्वङ्गाञ्छन्दश्छुदिञ्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दो-  
ऽकांकं छन्दः<sup>(६-४५)</sup> ॥ ३ ॥

असि । अंकुपं छन्दः । त्रयस्त्रिंशच्च ॥ १२ ॥ .

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीय-  
प्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

एकादशानुवाके व्युत्थाख्या इष्टका अभिहिताः, तावता  
चतुर्थचितिः समाप्ता । अथ द्वादशे पञ्चम्यां चित्यामसपत्नाख्या  
उच्यते । कृष्णः, 'श्वो भूते पौर्वाह्निकीभ्यां प्रचर्य पञ्चमीं चितिं  
चिनोत्यग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नानिति पुरस्तादुपदधाति'  
इति । पाठस्तु,—“अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्

जातवेदो नुदस्व । अस्मे दीदिहि सुमना अहेङन्तव स्याः शर्मन्  
 चिवरूथ उद्भित्<sup>(१)</sup> इति । हे 'अस्मे', 'नः' (अस्माकं) 'जातान्'  
 'सपत्नान्' (ये पूर्वमुत्पन्नाः शत्रवः तान्) 'प्रणुद' (प्रकर्षेण नांशय) ।  
 हे 'जातवेदः', ये पूर्वमनुत्पन्ना इतः परमुत्पत्तिप्रसक्तियुक्तास्तान्  
 'अजातान्' शत्रून् 'प्रति'- 'नुदस्व' (उत्पत्तिप्रतिबन्धेन निराकुरु) ।  
 'सुमनाः' (सानुग्रहचित्तः) त्वं 'अहेङन्' (अकुर्वन्) 'चिवरूथः'  
 (चिवरूथः प्राग्वंश-सदो-हविर्द्वानरूपगृहचयोपेतः) 'उद्भित्'  
 (अनुष्ठेयकर्मोत्पादकः) सन् 'अस्मे दीदिहि' (अस्मदादीन् प्रकाशय) ।  
 'तव' प्रसादात् 'शर्मन्' 'स्याम्' आसुखवान् भवेद्यम् ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“अस्मे जातान् प्रणुदा नः  
 सपत्नानिति पुरस्तादुपदधाति जातानेव भ्रातृव्यान् प्रणुदते”  
 (५।३।५अ०) इति ।

• कल्पः, \* “सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातां  
 जातवेदो नुदस्व । अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयः स्याम  
 प्रणुदा नः सपत्नान्<sup>(१)</sup>” इति । 'सहसा' (बलेन) 'जातान्' इति  
 पूर्ववत् । 'सुमनस्यमानः' (सौमनस्यं प्राप्तः) सन् 'नः' (अस्मान्)  
 'अधि'- 'ब्रूहि', 'वयम्' अपि त्वदनुग्रहादधिकाः 'स्याम्', 'नः'  
 (अस्मदीयान्) 'सपत्नान्' (शत्रून्) 'प्रणुद' ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“सहसा जातानिति पश्चा-  
 द्दनिर्णयमाणानेव प्रणुदते” † (५।३।५अ०) इति । 'पश्चात्' 'उप-

\* अत्र तु 'सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नानिति पश्चादुपदधाति  
 इति । पाठस्तु इत्यधिकः पाठो भवितुं युक्तः ।

† 'प्रतिनुदते' इति आदर्शं पुस्तकपाठः ।

दधाति' इत्यनुवर्तते । पूर्वमन्त्रे उत्पन्नतिनाशप्राधान्यम् इह तु उत्पत्त्यमानप्रतिबन्धप्राधान्यम्,—अनेनाभिप्रायेणोभयत्र एवकार-  
प्रयोगः ।

कल्पः, 'चतुश्चत्वारिंश इति दक्षिणतः' इति । पाठस्तु,—  
“चतुश्चत्वारिंशः स्तोमो वर्चो द्रविणम्<sup>(१)</sup>” इति । योऽयं 'स्तोमः'  
चतुश्चत्वारिंशदावृत्त्या सम्यक्, 'वर्चः' (बलरूपं धनं); 'हे इष्टके  
तदुभयरूपा त्वमसि ।

एतन्मन्त्रं विनियुक्ते,—“चतुश्चत्वारिंशः स्तोम इति दक्षिणतः,  
ब्रह्मवर्चसं वै चतुश्चत्वारिंशो ब्रह्मवर्चसमेव दक्षिणतो धत्ते  
तस्मादक्षिणोऽर्हो ब्रह्मवर्चसितरः” (५।३।५ अ०) इति ।  
ब्राह्मणानामातिर्व्यात्, तैर्निष्पाद्यस्य स्तोमस्य ब्रह्मवर्चः स्वरूपत्वम् ।

कल्पः, 'षोडशः स्तोम इत्युत्तरतः' इति । पाठस्तु,—“षोडशः  
स्तोम ओजो द्रविणम्<sup>(२)</sup>” इति । षोडशभिरावृत्तिभिर्निष्पाद्यः  
'षोडशः', यस्मादृशः 'स्तोमः', यस्याष्टमधातुरूपं धनं वा, हे इष्टके  
तदुभयरूपा त्वमसि ।

एतन्मन्त्रं विनियुक्ते,—“षोडशः स्तोम इत्युत्तरत ओजो वै  
षोडश ओज एवोत्तरतो धत्ते तस्मादुत्तरतोऽभिप्रयायी जयति”  
(५।३।५ अ०) इति । षोडशस्तोमस्य ओजोवृद्धिहेतुत्वात्  
ओजस्त्वम् ।

अष्टेष्टकादयं सह प्रशंसति,—“वज्रो वै चतुश्चत्वारिंशो वज्रः  
षोडशो यदेते इष्टके उपदधाति जातांश्चैव जनिष्यमाणांश्च  
भ्रातृव्यान् प्रणुद्य वज्रमनुप्रहरति स्तूयै” (५।३।५ अ०) इति ।

सोमयोरग्निष्टनिवारकत्वेन वज्रत्वं । 'प्रणोदनम्' अस्मात् स्थाना-  
न्निवारणं । ततो वज्रस्थानुप्राप्तिरः 'स्तृत्यै' (हिंसायै) सम्पद्यते ।

कल्पः, 'इष्टकायां पुरीषमध्युह्य पृथिव्याः पुरीषमसीति' ।  
मध्येऽग्नेः पुरीषवतीम्' इति । पाठस्तु,—“पृथिव्याः पुरीषमस्यस्यो  
नाम<sup>(५)</sup>” इति । हे इष्टकास्वरूप, त्वं 'पृथिव्याः' (चितिरूपायाः)  
'पुरीषं' (पूरकम्) 'असि' । स्थाति भक्षयति विनाशयतीति सः,  
न स्थातीत्यसः । हे इष्टके त्वम् 'असः' 'नाम' 'असि' ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“पुरीषवतीं मध्य उपदधाति  
पुरीषं वै मध्यमात्मनः सात्मानमेवाग्निं चिनुते” (५।३।५ अ०) इति ।  
पुरीषमध्युह्य तस्योपर्युपधीयमानत्वात् पुरीषवती । 'पुरीषं वै'  
'आत्मनः' (गवादिशरीरस्य)\* 'मध्यं' उदरमध्ये वर्त्तमानत्वात् ।  
अतः पुरीषत्वेन 'सात्मानं' (शरीरसहितम्) 'एव' 'अग्निं' 'चिनुते' ।

एतद्वेदनं प्रशंसति,—“सात्माऽमुष्मिंस्लोके भवति य एवं वेद”  
(५।३।५ अ०) इति । नामकरण पूर्वमुक्तम् ।

इष्टकापञ्चकं अशंसति,—“एता वा असपत्ना नामेष्टका यस्यैता  
उपधीयन्ते नास्य सपत्नो भवति” (५।३।५ अ०) इति । सपत्नानां  
शत्रूणां विनाशकत्वात् 'असपत्ना' इत्येतासामिष्टकानां नाम ध्येयम् ।

कल्पः, 'एवञ्छन्दो वरिवञ्छन्द इति चत्वारिंशतं विराजो  
दश दश प्रतिदिशमच्छाय' इति । पाठस्तु,—“एवञ्छन्दो<sup>(६)</sup> वरि-  
वञ्छन्दः<sup>(७)</sup> शम्भूञ्छन्दः<sup>(८)</sup> परिभूञ्छन्दः<sup>(९)</sup> आच्छञ्छन्दो<sup>(१०)</sup>

\* मवादिशरीरस्य इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

† नामधेयमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

मनश्चन्दो<sup>(११)</sup> व्यचश्चन्दः<sup>(१२)</sup> सिन्धुश्चन्दः<sup>(१३)</sup> समुद्रं चन्दः<sup>(१४)</sup>  
 बलिलं चन्दः<sup>(१५)</sup> मयश्चन्दो<sup>(१६)</sup> त्रियश्चन्दो<sup>(१७)</sup> वृहश्चन्दो<sup>(१८)</sup>  
 . एयन्तरं चन्दो<sup>(१९)</sup> निकायश्चन्दो<sup>(२०)</sup> विवधश्चन्दो<sup>(२१)</sup> गिर-  
 च्चन्दो<sup>(२२)</sup> भजश्चन्दः<sup>(२३)</sup> सद्युचन्दः<sup>(२४)</sup> अनुद्युचन्दः<sup>(२५)</sup>  
 ककुचचन्द<sup>(२६)</sup> स्त्रिककुचचन्दः<sup>(२७)</sup> कायं चन्दः<sup>(२८)</sup> अकुपं  
 चन्दः<sup>(२९)</sup> । पक्लिश्चन्दो<sup>(३०)</sup> रक्षपक्लिश्चन्दो<sup>(३१)</sup> विष्टारपक्लि-  
 च्चन्दः<sup>(३२)</sup> चुरोभृज्वां चन्दः<sup>(३३)</sup> प्रश्चश्चन्दः<sup>(३४)</sup> पचश्चन्द<sup>(३५)</sup> .  
 एवश्चन्दो<sup>(३६)</sup> वरिवश्चन्दो<sup>(३७)</sup> वयश्चन्दो<sup>(३८)</sup> वयस्त्र्यश्चन्दो<sup>(३९)</sup>  
 विशालं चन्दो<sup>(४०)</sup> विष्यर्द्धाश्चन्दः<sup>(४१)</sup> हृदिश्चन्दो<sup>(४२)</sup> दूरोद्दणं  
 चन्दः<sup>(४३)</sup> तम् चन्दः<sup>(४४)</sup> अद्वाङ्गं चन्दः<sup>(४५)</sup> इति । 'एवः'  
 'वरिवः' इत्याद्याः शब्दाः स्वर्गलोकवर्तिनां चन्दोविशेषाणां  
 नामधेयानि । हे इष्टके, त्वम् 'एवश्चन्दो' यत्, तद्रूपासि ।  
 एवं सर्वत्र ऊहनीयम् ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“पशुर्वा एष यदग्निर्विराज  
 उत्तमायां चित्यामुपदधाति विराजमेवोत्तमां पशुषु दधाति  
 तस्मात् पशुमानुत्तमां वाचं वदति” (५।३।५अ०) इति ।  
 पशुर्वाग्निहेतुत्वादग्नेः पशुत्वम् । अतः ‘पशुषु’ ‘उत्तमां’ ‘विराजं’  
 (चौरदध्यादिरूपमन्त्रं) स्थापयितुम् अस्मिन् पशुरूपेऽग्नौ ‘उत्तमायां’  
 पञ्चम्यां ‘चित्यां’ विराडाख्या इष्टका उपदध्यात् । विराड्रूपत्वं  
 तु वक्ष्यमाणदंष्ट्रसंज्ञया संपद्यते । यस्मात् पशुरूपेऽग्नौ वक्त्ररूपं  
 ‘विराजं’ ‘उपदधाति’, ‘तस्मात्’ लोकेऽपि वज्रपशुयुक्तः पुरुषः  
 समागतान् अतथोन् प्रति ‘उत्तमां’ ‘वाचं’ ‘वदति’—आन्ता

युयं. मङ्गहे समागच्छत, भुज्यताम्\* इति । खेयं उज्जमा वाक् ।

एकैकस्यां दिशोऽष्टकासङ्ख्यां विधत्ते,—“दश दशोपदधाति संवीर्यत्वाय” (५।३।५अ०) इति । ‘सवीर्यत्वं’ (दाज्ञोपेतत्वं) । तच्च षड्भिरष्टकाभिः सम्यङ्गते ।

सम्यङ्कपङ्क्तिरूपत्वं वारयित्वां वक्रत्वं विधत्ते,—“अक्ष्णयोप-  
दधाति तस्मादक्ष्णया पञ्चवोऽङ्गानि प्रहरन्ति प्रतिष्ठियै” (५।३।  
५अ०) इति ।

उक्ता विराजः प्रशंसति,—“यानि वै हृन्दांसि सुवर्ग्याण्या-  
सन् तैर्देवाः सुवर्गे लोकमायन् तेनर्षयोऽश्राम्यन् ते तपोऽतप्यन्त  
तानि तपसा अपश्यन् तेभ्य एता इष्टका निरमिमतेवश्चन्दो वरिव-  
श्चन्द इति ता उपादधत ताभिर्वैते सुवर्गे लोकमायन् यदेता  
इष्टका. उपदधाति यान्येव हृन्दांसि सुवर्ग्याणि तैरेव यजमानः  
सुवर्गे लोकमेति” (५।३।५अ०) इति । स्वर्गम् अर्हन्त्विति  
‘सुवर्ग्याणि’, तादृशानि ‘यानि’ आस्तातानि ‘हृन्दांसि’ स्वर्गलोके  
स्थितानि, तैश्चन्दोभिः ‘देवाः’ स्वर्गप्राप्ताः,—तत्पाठस्येषां स्वर्ग-  
प्राप्तिसाधनं । ‘अष्टयः’ च ‘तेन’ (स्वर्गप्राप्तिनिमित्तेन) ‘अश्राम्यन्’  
(उपायमन्विष्यालभमानाः खिन्ना आसन्) ‘ते’ पुनर्विचार्य  
स्वर्गप्राप्त्यर्थं ‘तपः’ कृतवन्तः, ततोऽनर्हितेन ‘तपसा’ ‘तानि’

\* भुज्यन्ताम् इति तु क्वचित् पाठः ।

† अत्र वारयितुमिति पाठा भवितु युक्तः ।

‘हन्दांसि’ स्वर्गसाधनानि ‘अपश्यन्’, ‘तेभ्यः’ (हन्द्वाभ्यः) ‘एता’ (विराडाख्या) ‘इष्टका’ निर्मितवन्तः, निर्माय च ‘एवम्हन्द्वा’ ‘वरिवम्हन्द्वा’ इति मन्त्रैः ‘ता’ (विराजः) ‘उपादधत’ ‘ताभिः’ (इष्टकाभिः) तद्विषयं प्राप्ताः । अतो यजमानोऽपि तदुपधानेन स्वर्ग्यस्तैश्चहन्द्वाभिः स्वर्गं प्राप्नोत्येव ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

पञ्चम्यान्तु चितावग्निर्ह्यसपत्नास्तु पञ्च च ।

एवंश्चत्वारिंशदुक्ता विराजो दिक्षु वक्रगाः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्निर्हृचाणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्थया । समिद्धः  
शुक्र आहुतः<sup>(१)</sup> । त्वं सौमासि सत्यतिस्वः राजोत  
हृच्चा । त्वं भद्रो असि क्रतुः<sup>(२)</sup> । भद्रा ते अग्ने  
स्वनीक संहृद्योरसः सतो विष्णुस्य चारुः । न यत्ते  
शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तनुवि रेप आ धुः<sup>(३)</sup> ।  
भद्रं ते अग्ने सहसिन्ननीकमुपाक आ रोचते सूर्यस्य ॥

रुशद्दृशे दृशे नक्तया चिदरूक्षितं दृश आरूपे  
 अन्नं<sup>(४)</sup> । सैनानीकेतं सुविदत्रो अस्मे यष्टा देवाः  
 आयजिष्ठः स्वस्ति । अदब्धो गोपा उत नः परस्या  
 अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि<sup>(५)</sup> । स्वस्ति नो दिवो अग्ने  
 पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथायं देव । यत् सीमहि  
 दिविजात प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रं<sup>(६)</sup> ।  
 यथा होतर्मनुषः ॥ २ ॥

देवताता यज्ञेभिः सूनो सहसो यजासि एवा नो  
 अद्य समना समानानुशन्नं उशतो यक्षि देवान्<sup>(७)</sup> ।  
 अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं । होतारः  
 रत्नधातमं<sup>(८)</sup> । वषा सोम द्युमाः असि वषा देव वष-  
 क्रतः । वषा धर्माणि दधिषे<sup>(९)</sup> । सान्तपना इदः  
 हविर्मरुतस्तज्जुष्टन । युष्मांकोती रिशादसः<sup>(१०)</sup> । यो  
 नो मर्तो वसवो दुर्हणायुस्तिरः सत्यानि मरुतः ॥ ३ ॥

जिघांसात् । द्रुहः पाशं प्रति स मुचीष्ट तपिष्टेन  
 तपसा हन्तना तं<sup>(११)</sup> । संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरु-  
 क्षयाः सगणा मानुषेषु । तैस्तत्प्राशान् प्रमुञ्चन्वः-  
 हसः सान्तपना मदिराः मादयिष्णवः<sup>(१२)</sup> । पिप्रीहि  
 देवाः उशतो यविष्ट विद्वाः ऋतुः ऋतुपते यजेह ।  
 ये दैव्या ऋत्विजस्तेभिरग्ने त्वः होतृणामस्यायजि-



ष्टः<sup>(११)</sup> । अग्ने यद्दद्य विशो अध्वरस्य होतः पार्वक ॥

॥ ४ ॥

शोचे वेत्स्वः हि यज्वा । कृता यजासि महिना  
वि यद्गृह्व्या वह यविष्ट या ते अद्य<sup>(१२)</sup> । अग्निना रयि-  
मश्रवत् पोषमेव दिवे-दिवे । यशसं कीरवत्तमं<sup>(१३)</sup> ।  
गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पृष्टिवद्भिनः । सुमिचः  
सोम नो भव<sup>(१४)</sup> । गृहमेधास आगत मरुतो माय-  
भूतन । प्रमुञ्चन्तो नो अहसः<sup>(१५)</sup> पूर्वीभिर्हि ददा-  
शिम शरद्भिर्मरुतो वयं । महोभिः ॥ ५ ॥

चर्षणीनां<sup>(१६)</sup> । प्र बुभ्रिया ईरते वो मङ्गाःसि  
प्र णामानि प्र यज्जवस्तिरध्वं । सहस्रियं दम्यं भागमेतं  
गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वं<sup>(१७)</sup> । उप यमेति युषतिः सु-  
दक्षं दोषावस्तोर्हविष्मती घृताची । उप स्वैनमरमति-  
र्वसूयुः<sup>(१८)</sup> । इमो अग्ने वीततमानि हव्याजसो वक्षि  
देवतातिमच्छ । प्रति न ईं सुरभीणि वियन्तु<sup>(१९)</sup> ।  
क्रीडं वः शर्हो मारुतमनुर्वाणः रथेशुभं ॥ ६ ॥

कखा अभि प्रगाञ्चत<sup>(२०)</sup> । अत्यासो न ये मरुत  
स्वञ्चो यस्तुदृशो न शुभयन्त मर्याः । ते हर्म्येष्ठाः शिशवो  
न शुधा वत्सासो न प्रक्रीडिनः पयोधाः<sup>(२१)</sup> । ग्रैषा  
मज्जेषु विद्युरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे ।

ते क्रीडयो धुनयोऽर्जहृष्टयः स्वयं महित्वं पमयन्त  
धूतयः<sup>(१४)</sup> । उपहरेषु यदचिध्वं ययिं वय इव मरुतः  
केन ॥ ७ ॥

चित् पथा । श्रोतन्ति कोशा उप वो रथेषा घृत-  
मुक्षता मधुवर्णमर्चते<sup>(१५)</sup> । अग्निर्मग्निः हवीमभिः सदा  
हवन्त विश्वपतिं । हव्यवाहं पुरुप्रियं<sup>(१६)</sup> । तस्मिन् शश्वन्त  
इडते सुचा देवं घृतश्रुता । अग्निः हव्याय वोढवे<sup>(१७)</sup> ।  
इन्द्राग्नी रोन्वना दिवः अथ हवम्<sup>(१८-१९)</sup> इन्द्रं वो  
विश्वतस्परीन्द्रं नरो<sup>(२०-२१)</sup> विश्वकर्मन् हविषा वाह-  
धानो विश्वकर्मन् हविषा वडनेन<sup>(२२-२३)</sup> ॥ ८ ॥

स्वयंस्य । मनुषः । मरुतः । पावक । महोभिः ।  
रथेषुभं । केन । षट्चत्वारिंशच्च ॥ १३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके  
चयोदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अपां त्वेमन् । अयं पुरः । प्राची । ध्रुवक्षितिः ।  
स्यविः । इन्द्राग्नी । मा इन्द्रः । आशुस्त्रिष्टुत् । अग्ने-  
र्भागोऽसि । एकया । इयमेव सा या । अग्ने जातान् ।  
अग्निर्दृष्टाणि जह्वन्त । चयोदश ॥ १३ ॥

अपां त्वा (१।१) । इन्द्राग्नी. (६।१) । इयमेव  
सा (११।१) देवताता (१३।३) । षट्चिंशत् ॥ ३६ ॥  
हरिः ओम् ॥

॥०॥ समाप्तश्च तृतीयप्रपाठकः ॥०॥

इददशेऽनुवाके असपत्ना विरार्जसोक्ताः । अथ त्रयोदशस्य  
अन्यानुवाकत्वात् तत्र याज्यानुवाक्या उच्यन्ते । चातुर्मास्ये साक-  
मेधास्ये तृतीये पर्वणि 'अग्नयेऽनीकवते पुरोडाशमष्टाकपालं  
निर्वपति साकः सूर्येणोद्यता' इत्यादिहवींषि\* आस्तातानि । तत्र  
प्रथमस्याज्यभागस्य पुरेनुवाक्यामाह,—“अग्निर्दृत्राणि जह्वनद्  
द्रविणः स्युर्विपन्यथा । समिद्धः शुक्र आहुतः(१)” इति । अयम्  
'अग्निः' अस्माननुगृह्णात्विति शेषः । कीदृशः अग्निः?—‘दृत्राणि’  
'जह्वनत्' (कर्मानुष्ठाननिवारकाणि पापान्यतिशयेन, हतवान्) ;  
'विपन्यथा' (अस्मत्कृतया स्युत्या) 'द्रविणस्यः' (अस्मदर्थं  
द्रविणेष्कुः) ; 'समिद्धः' (सम्यक् प्रज्वालितः) , 'शुक्रः' (शोचमानः) ;  
'आहुतः' ('आ' समन्तात् अस्माभिराकारितः, अग्नेनाज्येनाहुतो  
वा)† ।

अथ द्वितीयाज्यभागस्य पुरेनुवाक्यामाह,—“त्वं सोमासि  
सत्पतिस्त्वं राजा त्वं भद्रो असि क्रतुः(१)” इति ।

\* इत्यादीनि हवींषि इति, इत्यादिना हवींषि इति वा पाठो  
भवितुं युक्तः ।

† अग्नेनाज्ये ऊतो वा इति कश्चित् पाठः ।

हे 'सोम', 'त्वं' सतां (सुम्यगनुष्ठितानां) कर्मणां 'पतिः' 'अग्निः'; किञ्च 'त्वं' 'राजा' (दीप्तिमान्); अपि च 'त्वं' 'वृत्रहा' (पापघातो); किञ्च 'त्वं' 'भद्रः' (फलप्रदत्वेन मङ्गलः); 'क्रतुः' 'अग्नि' (तस्य क्रतोर्निष्पादकत्वात्) । यद्यप्येतन्मन्त्रद्वयञ्चोदकप्राप्तिं, तथाप्यमावास्याविकृतित्वप्रयत्नं वृधन्वयोः प्राप्तिं वारयितुं पुनः-पाठः ।

अथ प्रधानस्याग्नेरनीकवतो हविषः पुरोनुवाक्यामाह,—  
 “भद्रा ते अग्ने स्वनोक सदृग्घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः ।  
 न यत्ते शोचिस्तममा वरन्त न ध्वस्मानस्तनुवि रेप आधुः<sup>(१)</sup>”  
 इति । शोभनमनोकं सैन्यं यस्यासौ स्वनोकः, तादृश हे 'अग्ने',  
 'ते' (त्वदीयानि) च गात्राणि 'भद्रा' (भद्राणि मङ्गलानि) ।  
 कथं भद्रत्वमिति ?—तदुच्यते,—त्वं 'सदृक्' (यजमानान् पश्यसि,  
 यजमानादिभिर्वा सम्यक् दृश्यसे) । तथा त्वं 'घोरस्य' (उग्रस्य),  
 'सतः' (सर्वथा विद्यमानस्य), 'विषुणस्य' (बहुज्वालारूपेण विश्वग्-  
 व्याप्तस्य) 'चारुः' (चरणहेतुः), अरिष्टनिवारकस्य निरन्तस्य  
 ज्वालामूढस्य प्रवर्त्तक इत्यर्थः । 'यत्' 'ते' (तव) 'शोचिः'  
 (प्रकाशनं), तत् कदाचिदपि 'तमसा' 'न' 'वरन्त' (नात्रियन्ते) ।  
 'ध्वस्मानः' (ध्वंसहेतवः) राक्षसाः 'तनुवि' (शरीरे) त्वदीये 'रेपः'  
 (प्रहाररूपं पापं) 'न' 'आधुः' (नैव सम्पादितवन्तः) ।

अथ तत्रैव याज्यामाह,—“भद्रं ते अग्ने सहस्रिन्ननीकमुपाक  
 आ-रोचते सूर्यस्य । रुद्रं दृष्टे ददृशे नक्तया चिदरुचितं दृष्ट  
 आ रूपे अक्षम्<sup>(४)</sup>” इति । 'सहो' (बलम्) अस्यास्तीति 'सहस्री',

तादृशं हे 'अग्ने', 'सूर्यस्य' 'ते' (सूर्यसदृशस्य तव) 'भद्रं'-(  
 'अनीकं' ज्वालारूपं (सैन्यं) 'उपाके' '(उपान्तिके समीपे) 'आ-  
 रोचते' (सर्वतो दीप्यते) । तादृशं ज्वालारूपं त्वदीयम् अनीकं  
 नक्तम् अपि गाढान्धकारावृतायां रात्रावपि 'ददृशे' (विस्पष्टं  
 प्राणिभिर्दृश्यते) । किमर्थं रात्रौ तज्ज्वालालादर्शनमिति ?-तदुच्यते,—  
 'रुशत्' (हिंसकं\* सर्वाधिकं) 'दृशे' (मार्गे द्रष्टुं), तथा रात्रौ  
 भोजनवेलायां 'आ\*' 'रूपे' (पुरतो निरूपिते पात्रे) 'अरूक्षितं'  
 (रूक्षोपलक्षितं मक्षिकाद्युपद्रवम्) अभितम्(?)† 'अन्नम्' 'आ'-  
 'दृशे' (सर्वतो द्रष्टुम्) ।

अथ तत्रैव विकल्पितां याज्यामाह,—“सैनानीकेन सुविदत्रो  
 अस्मे यथा देवाः आयजिष्ठः सस्ति । अदब्धो गोपा उत नः  
 परस्या अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि<sup>(५)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'स' त्वं  
 'द्युमत्' (दीप्यमानः) ; 'उत' (अपि च) 'रेवत्', (वज्रधनसुक्तं  
 गृहक्षेत्रादिकं) 'दिदीहि' (प्रकाशय) । कीदृशस्त्वं ?—“एनानी-  
 केन' (एतेन ज्वालामूहेन), 'सुविदत्रः' (सुष्ठु वेदिता) 'अस्मे'  
 (अस्मदर्थं) 'देवान्' 'यथा' (देवान् उद्दिश्य यागनिष्पादकः)  
 'सस्ति' (विघ्नराहित्यं) यथा भवति, तथा 'आयजिष्ठः' (अति-  
 शयेन ह्यत्तयागसमाप्तिकारी) ; 'अदब्धः' (केनाप्यहिंसितः) ;  
 'गोपाः' (यज्ञस्य गोप्याः) 'उत' (अपि च) 'नः' (अस्माकं) 'परस्या'  
 (अतिशयेन पालयिता) ।

\* 'आ' इति पाठो का० ४० पुस्तके नास्ति ।

† रूक्षोपलक्षितमक्षिकाद्युपद्रवरहितम् इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ गोप्ता इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ खिष्टतः पुरेऽनुवाक्यामाह,—“स्वस्ति नो दिवो अग्ने  
 पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव । यत् सीमहि दिविजात  
 प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’; ‘नः’  
 (अस्माभ्यं) ‘स्वस्ति’ (निर्विघ्नं) ‘विश्वायुः’ (सम्पूर्णमायुः) ‘धेहि’ (सम्पा-  
 दय) । किमर्थं ?—‘यजथाय’ (यागानुष्ठानार्थं) । कुत्र ?—‘दिवः’  
 (द्युलोके), ‘पृथिव्या’ (भूलोके) । हे ‘देव’, यथा द्युलोके भूलोके  
 तिष्ठामः, तथा सर्वसम्पूर्णमायुः प्रयच्छेत्यर्थः । हे ‘दिविजात’  
 (स्वर्गसमुत्पन्न) अग्ने, ‘यत्’ ‘द्रविणं’ ‘सीमहि’ (वयं सेवेम), ‘तत्’  
 ‘द्रविणम्’ ‘अस्मासु’ ‘धेहि’ (सम्पादय) । कीदृशं द्रविणं ?—  
 ‘प्रशस्तं’ (विद्यमानश्रेष्ठं); ‘चित्रं’ (मणिमुक्तादिजात्युपेतम्) ।

तच्चैव याज्यामाह,—“यथा होतर्मनुषो देवताता यज्ञेभिः  
 सूनो सहसो यजासि । एवा नो अद्य समना समानानुशन्नम्  
 उग्रतो यच्चि देवान्<sup>(२)</sup>” इति । ‘सहसो’ (मथनरूपस्य बलस्य)  
 ‘सूनुः’ (पुत्रः) अग्निः, स च देवानामाकाशाता, हे ‘सहसः’ ‘सूनो’  
 ‘होतः’, अग्ने, ‘यज्ञा’ ‘मनुषो’ (मनुष्यान्) अनुग्रहेण पालयसि,  
 ‘देवताता’ (देवान्) अपि यज्ञैः ‘यजासि’ (पूजयसि) । ताति-  
 प्रत्ययस्य स्वार्थे विहितत्वाद् देवा एव देवतातयः; ‘देवताता’  
 (देवतातिन्\*) । इतरयजमानानां पालनं तदीयदेवयजनञ्च दृष्टान्तः,  
 दार्ष्टान्तिकन्तु स्वकीयदेवयजनमुच्यते । ‘एवा’ (एवमेव) हे ‘अग्ने’,  
 ‘नः’ (अस्माकं) ‘अद्य’ (अस्मिन् कर्मणि) ‘देवान्’ ‘यच्चि’ (त्वं  
 यज) । कीदृशस्त्वं ?—‘समना’ (तिर्देवैः सह समानमनस्कः), यदा

\* ‘देवतातीन्’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

समानसौर्देवैस्तुल्य इत्यर्थः; 'उशन्' (कामयमानः) आस्तायुक्त इत्यर्थः । कीदृशान् देवान्?—'समाकान्' (त्वया तुल्यान्) । 'उशन्' (कामयमानान्) त्वयि प्रीतियुक्तानित्यर्थः ।

अथ महद्भ्यः सान्तपतेभ्यो मध्यन्दिने चरमित्यत्र प्रथमाज्य-  
भागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देव-  
मृत्विजं । हेतारं रत्नधातमम्<sup>(८)</sup>” इति । इमम् 'अग्निम्'  
अहम् 'ईडे' (सौमि) । कीदृशं?—पुरोदेशे आहवनीये  
स्थापितं; 'यज्ञस्य' (अनुष्ठीयमानस्य कर्मणः) 'मृत्विजं' (मृत्विङ्  
निष्पादक\*) ; 'देवं' (द्योतमानं); 'हेतारं' (देवतानामाङ्गातारं);  
'रत्नधातमं' (मणिमुक्ताप्रभृतीनां सम्यादक्तम्) ।

अथ द्वितीयाज्यभागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“वृषा सोम  
द्युमां असि वृषा देव वृषव्रतः । वृषा धर्माणि दधिषे<sup>(९)</sup>”  
इति । हे 'सोम', त्वं कामानां वर्षयिता । 'द्युमां', (द्रोणिमान्)  
'असि' । यस्मात् त्वं 'वृषव्रतः' (वृषनिमित्तं कर्म यस्यासौ  
वृषव्रतः) । किञ्च यस्मात् त्वं वर्षयिता, तस्मात् पुण्यानि 'दधिषे'  
(धारयसि) ।

अथ प्रधानस्य हविषः पुरोऽनुवाक्यामाह,—“सान्तपना  
इदं हविर्मरुतस्तज्जुष्टुन । युष्माकोतो रिशादसः<sup>(१०)</sup>” इति ।  
सम्यक् तप्यन्ते शत्रवं एभेरिति 'सान्तपनाः', तादृशां हे 'मरुतः',  
अस्माभिर्दीयमानं यत् 'इदं' 'हविः' अस्ति, 'तत्' 'जुष्टुन'  
(सेवध्वं) । 'युष्माकोतो' (युष्माकमूतये जुष्टाधातो रक्षणाय) ।

\* निष्पादक इति पाठो भवितुं युक्तः ।

कीदृशा मरुतः ?—‘रिशादसः’ रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः,  
तान् अदन्ति भक्षयन्ति विनाशयन्तीति ‘रिशादसः’ ।

अथ तत्रैव याज्यामाह,—“यो नो मर्तो वसवो दुर्हणायुः  
स्तिरः सत्यानि मरुतो जिघांसात् । द्रुहः पाशं प्रति स मुचीष्ट  
तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्<sup>(११)</sup>” इति । ‘वसवः’ (वासहेतवः) हे  
‘मरुतः’, ‘यः’ ‘मर्तः’ (मनुष्यः) ‘दुर्हणायुः’ (दुष्टक्रोधोऽत्यन्त-पाप-  
युक्तबुद्धिः) सन् ‘सत्यानि’ ‘तिरः’ अस्मान् प्रतिकृतान् सर्वथा  
नानिष्टं करिष्यामीत्येवंरूपां शपथां\* तिरस्त्रित्य ‘मः’ (अस्मान्)  
‘जिघांसात्’ (हन्तुमिच्छेत्), स ‘द्रुहः’ (द्रोही) ‘पाशं’ (भवदीयं  
बन्धनरज्जुं) ‘प्रति’-‘मुचीष्ट’ (प्रतिमुञ्चतु) खगले बध्नात्वित्यर्थः ।  
‘तं’ द्रोहिणं ‘तपिष्ठेन’ ‘तपसा’ (अत्यधिकेन सन्तापेन) ‘हन्तना’  
(मारयत) ।

तत्रैव विकल्पितां याज्यामाह,—“संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का  
उरुचथाः सगणा मानुषेषु । तेऽस्मात् पाशान् प्रमुञ्चन्त्वहमः  
सान्तपना मदिरा मादयिष्णवः<sup>(१२)</sup>” इति । ये ‘मरुतः’ सन्ति,  
‘ते’ ‘पाशान्’ (स्वकीयबन्धनरज्जुं) ‘अस्मात्’ (अस्मात्तः) अपनीय  
‘मानुषेषु’ विरोधिजनेषु ‘प्रमुञ्चन्तु’ (गले बध्नुन्तु) । कीदृशान् ?—  
‘अहमः’ (पापिष्ठान् अत्यन्तनोचहेत्स्वित्यर्थः) । कीदृशा मरुतः ?—  
‘संवत्सरीणाः’ (सकृद्यागेनाराधिताः संवत्सरपर्यन्तं रचकाः) ;  
‘स्वर्का’ (सुष्ठु अर्चनोधाः) ; ‘उरुचथाः’ (विस्तीर्णगृहाः) ; ‘सगणाः’  
(सप्तभिर्गणैः सहिताः) ; ‘सप्तगणा वै मरुतः’ इति अत्यन्तरात् ।

\* एवरूपान् शपथान् इति पाठो भवितुं युक्तः ।



‘सान्त्तपनाः’ (सम्यक् शत्रुतापकारिणः); ‘मृदिराः’ (स्वयं हृष्टाः);  
‘मादयिष्णवः’ (अस्मानपि हर्षयन्तः) ।

तत्रैव स्विष्टकृतः पुनोऽनुवाक्यामाह,—“पिप्रोहि देवाः उग्रतो  
यविष्ठ विद्वाः ऋतुपते यजेह । ये दैव्या ऋत्विजस्तेभि-  
रग्ने त्वं होतृणामस्या यजिष्ठः<sup>(११)</sup>” इति । हे ‘यविष्ठ’ (युवतम)  
‘अग्ने’, ‘उग्रतः’ (कामयमानान्) ‘देवान्’ ‘पिप्रोहि’ (अतिशयेन  
प्रीणय) । हे ‘ऋतुपते’ (सूर्यात्मना कालपरिपालक), ‘त्वं’ ‘ऋतुन्’  
(कालविशेषान्) ‘विद्वां’ (जानन्) वर्त्तसे । तस्मात् ‘इह’  
(उचितकाले) ‘यज’ । देवेषु भवा ‘दैव्या’ ‘ये’ ‘ऋत्विजः’ सन्ति,—  
‘अग्निर्होता अश्विनाध्वर्युं त्वष्टाभ्योत्’ इत्यादिना आस्नाताः, ‘तेभिः’  
(तैः) देवैः सह ‘त्वं’ यजमानस्य सम्बन्धिनां ‘होतृणां’ ऋत्विजां  
मध्ये ‘आ यजिष्ठः’ (सर्वतो यष्टुतमः) ‘असि’ ।

तत्रैव याज्यामाह,—“अग्ने यदद्य विशो अध्वरस्य होतः  
पावक शोचे वेस्त्वं हि यज्वर । ऋता यजासि महिना वि  
यद्गृह्व्या वह यविष्ठ या ते अद्य<sup>(१२)</sup>” इति । हे स्विष्टकृत-‘अग्ने’,  
‘विशः’ (प्रविष्टस्यानुष्ठितस्य) ‘अध्वरस्य’ सम्बन्धि ‘यत्’ च विरस्ति तत्  
‘अद्य’ ‘वेः’ (अशान भक्षय) । ‘होतः’ (होमकर्त्तः) ‘पावकः’ (शोधक),  
‘शोचे’ (दीप्यमान) ; तान्येतानि अग्निविशेषणानि । ‘हि’ (यस्मात्)  
‘त्वं’ ‘यज्वर’ (यागस्त कर्त्ता) ; तस्मात् ऋते अस्मदीय-‘महिना’  
(महिम्ना), ‘यजासि’ (देवान् प्रीणयसि) । ‘यत्’ (यस्मात्  
कारणात्) ‘वि-’ ‘भूः’ (विशिष्टो भवसि), तत् (तस्मात् कारणात्)

हे 'यच्छि' (युवतम), 'अद्य', 'ते' (तव) 'या' (यानि) ह्यनानि  
अस्माभिर्दीयन्ते, तानि स्वीकुरु\* । यद्यप्येतन्मन्त्रद्वयं दार्शनिके ह्यत्र-  
काण्डे समान्नातत्वात्, चेदकादेव प्राप्तं, तथापि विस्मयार्थं पुन-  
र्वचनमिति द्रष्टव्यम् ।

अथ मरुद्भ्यो गृहमेघिभ्यः, सर्वासां दुग्धे सायं चरमित्यत्र  
प्रथमस्याज्यभागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“अग्निना रयिमश्रवत्  
पोषमेव दिवे-दिवे । यशसं वीरवत्तमम्<sup>(१५)</sup>” इति । अनेन  
'अग्निना' 'रयिं' (धनम्) 'अश्रवत्' (सर्वो जनः प्राप्नोति) । न  
केवलं धनस्य स्वरूपमात्रं, किन्तु दिने-दिने तस्य धनस्य पुष्टिमेव  
प्राप्नोति न तु ह्रासं । 'यशसं' (कीर्तिकरं), 'वीरवत्तमं' (वीरा  
अस्मदीयाः पुत्रा अस्मेति वीरवान् अतिशयेन तथाविधम्) ।

अथ द्वितीयाज्यभागस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“गयस्कानो  
अमोवहा वसुवित् पुष्टिवर्द्धनः । सुमित्रः सोम नो भव<sup>(१६)</sup>” इति ।  
हे 'सोम', 'नः' (अस्मान्) उच्यमानविशेषणविशिष्टो 'भव' ।  
कानि तानि विशेषणानि? इति, तान्युच्यन्ते,—‘गयस्कानः’ (गृहाणां  
वर्द्धयिता); ‘अमोवहा’ (रोगाणां, हन्ता), ‘वसुवित्’ (धनस्य  
लभयिता); ‘पुष्टिवर्द्धनः’ (गवादिपुष्टेर्वर्द्धयिता); ‘सुमित्रः’  
(शोभनं यजमानरूपं मित्रं यस्यासौ सुमित्रः) ।

अथ प्रधानस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“गृहमेधास आगत  
मरुतो माऽपभूतन प्रमुञ्चन्तो नो अहसः<sup>(१७)</sup>” इति । गृहे  
क्रियमाणो मेधो यज्ञो येषां ते 'गृहमेधासः', तादृशा हे

\*. अत्र 'वह' (स्वीकुरु) इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‘मरुतः’, ‘आगत’ (आगच्छत) ।, ‘माऽप भूतन’ (कदाचिदपि मा गच्छत\*) । किं कुर्वतः ?—‘अंहसः’ (यापात्) ‘नः’ (अस्मान्) । ‘प्रमुञ्चन्तः’ (प्रकर्षेण मोचयन्तः) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“पूर्वीभिर्हि ददाशिम शरद्भिर्मरुतो वयं । महोभिस्सर्वणीनाम्<sup>(१८)</sup>” इति । हे ‘मरुतः’, ‘वयं’ (यजमानाः†) ‘पूर्वीभिः’ (अनादिकालप्रवृत्ताभिः) श्रीह्यादि-सम्पूर्णतया महनीयाभिः ‘शरद्भिः’ (संवत्सरैः) ‘सर्वणीनां’ (मनु-य्याणां ऋत्विजां) मध्ये स्थायीभिः यस्मात् ‘ददाशिम’ (हविर्ददेम), तस्माद् यूयम् इह आगच्छत ।

तत्रैव विकल्पितां याज्यामाह,—“प्र बुध्निया ईरते वो महाऽसि प्र णामानि प्र यज्जवस्तिरध्वं । सहस्त्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम्<sup>(१९)</sup>” इति । हे ‘मरुतः’, ‘बुध्निया’ (बुध्ने मूले भवानि बुध्नियानि कालप्रवृत्तानीत्यर्थः), ‘वो महाऽसि’ (युष्माकं तेजांसि) ‘प्र’-‘ईरते’ (प्रकर्षेण गच्छन्ति) प्रवृत्तानीत्यर्थः । ‘प्र’-‘यज्जवः’ (प्रकृष्टयागयुक्ताः) यूयं ‘नामानि’ (गृहमेधिनः मरुतो वयमित्यादीनि भवदीयनामधेयानि) ‘प्र’-‘तिरध्वं’ (प्रकर्षेण लोके ख्यायत) । ‘सहस्त्रियं’ (सहस्रसमार्हं) ‘गृहमेधीयं’ (गृहमेधिनो युष्मानुद्दिश्य दीयमानमेतं भागं पुरोडाशरूपं) ‘जुषध्वं’ (सेवध्वम्) ।

अथ तत्रैव स्विष्टकृतः पुरोऽनुवाक्यामाह,—“उप यमेति युवतिः सुदृचं दोषा वस्त्रोर्हविष्मती घृताची । उप खैनमरमति-

\* मा गच्छतः इति का० ह० पु० पाठः ।

† यजमान इति सर्वत्र एकवचनान्तः पाठो न सम्यक् ।

‘वसुधुः(११)’ इति । ‘सुवतिः’ (मन्त्रेण मिश्रीभूता) ‘हविस्ततो’ (सम्पूर्णहविर्युक्ता) ‘धृताचो’ (धृते पुष्टा) इत्यमाङ्गतिः ‘दोषा’ (रात्रौ) दिवसे च ‘दक्षं\*’ (कुशलं) ‘यं’ (खिष्टकृतमग्निम्) ‘उप’-‘एति’ (प्राप्नोति) । येन खिष्टकृतमग्निम् ‘अरमतिः’ (कदाचिदप्युप-रमतिरहितः), ‘वसुधुः’ (धनमिच्छन्) यजमानः, ‘स्वा’ (स्वकीयेन) हविषा ‘उप’-‘एति’ (प्राप्नोति), सेवत इत्यर्थः ।

तत्रैव याज्यामाह,—“इमो अग्ने वीततमानि हव्याऽजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ । प्रति न ई५ सुरभीणि वियन्तु(११)” इति । हे ‘अग्ने’, ‘इमो’ (इमानि), ‘वीततमानि’ (अतिशयेन कान्तानि), ‘हव्या’ (हवींषि) ‘देवतातिमच्छ’ (देवानभिप्राप्तम्) ‘अजस्रः’ (अनुपरतः), ‘वक्षि’ (वह्नान्मत्सम्बन्धीनि), ‘सुरभीणि’ (सु-गन्धीनि) हवींषि ‘प्रति न ई५’ (प्रत्येकमेव) ‘वियन्तु’ (भक्षयन्तु) ।

अग्न ‘महद्भ्यः क्रीडिभ्यः पुरोडाशः सप्तकपालं निर्वपति साकः सूर्येणोद्यत’ इत्यस्य हविषः पुरोऽनुवाक्यामाह,—“क्रीडं वः शर्धां मास्तमनर्वणः रथेऽभं कणा अभिप्रगायत(१२)” इति । हे ‘कणाः’ (कणप्रभृतयो वेदाचार्याः), ‘शर्धाः’ (बलम्) ‘अभि-प्रगायत’ (अभितो वैदिकैः स्तोत्रैः प्रकर्षेण गानं कुरुत) । कीदृशं वक्षं?—‘वः’ ‘क्रीडं’ (युष्माकं क्रीडांकारणं), ‘मास्तं’ (मस्तां सम्बन्धि), ‘अनर्वाणं’ (भ्रातृव्यैरतिरुक्तं), ‘भ्रातृव्यो वा अर्वा’ इति अत्यन्तरात् । ‘रथेऽभं’ (रथप्रेरणे समर्थम्) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“अत्यागो न ये मस्त खस्यो यक्षदृशो

‘सुदक्षं’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

न शुभयन्त मर्याः । ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो  
 न प्रक्रीडिनः पयोधाः<sup>(१९)</sup> इति । हे 'मरुतः', 'शुभयन्त'  
 (शोभयन्ते) स्वसञ्चारेण सर्वे जगदलंकुर्वन्तीत्यर्थः । ततोऽस्मान्  
 अनुगृह्णन्ति शेषः । कीदृशा मरुतः?—'अत्यासो न' (सतत-  
 यमनशीला अश्वादय इव), 'स्वञ्चः' (शोभनगतयः), 'यच्चदृशो न'  
 'मर्याः' (यागदर्शनार्थिनो मर्या इव) चैत्सुक्येनात्र समागता  
 इति शेषः । हे 'हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्राः' (प्रासादमारूढा  
 राजबालका इव पर्वतेषु शुभ्राः) सञ्चरन्तीति शेषः । 'वत्सासो  
 न प्रक्रीडिनः' (यथा अत्यन्तबालवत्साः शीघ्रमितिस्ततः पलायमानाः  
 प्रकर्षेण क्रीडन्ति, तथा अत्र सञ्चरन्तः क्रीडापराः), 'पयोधाः'  
 (मेघानुत्पाद्य जलधारिणः) ।

तच्चैव विकल्पितामन्यां पुरोऽनुवाक्यामाह,—'प्रेषामज्मेषु  
 विचुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे । ते क्रीडयो  
 धुनयो भ्राजदृष्टयः स्वयं महिलं पनयन्त धूतयः<sup>(१४)</sup> इति ।  
 'एषां' (मरुतां) 'अज्मेषु' (गमनेषु) 'भूमिः' प्रकर्षेण 'रेजते'  
 (कम्पते), भृशं भृक्कम्पजनकानि मरुतां गमनार्थेनैत्यर्थः । तत्र  
 दृष्टान्तः,—'विचुरेव' (यथा भर्तृरहिता घोषित्पालकाभावाद-  
 त्यन्तं कम्पते तद्वत्) । यद्वा येभिर्मरुतः\* 'यामेषु' (जलस्य  
 नियामकेषु मेघेषु) 'युञ्जते' (जलं योजयन्ति), 'ते' (मरुतः)  
 'महिलं' (स्वकीयं महिमानं) 'स्वयं' 'पनयन्त' (स्वयमेव व्यव-  
 हरन्ति सुवन्ति वा) । कीदृशास्ते?—'क्रीडयः' (क्रीडापराः),

येऽमी मरुतः इत्येव पाठो भवितुं युक्तः

‘धुनयः’ (कम्पयुक्ताः सर्वदा बलवन्त इत्यर्थः), ‘भ्राजदृष्टयः’ (भ्राजो दीप्तिर्विद्युद्रूपा येषां ते भ्राजदृष्टयः), ‘धूतयः’ (शून्या कम्पहेतवः) ।

• तत्रैव विकल्पितामन्यां व्याख्यामाह,—“उपहरेषु यदचिध्वं ययिं वयः इव मरुतः केनचित् पथा । स्योतन्ति कोशा उप वो रथेष्व्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते<sup>(१५)</sup>” इति । हे ‘मरुतः’, ‘यत्’ (यदा) वयं ‘केनचित् पथा’ (केनापि मार्गेण) ‘उपहरेषु’ (उपेत्य अर्तव्येषु ताडनीयेषु मेघेषु) ‘ययिम्’ ‘अचिध्वं’ (गतिं सम्पादितवन्तः), ‘यथा जलपूर्णमेघमास्फालयन्ति भवन्त इत्यर्थः । तदानीं ‘कोशाः’ (धनपूर्णगृहसदृशाः जलपूर्णमेघाः\*) ‘वः’ (युष्माकं) ‘रथेषु’ ‘उप’ (समीपम्) आगतेषु सत्सु ‘स्योतन्ति’ (स्वावयन्ति) । यूयमपि ‘अर्चते’ (यजमानाय) ‘मधुवर्णं’ (मधुररसोपेतं) ‘घृतं’ (घृतसमानमुदकम्) ‘आ’ (समन्तात्) ‘श्चक्षत’ (सिञ्चत) ।

अथ तत्रैव स्निष्टकृतः पुरोऽनुवाक्यामाह,—“अग्निमग्निं हव्रीमभिः सदा हवन्त विश्पतिं । हव्यवाहं पुरप्रियम्<sup>(१६)</sup>” इति ‘अग्निमग्निं’ (तत्तद्यागगतस्निष्टकृतं) ‘हवीमभिः’ (आ-क्कानपरैः) ‘सदा हवन्त’ (सर्वदा यजमाना आह्वयन्ति) । कीदृशमग्निं ?—‘विश्वतिं’ (प्रजानां पालकं), ‘हव्यवाहं’ (देवान् प्रति हविषो वोढारं), ‘पुरप्रियं’ (पुरूषां बहूनां यजमानानां प्रीतिहेतुम्) ।

\* मेघ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

तच्चैव याज्यामाह,—“तः हि शश्वन् ईदते सुचा देवं घृत-  
सुता । अग्निः हव्याय वोढवे(१०)” इति । ‘शश्वन्ः’ (निरन्तर-  
मनुविष्टन्ः) अत्विजः ‘घृतसुता’ (घृतं रचता) ‘सुचा’ युक्ताः ‘तं’  
‘अग्निं’ ‘देवम्’ ‘ईदते’ (सुवते) । किमर्थः?—‘हव्याय वोढवे’  
(हविर्वोढुम्) ।

अथ यान्यन्यानि चोणि हवींष्याद्यातानि, ‘ऐन्द्राग्नमेका-  
दशकपालमैन्द्रं चरं वैश्वकर्मणमेककपालम्’ इति । तत्रैन्द्राग्नस्य  
याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“इन्द्राग्नी रोचना दिवः  
अथदृचम्(१८-१९)” इति । ‘इन्द्राग्नी रोचना दिवः’ इति  
पुरोऽनुवाक्या । ‘अथदृचम्’ इति याज्या । एतच्चोभयं पूर्व-  
प्रपाठकस्थान्यानुवाके व्याख्यातम् ।

अथैन्द्रस्य याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“इन्द्रं वो  
विश्वतस्सरीन्द्रं नरः(१०-११)” इति । ‘इन्द्रं वो विश्वतस्सरी’  
इति पुरोऽनुवाक्या ; ‘इन्द्रं नरः’ इति याज्या । एतच्चोभयम्  
‘इन्द्रं वो विश्वतस्सरी हवामहे\*जनेभ्यः’ (१।६।१२अ०) इत्यनु-  
वाके व्याख्यातम् ।

• अथ वैश्वकर्मणस्य याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—  
“विश्वकर्मन् हविषा वावृधानो विश्वकर्मन् हविषा वद्धनेन(११-१२)”  
इति । तत्र ‘विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः’ इति पुरोऽनुवाक्या,  
‘विश्वकर्मन् हविषा वद्धनेन’ इति याज्या । एतच्चोभयं ‘इमा\*  
विश्वा भुवनानि जुह्वत’ इत्यनुवाके (४।६।१२अ०) व्याख्यास्यते ॥

\* अत्र ‘य इमा’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ विनियोगसंग्रहः—

अथ याज्ण सांकेतार्थेऽन्यनीक इति यागके ।

आज्यभागानुवाक्ये द्वे अग्निर्वृत्तेति वर्णिते ॥

भद्रा, तिस्रः प्रधाने स्युः, स्वस्ति, स्विष्टकृति इयम् ।

अग्निं, सान्तपनीयाज्यभागयोर्द्वे, प्रधानके ॥

सान्तेति तिस्रः, पिप्रौहि, इयं स्विष्टकृतोरितम् ।

अग्निना, गृहमेधीये द्वे स्नातामाज्यभागयोः ॥

गृह, प्रधाने तिस्रः स्युरप, स्विष्टकृति इयम् ।

क्रीडं, चतुष्टयं क्रीडे, क्रीयाग्निं वमिति\* इयम् ॥

संयाज्ये स्नामथेन्द्राग्नी, अथचैन्द्राग्नयागके ।

इन्द्रमग्निं चैन्द्रयागे, विश्व, द्वे वैश्वकर्मणि ॥

चयत्तिंशदृचः प्रोक्ता अनुवाक इहान्तिमे ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थांस्तुरो देयादिद्यातोर्थमद्वेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-

संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयप्रपाठके चण्डोदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्क-  
भूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये  
वेदार्थप्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे तृतीयः  
प्रपाठकः सम्पूर्णः ॥ ० ॥

\* अथ “वमिति” इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अथ “इन्द्रमिन्द्रं” इति पाठो भवितुं युक्तः ।



श्रीगणेशाय नमः ।

अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।



र॒श्मिर॑सि क्ष॒याय॑ त्वा क्ष॒यं जि॒न्व॒ प्रेति॑रसि ध॒र्माय॑  
त्वा ध॒र्मं जि॒न्वा॒न्वि॒तिर॑सि दि॒वे त्वा दि॒वं जि॒न्व  
स॒न्धिर॑स्यन्त॒रिक्षा॑य त्वा॒न्त॒रि॒क्षं जि॒न्व प्र॑ति॒धिर॑सि  
पृथि॒व्यै त्वा पृथि॒वीं जि॒न्व विष्ट॑म्भोऽसि वृ॒ष्ट्यै त्वा वृ॒ष्टिं  
जि॒न्व प्र॒वास्य॑हे त्वा॒हं जि॒न्व<sup>(१-७)</sup> अ॒नुवा॑सि रा॒त्रियै॑ त्वा  
रा॒त्रिं जि॒न्वो॒शि॒ग॑सि ॥ १ ॥

वसु॑भ्यस्त्वा व॒सूँ जि॒न्व प्र॑के॒तोऽसि॑ रु॒द्रेभ्य॑स्त्वा रु॒द्रां  
जि॒न्व सु॑दी॒तिर॑स्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वाऽऽदि॒त्यां जि॒न्वो॒जाऽसि॑  
पि॒त॒रेभ्य॑स्त्वा पि॒त॒रं जि॒न्व त॑न्त॒रसि॑ प्र॒जाभ्य॑स्त्वा प्र॒जा  
जि॒न्व पृ॒त॒न॒म॒षा॒द॑सि प॒शुभ्य॑स्त्वा प॒शूँ जि॒न्व<sup>(८-१४)</sup> रे॒व॒-  
द॒स्योष॑धीभ्य॒स्त्वोष॑धीर्जि॒न्वाभि॑जि॒द॑सि यु॒क्त॒ग्रा॒वेन्द्रा॑य  
त्वेन्द्रं॑ जि॒न्वाधि॑पतिरसि प्रा॒णाय॑ ॥ २ ॥

त्वा, प्राणं जिन्व यन्तास्यपानायं त्वापानं जिन्व  
 स॒सर्पोऽसि च॑क्षुषे त्वा चक्षुर्जिन्व वयोधा असि  
 ओ॒चाय त्वा ओ॒त्रं जिन्व चि॒वद॑सि<sup>(१५-१९)</sup> प्र॒वद॑सि  
 स॒वद॑सि वि॒वद॑सि स॒रो॒होऽसि नो॒रो॒होऽसि प्र॒रो॒-  
 होऽस्य॑ न॒रो॒होऽसि<sup>(१९ २०)</sup> वसु॒कोऽसि वे॒षश्चि॒रमि॑ वस्य-  
 ष्चि॒रसि<sup>(२०-२१)</sup> ॥ ३ ॥

उ॒शि॒गसि॑ । प्रा॒णाय॑ । चि॒च॒त्वारि॑श॒च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
 प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमङ्गेश्वरम् ॥

प्रपाठके द्वितीये हि चितयः पञ्च वर्णिताः ।

चतुर्थे पञ्चमचितेः शेषः सर्वो विधीयते ॥

तत्र प्रथमानुवाके स्तोमभागा उच्यन्ते । कल्पः, 'रश्मिरसि  
 क्षयाय त्वा क्षयं जिन्वेति स्तोमभागाः सप्त सप्त प्रविदिशमवशिष्टा  
 मध्ये' इति । तत्र पूर्वस्थां दिशुपधेयानामिष्टकानां सप्त मन्त्रा-  
 नाह,—“रश्मिरसि क्षयाय त्वा क्षयं जिन्व<sup>(१)</sup> प्रेतिरसि धूर्साय त्वा

धर्मे, जिन्व<sup>(१)</sup> अन्वितिरसि दिवे त्वा दिवं जिन्व<sup>(२)</sup> सन्धिरस्यन्त-  
रिचाय त्वाऽन्तरिचं जिन्व<sup>(३)</sup> प्रतिधिरसि पृथिव्यै त्वा पृथिवीं  
जिन्व<sup>(४)</sup> विष्टभोऽसि वृष्यै त्वा वृष्टिं जिन्व<sup>(५)</sup> प्रवास्यन्ते त्वाऽ-  
र्जिन्व<sup>(६)</sup>” इति । हे इष्टके, त्वमादित्यरश्मिरूपासि । अतः  
‘क्षयाय’ (निवाससिद्धयर्थे) त्वाम् उपदधामि, त्वं च अस्माकं  
‘क्षयं’ (निवासं) ‘जिन्व’ (प्रीणय, ‘सम्पादयेत्यर्थः) । एवं सर्वत्र  
योजनीयं । प्रकृष्टा गतिर्यस्याः सा ‘प्रेतिः’ । ‘धर्मः’ विहित-  
कर्मानुष्ठानं । अनुकूला गतिर्यस्यासौ ‘अन्वितिः’ । द्यौः स्वर्गः ।  
द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्त्तिदेशः ‘सन्धिः’ । ‘अन्तरिचं’ गन्धर्वादिलोक-  
भागः, अन्तरिक्षशब्देन भूलोकभाग उपलक्ष्यते । \* विशेषेण  
स्तम्भते जलमत्र वार्यते इति ‘विष्टभः’ मेघः । प्रथमं वाति  
गच्छति, प्रवर्त्तत इत्युषःकालः । उषा हि सूर्योदयात् पूर्वं  
प्रवर्त्तते, अतोषासिद्धयर्थं† त्वाम् उपदधामि ।

अथ दक्षिणस्यां दिक्षुपधेयानामिष्टकानां सप्त मन्त्रानाह,—  
“अनुवाऽसि रात्र्यै त्वा रात्रिं जिन्व<sup>(७)</sup> उग्निगसि वसुभ्यस्त्वा  
वसुं जिन्व<sup>(८)</sup> प्रकोतैःऽसि रुद्रेभ्यस्त्वा रुद्रां जिन्व<sup>(९)</sup> सुदोति-  
रस्यादित्येभ्यस्त्वादित्यां जिन्व<sup>(१०)</sup> ओजोऽसि पितृभ्यस्त्वा पितॄं  
जिन्व<sup>(११)</sup> तन्तुरसि प्रजाभ्यस्त्वा प्रजा जिन्व<sup>(१२)</sup> पृतनाषाडसि  
पशूभ्यस्त्वा पशून् जिन्व<sup>(१३)</sup>” इति । ‘अनु’ सूर्यास्तमंयात् पश्चाद्  
वाति अस्ति प्रयातोति ‘अनुवा’ सायंसन्ध्या । ‘उग्निगसि’

\* अत्र प्रतिधिशब्दार्थप्रकाशकोऽंशः पतित इव प्रतिभाति ।

† अत्र ‘अत उषासिद्धयर्थम्’ इति पाठो भवितुं युक्तः । ..

(काम्यमानासि), अतः 'वसुभ्यः' (वसुनां प्रीत्यर्थं) त्वाम् उप-  
दधामि, त्वं 'वसू' 'जिम्ब' (प्रीणय) । एवमुत्तरत्र योज्यं ।  
प्रकृष्टः केतः प्रकेतः, रुद्राणां यः 'प्रकेतः', तद्रूपा त्वम् 'असि' ।  
ज्ञोभना दितिर्दीप्तिः\* 'सुदीतिः', सा त्वम् 'असि' । 'ओजः'  
बलं, पितृणां यद्वलमनुग्रहसमर्थं तद्रूपा त्वम् 'असि' । 'तन्तुः'  
पुत्रपौत्रादिसान्त्वयं । स्वकीयान् गवादिपशून् अपहर्तुम् आगता  
या परकीयसेना सा पृतना, तां सहते अभिभवतीति  
'पृतनाषाट्' ।

अथ पश्चिमीयां दिग्बुधेयानामिष्टकानां सप्त मन्त्रानाह,—  
“रेवदस्योषधीभ्यस्त्वौषधीर्जिन्व<sup>(१५)</sup>, अभिजिदसि युक्तयावेन्द्राय  
लेन्द्रं जिन्व<sup>(१६)</sup>; अधिपतिरसि प्राणाय त्वा प्राणं जिन्व<sup>(१७)</sup>,  
यन्तास्यपानाय त्वापानं जिन्व<sup>(१८)</sup>, संसर्पोऽसि चक्षुषे त्वा  
चक्षुर्जिन्व<sup>(१९)</sup>; वयोधा असि ओत्राय त्वा ओत्रं जिन्व<sup>(२०)</sup>,  
त्रिवृदसि<sup>(२१)</sup>” इति । रा अस्मास्तीति 'रेवत्' ओषधिसाध्यं  
यद्वनं तद्वत् जीवनं, तद्रूपा त्वम् 'असि' । अभितो जयसि शत्रून्  
अभिभवसीति 'अभिजित्' । पाषाणषट्शो वैअमिव 'युक्तः' (हस्ते  
खीकृतः) 'यावा' यस्यासौ 'युक्तयावा' । 'इन्द्रः' चक्षुरादोन्द्रिया-  
स्यधिष्ठाय पालयिता । यः आसंरूपो वायुः स 'अधिपतिः',  
तद्रूपा त्वम् 'असि' । बहिर्निर्गतवतः आसिस्व पुनरप्यन्तःप्रवेशाय  
नियामकौ यो वायुविशेषः स 'यन्ता', तद्रूपा त्वम् 'असि' ।  
सस्यक् सर्पयति बलेनेति 'संसर्पो' अहो धनदृष्टिप्रसारण्या धनम्

\* 'असि दीतिर्दीप्तिरिति पाठो भवितुं युक्तः ।

अवति एवं मामवतुं धने दृष्टिं प्रसारय\* । 'वयः' पक्षी तदत्  
 दधातीति 'वयोधाः' पक्षी, तत्र तथ गत्वा स्वकार्यं साधयति,  
 तथा ओत्तेन्द्रियशक्तिः तत्रां शब्दं प्राप्य निश्चिनोति, तच्छक्तिरूपा  
 त्वम् 'असि' । तिस्रः 'आवृतः' (अवयवविशेषाः) यस्य मिथुनी-  
 भावस्य सोऽयं 'चिवृत्',—पुमान् योषित् सङ्गस्येत्यवयवत्रयं, तथा-  
 विधमिथुनीभावरूपा त्वम् 'असि' ।

अथोदीच्यां दिशि उपधेयानामिष्टकानां सप्त मत्वानाह,—  
 "प्रवृदसि(११), संवृदसि(१२), विवृदसि(१३), सःरोहोऽसि(१४),  
 नोरोहोऽसि(१५), प्ररोहोऽसि(१६), अनरोहोऽसि(१७)" इति ।  
 स्त्रीपुरुषयोः संसर्गानन्तरभाविनी या प्रवृत्तिः सा 'प्रवृत्', तद्रूपा  
 त्वम् 'असि' । प्रवृत्त्यनन्तरभावी यः सम्यग्व्यापारः सोऽयं 'संवृत्',  
 तद्रूपा त्वम् 'असि' । सङ्घापागादूर्द्ध्वं या निवृत्तिः सा 'विवृत्',  
 तद्रूपा त्वम् 'असि' । सम्भोगादूर्द्ध्वं वीजस्य क्षेत्रे यः समारोपः  
 सोऽयं 'संरोहः', तद्रूपा त्वम् 'असि' । क्षेत्रे चित्रस्य वीजस्य  
 निःक्षेपेण गर्भाशयव्याप्तिः 'नोरोहः', तद्रूपा त्वम् 'असि' । गर्भा-  
 शये व्याप्तस्य शरीराकारः परिणामः 'प्ररोहः', तद्रूपा त्वम् 'असि' ।  
 तस्य च परिणतस्य शरीरस्थानुकूलः पुत्रादिरूपेण प्रादुर्भावः  
 'अनरोहः', तद्रूपा त्वम् 'असि' ।

\* अत्र 'अहो' इत्यत्र अहिरिति एवं 'मामवतुं' इत्यत्र मामवितु-  
 मिति पाठो नवितुं युक्तः । सम्यक् सूर्ययति बलेनानिवाहोति अनु-  
 मां वति धनदृष्टिप्रसारणाय दृष्टि इति का० ह० पु० एवं B. पु०  
 पाठः ।

† तद्वत् धावतीति आदर्शपु० पाठः ।

‡ तत्तत् इति आदर्शपु० पाठः ।

अथ, मध्यदेशे उपधेयानामिष्टकाणां जीन् मन्त्रानाह—  
 ‘वसुकोऽसि(१८), वेवञ्जिरसि(१९), वस्यष्टिरसि(२०)’ इति । ‘वसु’  
 (धनम्) अस्यास्तीति ‘वसुकः’ (धनीपुत्रः\*) तद्रूपा त्वम् ‘असि’ ।  
 ‘वेवञ्जिः’ व्याप्तं धनं, वेवञ्जं अयति सेवत इति ‘वेवञ्जिः’ (प्राप्तस्याभिवृद्धि-  
 कारीत्यर्थः), तद्रूपा त्वम् ‘असि’ । ‘वसुनः’ (अभिवृद्धस्य धनस्य)  
 ‘अष्टिः’ (भोजनं) यस्यामौ ‘वस्यष्टिः’† (धनं सम्पाद्य तदभिवृद्धिश्च  
 कृत्वा तयाऽभिवृद्ध्या जीवतोत्यर्थः), तद्रूपा त्वम् ‘असि’ ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“यज्ञेन वै प्रजापतिः प्रजा  
 असृजत ता स्तोमभागैरेवासृजत यत्स्तोमभागा उपदधाति प्रजा  
 एव तद् यजमानः सृजते” (५।३।६ अ०) इति । ‘प्रजापतिः’  
 यदा ‘यज्ञेन’ ‘प्रजा’ ‘असृजत’, तदानीं यज्ञमध्यवर्तिनः स्तोम-  
 भागमन्त्रा एव वृद्धिहेतवः, त्रिवृदादिस्तोमयुक्तानि यानि  
 वृद्धिष्यमानादिस्रोत्राणि, तानि भजन्ते इति । रश्मिरित्यादयो  
 मन्त्रा स्तोमभागाः । ब्रह्मा तु स्तोत्राण्यभ्यनुज्ञातो रश्मिरित्या-  
 दिकंमेकैकं मन्त्रमुच्चार्य अभ्यनुज्ञानाति । एतच्च अस्माभिः पूर्वम्  
 “सृषयो वा इन्द्रं प्रत्यजम्” (३।५।१) इत्यनुवाके स्पष्टमुक्तम् ।  
 अतो रश्मिरित्यादयो मन्त्राः स्तोमभागाः । तदुपधानेन ‘यज-  
 मानः’ ‘प्रजाः’ ‘सृजते’ ‘एव’ ।

ता एतां स्तोमभागाख्या दृष्ट्वा यज्ञप्रतिष्ठात्वेन च क्रमेण  
 प्रशंसति,—“वृद्धस्यतिर्वा एतद् यज्ञस्य तेजः समभरद् यत्स्तोम

\*. धनीपुत्रः किंवा धनी पुत्र इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† ब्रह्मरक्षाने यकारः कथमिति चिन्तनीयम् ।

भागा यत्सोमभागा उपदधाति सत्तेजसमेवाग्निं स्मृते, वृह-  
त्यतिर्वा एतां यज्ञस्य प्रतिष्ठामपश्यन् यत्सोमभागा यत्सोम-  
भागा उपदधाति यज्ञस्य प्रतिष्ठित्यै” (५।३।६अ०) इति ।

सामान्येन विहितं पुनर्विशेषाकारेण प्रशंसति,—“सप्त सप्तोप-  
दधाति सवोर्यत्वाय तिस्रो मध्ये प्रतिष्ठित्यै” (५।३।६अ०)  
इति । एकैकस्यां दिशि सप्त सप्तोपधानेन सवोर्यत्वं\* दाक्ष्यं भवति ।  
‘मध्ये’ तिसृणामुपधानेन प्रतिष्ठास्यैर्यं भवति ।

प्रजापतिः सोमभागैरेव प्रजा असृजत इति सामान्यत उक्तं,  
तच्च कैः सोमभागैः किमसृजत ?—इति एकैकमिष्टकामन्त्रं विभजते  
—“रश्मिरित्येवादित्यमसृजत, प्रेतिरिति धर्मम्, अन्वितिरिति  
दिवः, सन्धिरित्यन्तरिक्षं, प्रतिधिरिति पृथिवीं, विष्टम्भ इति  
वृष्टिं, प्रवेत्यहः, अनुवेति रात्रिम्, उगिरिति वसुन्, प्रकेत इति  
वृद्धान्, सुदीतिरित्यादित्यान्, ओज इति पितृन्, तन्तुरिति  
प्रजाः, घृतनाषाङ्गिति पशून्, रेवदित्योषधीः” (५।३।६अ०)  
इति । अत्र रश्मिरित्यादयो मन्त्रास्तत्तत्सूत्रपदार्थसम्बन्धित्वेन  
पूर्वं व्याख्याताः । अतस्तीन-तेन मन्त्रेण तत्तत्पदार्थमसृजतेत्युपपन्नम् ।  
एवं पञ्चदशभिर्मन्त्रैः सृष्टिरभिहिता ।

अथ सृष्टस्य जगतो रक्षाहेतुत्वं षोडशमन्त्रस्य दर्शयति,—  
“अभिजिदसि युक्त्यावा इन्द्राय त्वेन्द्रं जिन्वेत्येव दक्षिणतो वज्रं  
पथोहदभिजित्यै” (५।३।६अ०) इति । अस्मिन् मन्त्रे वज्र एव  
सम्बोध्यते । हे वज्र, त्वं ‘अभिजित्’ (जयहेतुः†), ‘युक्त्यावा’

\* सवोर्यत्वं इति पाठो भवितु युक्तः ।

† सवोर्यस्मिन् युक्त्यै जयहेतु इति निर्विसर्गो पाठो न सम्बन्धिवान्भावः ।

(स्थापितपाषाण इव दृढः) । च 'असि' । अत इन्द्रप्रोत्यर्थं । तां पर्युहामि, तेन 'इन्द्र' प्रोणयं । इति मन्त्रार्थः । प्रजापतिरेतन्मन्त्र-मुच्चारयन् दक्षिणहस्तेन सृष्टस्य जगतः प्रेरितवान्, तेन बांधवः विनाशे सति सृष्ट्याऽभिजयोऽभूत् ।

याः सृष्टाः प्रजा वज्रेणाभिरङ्गितास्तासु शरीररूपासु प्रजासु मन्त्रचतुष्टयेन इन्द्रियस्थापनं दर्शयति,—“ताः प्रजा अप्राणां असृजत तास्वधिरसीत्येव प्राणमदधाद्, यन्तेत्यपानः, सः सर्प इति चक्षुः, वयोधा इति ओत्रम्” (५।३।६अ०) इति ।

एवमिन्द्रिययुक्तैः शरीरैर्व्यवहरन्तीषु प्रजासु मन्त्रचतुष्टयेन मिथुनीभावसम्पत्तिं दर्शयति,—“ताः प्रजाः प्राणतीरपानतीः पश्यन्तीः शृण्वतीर्न मिथुनी अभवन् तासु त्रिष्टदसीत्येव मिथुनमदधात्” (५।३।६अ०) इति ।

• मिथुनभूतासु प्रजासु मन्त्रचतुष्टयेन प्रजोत्पादनसामर्थ्यं दर्शयति,—“ताः प्रजा मिथुनीभवन्तीर्न प्राजायन्त ताः सः रोहोऽसि नोरोहोऽसीत्येव प्राजनयत्” (५।३।६अ०) इति ।

अपत्येभ्येतानां प्रजानां प्रतिष्ठा भवन्तीत्येतद्दर्शयति,—“ताः प्रजाः प्रजाता न प्रत्यतिष्ठन् ता वसुकोऽसि, वेषश्चिरसि, वस्यश्चिरसीत्येवेषु लोकेषु प्रत्यस्थापयद् यदाह वसुकोऽसि वेषश्चिरसि वस्यश्चिरसीति प्रजा एव प्रजाता एषु लोकेषु प्रतिष्ठापयति” (५।३।६अ०) इति ।

एतद्वेदेन प्रशंसति,—“सात्मान्तरिचः रोहति स प्राणोऽमुं श्लोके प्रतितिष्ठत्यर्धकः प्राणापानाभ्यां भवति यः एवं



वेदः' (५।२।६ अ०) इति । 'सात्मा' (सप्ररोरः) 'अन्नस्त्वि' गत्वा  
 यच्चमन्धर्वादिलोकेषु भोगान् भुङ्क्ते, स्वर्गलोकेऽपि प्राणप्ररोरयुक्त  
 एव 'प्रतिष्ठति', 'प्राणापानाभ्यां' कदाचिदपि न वियुक्तो  
 'भवति' ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

इष्टका रश्मिरित्येकत्रिंशत् स्तोमभागका । इति ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

राक्षसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्नि-  
 हेतीनां प्रतिधर्त्ता चिद्वत् त्वा स्तोमः पृथिव्याः  
 अयत्वाज्यमुख्यमव्यययत् स्तम्भातु रथन्तरः साम  
 प्रतिष्ठित्यै<sup>(१)</sup> विराडसि दक्षिणा दिगुद्रास्ते देवा अधि-  
 पतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः  
 पृथिव्याः अयत् प्रउगमुख्यमव्यययत् स्तम्भातु वृद्धत्  
 साम प्रतिष्ठित्यै<sup>(२)</sup> रुद्राडसि प्रतीची दिक् ॥ १ ॥

आदित्यस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रति-  
 धर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याः अयत् मरुत्वतीय-  
 मुख्यमव्यययत् स्तम्भातु वैरूपः साम प्रतिष्ठित्यै<sup>(३)</sup>

स्वराडस्युदीची दिक् विश्वे ते देवा अधिपतयो वरुणो  
हेतीनां प्रतिधर्तैकविंशत्त्वा स्तोमः पृथिव्याः अयतु  
निष्केवल्यमुक्थमव्यथयत् स्तम्भातु वैराजः सामं प्रति-  
ष्ठित्यै<sup>४)</sup> अधिपत्यसि वृहती दिङ् मरुतस्ते देवा अधि-  
पतयः ॥ २ ॥

वृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधत्ता चिणवचयांस्त्रिंश त्वा  
स्तौमौ पृथिव्याः अयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे  
अव्यथयन्ती स्तम्भोताः शाकररैवते सामनी प्रति-  
ष्ठित्यै<sup>५)</sup> अन्तरिक्षायर्षयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो  
माचया वरिणा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते  
त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे सुवर्गे लोके यज-  
मानश्च सदयन्तु<sup>(६)</sup> ॥ ३ ॥

प्रतीची दिक् । मरुतस्ते देवा अधिपतयः । चत्वा-  
रिंशच्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

प्रथमेऽनुवाके स्तोमभागाख्या इष्टका उक्ताः । 'अथ द्वितीये  
नाकसंदाख्या इष्टका अभिधीयन्ते । कल्पः, 'राक्षसि प्राची दिगिति  
पञ्च नाकसदः प्रतिदिग्भमेकां मध्ये' इति । पाठस्तु,—अत्र

प्रथमामाह,—“राज्ञसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयो-  
ऽग्निहेतीनां प्रतिधर्त्ता चितृत्वा सोमः पृथिव्याꣳ अथवाज्य-  
मुक्थमव्यथयत् स्तभ्नातु रथन्तरꣳ साम प्रतिष्ठित्यै(१)” इति ।  
हे इष्टके, त्वं ‘राज्ञी’ (राजमाना) ‘प्राची दिक्’, तद्रूपा त्वम्  
‘असि’ । ‘ते’ (तव) ‘वसवः’ अष्टसङ्ख्याका ‘अधिपतयः’ (अधिकं  
पालयितारः); ‘अग्निः’ तवोपद्रवकराणां ‘हेतीनां’ (परकीयायु-  
धानां) ‘प्रतिधर्त्ता’ (निराकर्त्ता); योऽयं चितृदाख्य-‘सोमः’, स  
त्वां ‘पृथिव्यां’ स्थापयतु । यत् ‘आज्यमुक्थम्’ (आज्यनामकं,  
‘प्र वो देवायाम्ये’ इत्यादिकं शस्त्रम् अवस्थितं, त्वाम् ‘अव्यथयत्’  
(व्यथारहितां कुर्वन्\*) ‘स्तभ्नातु’ (दृढीकरोतु) । यत् ‘रथन्तरं’  
‘साम’ तत्, ‘प्रतिष्ठित्यै’ (तव चिरावस्थानाय) भवतु । एवमुत्तरे-  
ष्वपि मन्त्रेषु योज्यम् ।

अथ द्वितीयं मन्त्रमाह,—“विराडसि दक्षिणा दिग्मुद्रास्ते  
देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा सोमः  
पृथिव्याꣳ अयतु प्र उगमुक्थमव्यथयत् स्तभ्नातु वृहत्साम प्रति-  
ष्ठित्यै(१)” इति । तत्तत्सम्बन्धिनस्त्रितृदादयांसोमास्तौ च “समिध-  
\* मातिष्ठ” (१।८।१२) इत्यत्रैव व्याख्याताः । “वायुरग्रे गा.”  
इत्यादिकं शस्त्रं ‘प्र उगम्’ ।

अथ तृतीयं मन्त्रमाह,—“सम्राडसि प्रतीची दिंगादित्यास्ते  
देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा सोमः

\* कुर्वन् इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† तत्तत्सम्बन्धिनस्त्रितृदादय इत्यंशः क्रा० ४० पुस्तके नास्ति ।

पृथिव्याः अयत्तु महत्त्वतीयमुख्यमव्यययत्तु स्तम्भात्तु वैरूपः साम प्रतिष्ठित्यै<sup>(१)</sup>” इति । “आ त्वा रथं यचोतयः” इत्यादिकं ‘महत्त्वतीयं’ शस्त्रम् ।

अथ चतुर्थं मन्त्रमाह,—“स्वराडस्यदीची दिक् विश्वे ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतोनां प्रतिधर्त्ता कविः शस्त्रा सोमः पृथिव्याः अयत्तु निष्कवल्गुमुख्यमव्यययत्तु स्तम्भात्तु वैराजः साम प्रतिष्ठित्यै<sup>(२)</sup>” इति । “अभि त्वा प्रूरो नानुम” इत्यादिकं ‘निष्कवल्गुम्’ ।

अथ पञ्चमं मन्त्रमाह,—“अधिपत्यसि वृहतो दिङ्महत्तसो देवा अधिपतयो वृहस्पतिर्हेतोनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिः श्रौ त्वा सोमौ पृथिव्याः अयत्तां वैश्वदेवाग्निमास्तु उक्थे अव्यययन्तो स्तम्भोताः शाङ्कररैवते सामनी प्रतिष्ठित्यै<sup>(३)</sup>” इति । अधिकं पालयित्री ‘अधिपत्नी’ । ‘वृहती दिक्’ (प्रौढा ऊर्द्धा दिक्) । “तत्सवितुर्वृष्णिमहे” इत्यादिकं शस्त्रं वैश्वदेवम् । “वैश्वानराय पृथुपाजस” इत्यादिकं शस्त्रम् अग्निमास्तम् ।

अथ सर्वेष्वपि मन्त्रेष्वनुषञ्जनीयं शेषमाह,—“अन्तरिक्षाय-  
र्षयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिणा प्रथन्तु विधर्त्ता  
चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे सुवर्गे लोके  
यजमानश्च सादयन्तु<sup>(४)</sup>” इति । ‘देवेषु’ मध्ये याः\* ‘प्रथमजा’  
‘ऋषयः’ (नारदाद्याः), अत एव स्मर्यन्ते, ‘देवर्षिर्नारदस्तथा’  
इति, ‘ते’ (महर्षयः) त्वां (दृष्ट्वा) ‘दिवो’ ‘मात्रया’ (आकाशस्य  
यत् परिमाणं, तेन परिमाणेन) ‘प्रथन्तु’ (विस्तारयन्तु) ।

\* ये इति पाठो भवितुं युक्तः ।

किमर्थं ? । अन्तरिक्षार्थे—अन्तरिक्षं व्याप्तमित्यर्थः । कीदृशेन प्रमाणेन ?—‘वरिणा’ (वरणीयेन) । न केवलमृषयः प्रयन्तु, किन्तु ‘विधर्त्ता चायमधिपतिश्च’ (योऽयमिष्टकानां निष्पादयिता यश्च पालकः) तार्वपि प्रयतां । तेन\* महर्षयः विधर्त्ता अधिपतिश्च ‘सर्वे’ ‘संविदानाः’ (परस्परमैकमत्यं प्राप्ताः) ‘नाकस्य’ ‘पृष्ठे’ (स्वर्गसदृशस्यास्य चेन्नस्योपरि) ‘त्वा’ ‘सादयन्तु’, ‘यर्जमानश्च’ ‘स्वर्गे’ ‘लोके’ ‘सादयन्तु’ ।

अत्र यान्युदाहृतानि शस्त्राणि तान्याश्रयायनो दर्शयति,—  
“प्र वो देवायेत्याज्यमुपसन्तनुयादिति । वायुरग्रे गा यज्ञप्रोरिति सप्तानां पुरोरुचां तस्यास्तस्याः उपरिष्ठान्तृचस्तृचं शंसेद्वायवा-  
याहि दर्शतेति सप्तत्वा द्वितीयां, प्र उगे त्रिः इति । मरुत्वतीयं शस्त्रं शंसेत् अध्वर्यो गौ सावोमिति माध्यन्दिने शस्त्रादिष्विहाव  
आ त्वा रथं यथोतय इदं वसो सुतमंध इति मरुत्वतीयस्य प्रतिपदनुचराविति । निष्केवल्यस्याभि त्वा शूर नो नुमोऽभि त्वा पूर्वपीतय इति प्रगाथौ सोत्रियानुरूपा यदि रथन्तरपृष्ठमिति । तत्सवितुर्वृणोमहे द्याने देवसवितरिति वैश्वदेवस्य प्रतिपदनुचरावि-  
ति । स्वभ्यग्रमाग्निमारुतं तस्यां पच्छः ऋगावानं पच्छः शस्याश्चेदर्धर्चश्च इतरां सन्तानमुत्तमेनां वचनेन वैश्वानराय पृथुपाजसे” इति ।

राज्यसीत्यादिभिर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“नाकसद्भि-  
र्वै देवाः सुवर्गे लोकमायन्तं नाकसदां नाकसत्त्वं यत् नाकसद

\* ‘ते’ च इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† उत्तमे ये इति ह० पु० पाठः ।

उपदधाति नाकसद्भिरेव तद्यजमानः सुवर्गे लोकमेति” (पू।३।  
७अ०) इति । ‘नाकः’ (स्वर्ग) सद्यते प्राप्यते यैर्मन्त्रैर्नाकः\* ते  
‘नाकसदः’, तथा च मन्त्रलिङ्गं ‘नाकस्य पृष्ठे सुवर्गे लोकं यजमानश्च  
सादयन्तु’ इति, तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपि ‘नाकसदः’ । यस्मात्  
ताभिः ‘देवाः’ स्वर्गे गताः, तस्मात् ‘नाकसत्’ इति नाम सम्यक्,  
तदुपधानेन यजमानः स्वर्गं लोकं प्राप्नोति ।

दुःखनिवारकत्वेन तदुपधानं प्रशंसति,—“सुवर्गो वै लोको  
नाको यस्यैता उपधीयन्ते नाम्ना अकं भवति” (पू।३।७अ०)  
इति । ‘कं’ सुखं ‘अकं’ दुःखं, न विद्यते तद्दुःखं यत्र सोऽयं  
‘नाकः’, स्वर्गश्च तादृशः । ततो नाकसदामुपधाने यजमानस्य  
दुःखं न भवति ।

पुनरपि स्थानमन्यादकत्वेन प्रशंसति,—“यजमानायतनं वै  
नाकसदो यन्नाकसद उपदधात्यायतनमेव तद्यजमानः कुरुते”  
(पू।३।७अ०) इति ।

\* पृष्ठस्रोत्रसम्बन्धितेजोरूपत्वेन पुनः प्रशंसति,—“पृष्ठानां वा  
एतत्तेजः समृतं यन्नाकसदो यन्नाकसद उपदधाति पृष्ठानामेव  
तेजोऽवहन्ते” (पू।३।७अ०) इति ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

राक्षी, —नाकसदः पञ्च, सर्वशेषोऽन्तरित्ययम् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

\* अत्र ‘नाकः’ इति शब्दः अधिक इव प्रतिभाति ।

† ‘राक्षी’,—इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अयं पुरो हरिकेशः स्वर्गरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च  
 रथौजाश्च सेनानिग्रामण्यौ पुञ्जिकस्थला च द्रुतस्थला  
 चाप्सरसौ यातुधाना हेतो रक्षांसि प्रहेतिः<sup>(१)</sup> अयं  
 दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेच्चिचश्च  
 सेनानिग्रामण्यौ मेनका च सहजन्था चाप्सरसौ  
 दक्षणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिः<sup>(२)</sup> अयं  
 पश्चाद्विश्वव्यास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानिग्रा-  
 मण्यौ प्रभोचन्ती च ॥ १ ॥

अनुभोचन्ती चाप्सरसौ सर्पा हेतिव्याघ्राः प्रहेतिः<sup>(३)</sup>  
 अयमुत्तरात् संयदसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानि-  
 ग्रामण्यौ विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेति-  
 र्वातः प्रहेतिः<sup>(४)</sup> अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्ट-  
 नेमिश्च सेनानिग्रामण्यावुर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ  
 विद्युद्देतिरवस्फूर्जन् प्रहेतिः<sup>(५)</sup> तेभ्यो नमस्ते नमो  
 मृडयन्तु ते यं ॥ २ ॥

द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तं वो जंभे दधामि<sup>(६)</sup> आयेत्त्वा  
 सद्ने सादयाम्यन्नतश्चायायां नमः समुद्राय नमः  
 समुद्रस्य ब्रह्मसे<sup>(७)</sup> परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे  
 व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं विभूमतीं प्रभूमतीं परिभूमतीं

दिवं यच्छ दिवं दृष्टुं दिवं मा हिंसीर्विश्वस्मै प्राणा-  
यापानाय व्यानायेदनाय प्रतिष्ठायै चरित्राय सूर्य-  
स्त्वाभिपातु मङ्गम स्वस्त्या, च्छर्दिषा शन्तमेन तया  
देवतयाऽङ्गिरस्वद्भुवा सीद<sup>(१)</sup> । प्रोयदश्चो न यवसे  
अविष्यन् यदा महः सवरणाद् व्यस्थात् । आदस्य  
वातो अनु वाति शोचिरधस्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति<sup>(२)</sup> ॥  
॥ ३ ॥

प्रश्नोचन्ती च । यः । स्वस्त्या । अष्टाविंशतिश्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थ-  
प्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

द्वितीयेऽनुवाके नाकसदाख्या इष्टका उक्ताः । अथ तृतीये  
चोडाख्या इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'तासु पुरीषमधूह्य, 'अयं पुरः'  
इति पञ्चचोडा अभ्युपदधाति, द्वेयं मनसा ध्यायन् पश्चात्  
प्राचीमुत्तमाम्' इति । तत्र प्रथममाह,—“अयं पुरो हरिकेशः  
सूर्यरश्मिस्तस्य रथगत्सस्य रथौजस्य सेनानियामणौ पुञ्जिक-  
स्तला च कृतस्तला चाप्सरसौ यातुधानां हेती रक्षांसि प्र-  
हेतिः<sup>(१)</sup>” इति । 'अयम्' (अग्निः) 'पुरः' (पूर्वस्थां दिशि)  
'हरिकेशः' (हिरण्यवर्णकेशसमानी ज्वाला यस्यासौ हरिकेशः),  
'तस्य' (तादृशस्याग्नेः) परिचारकौ द्वौ 'सेनानि—यामणौ,—



एकः, सेनां परराज्येषु नयति, अपरः स्वराज्ये ग्रामं नयति । तत्र 'रथगृत्सः' इति सेनान्यो नामधेयं । गृत्सो गर्धवान्\*, यस्य रथे महती तृष्णा सोऽयं 'रथगृत्सः' । 'रथौजाः' इति ग्रामण्यो नामधेयम् । ओजा बलं, यस्य रथारोहणे बलाधिक्यं, स 'रथौजाः' । यथैतो मुखौ परिचारकौ, तथा द्वे 'अप्सरसौ' परिचारिके, तत्र 'पुञ्जिकस्थला' इत्येकस्या नामधेयं, 'कृतस्थला' इत्यपरस्या नामधेयं । 'यातुधाना' 'रक्षांसि' 'च' इत्यवान्तरजातिभेदोऽवगन्तव्यः । 'हेति—प्रहेती' अथायुधविशेषौ,—तत्र यातुधाना क्रूरास्तीक्ष्णहेतिस्वरूपाः; 'रक्षांसि' अतिक्रूराः तीक्ष्णप्रहेतिस्वरूपाणि । यस्याग्नेरिदं सर्वं, हे इष्टके, तदग्निस्वरूपाऽसीत्यभिप्रायः । एवं सर्वत्र योज्यम् ।

अथ द्वितीयं मन्त्रमाह,—“अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानिग्रामण्यौ मेनका च सङ्गजन्त्या चाप्सरसौ दक्षिणवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिः<sup>(१)</sup>” इति । विश्वानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि यस्याग्नेः, सोऽयं 'विश्वकर्मा' दक्षिणस्यां दिशि स्थितः । 'तस्य' 'रथस्वनः' 'सेनानीः' । 'रथेचित्रः' 'ग्रामण्यौः' । 'मेनका' इति 'सङ्गजन्त्या' इति चाप्सरसोः नामधेय । 'दक्षिणवः' (दंशनशीला व्याघ्रादयः) 'हेतिः' । सङ्ग्रामेषु पुरुषसम्बन्धी यो 'वधः' स 'प्रहेतिः' ।

अथ तृतीयमाह,—“अयं पश्चादिश्वथचास्तस्य रथप्रोतस्यासमरथश्च सेनानिग्रामण्यौ प्रक्षोचन्ती चानुक्षोचन्ती चाप्सरसौ

सर्पा हेतिर्याघ्राः प्रहेतिः<sup>(९)</sup> इति । विश्वं व्यचति प्राप्नोतीति  
‘विश्वव्यचाः’ । सर्वमन्यत् पूर्ववद्वाख्येयम् ।

अथ चतुर्थं मन्त्रमाह,—“अयमुत्तरात् संयदसुस्तस्य सेनंजिह्व-  
सुषेणश्च सेनानिग्रामण्यौ विश्वाचो च घृताचो चाप्सरसावापो  
हेतिर्वातः प्रहेतिः<sup>(१०)</sup>” इति । ‘संयत्’ (प्राप्तं) ‘वसु’ (धनं) यस्याग्नेः,  
सोऽयं ‘संयदसुः’, सोऽग्निः ‘उत्तरात्’ (उत्तरस्यां दिशि) वर्तते ।  
शेषं पूर्ववत् ।

अथ पञ्चमं मन्त्रमाह,—“अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य तार्क्ष्या-  
रिष्टनेमिश्च सेनानिग्रामण्यावुर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसो विद्यु-  
द्धेतिरवस्फूर्जन् प्रहेतिः<sup>(११)</sup>” इति । ‘अर्वाग्वसुः’ (अधोमुखत्वेन)  
‘वसुनो’ (मेघान्तं) भूमौ पतनात् वैद्युतोऽग्निस्तथोच्यते, स च  
‘उपरि’ (ऊर्द्धायां दिशि) प्रवर्तते । भयहेतुः प्रकाशा (?) ‘विद्युत्’ ।  
भारको अग्निः ‘अवस्फूर्जन्’ ।

एतेषु पञ्चस्वपि मन्त्रेष्वनुषङ्गनीयं शेषमाह,—“तेभ्यो नमस्ते  
नो मृडयन्तु ते यं दिभ्यो यश्च नो देष्टि तं वो जम्भे दधामि<sup>(१२)</sup>”  
इति । योऽयमग्निः, यो च ‘सेनानिग्रामण्यौ’, यो च ‘अप्सरसो’  
यो च ‘हेतिप्रहेती’, ‘तेभ्यः’ सर्वेभ्यः ‘नमः’ अस्तु ‘ते’ सर्वे ‘नः’  
(अस्मान्) ‘मृडयन्तु’ (सुखयन्ति\*) । ‘यं’ वैरिणं ‘ते’ वयं  
‘दिभ्यः’, ‘यश्च’ वैरी ‘नः’ (अस्मान्) ‘देष्टि’, ‘तं’ वैरिणं  
युष्माभिरनुगृहीतोऽहं ‘वः’ (युष्माकं) ‘जम्भे’ (विदारितास्ये)  
‘दधामि’ (स्थापयामि) ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“पञ्चचोडा उपदधाति  
अप्सरस एवैनमेता भूता अमुञ्चिलोक उपशेरतेऽथो तनूपानोरेवैता  
यजमानस्य” (५।३।७अ०) इति । ‘गृह संवरणे’ इत्यस्मादातो-  
इत्यन्वस्योडाशब्दः; नाकसदामुपरि च्छिद्रावरणार्थत्वात् ‘चोडाः’  
इत्युच्यन्ते । पञ्चसङ्ख्याकास्योडाः ‘पञ्चचोडाः’; तासामुपधाने  
सति ‘एता’ इष्टकाः ‘अप्सरसः’ ‘एव’ ‘भूताः’ स्वर्गलोके ‘एन’  
(यजमानम्) ‘उपशेरते’ । अपि च ‘एता’ ‘अप्सरसः’ ‘यजमानस्य’  
‘तनूपानोरेव’ (शरीरपालनपरा एव) ।

उपधानकाले ध्यानविशेषं विधत्ते,—“यं द्विद्यान्तनुपदधद्  
ध्यायेदेताभ्य एवैनं देवताभ्य आवृञ्चति ताजगार्त्तिमार्च्छति” (५।  
३।७अ०) इति । अयं यजमानः, ‘यं’ पुरुषं ‘द्विद्यात्’ ‘तं’ (द्विष्यम्)  
अध्वर्युरुपधानं कुर्वन् ‘ध्यायेत्’ । तेन ध्यानेन ‘एताभ्यः’ ‘एव’  
(अग्निसेनान्यादिभ्यः) ‘देवताभ्यः’ ‘एन’ द्वयम् ‘आवृञ्चति’ (सर्वतो  
विच्छिन्नं करोति) ‘ताजक् आर्त्तिमार्च्छति’ (तदानोमेव मरणं  
प्राप्नोति) ।

नाकसदामुपरि पञ्चचोडाधानं विधत्ते,—“उत्तरा नाकसद्वा  
उपदधाति यथा जायामानीय गृहेषु निषादयति तादृगेत्र तत्”  
(५।३।७अ०) इति । गृहस्थानीया नाकसदः, जायास्थानीयाः  
पञ्चचोडाः ।

तत्र ‘अश्वं पश्चात्’ इति तृतीयमन्त्रेणोपधेया येयमिष्टका,  
तस्याश्चरमत्वं विधत्ते,—“पश्चात् प्राचीमुत्तमामुपदधाति तस्मात्  
पश्चात् प्राची पत्न्यास्ते” (५।३।७अ०) इति । यस्मात्

पश्चिमायां दिशि प्राप्नुवन्नेनोपधेया इष्टका चरमत्वेनोपधत्ते,  
'तस्मात्' पश्चिमायां दिश्ववस्थां प्राप्नुवी पत्नी गार्हपत्यमुपविशति।

कल्पः, 'आयोस्त्वा, सद्ने सादयामीति स्वयमाह्वयामभि-  
मृश्याश्वेनोपघ्राय परमेष्ठी त्वा सादयत्वित्यविदुषा ब्राह्मणेन सह  
मध्येऽग्नेरुपदधाति' इति। अभिमूर्शनमन्त्रपाठस्तु,—“आयोस्त्वा  
सद्ने सादयाम्यवतश्चायायां नमः समुद्राय नमः समुद्रस्य  
चक्षमे(१)” इति। एति निरन्तरं गच्छतीति 'आयुः' आदित्यः, स  
च सर्वं जगद् अवति, तस्मात् 'अवतः' 'आयोः' 'कायायां' सत्यां,  
सन्तापपरिहारेण शैत्ये कृते सतीत्यर्थः। 'सद्ने' (अस्मिन्  
स्थाने) हे इष्टके, 'त्वां' 'सादयामि'। 'समुद्राय' (समुद्रसदृशा-  
दित्याय) 'नमः' अस्तु। 'समुद्रस्य' 'चक्षमे' (प्रकाशकाय) 'नमः'  
अस्तु।

७. उपधानमन्त्रपाठस्तु,—“परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे  
यच्चस्वतीं प्रथस्वतीं विभूमतीं प्रभूमतीं परिभूमतीं दिवं यच्छ  
दिवं दृष्टुं दिवं मा हिंसीर्विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानायो-  
दानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय सूर्यस्वाभिपातु मच्छा स्वस्त्या हृदिषा  
शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद्भुवा सीद(२)” इति। 'परमे' (उत्कृष्टे  
सत्यलोके) तिष्ठतीति 'परमेष्ठी' (ब्रह्मा)। स 'त्वा' 'दिवः' 'पृष्ठे'  
(स्वर्गस्थोपरि) 'सादयतु'। कीदृशीं त्वां?—“यच्चस्वतीं” (अभि-  
व्यक्तिमतीं), 'प्रथस्वतीं' (विस्तारवतीं), 'विभूमतीं' (विविधवर्त्तने-  
त्यादनशक्तिमतीं), 'प्रभूमतीं' (प्रभुत्वशक्तिमतीं), 'परिभूमतीं' (पर-  
सैम्यपराभवशक्तिमतीं), 'दिवं' 'यच्छ' (स्वर्गभोगं यजमानाधीनतया

मिथतं कुरु) । 'दिवं' 'दृ५५' (द्युल्लोके भोगं दृढीकुरु) । 'दिवं'  
'मा हि५सीः' (दिवं द्युल्लोकभोगं, 'मा हि सोर्मा' विनाशय) ।  
'विश्वस्मै' (सर्वस्मै) प्राणापानव्यानादानाख्यवायुवृत्तिलाभाय, 'प्रति-  
ष्ठायै' (स्वगृहे स्थितिलाभाय), 'चरित्राय' (शास्त्रीयाचरणाय);—  
प्राणिनाम् एतस्य सर्वस्य सिद्ध्यर्थं अयं 'सूर्यः' 'त्वाम्' अभितः  
'पातु' । केन रक्षणमिति?—तदुच्यते, 'मह्या' 'स्वस्त्या' (महत्या  
योगक्षेमसम्पत्त्या), 'शन्तमेन' 'हृदिषा' (अत्यन्तसुखकारिणा  
दीप्तिविशेषेण), तव स्वामिभूतया 'देवतया' अनुगृहीता स्थिरा  
सती 'सीद' (इहोपविश) । 'अङ्गिरस्तु' (अङ्गिरसा चयनानुष्ठाने  
यथा त्वं 'भ्रवा' स्थिता, तद्वत्) ।

कल्पः, 'प्रोथदश्च इत्युत्तरेऽग्ने विकर्णमि' इति । पाठस्तु,—  
"प्रोथदश्चो न यवसे अविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्यात् ।  
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स ते व्रजनं कृष्णसृष्टिः" इति ।  
अथमग्निः, 'अश्चो न' (अश्च इष) 'प्रोथत्' (प्रोथति, जाज्वल्यमानः  
शब्दं करोति) । दृष्टान्तभूतोऽश्वः कथं शब्दं करोति?—इति,  
तदुच्यते, 'यदा' 'महः' (महतः) 'संवरणात्' (अश्वशालारूपात्  
संवृतस्थानात्) 'व्यस्यात्' (विनिर्गच्छति), तदानीम् अरण्ये 'यवसे'  
'अविष्यन्' (घासार्थं गमिष्यन्) शब्दं करोति । 'आत्' (अतः)  
अनन्तरं 'अस्य' (शब्दं कुर्वतोऽग्नेः) 'शोचिः' 'अनु' (दीप्तिमनु)  
'वातो' 'वार्ति' (वायुः प्रवर्तते),—अग्निज्वालाशब्दसमनन्तरमेव  
वायोरवश्यं प्रवृत्तेरथमग्निर्वायुसंघ इति लोकेऽभिधीयते । 'अध'-  
शब्दे वर्गचतुर्थयुक्तोऽप्यानन्तर्यमेवाचष्टे । हे अग्ने, तव ज्वालाया

वायुसंयोगानन्तरं 'प्रजनम्' (अरण्यगमनस्थानं) 'कृष्णमस्ति' (दाहेन कृष्णमस्ति, दाहेन कृष्णवर्णमिवावभासते) ।

आयोस्वेत्यादिमन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“स्वयमाहणाच्च विकर्णीच्चोत्तम उपदधाति प्राणो वै स्वयमाहणायुर्विकर्णी, प्राणश्चैवायुश्च प्राणानामुत्तमौ धत्ते, तस्मात् प्राणश्चायुश्च प्राणानामुत्तमौ” (५।३।७अ०) इति । ‘स्वयमाहणा’ (स्वतश्चिद्रेष्टका) पूर्वमप्युक्ता ; उत्तरेऽंसे संस्पृष्टा सती, वामभागे विभक्ताः कर्ण इवावभासमानत्वात् इयमिष्टका ‘विकर्णी’ इत्युच्यते । या ‘स्वयमाहणा’ या च ‘विकर्णी’ ते उभे अपि ‘उत्तमे’ उपदध्यात् ; सर्वाणाम् इष्टकानामवधाने तयोरुपधानमित्यर्थः । स्वयमाहणायाः प्राणरूपत्वात् विकर्ण्याश्चायुःस्वरूपत्वात् तयोरुत्तमत्वे सति चक्षुरादीनां प्राणानां मध्ये आसरूपमायुश्चोत्तमत्वेन धृतवान् भवति, तस्मात्लोकेऽपि आसायुषि\* सर्वेषां ‘प्राणानां’ इतरेषां मध्ये उत्तमे, तयोः स्थितयोश्चक्षुरादीन्द्रियवैकल्यमपि सहन्ते ।

अन्यासामिष्टकानामुपरि यथैते इष्टके उपहिते, तथा तयोरुपरि अन्येष्टकोपाधानप्रसक्तिं वारयितुं निषेधति,—“नान्यामुत्तरामिष्टकामुपदध्यात् यदन्यामुत्तरामिष्टकामुपदध्यात् पशूनाञ्च यजमानस्य च प्राणश्चायुश्चापि दध्यात् तस्मान्नान्योत्तरेष्टकोपधेया” (५।३।७अ०) इति । एतयोरुपरि अन्येष्टकोपाधाने आसायुषी आदिते भवतः, ‘तस्मात्’ ‘अन्यां’ न ‘उपदध्यात्’ ।

\* अत्र आसायुषी इति पाठो भवितुं युक्तः ।

प्रथमचितौ वा स्वयमाह्वया, सा भूमित्वेन स्मृता ; मध्यम-  
चितौ अन्तरिक्षत्वेन । इदानीं पञ्चमचितौ द्युलोकत्वेन स्मृतिः,—  
“स्वयमाह्वयामुपदधात्यसौ वै स्वयमाह्वयाऽमूमेवोपधत्ते” (५। ३।  
७ अ०) इति ।

उपधानात् प्रागश्वोपध्यापणं विधत्ते,—“अश्वमुपध्यापयति  
प्राणमेवास्यां दधात्यथो प्राजापत्यो वा अश्वः प्रजापतिर्नैवाग्निं  
चिनुते स्वयमाह्वया भवति प्राणानामुत्सृज्यै अथो सुवर्गस्य लोक-  
स्यानुख्यात्यै एषा वै देवानां विक्रान्तिर्यद्विकर्णी यद्विकर्णमुप-  
दधाति देवानामेव विक्रान्तिमनु विक्रमते” (५। ३। ७ अ०) इति ।  
विकर्णा एव पराक्रमरूपत्वात् तदुपधानेन यजमानोऽपि देववत्  
पराक्रमवान् भवति ।

उत्तरासरूपदेशं विधत्ते,—“उत्तरत उपदधाति तस्माद्  
उत्तरत उपचारोऽग्निः” (५। ३। ७ अ०) इति । येषु उपचारेषु  
देशविशेषो न विहितस्ते सर्वेऽपि वज्रेः ‘उत्तरतः’ स्थित्वा कर्त्तव्याः,  
तद्यथा ब्रह्मवरणान्वाधानजपादयः ।

अथैतस्या उपधाने ‘आदस्य वातो अनुवाति शोचिः’ इति  
वायुवार्चिशब्दामृत्यं विनियुक्ते,—“वायुमती भवति समिधै”  
(५। ३। ७ अ०) इति । सति हि वायावग्निः समिध्यते ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

अयं पुरः, पञ्चचोद्धास्तेभ्य, इत्यनुषज्यते ।

आ, स्पृशेत् स्वयमाह्वयां, परमेष्ठीति सादयेत् ।

• प्रोचद्, विकर्णमादध्यान्मन्त्रा वष्टाविहेरिताः\* ॥

इति सांयनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयं । अपाः  
रेताःसि जिन्वति<sup>(१)</sup> । त्वामग्ने पुष्करादध्ययवा निर-  
मन्यत । मूर्ध्ना विश्वस्य वाघतः<sup>(२)</sup> । अयमग्निः सह-  
स्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । मूर्द्धा कवीरयीणां<sup>(३)</sup> ।  
भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यचानियद्भिः सचसे शि-  
वाभिः । दिवि मूर्द्धानं दधिषे सुवर्षां जिह्वामग्ने  
चक्षुषे हव्यवाहं<sup>(४)</sup> । अवोध्यग्निः समिधा जनानां ॥  
॥.१ ॥

प्रति धेनुमिवायतोमुपासं । यद्वा इव प्रव्यामुज्जि-  
ह्वानाः प्रभानवः सिस्रते नाकुमच्छं<sup>(५)</sup> । अवोचाम  
कवये मेधाय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णो । गवि-  
ष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवोव रुक्ममुर्थश्चमश्रेत्<sup>(६)</sup> ।  
जनस्य गोपा अजनिष्ठ जायद्विरग्निः सुदक्षः सुविताय



नव्यसे । घृतप्रतीको वृहता दिविस्पृशा शुमद्विभरति  
भर तेभ्यः शुचिः<sup>(७)</sup> । त्वामग्ने अङ्गिरसः ॥ २ ॥

गुहाहितमन्वविन्दज्जिअयाणं वने-वने । स जायसे  
मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुचमङ्गिरः<sup>(८)</sup>  
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निन्नरस्त्रिषधस्थे समि-  
न्धते । इन्द्रेण देवैः सरथः स वर्हिषि सोदनिहोता  
यजथाय सुक्रतुः<sup>(९)</sup> । त्वां चिचअवस्तम हवन्ते विष्णु  
जन्तवः । शोचिध्वेकेशं पुरुप्रियामे हव्याथ वोढवे<sup>(१०)</sup> ।  
सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं ॥ ३ ॥

स्तोमञ्चामये । वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नमो स-  
हस्वते<sup>(११)</sup> सः समिद् युवसे वृषन्नमे विश्वान्यर्थ आ ।  
इडस्पदे समिध्यसे स ना वसून्वाभर<sup>(१२)</sup> । एता वो  
अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे प्रियं चेतिष्ठमरतिः  
स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतं<sup>(१३)</sup> । स योजते अरुषो  
विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः । सुब्रह्मा यज्ञः  
सुशमी ॥ ४ ॥

वसूनां देवः राधो जनानां<sup>(१४)</sup> । उदस्य शोचिर-  
स्थादाजुह्वानस्य मीदुषः । उद्धमासो अरुषासो दिवि-  
स्पृशः समग्निमिन्धते नरः<sup>(१५)</sup> । अग्ने वाजस्य गोमत्  
ईशानः सहसो यदो । अस्मे धेहि जातवेदो महि-

अवः<sup>(५५)</sup> । स इधानो वसुष्कविरग्निरिडेन्यो मिरा ।  
 रेवदस्मभ्यं पूर्वणीकं दीदिहि<sup>(५७)</sup> । क्षपो राजन्नुत  
 त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः स तिग्मजम्भ ॥ ५ ॥

रक्षसो दह प्रति<sup>(५८)</sup> । आते अग्न इधीमहि द्युमन्तं  
 देवाऽजरं । यद्वा स्या तेऽपनीयसी समिदीदयति द्यवी-  
 षः स्तोतृभ्य आभर<sup>(५९)</sup> । आ ते अग्न कृचा हविः  
 शुक्रस्य ज्योतिषस्यते । सुश्वन्द्र दस्म विशपते हव्यवाद  
 तुभ्यः ह्वयत इषः स्तोतृभ्य आभर<sup>(६०)</sup> । उमे सुश्वन्द्र  
 सर्पिषो दवी श्रीणीष आसनि । उतो न उत्पूर्याः ॥  
 ॥ ६ ॥

उक्थेषु शवसस्यत इषः स्तोतृभ्य आभर<sup>(६१)</sup> । अग्ने  
 तमद्याश्वे न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रः हृदिस्पृशं । कथ्याम ते  
 औहैः<sup>(६२)</sup> । अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।  
 रथीर्कृतस्य वृंहतो बभूयः<sup>(६३)</sup> । आभिष्टे अद्य गीर्भि-  
 र्युणन्तोऽग्नि दाशेम । प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः<sup>(६४)</sup> ।  
 शुभिर्नो अकैर्भवा नो अर्वाङ् ॥ ७ ॥

सुवर्नं ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः<sup>(६५)</sup> ।  
 अग्निः होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः स्तूनुः सहसो  
 जातवेदसं । विप्रन्न जातवेदसं । य ऊर्द्धया स्वध्वरो  
 देवो देवाच्या हृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशैचिप

आजुह्वानस्य सप्रिषः<sup>(१६)</sup> । अग्ने त्वन्नो अन्तमः । उत  
चातो शिवो भव वरूथ्यः<sup>(१७)</sup> । तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः ।  
रुक्माय नूनमोमहे सखिभ्यः<sup>(१८)</sup> । वसुरग्निर्वसुश्रवाः ।  
अच्छा नक्षि द्युमत्तमो रयिं दाः<sup>(१९)</sup> ॥ ८ ॥

जनानाम् । अङ्गिरसः । इषः । सुशमो । तिग्म-  
जम्भ । पुपूर्या । अर्वाङ् । वसुश्रवाः । पञ्च च ॥  
॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ द्वितीयेऽनुवाके पञ्चचोडादय इष्टका उक्ताः । अथ  
चतुर्थेऽनुवाके छन्दाभिधा इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'अग्निमूर्द्धंति  
तिष्ठो गायत्रीः पुरस्तादुपदधात्येवमुत्तराणि । त्रीणि द्विष्टुभो  
दक्षिणतो जंगतीः पञ्चादनुष्टुभ उत्तरतो वृहतीरुष्णिहाः पङ्क्ती-  
रक्षरपङ्क्तीरिति विषुरूपाणि छन्दाः सि यथावकाशमतिकन्दसं  
मध्ये द्विपदा अन्ततः' इति । तत्र तिष्ठषु गायत्रीषु प्रथमां  
गायत्रीमाह,—“अग्निमूर्द्धंति दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयं । अपा-  
रेताः सि जिह्वति<sup>(१)</sup>” इति । ‘अयम्’ ‘अग्निः’ आदित्यरूपेण ‘दिवः’  
(द्युलोकस्य) ‘ककुत्’ (उच्छ्रितः) ‘मूर्द्धंति’ (शिरस्थानीयः) । ‘पृथिव्याः’  
‘पतिः’ (दाहपाकादिकारित्वेन पालकोऽपि) ‘अयं’ । किञ्च

‘अपां’ ‘रेतांसि’ (उदककार्याणि स्थावरजङ्गमशरीराणि) जाठराग्नि-  
रूपेण ‘जिन्वति’ (प्रीणयति) ।

अथ द्वितीयामाह,—“त्वामग्ने पुष्करादध्ययवां निरमन्यतः।  
मूर्द्धा विश्वस्य वाघतः<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, अथवाख्य ऋषिः  
‘पुष्करपर्णादधि’ (पद्मपत्रस्योपरि) ‘त्वां’ ‘निरमन्यत’ (निःशेषेण  
मथितवान्) । अत एव पञ्चमकाण्डे ब्राह्मणमास्मात्, “पुष्करे पर्णे  
ह्येनमुपश्रितमविन्दत्” इति । कीदृशात् पुष्करपर्णात् ?—‘मूर्द्धः’  
(उत्तमाङ्गवत् प्रशस्तात्), ‘विश्वस्य’ ‘वाघतः’ (सर्वस्य जगतो वाह-  
कात्) । इदं हि पुष्करपर्णम् अग्निमन्यनयज्ञनिष्पादनादिद्वारा  
सर्वं जगन्निर्वहति ।

अथ तृतीयामाह,—“अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिन-  
स्यतिः । मूर्द्धा कवी रयीणाम्<sup>(२)</sup>” इति । ‘अयं’ समिध्यमानः  
‘अग्निः’ सङ्ख्यसङ्ख्यावतः शतसङ्ख्यावतस्य अन्नस्य ‘पतिः’ । अत  
एतं ‘मूर्द्धा’ (शिरोवदुत्तमः), ‘कविः’ (विद्वान्), तादृशो ‘रयीणां’  
(धनानां) दाता भवतु ।

अथ तिसृषु त्रिष्टुप्सु प्रथमां त्रिष्टुभमाह,—भुवो यज्ञस्य  
रजसस्य नेता यत्रानियुद्धिः सचसे शिवाभिः । दिवि मूर्द्धानं दधिषे  
सुवर्षां जिह्वामग्ने चक्षुषे हव्यवाहम्<sup>(३)</sup>” इति । अयमग्निः,  
भूलोकस्य (तच्चानुष्ठेयस्य) ‘यज्ञस्य’ तस्मिन् यज्ञे प्रवर्त्तकस्य ‘रजसः’  
(गुणस्य) ‘च’ ‘नेता’ (निर्वाहकः) । तादृशं हि ‘अग्ने’, ‘यज्ञ’ (यस्यां  
दिवि) सूर्यरूपो भूत्वा ‘नियुद्धिः’ (रथे नितरां योज्यमानाभिः),  
‘शिवाभिः’ (उत्तमाभिरन्यजातिभिः) ‘सचसे’ (समवैषि), तस्यां

‘दिवि’ ‘मूर्द्धानं’ (शिरोवदुन्नतस्थितिं) ‘दधिषे’ (धारयसि) ।  
 कीदृशं मूर्द्धानं ?—‘सुवर्षां’ (सुवः स्वर्गे स्यात् सर्वदा तिष्ठतीति  
 सुवर्णास्तां) । सोमपाशब्दवत् पुंलिङ्गोऽयं । हे ‘अग्ने’, त्वम् अस्मिन्  
 यज्ञे हव्यवाहं (हविःप्रापिकां) ‘ल्लिङ्गां’ (ज्वालां) ‘चक्षुषे’ (करोषि) ।

अथ द्वितीयां त्रिष्टुभमाह,—“अबोध्यग्निः समिधा जनानां  
 प्रति धेनुमिवायतीमुषासं यज्ञा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः  
 सिस्वते नाकमच्छ<sup>(१)</sup>” इति । ‘जनानाम्’ ऋत्विजां सम्बन्धिना  
 ‘समिधा’ अयम् ‘अग्निः’ ‘अबोधि’ (प्रबोधितः, प्रज्वलितोऽभूत्) ।  
 तत्र दृष्टान्तः,—‘आयतीमुषासं’ ‘प्रति’ ‘धेनुं’ उषःकाले समागते  
 सति दोहनाय शयनाद्धेनुं यथा उत्थापयति, तदत् । बुध्यमानस्य  
 अग्नेः ‘भानवः’ (रश्मयः) ‘प्र’-‘उज्जिहानाः’ (प्रकर्षेणोद्गच्छन्तः),  
 अपि एधि प्रबोधितः(?) । ‘नाकमच्छ’ (स्वर्गमभिप्राप्तुं) ‘प्र’-‘सिस्वते’  
 (अतिशयेन प्रसरन्ति) । तत्र दृष्टान्तः,—‘वयां’ ‘यज्ञा’ ‘इव’—  
 ‘वयां’ (वीनां, पक्षिणां) मध्ये ‘यज्ञा’ (महान्तः) पक्षिणो यथा  
 प्रकर्षेणोत्पतन्ति तदत् ।

अथ तृतीयां त्रिष्टुभमाह,—“अवोचाम कवये मेध्याय वचो  
 वन्दाह वृषभाय वृष्णे । गविष्ठिरो नमसा सोममग्नौ दिवोव  
 रुक्कामुर्यश्चमश्रेत्<sup>(१)</sup>” इति । वयं ‘कवये’ (विदुषे) वक्त्रये ‘वचो’  
 (वाक्यम्) ‘अवोचाम’ । कीदृशाय कवये ?—‘मेध्याय’ (यज्ञ-  
 योग्याय), ‘वृषभाय’ (अष्टाय), ‘वृष्णे’ (कामानां वर्षयित्रे), ‘गविष्ठिरः’-  
 गविष्ठिराय (भूमौ स्थिरत्वेनावस्थिताय) । कीदृशं वचः\* ?—‘अग्नौ’

‘नमसा’ ‘स्तोमं’ (अग्निविषये नमस्कारेण जुक्तं, स्तोत्ररूपं), अत एव ‘वन्दार्ह’ (वन्दनशीलं) । तत्र दृष्टान्तः,—यथा ‘दिवि’ (द्युलोके) ‘इव’ ‘रुक्मं’ (रोचमानं), ‘उर्व्यञ्चं’ (विस्तीर्णगतिम्), आदित्यं सन्ध्यावन्दनादिषु ब्रह्मण्यैः प्रयुक्तं वाक्यम् ‘अश्रेत्’ (आश्रयति) तद्वत् अस्मद्वचोऽपि वक्रिमाश्रयतु ।

अथ तिसृषु जगतीषु प्रथमां जगतीमाह,—“जनस्य गोपा अजनिष्ठ जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमदिभाति भर तेभ्यः शुचिः<sup>(७)</sup>” इति । अयम् ‘अग्निः’ • ‘अजनिष्ठ’ (उत्पन्नः) । किमर्थं ?—‘सुविताय’ ‘नव्यसे’ (सुष्ठु दीप्ताय स्तुतियुक्ताय कर्मणे), एतत्कर्मसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । कीदृशस्य \*?—‘जनस्य’ ‘गोपाः’ (प्राणिनो रक्षकः), ‘सुदक्षः’ (अत्यन्तकुशलः), ‘जागृविः’ (कर्मणि सावधानः), (घृतं प्रतीकं मुखे यस्यासौ) ‘घृतप्रतीकः’; तादृशोऽयम् ‘अग्निः’ ‘बृहता’ (प्रौढेन) ‘दिविस्पृशा’ (द्युलोकस्पर्शना) ज्वालासमूहेन ‘द्युमत्’ (दीप्यमानः) ‘शुचिः’ (शुद्धः सन्) ‘भर’, ‘तेभ्यः’ (भरणकुशल-यजमानाद्यर्थं) ‘विभाति’ (विशेषेण भासते) ।

अथ द्वितीयां जगतीमाह,—“त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहाहित-सम्बविन्दञ्छिअयाणं वने-वने । स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्युन्नमङ्गिरः<sup>(८)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘त्वाम्’ ‘अङ्गिरसः’ महर्षयः ‘अम्बविन्दन्’ (अम्बिथ लभ्यन्तः) । कीदृशं

\* अत्र कीदृशः स ? इति पाठो भवितुं युक्तः ।

त्वां?—गुहाहितं?—(अरण्यप्रभृतोषु गोप्यस्थानेष्ववस्थितं), 'वने-  
वने' 'शिञ्जियाणं' (तस्मिन् तस्मिन् वने दावाग्निरूपेणाश्रितं) ।  
'स' त्वं 'महत्' 'सहः' (प्रौढं बलं) वि-'मथ्यमानः' 'जायसे' । हे  
'अग्निः' (अङ्गसौष्टवयुक्त अग्ने), 'त्वां' 'सहसंयुजं' (बलस्य पुत्रम्)  
'आहुः', महता बलेन मथ्यने सति जायमानत्वात् ।

अथ तृतीयां जगतीमाह,—“यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहित-  
मग्निस्तरस्त्रिषधस्ये समिन्धते । इन्द्रेण देवैः सरथः स बर्हिषि  
षोदं नि होता यजथाय सुक्रतुः<sup>(९)</sup>” इति । सह-स्थितानि स्थानानि  
सधस्थानि, त्रीणि सधस्थानि यस्मिन् देवयजनं तत् 'चिषधस्य',  
तस्मिन् 'नरः' (ऋत्विजः) 'अग्निं' 'समिन्धते' (दीपयन्ति) ।  
कीदृशं?—“यज्ञस्य” 'केतुं' (ज्ञातारं), 'प्रथमं' (यागोपक्रम एव  
सम्पन्नं), 'पुरोहितं' (पुरोदेशवर्त्तिनं) । 'सुक्रतुः' (शोभनक्रतु-  
निष्पादकः), 'स' अग्निः 'यजथाय' (यागसिद्ध्यर्थं) 'होता'  
(देवानामाह्वाता) सन् 'इन्द्रेण' 'देवैः' च सह 'सरथं' (रथ-  
सहितो यथा भवति, तथा 'बर्हिषि' अस्मिन् यज्ञे 'निषीदत्'  
(उपविष्टवान्) ।

अथ त्रिष्वनुष्टुप् प्रथमांमाह,—“त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते  
विक्षु जन्तवः । शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे<sup>(१०)</sup>” इति ।  
'चित्रश्रवो' (विचित्रा कीर्त्तिर्यस्यासौ चित्रश्रवाः) अतिशयेन चित्र-  
श्रवाः 'चित्रश्रवस्तमः' । 'पुरुणां' (यजमानानां) 'प्रिय', तथाविध  
हे 'अग्ने', 'विक्षु' (प्रजासु) मध्ये 'जन्तवः' (जन्तव इव जनाः) 'त्वां'  
'हवन्ते' (आह्वयन्ति) । किमर्थं?—'हव्याय' 'वोढवे' (हवि-

वाढम्) । कीदृशं तां ?—‘शोचिष्केशं’ (शोचिषि ज्वाला एव केशस्थानीया यस्यासौ शोचिष्केशः तं) ।

अथ द्वितीयामनुष्टुभमाह,—“सखाय सं वः संम्यच्चमिषुः  
स्त्रोमश्चाग्नये । वर्षिष्ठां च चितीन्मूर्जो न त्रे सहस्रते<sup>(११)</sup>” इति ।  
हे ‘सखायः’ (परस्परसख्ययुक्ता चत्विग्यजमानाः), ‘वः’ (युष्माकं)  
‘संम्यच्चमिषं’ (समोचीनमभोष्टानं) सम्पादयतु । समित्यस्योपसर्ग-  
स्थापेक्षितः शेषोऽध्याहृतः । यूयं च ‘अग्नये’ ‘स्त्रोमं’ (स्त्रोत्रं)  
सम्पादयत । कीदृशायाग्नये ?—‘चितीनां’ मध्ये (रक्षकाणां मध्ये)  
‘वर्षिष्ठाग्नय’ (वृद्धतमाय) । ‘ऊर्जो’ ‘नम्रे’ (बलस्य न पातयित्रे,  
विनाशमकुर्वते)\* स्वयमतिशयेन बलवते ।

अथ तृतीयामनुष्टुभमाह,—“सः समिद् युवसे वृषन्नग्ने  
विश्वान्यथ आ । इङ्स्यदे समिध्यसे स नो वसुन्याभर<sup>(१२)</sup>” इति ।  
हे ‘वृषन्’ (क्रामानां वर्षक) ‘अग्ने’, ‘विश्वानि’ (सर्वाणि) फलानि  
‘सं-समिद्’ (सम्पाद्य सम्पाद्य) एवं ‘युवसे’ (यजमाने) संमिश्रयसि ।  
‘अर्थे’ ‘आ’ (ईश्वरस्त्वमागत्य) ‘इङ्स्यदे’ (पृथिवीरूपाया वेद्याः  
स्थाने) ‘समिध्यसे’ (सम्यक् ज्वालयसे) । एतादृशो मन्त्रनुभावस्त्वं  
‘नः’ (अस्माभ्यं) ‘वसुनि’ (धनानि) ‘सम्-‘आभर’ (सम्यगाहृत्य  
प्रयच्छ) ।

अथ तिष्ठषु बृहतीषु प्रथमामाह,—“पूना वो अग्निं नम-  
सोर्जो नपातमाज्जवे । प्रियं चेतिष्ठभरति स्वध्वरं विश्वस्य दूत-  
ममृतम<sup>(१३)</sup>” इति । हे चत्विग्यजमानाः, ‘वः’ (युष्माकं) सम्बन्धिनम्

अत्र ‘सहस्रते’ इति शब्दः पातित इवाभाति ।



‘अग्निम्’ ‘एना’ ‘नमसा’ (एतेन नमस्कारेण युक्तः) अहम् ‘आहुवे’ (आहुयामि) । कीदृशमग्निं ?—‘ऊर्जे’ (अन्नस्य) ‘नपातं’ (अवि-  
नष्टयितारं), ‘प्रियं’ (यजमानानां प्रीतिहेतुं), ‘चेतिष्ठं’ (अतिशयेन  
चेतयितारं, ज्ञातारं) ‘अरतिं’ (रुतिः रुक् तद्रहितं) सर्वदोष्युक्त-  
मित्यर्थः । ‘स्वध्वरं’ (शोभनेस्य क्रतोर्निष्पादकं), ‘विश्वस्य दूतं’  
(सर्वस्य जगतो दूतवत् कार्यकर्तारं), ‘सर्वस्य हि गृहे दाहपाका-  
दिकार्यं करोति । ‘अमृतं’ (मरणरहितं); न हि मनुष्यवद्देवानां  
सहसा मरणमस्ति ।

अथ द्वितीयां बृहतीमाह,—“स योजते अरुषा विश्वभोजसा  
स दुद्रवत् स्वाहुतः । सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवः राधो  
जनानाम्<sup>(१४)</sup>” इति । ‘स’ (अग्निः) ‘योजते’ (प्रसूतं कर्म योज-  
यतीत्यर्थः) । ‘अरुषः’ (रोषरहितः) यजमाने स्निग्ध इत्यर्थः ।  
‘विश्वभोजसा’ (विश्वं जगद्भोजनीयं दाह्यत्वेन यस्यासौ विश्व-  
भोजसः, ‘स’ अग्निः ‘राधः’ (अन्नं) ‘दुद्रवत्’ (द्रवयतु) सम्पादयतु  
इत्यर्थः । कीदृश ‘राधः’ ?—‘वसूनां’ ‘जनानां’ (निवासार्थिनां  
प्राणिनां ~~व्यवहारकारणं~~) । कीदृशः सोऽग्निः ?—‘स्वाहुतः’  
(चेत्विग्निः सुष्टु कर्मणाहुतः), ‘सुब्रह्मा’ (शोभनं कल्पियूपो ब्रह्मा  
यस्यासौ सुब्रह्मा, शोभनमन्त्रो वा), ‘यज्ञः’ (यजनीयः), ‘सुशमी’  
(पापं सुष्टु शमयतीति सुशमी) ।

अथ तृतीयां बृहतीमाह,—“उदस्य शोचिरस्यादाजुह्वानस्य  
मोदुषः । उद्धमासो अरुषासो दिविसृष्टः समग्निमिन्धते  
। नरः<sup>(१५)</sup>” इति । ‘अस्य’ (अग्नेः) ‘शोचिः’ (दोषिः) ‘उते’ (अस्यात्)

(उत्थितं)। कीदृशस्याग्नेः ?—‘आजुह्वानस्य’ (सर्वतो होमनिष्पाद-  
कस्य), ‘मीढुषः’ (आजुतिद्वारा दृष्टिसेचनसमर्थस्य), ‘उद्धूमासः’  
(धूमाश्चोत्थिताः)। ‘अरूपासः’ (रोषरहिताः), चक्षुराद्युपद्रवमकुर्वन्  
इत्यर्थः। ‘दिविस्पृशः’ (आकाशस्पर्शिनः) अत्युन्नता इत्यर्थः। अथै-  
तत्सर्वं भवति। तथा ‘नरः’ (अभियुजमानाः) ‘अग्निमिन्धते’  
(दीपयन्ति)।

अथ तिसृष्विष्टु प्रथमामुष्णिहमाह,—“अग्ने वाजस्य गोमत  
ईशानः सहसो यज्ञे। अस्मे धेहि जातवेदो महिश्रवः<sup>(१९)</sup>” इति।  
‘सहसः’ (बलस्य) ‘यज्ञः’ (सूनो), ‘जातवेदः’ (उत्पन्नजगदभिन्न)  
‘अग्ने’, ‘गोमतः’ (गोभिर्युक्तस्य) ‘वाजस्य’ (अन्नस्य) ‘ईशानः’ त्वं  
‘अस्मे’ (अस्मासु) ‘महिश्रवः’ (महतीं कीर्त्तिं) ‘धेहि’ (सम्पादये)।

अथ द्वितीयामुष्णिहमाह,—“स इधानो वसुष्कविरग्निरौडेन्यो  
गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणोक दीदिहि<sup>(२०)</sup>” इति। पुन बज्र  
अनोक्तं सैन्यं यस्य अस्मौ ‘पुर्वणोकः’। तादृशं हे अग्ने, ‘स’ त्वम्  
‘अस्मभ्यं’ ‘रेवत्’ (धनयुक्तं, गृहचैत्रादिकं) ‘दीदिहि’ (प्रयच्छ)।  
कीदृशस्त्वं ?—‘इधानः’ (दीप्यमानः), ‘वसुः’ (विवाचदेवः), ‘कविः’  
(विद्वान्), ‘अग्निः’ (अग्रणीः), प्रथमं यज्ञप्रवर्त्तक इत्यर्थः। ‘गिरा’  
(मन्त्ररूपया वाचा) ‘ईडेन्यः’ (स्तुत्यः)।

अथ तृतीयामुष्णिहमाह,—“चपो रज्जुत त्वनाग्ने वस्त्रो-  
रतोषवः। स तिम्रजन्म रचसो दह प्रति<sup>(२१)</sup>” इति। हे ‘अग्ने’,

\* अत्र ‘उद्धूमासः’ (धूमाश्चोत्थिता यस्मात् तस्य), ‘अरूपासः’  
(रोषरहितस्य) चक्षुराद्युपद्रवमकुर्वन् इति पाठो भवितुं युक्तः।

‘वस्तुः’ (अहानि) ‘क्षपः’ (क्षपय) । ‘उत’ (अपि च) ‘उषः’ (उषः-  
कालान्) अपि क्षपय । द्वितीयाया अत्यन्तसंयोगवाचित्वात्  
सर्वेऽप्युषःकालेषु राक्षसान् विनाशयेत्यर्थः । हे ‘राजन्’ (दीप्य-  
मान) ‘अग्ने’, न केवलं स्वकीयमेनामुखेन रक्षसां क्षपणं, ‘तमना’  
अपि (स्वयमपि) क्षपयेति मुखविदारणवाचिना जम्भशब्देन ज्वाला  
उपलक्ष्यन्ते । तिग्मास्तोक्ष्णा जम्भा यस्यासौ ‘तिग्मजम्भः’, ‘स’  
लं ‘रक्षसो’ (राक्षसान्) ‘दह’ (भस्मीकुरु) ।

अथ तिसृषु पङ्क्तिषु प्रथमामाह,—“आ ते अग्न इधीमहि  
द्युमन्तं देवाऽजरं । यद्ध स्या ते पनीयसी समिदोदयति ह्यवोषः  
स्तोत्रभ्य आभर<sup>(१८)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’ ‘देव’, ‘अजरं’ (जरारहितं)  
‘ते’ (त्वां) ‘द्युमन्तं’ (दीप्तिमन्तं) ‘इधीमहि’ (सर्वतः प्रज्वालयामः) ।  
‘यत्’ (यस्मात् कारणात्) ‘पनीयसी’ (अतिशयेन स्तुतियुक्ता)  
सा\* ‘ह’ ‘समिद्’ (अचेतनरूपा सा समिदपि) द्यवि-द्यवि  
(प्रतिदिनं) ‘दोदयति’ (त्वां प्रकाशयति), तस्माच्चेतना वयं  
दीपयाम इति किमु वक्तव्यं । तच्च ‘दपम्’ (अन्नं) ‘स्तोत्रभ्यः’  
‘अतिगभ्यः’ आभर<sup>(१९)</sup> (मन्यादय) ।

अथ द्वितीयां पङ्क्तिमाह,—“आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य  
ज्योतिषस्यते । सुसुन्द्र दस्रं विष्पते हव्यवाट् तुभ्यः ह्वयत इषः  
स्तोत्रभ्य आभर<sup>(२०)</sup>” इति । ‘शुक्रस्य’ (शुद्धस्य) ‘ज्योतिषः’ ‘पते’  
(पालक), (सुष्ठु आह्लादकारिन्) ‘सुसुन्द्र’, (पापस्योपक्षपयिता)  
‘दस्र’, (प्रजानां पालक) ‘विष्पते’, (हविषो वोढा) ‘हव्यवाट्’ ;

\* अत्र ‘स्या’ इति पाठो भवितुं युक्तः । एवं उत्तरत्र ह्यवि द्यवि  
‘अन्न-ह्यवि’ इति ।

‘अग्नेविध’ हे ‘अग्ने’ । ते ‘अग्ने’ (त्वत्सम्बन्धिना मन्त्रेण) । ‘इभ्यं’  
‘हविः’ ‘आ’ (समन्तात्) ‘ह्रयते’ । ‘इषम्’ इत्यादि गतम् ।

अथ तृतीयां पङ्क्तिमाह,—“उभे सुसुन्द्र सर्पिषो दर्वी ओणीषे-  
आंसनि । उतो न उत्पूर्याः । उक्थेषु श्रवसस्यत इषः स्तोत्रभ्य  
आभर(११)” इति । हे ‘सुसुन्द्र’ (सुष्टु आह्लादकर), ‘आंसनि’  
(त्वदीयांश्चे) ‘सर्पिषः’ सम्बन्धिन्या ‘उभे’ ‘दर्वी’ सदृशे हनू  
‘ओणीषे’ हनूपूरणपर्यन्त\* सर्पिस्त्वया पोतमित्यर्थः । ‘उतः’  
(अपि च) हे ‘श्रवसस्यते’ (बलस्याधिपते) ‘उक्थेषु’ (शस्त्रवत्सु)  
यज्ञेषु ‘नः’ (अस्मान्) ‘पुपूर्याः’† (उत्कर्षणं पूरय) प्रापयेत्यर्थः ।  
‘स्तोत्रभ्यः’ (यजमानेभ्यः), ‘इषम्’ (अन्नम्) ‘आभर’ (सम्पादय) ।

अचरमङ्गीषु चतुर्थं प्रथमामाह,—“अग्ने त्वमद्याश्वं न स्तोमैः  
क्रतुन भद्रः हृदिसृशं । अथ्याम ते औचैः(११)” इति । हे  
‘अग्ने’, ‘हृदिसृशं’ (हृद्यम्, अन्तःप्रियं) तं त्वाम् ‘अद्य’ (अस्मिन्  
कर्मणि) ‘औचैः’ (समूहरूपैः) ‘स्तोमैः’ (त्वदीयैः स्तोत्रैः) ‘अथ्याम’  
(समृद्धं करवाम) । तत्रैको दृष्टान्तः,—‘अश्वं न’,—यथा अश्वं  
घासादिप्रदाहनेन समर्थयन्ति तद्वत् । अथापरो दृष्टान्तः,—‘क्रतुं  
न भद्रं’ यथा समीचीनं ज्योतिष्टोमादिक्रतुं सर्वयागानुष्ठानेन  
समर्थयन्ति तद्वत् । ‘भद्रं’ (कल्याणम्) इत्यग्निविशेषणं वा ।

अथ द्वितीयामचरपङ्क्तिमाह,—“अधा अग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य

\* अत्र हनूपूरणपर्यन्तमिति पाठो भवितुं युक्तः । अन्यथा प्रक्रम-  
भङ्गदोषः स्यात् ।

† ‘उत्’ ‘पुपूर्याः’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

साधे<sup>१</sup> । रथीच्छंतश्च बृहंतो बभूव<sup>(११)</sup> इति । हे 'अग्ने',<sup>१२</sup>  
 (अस्मदीयस्तोत्रानन्तरं) 'क्रतोः' (अनुष्ठेयमानस्य कर्मणः) 'रथीः'  
 -<sup>१३</sup>बभूव' 'हि' (रथोऽस्यास्तीति रथो सारथिर्निर्वाहकः, तथा त्वं  
 निर्वाहको बभूव खलु) । कीदृशस्य 'क्रतोः' ?—'भद्रस्य' (कल्याण-  
 रूपस्य), 'दत्तस्य' (स्वपदप्रदानसमर्थस्य\*) 'साधोः' (रश्मिभिः†  
 साध्यस्य) 'स्यतस्य' (संत्यस्य, अमोघवल्लस्य) 'बृहतः' (प्रौढस्य) ।

अथ तृतीयामन्त्रपरिष्कारमाह,—“अभिष्टे अद्य गोभिर्गणन्तोऽग्ने  
 दाशेम । प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः<sup>(१४)</sup>” इति । हे 'अग्ने',  
 'अद्य' (अस्मिन् कर्मणि) आभिः 'गोभिः' (मन्त्ररूपाभिः) 'गणन्तः'  
 (स्तुवन्तः) वयं 'दाशेम' (हविर्दधाः) । 'ते' (त्वदीयाः) 'शुष्माः'  
 (प्रबला ज्वालाः) त्वां प्रकर्षेण 'स्तनयन्ति' (शब्दयन्ति) । तत्र  
 दृष्टान्तः,—‘दिवो न’ (द्युस्था मेघा इव) ।

अथ चतुर्थीमन्त्रपरिष्कारमाह,—“एभिर्नो अर्कैर्भका नो अर्वाङ्  
 सुवर्नं ज्योतिः । अग्ने विश्वेभिः सुमना अनोक्तैः<sup>(१५)</sup>” इति । हे  
 'अग्ने', 'विश्वेभिः' 'अनोक्तैः' (सर्वसैन्यैः) सहितः 'सुमनाः'  
 (सौमनस्यं प्राप्तः) 'एभिः' (इदानीं क्रियमाणैः) 'नः' (अस्मत्-  
 सम्बन्धिभिः) 'अर्कैः' (अर्चनीयैः) 'नः' (अस्मान् प्रति) 'अर्वाङ्'  
 'भव' (समीपस्थो भव), समीपदेशमभिगच्छतीति अर्वाङ् । तत्र  
 दृष्टान्तः,—‘सुवर्नं’ (त्रिगुणलोकप्रकाशरूप आदित्यो यथा समीप-  
 वर्तो भवति तद्वत्) ।

\* स्वपदप्रदानसमर्थस्य इति पाठोऽत्र भवितुं युक्तः ।

† रश्मिभिरिति रश्मिभिरिति च पाठान्तरम् ।

अथ तिसृषु द्विपदामाह,—“अग्निं होतारं मन्ये दाखन्तं वसोः  
 सुनुं सहसो जातवेदसं । विप्रं जातवेदसं । य ऊर्द्धया स्वधरो  
 देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुक्कानसः”  
 सर्पिषः<sup>(९९)</sup>” इति । इमम् ‘अग्निं’ ‘होतारं’ (देवानामाज्ञातारं)  
 अहं ‘मन्ये’ । कीदृशमग्निं?—‘वसोः’ ‘दाखन्तं’ (धनस्य दातारं),  
 ‘सहसः’ ‘सुनुं’ (बलस्य पुत्रं) ‘जातवेदसं’ (उत्पन्नजगदभिज्ञं) ।  
 तत्र दृष्टान्तः,—‘विप्रं न जातवेदसं’ (यथा ब्राह्मणकुलीनमुत्पन्न-  
 पुत्राद्यभिज्ञं मन्यन्ते तद्वत्) । ‘यः’ अग्निः ‘देवः’ ‘ऊर्द्धया’  
 (अत्युन्नतया) ‘देवाच्या’ (देवान् प्रति गच्छन्त्या), कृपया  
 (ज्वालयया) ‘स्वधरः’ (सृष्टु यागनिष्पादको भवति) । सोऽग्निः  
 ‘घृतस्य’ ‘विभ्राष्टिं’ (विशेषेण दीप्तिम्) ‘अनु’हाय दीप्यत इति  
 शेषः । कीदृशस्य घृतस्य?—‘शुक्रशोचिषः’ (शुद्धदीप्तियुक्तस्य),  
 ‘आजुक्कानसः’ (सर्वतो ह्ययमानस्य) ‘सर्पिषः’ (सर्पणशीलस्य) ।

अथ तिसृषु द्विपदामाह,—“अग्ने त्वन्नो अन्तमः ।  
 उतं चातो शिवो भव । वरूथ्यः<sup>(१००)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘त्वं’  
 ‘नः’ (अस्माकं) ‘अन्तमः’ (अन्तिकृतमो भव) । ‘वरूथ्यः’ (वरूथे  
 गृहे नित्यसन्निहितो भव) ।

• अथ द्वितीयां द्विपदामाह,—“तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः ।  
 सुन्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः<sup>(१०१)</sup>” इति । हे ‘शोचिष्ठ’ ‘दीदिवः’  
 (शुद्धतमं दीप्यमानं), ‘सखिभ्यः’ (सखीनामस्माकं) ‘सुन्नाय’  
 (सुखाय) ‘नूनं’ (पूर्वाक्तगुणयुक्तं) त्वाम् ‘ईमहे’ (प्राप्नुमः) ।

अथ तृतीयां द्विपदामाह,—“वसुरग्निर्वसुअवाः । अक्काः

नञ्चि द्युमत्तमो रयिं दाः<sup>(१९)</sup>” इति । ‘वसुः’ (वसुमान्) अयम्  
‘अग्निः’, वसुह्रादिदेवैरादरेण श्रूयत इति ‘वसुश्रवाः’, हे  
पशून्<sup>१</sup> दृशान्, स्वाभिमुखो ‘नञ्चि’ (प्राप्नोति) ।

एतैरग्निर्मूर्धेत्यादिभिः\* साध्यमुपधानं विधत्ते,—“हन्दाः<sup>२</sup>स्युप-  
दधाति पशवो वै हन्दाः<sup>३</sup>सि पशूनेवावरन्धे हन्दाः<sup>४</sup>सि वै देवानां  
वामं पशवो वामनेव पशूनावरन्धे एताः<sup>५</sup> ह वै यज्ञसेन-  
स्यैचियायणस्थितिं विदाञ्चकार तथा वै स पशूनावरन्धे यदेतामुप-  
दधाति पशूनेवावरन्धे” (५।३।८अ०) इति । गायत्र्यादिच्छन्दो-  
युक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपि ‘हन्दांसि’ इत्युच्यन्ते, तदुपधाने सति  
हन्दांसं पशून्<sup>६</sup> हेतुत्वाद्यजमानः ‘पशून्’ प्राप्नोति । किञ्च ‘हन्दांसि’  
‘एव’ ‘देवानां’ वननीयधनरूपाणि, अतस्तादृशान् ‘पशून्’ अयं  
प्राप्नोति । किञ्च चित्रनामकस्य चित्पुरुषस्य वंशे समुत्पन्नो यज्ञ-  
सेननामकः कश्चित् पुरुष एताभिश्छन्दोभिर्धाभिरिष्टकाभिः  
सम्पादितां चितिं विदित्वा स्थितवान्, ततस्तथैव चित्या पशून्  
प्राप्नोत्, एवमन्योऽपि प्राप्नोति ।

सामान्येन किञ्चित् पुनर्विशेषाकारेण विधत्ते,—“गायत्रीः  
पुरस्तादुपदधाति तेजो वै गायत्री तेज एव मुखतो धत्ते” (५।  
३।८अ०) इति । अग्निर्मूर्धेत्यादिभिर्गायत्रीच्छन्दोभिर्युक्तैर्मन्त्रैरुप-  
धेया इष्टका गायत्र्यः

मन्त्रेषु मूर्धञ्छब्दस्य तात्पर्यमाह,—“मूर्धन्वतोर्भवन्ति मूर्धा-  
नमवैन<sup>७</sup> समानानां करोति” (५।३।८अ०) इति । मूर्धञ्छब्द-

\* अग्निर्मूर्धेत्यादिभिरिति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

युक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका मूर्धन्वत्यः । समाभानां मध्ये यजमानस्य  
मूर्धत्वं शिरोवदुत्कृष्टत्वम् ।०

भुवो यज्ञस्येत्यादिभिस्त्रिष्टुप्कन्दोयुक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टकान्\*  
विधत्ते,—“चिष्टुभ उपदधातीन्द्रियं वै चिष्टुगिन्द्रियमेव मथ्यतो  
धत्ते” (५।३।८अ०) इति ।

जनस्य गोपा इत्यादिभिर्जगतोऽकन्दैर्भिर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका  
विधत्ते,—“जगतीरुपदधाति जागता वै पशवः पशूनेवावरुन्धे”  
(५।३।८अ०) इति ।

त्वम् चित्रश्रवेत्यादिभिरनुष्टुप्कन्दोयुक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका  
विधत्ते,—“अनुष्टुभ उपदधाति प्राणा वा अनुष्टुप् प्राणानाम्  
उत्सृज्यै” (५।३।८अ०) इति ।

‘एना वो अग्निम्’ इत्यादिभिः, ‘अग्ने वाजस्य’ इत्यादिभिः,  
‘आ ते अग्न इधीमहि’ इत्यादिभिः, ‘अग्ने तमग्न’ इत्यादिभिश्चोप-  
धेया विधत्ते,—“बृहतीरुष्णिहाः पङ्कीरचरपङ्कीरिति विषु-  
रूपाणि कन्दाः स्तुपदधाति विषुरूपा वै पशवः पशवः कन्दाः सि  
विषुरूपानेव पशूनवरुन्धे” (५।३।८अ०) इति । पूर्वोक्तेषु कन्दः सु  
समानाचराः सर्वे पादाः, बृहत्यादिषु विषमाचराः, अतो विषु-  
रूपत्वं । ‘पशवः’ अपि गोमहिषादयः परस्युरविलक्षणत्वाद्विषु-  
रूपाः कन्दसाञ्च पशुहेतुत्वात् पशुत्वं । अथ सति एतदुपधानेन  
वज्रविधान् पशूनाप्नोति ।

अथोपधानेन वेदनञ्च प्रशंसति,—“विषुरूपमस्य गृहे दृश्यते

अत्र उपधेया इष्टका इति पाठो भवितुं युक्तः ।



यस्यैता उपधीयन्ते 'य उ चेनाः एवं वेद' (५।३।८अ०) इति । 'विषुरूपं' (वज्रविधं धनं) ।

अग्निं होतारमिति मन्त्रेणोपधेयां विधत्ते,—“अतिच्छन्दसमुपदधात्यतिच्छन्दा वै सर्वाणि छन्दाः सर्वेभिरेवैनं छन्दोभिश्चिनुते वर्ध्म वा एषा छन्दसां यदतिच्छन्दा यदतिच्छन्दसमुपदधाति वर्ध्मैवैनं समन्मानां करोति” (५।३।८अ०) इति । गायत्र्यादीनां सर्वच्छन्दसां येयमन्तरसङ्ख्या तस्या अतिच्छन्दस्त्वाभावात् सर्वच्छन्दोरूपत्वं । किञ्च सर्वेषामन्तर्भावादेवैतदीयेष्टका अतिच्छन्दोभिधानादन्यासां छन्दोभिधानानां दृष्टकानां शरीरम् । अत एतदुपधानेन यजमानं समानानां पुरुषाणां शरीरस्थानं करोति, सर्वेऽप्येनमुपजीवन्तीत्यर्थः ।

‘अग्ने तन्नः’ इत्यादिभिरुपधेया दृष्टका विधत्ते,—“द्विपदा उपदधाति द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठत्यै” (५।३।८अ०) इति ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

अग्निं, स्तिस्रस्तु गायत्र्यो, भुवस्तु, त्रिष्टुभा त्रयं ।

जम्, तिस्रो जगत्यः सुस्तां चित्रानुष्टुभा त्रयं ॥

एना, तिस्रो बृहत्यः स्युरग्न इत्युष्णिहा त्रयं ।

आ ते, पंक्तित्रयं, ह्यग्नेऽन्तरपंक्तिचतुष्टयं ॥

अग्निमेका सतिच्छन्दा, अग्ने त्वं, द्विपदात्रयं ।

एतेन त्रिंशदेतानि छन्दांसुपदधाति हि ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके चतुर्थोऽनवाकः ॥ ० ॥

•इन्द्राग्निभ्यां त्वा सयुजा युजा युनज्म्याघारदभ्यां  
तेजसा कर्चसोक्थेभिः स्तोमैर्भिच्छन्दोभी रथ्यै पोषाय  
सजातानां मध्यमस्थेयाय मया त्वा सयुजा युजा  
युनजिम<sup>(१८)</sup> अम्बा दुला निततिरभयन्ती मेघयन्ती  
वर्षयन्ती चुपुणीका नमसि प्रजपतिना त्वा विश्वा-  
भिर्धोभिरुपदधामि<sup>(१९)</sup> पृथिव्युदपुरमन्त्रेन विष्टा  
मनुष्यास्ते गोप्तारोऽग्निर्वियतोऽस्यां तामहं प्रपद्ये  
सा ॥ १ ॥

मे शर्म च वर्म चास्तु<sup>(२०)</sup> अधि द्यौरन्तरिक्षं ब्रह्मणा  
विष्टा मरुतस्ते गोप्तारो वायुर्वियतोऽस्यां तामहं प्रपद्ये  
सा मे शर्म च वर्म चास्तु<sup>(२१)</sup> द्यौरपराजिताऽमृतैर्न  
विष्टादित्वास्ते गोप्तारः सूर्या वियतोऽस्यां तामहं  
प्रपद्ये सा मे शर्म च वर्म चास्तु<sup>(२२)</sup> ॥ २ ॥

सा । अष्टाचत्वारिंशच्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

चतुर्थेऽनुवाके छन्दोभिधानां दृष्टका उक्ताः १४ अथ पञ्चमे  
संयुगादय दृष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'इन्द्राग्निभ्यां त्वा सयुजा  
युजा युनज्मोत्यथै सयुजः' इति । पाठस्तु,—“इन्द्राग्निभ्यां त्वा

सयुजः युजा युनज्मन्<sup>१</sup> आराभ्यां तेजसा वर्चसेऽव्येभिः स्तोमेभि-  
 ष्वन्द्वाभी रथ्यै पोषाय सजातानां मध्यमस्येयाय मया त्वा  
 सयुजा युजा युनज्मि<sup>(१-८)</sup>” इति । सह योजयतीति सयुक्, उत्तरेण  
 युक्शब्देन सम्बन्धोऽभिधीयते । हे इष्टके, ‘इन्द्राग्निभ्यां’ सह  
 योजयिता यः सम्बन्धः, तेन सम्बन्धेनाहं त्वां ‘युनज्मि’ (इह  
 चेत्त्रे युक्तां करोमि) । ‘आघाराभ्याम्’ इत्यादिभिः सप्तभिस्तृ-  
 तीयान्तैः सह प्रत्येकं ‘त्वा सयुजा’ इत्यादिशेषस्थानुषङ्गे सति  
 षण्मन्त्राः सम्पद्यन्ते । ‘आघारौ’ (आहुतौ), ‘तेजः’ (कान्तिः);  
 ‘वर्चः’ (धनं), ‘उक्थानि’ (शस्ताणि), ‘स्तोमानि’ (स्तोत्राणि),  
 ‘ह्रन्दांसि’ (गायत्र्यादीनि) । ‘रथ्या’ इत्यादिरष्टमो मन्त्रः । ‘रथ्यै’  
 (धनार्थं), ‘पोषाय’ (पुष्ट्यर्थं) । ‘सजातानां मध्यमस्येयाय’ (ज्ञातीनां  
 मध्ये मुख्यत्वेनावस्थानार्थं, हे इष्टके, ‘मया’ सह तव योजना यः  
 सम्बन्धस्तेन सम्बन्धेन त्वां इह चेत्त्रे युक्तां करोमि । . . .

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“सर्वाभ्यो वै देवताभ्यो-  
 ऽग्निश्चीयते यत् सयुजो नोपदध्यादेवता अस्याग्निं वृञ्जीरन्  
 यत्सयुज उपदध्यात्मात्मनैवैनं सयुजं चिनुते नाग्निना कृध्यतेऽथो  
 यथा पुरुषः स्वावभिः सन्तत एवमेवैताभिरग्निः सन्ततः” (५।३।  
 ८ अ०) इति । योऽग्निं चीयमानः ‘अग्निः’ स सर्वदेवतार्थः । तथा  
 सति सयुगाख्यानामिष्टकानामनुपधाने सति ‘अस्याग्निं’ इन्द्रा-  
 ग्न्याघारादिर्चेत्तताः परित्यजेयुः । देवताभिः सहाग्निं योजय-  
 न्तीति सयुजो मन्त्राः । तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपि ‘सयुजः’ ।  
 साहस्राभ्यां सति यजमानः स्वेन सह योजयित्वाऽग्निं क्षितवान्

भवति । ततो नाग्निना विद्युक्तो भवति । अपि च यथा लोके पुरुषः स्त्रावभिः शरीरे सर्वतो व्याप्तः तद्वदेताभिरिष्टकाभिरग्निः सर्वतो व्याप्तो भवति, तस्मादेता उपदध्यात् ।

कल्पः, 'अम्ना नामासीति' सप्त छत्तिका' इति । पाठस्तु,—  
 “अम्ना दुला नितमिरभयन्ती मेघयन्ती वर्षयन्ती चुपुणीका  
 नामासि प्रजापतिना त्वा विश्वाभिर्धीभिरुपदधामि(८-१५)” इति ।  
 अम्नादिचुपुणीकान्तानि सप्त पदानि सप्तानां छत्तिकादेवीनां  
 नामानि । ‘नामासि’ इत्यादिशेषः सर्वेष्वपि पदेष्वनुषज्यते, ततः  
 सप्तैते मन्त्राः । हे इष्टके, या इष्टका ‘अम्ना’नामा तद्रूपा  
 त्वम् ‘असि’, तादृशी त्वं ‘प्रजापतिना’ देवेन प्रेरिता, या अस्माद्-  
 बुद्ध्यः ताभिः सर्वाभिः ‘उपदधामि’, (सावधानोऽहं बुद्धि-  
 वैचित्र्येण सम्यगुपदधामीत्यर्थः) । एवं ‘दुला’ ‘नामासि’ इत्यादिकं  
 श्रोजनीयम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“अग्निना वै देवाः सुवर्गं  
 लोकमायन् ता अमूः छत्तिका अभवन् यस्यैता उपधीयन्ते  
 सुवर्गमेव लोकमेति गच्छति प्रकाशं चित्रमेव भवति” (५।३।८)  
 इति । पूर्वमेताभिरिष्टकाभिस्त्रितेन ‘अग्निना’ ‘देवाः’ स्वर्गं प्राप्ताः,  
 ‘ताः’ च इष्टकाः तैः सह गत्वा तत्र ‘अमूः’ (दृश्यमानाः छत्तिकाः)  
 ‘अभवन्’ अतस्तदुपधानेन स्वर्गप्राप्तिः भवति । किञ्च अनेन  
 स्वर्गे ‘प्रकाशं’ प्राप्नोति, ‘चित्रम्’ (आभरणादिकं) च अस्मि  
 ‘भवति’ ।

कल्पः, ‘पृथिव्युदपुरमन्त्रेनेति मण्डलेष्टकाम्’ इति । पाठस्तु,—

“पृथिव्युदपुरमन्नेन विष्टा मनुष्यास्ते गोप्तादोऽग्निर्वियत्तोऽस्यां तामहं प्रपद्ये सा मे शर्म च वर्म चास्तु<sup>(१९)</sup>” इति । ‘अन्नेन’ ‘विष्टा’ (अन्नेन सम्पूर्णा) या पृथिवी, हे इष्टके, सा ‘पृथिवी’ ‘उदपुरं’ (उदसम्पूर्णं?) । ‘मनुष्याः’ ‘ते’ (तत्र) ‘गोप्तारः’ (रक्षितारः), ‘अस्यां’ (पृथिव्याम्) ‘अग्निर्वियत्तः’ (रक्षणाय विशेषेण प्रयत्नवान्), तादृशीं पृथिवीरूपां ‘तां’ (इष्टकाम्) ‘अहं’ ‘प्रपद्ये’ (प्राप्नोमि) । ‘सा’ (तथाविधेष्टका) ‘मे’ (मम) यजमानस्य ‘शर्म’ (शरणं, गृहस्थानं) ‘अस्तु’, ‘वर्म’ ‘च’ रक्षणाय (कवचस्थानीयम्) अग्नि ‘अस्तु’ ।

कल्पः, ‘अधिद्यौरिति मण्डलेष्टकाम्’ इति । पाठस्तु,—  
“अधिद्यौरन्तरिचं ब्रह्मणा विष्टा भरतस्ते गोप्तारो वायुर्वियत्तोऽस्यां तामहं प्रपद्ये सा मे शर्म च वर्म चास्तु<sup>(१०)</sup>” इति । ‘ब्रह्मणा विष्टा’ (प्रौढेन जनेन विष्टा युक्ता) ‘अधिद्यौः’ द्विवेदस्याधिका या\* पूः, सा ‘अन्तरिचं’ (अन्तरिचनामकं) हे इष्टके, तव पुरं ‘भरतः’ (वायवः), तेव्येको मुख्यो वायुः । शेषं पूर्ववत् ।

कल्पः, ‘द्यौरपराजितेति मण्डलेष्टकाम्’ इति । पाठस्तु,—  
“द्यौरपराजितामृतेन विष्टादित्यास्ते गोप्तारः सूर्यो वियत्तोऽस्यां तामहं प्रपद्ये सा मे शर्म च वर्म चास्तु<sup>(१५)</sup>” इति । ‘अमृतेन विष्टा’ (पीयूषेण पूर्णा), ‘द्यौः’ (द्युलोकाख्या) हे इष्टके, तव पूः, तेनापि ‘अपराजिता’ । ‘आदित्या’ द्वादशमह्याकाः तेव्येकोऽप्युमुख्यः सूर्यः । शेषं पूर्ववत् ।

\* अधिकायाः इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“मण्डलेष्टका उपदध्याति  
इमे वै लोका मण्डलेष्टका इमे खलु वै लोका देवपुरा देवपुरा  
एव प्रविशति नार्त्तिमार्च्छत्यग्निं चिक्यागः” (५।३।६अ०) इति ।  
मण्डलाख्या इष्टकास्तिस्रः प्रथममध्यमोत्तमचितिषूपदध्यात् ।  
तासां चेष्टकानां लोकत्रयरूपत्वात् लोकत्रयस्य देवपुरत्वात् ‘देवपुरा  
एव’ अग्निचित् ‘प्रविशति’ ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

इन्द्रेति सयुजस्वष्ट, आघारादिपदेष्वपि ।

अनुषङ्गस्वेति तथा ‘रथा’ इत्यष्टमो मतः ॥

अम्बेति कृत्तिकाः सप्त, नामासीत्यनुषज्यते ।

पृथि,—त्रिभिर्मण्डलाख्या मन्त्रा अष्टादशेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवोये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

वृहस्पतिस्त्वा सादयतु पृथिव्याः पृष्ठे ज्योतिष्मतीं  
विश्वस्मै प्राणायानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छामिस्तेऽधि-  
पतिः<sup>(१)</sup> विश्वकर्मा त्वा सादयन्त्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योति-  
ष्मतीं विश्वस्मै प्राणायानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ  
वायुस्तेऽधिपतिः<sup>(२)</sup> प्रजापतिस्त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे

ज्योतिष्मतीं विश्वस्मै प्राणायामाय विश्वं ज्योति-  
परमेष्ठी तेऽधिपतिः<sup>(१)</sup> पुरोवातसनिरस्यभ्रसनि-  
रसि विद्युत्सनिः ॥ १ ॥

असि स्तनयितुसनिरसि दृष्टिसनिरसि<sup>(४-८)</sup> अग्ने-  
र्यान्धसि देवानामग्रेयान्धसि<sup>(९-१०)</sup> वायेर्यान्धसि देवा-  
नां वायेयान्धसि<sup>(११-१२)</sup> अन्तरिक्षस्य यान्धसि दे-  
वानामन्तरिक्षयान्धसि<sup>(१३-१४)</sup> अन्तरिक्षमस्यन्तरिक्षाय  
त्वा<sup>(१५-१६)</sup> सलिलाय त्वा सणीकाय त्वा सतीकाय त्वा  
केताय त्वा प्रचेतसे त्वा विवस्वते त्वा दिवस्त्वा ज्योतिष  
आदित्येभ्यस्त्वा<sup>(१७-१८)</sup> अर्चे त्वा रुचे त्वा द्युते त्वा,  
भासे त्वा ज्योतिषे त्वा<sup>(१९-२०)</sup> यशोदां त्वा यशसि  
तेजोदां त्वा तेजसि पयोदां त्वा पयसि वर्चोदां त्वा  
वर्चसि द्रविणोदां त्वा द्रविणे सादयामि तेनर्षिणा  
तेन ब्रह्मणा तथा देवतयाज्जिरस्वद्भुवा सीद<sup>(२०-२४)</sup> ॥२॥

विद्युत्सनिः । द्युते त्वा । एकान्नचिः५शच्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

पञ्चमेऽनुवाके सयुजाद्या इष्टका उक्ताः । अथ षष्ठे विश्व-  
ज्योतिराद्या इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'दृष्टस्यतिस्त्वा सादयतु

पृथिव्याः पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति विश्वज्योतिषाम्\* इति । पाठस्तु,—“दृहस्यतिस्त्वा सादयतु । पृथिव्याः पृष्ठे ज्योतिष्मतीं विश्वस्यै प्राणायामनाय विश्वं ज्योतिर्यच्छाग्निस्तेऽधिपतिः<sup>(१)</sup>” इति । हे । दृष्टके, त्वां ‘दृहस्यतिः’ ‘पृथिव्याः’ ‘पृष्ठे’ (उपरि) स्थापयतु । कीदृशीं त्वां ?—‘ज्योतिष्मतीं’ (प्रकाशवतीं) । किमर्थं ?—‘विश्वस्यै’ ‘प्राणायामनाय’ ।

कल्पः, ‘विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति विश्वज्योतिष्मतीमिति । विश्वज्योतिषम्’ इति । पाठस्तु,—“विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीं विश्वस्यै प्राणायामनाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ वायुस्तेऽधिपतिः<sup>(१)</sup>” इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

कल्पः, ‘प्रजापतिस्त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति विश्वज्योतिषम्’ इति । पाठस्तु,—“प्रजापतिस्त्वा सादयतु दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मतीं विश्वस्यै प्राणायामनाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ वरमेष्टी† तेऽधिपतिः<sup>(१)</sup>” इति । एतदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“विश्वज्योतिष उपदधातो-मानेवैताभिर्लोकान् ज्योतिष्मतः कुरुतेऽथो प्राणानेवैता यजमानस्य दाभ्रत्येता वै देवताः सुवर्ग्यास्ता एवांश्चारभ्य सुवर्गं लोकमेति” (५।३।८ अ०) इति । विश्वशब्दोपेतैश्च मन्त्रैर्द्विपध्या ‘विश्वज्योतिषः,’

\* एवमेव सर्वत्र पाठः । विश्वज्योतिषमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अधिक इव पाठः प्रतिभाति ।

‡ अत्र परमेष्टीति टकारयुक्तः सर्वेषु भाष्येषु पाठो न सम्बन्धः ।



ताश्च तिस्रः प्रथममध्यमोत्तमचित्तिषु उपदध्यात्, तदुपधानेन लोकान् प्रकाशवतः करोति । किञ्च 'एता इष्टका 'यजमानस्य' प्राणान् दृढं धारयन्ति । एतेषु मन्त्रेषु प्रतीयमाना वृहस्पत्यादयः 'एता' 'देवताः' स्वर्गयोग्याः 'ता' 'एव' अनुसृत्येष्टका उपधाय स्वर्गं प्राप्नोति ।

कल्पः, 'पुरोवातसनिरसोति पञ्च वृष्टिसनोरनुपरिहारम्' इति । पाठस्तु,—“पुरोवातसनिंरस्यभसनिरसि विद्युत्सनिरसि स्तनयित्सुसनिरसि वृष्टिसनिरसि<sup>(४-८)</sup>” इति । पुरो वातं सनोति ददातीति 'पुरोवातसनिः', हे इष्टके तथाविधां त्वम् 'असि' । एवमभ्रादिषु योज्यम् ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं\* विधत्ते,—“वृष्टिसनोरुपदधाति वृष्टिमेवावरुन्धे” (५।३।१०अ०) इति । 'वृष्टिसनिशब्दयुक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वृष्टिसनयः । तदुपधानेन वृष्टिं प्राप्नोति ।

एकप्रयत्नोपधानं वारयितुमनुक्रमेण परितो हत्वा हत्वा तदुपधानं विधत्ते,—“यदेकधोपदध्यादेकमृतुं वर्षेदनुपरिहारः सादयति तस्मात् सर्वान् ऋतून् वर्षति” (५।३।१०अ०) इति । एकामिष्टकां† हस्ते धत्वा चयनचेत्रं प्रदक्षिणोक्त्योपदध्यात् । एवमनुक्रमेणोपधाने सति सर्वेष्वप्यृतुषु वृष्टिर्भवति ।

मन्त्रेषु पुरोवातादिशब्दानां तात्पर्यं दर्शयति,—“पुरोवातसनिरसोत्पादैतद्वै वृष्ट्यै रूपः रूपेणैव वृष्टिमवरुन्धे” (५।३।

\* 'विधानं' इत्यधिकः पाठः का० ह० पुस्तकेऽस्ति ।

† अथ इष्टका इति निरनुस्वारः पाठो न सम्यक् ।

१० अ०) इति । पुरोक्ताताभ्रविद्युत्स्नानचिन्तुवर्षणानि मिलित्वा पञ्च दृष्टेः स्वरूपम्, अतो 'दृष्टिवाचिना मन्त्रेणैव दृष्टिं प्राप्नोति ।

कल्पः, 'अग्नेर्यान्वसीति द्वे संयान्यौ' इति । पाठस्तु,— 'अग्नेर्यान्वसि देवानामग्नेर्यान्वसि<sup>(९-१०)</sup>' इति । हे इष्टके, त्वम् 'अग्नेः' (चीयमानस्य वक्त्रेः) 'यानी' (प्रापिका) 'असि' । अनेन मन्त्रेण यजमानस्यापि प्राप्तिरुक्ता । द्वितीये देवानामग्निप्राप्तिरुच्यते । हे 'अग्ने' (त्वं) 'यानी' (प्राप्नोतीत्येतादृग्गुच्चारणं) यस्याम् इष्टकायां सेयम् 'अग्नेयानी' । इष्टके देवानां सम्बन्धिनी तथाविधा त्वम् 'असि' ।

कल्पः, 'वायोर्यान्यसीति द्वे संयान्यौ' इति । पाठस्तु,— "वायोर्यान्यसि देवानां वायोयान्यसि<sup>(११-१२)</sup>" इति । पूर्ववद्वाख्येय ।

कल्पः, 'अन्तरिक्षस्य यान्यसीति द्वे संयान्यौ' इति । पाठस्तु,— "अन्तरिक्षस्य यान्यसि देवानामन्तरिक्षयान्यसि<sup>(१२-१४)</sup>" इति । एतदपि पूर्ववद्वाख्येयं ।

कल्पः, 'अन्तरिक्षमस्यन्तरिक्षाय त्वेति द्वे संयान्यौ' इति । पाठस्तु,— "अन्तरिक्षमस्यन्तरिक्षाय त्वा<sup>(१५-१६)</sup>" इति । हे इष्टके, त्वं अन्तरिक्षरूपासि । हे द्वितीयेष्टके, अन्तरिक्षप्रोत्यर्थं त्वाम् उपदधामीति शेषः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,— "संयानोभिर्वै देवा इमां लोकान्तमयुस्तसंयानीनां संयानोत्वं यत्संयानीरुपदधाति यथास्तु नावा संयान्येवमेवैताभिर्यजमानं इमां लोकान्तंयानी" (५।३। १० अ०), इति । संयानीशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टकाः संयान्यः ।

ताभिः 'देवाः' 'इमान्' 'लोकान्' सम्यक् प्राप्ताः । ततः सम्यक्  
यान्ति लोकानाभिरिति संयानीशब्दो व्युत्पन्नः, तदुपधाने सति  
यथा लोके नद्यादिजलेषु नावा परतीरं सम्यग् याति, एवम्  
'एताभिः' 'लोकान्' सम्यक् प्राप्नोति ।

पूर्वं नौदृष्टान्तेन प्रशंसा कृता, अथ स्वरूपत्वमारोप्य  
प्रशंसति,—“स्वो वा एषोऽग्नेर्यत्संयानीर्यत्संयानीरूपदधाति स्वरु-  
मेवैतमग्नय उपदधाति” (५।३।१० अ०) इति । चीयमानस्याग्नि-  
समुद्रस्य संयानीसमूहोऽयं स्वरूपः, अतस्तदुपधानेनाग्न्यर्थं  
स्वरूपमेवोपदधाति ।

प्रकारान्तरेण पुनः प्रशंसति,—“उत यस्मैताम्रपहितास्त्रापो-  
ऽग्निः हरत्यहत् एवास्याग्निः” (५।३।१० अ०) इति । अपि च  
तदुपधानादूर्द्धां यदि कथञ्चित् बज्जलदृष्टिं सम्पादितप्रवाहेण\*  
चीयमानो हतो भवेत् तथापि 'अस्य' (यजमानस्य) 'अग्निः'  
'अहत्' 'एव' भवति ।

कल्पः, 'सलिलाय त्वेत्यष्टावादित्येष्टका' इति । पाठस्तु,—  
“सलिलाय त्वा सर्णीकाय त्वा सतीकाय त्वा केताय त्वा प्रचेतसे  
त्वा त्रिवस्वते त्वा दिवस्त्वा ज्योतिष आदित्येभ्यस्त्वा<sup>(१०-१४)</sup>” इति ।  
सलिल-सर्णीक-सतीकशब्दा जलावान्तरविशेषवाचिनः,—यस्मिन्  
बज्जले जले पतितं वस्तु स्नेहं भवति, तद्बज्जलजलं 'सलिल' । हे  
दृष्टके, तथाविधजलसिद्ध्यर्थं त्वाम् उपदधामि । एवमुत्तरत्रापि

\* एवमेव सर्वत्र पाठः । तदुपधानादूर्द्धं यदि कथञ्चित् बज्जल-  
दृष्टिसम्पादितप्रवाहेण इति पाठस्तु भवितुं युक्तः ।

योऽयं । प्रवाहरूपेण सरणशीलं जलं 'सर्णिकं' । तच्चैव सङ्गावमापन्नं जलं 'सतीकं' । 'केतो' शान्तमात्रं । 'प्रचेतः' प्रकृतज्ञानं । विशेषेण वासहेतुः\* स्वर्गप्रकाशो हि 'विवस्वान्' । द्यूलोकवर्त्ता नक्षत्रादि-प्रकाशो 'दिवो' 'ज्योतिः' । आदित्यः प्रसिद्धाः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“आदित्येष्टका उपदधा-  
त्यादित्या वा एतं भृत्यै प्रतिनुदन्ते योऽलं भृत्यै सन् भूतिं न  
प्राप्नोत्यादित्या एवैनं भूतिं गमयन्त्यसौ वा एतस्यादित्यो रुच-  
मादन्ते योऽग्निं चित्वा न रोचते यदादित्येष्टका उपदधात्यसा-  
वेवास्मिन्नादित्यो रुचं दधाति यथासौ देवानां रोचत एवमेवैष  
मनुष्याणां रोचते” (५।२।१० अ०) इति । आदित्यशब्दोपेतै-  
र्मन्त्रैरुपधेया 'आदित्येष्टकाः' । 'यः' राजा अमात्यादिपुत्रत्वेन भृत्यर्थं  
समर्थोऽपि 'भूतिं न प्राप्नोति', 'एनम्' 'आदित्या' एव भूतेर-  
पनयन्ति, अतस्तस्यादित्येष्टकोपधानेन आदित्या एव भूतेः प्राप-  
यितारो भवन्ति । 'यः' (यजमानः) उक्तक्रमेण 'अग्निं चित्वा'  
अपि-मनुष्येभ्यो न 'रोचते' । अयमग्निचिदित्येवं मनुष्या वज्रमानं  
न कुर्वन्ति, तदानीमस्याग्निचितो 'रुचं' (प्रीतिम्) 'आदित्य' उप-  
'आदन्ते' । तस्यादित्येष्टकोपधाने सति आदित्य एव तस्मिन् स्थाप-  
यति । ततः शास्त्रीयवचनेन यथा देवानां प्रियः 'एवमेव'  
मनुष्याणां प्रियो भवति । ततः—

“अग्निचित् कपिला सत्री राजा भिनुर्महोदधिः ।

\* वसहेतुरिति का० स० पु० ।

दृष्टमात्राः पुनर्न्येते तस्मात् पश्येत नित्यशः” ॥ \*

इत्यादस्यतिविषयत्वेनैवं मनुष्या गणयन्ति ॥

कल्पः, ‘अचे त्वा इचे त्वेति पञ्च घृतेष्टकाः’ इति । पाठस्तु,—  
“अचे त्वा इचे त्वा द्युते त्वा भांसे त्वा ज्योतिषे त्वा (१५-१९)”  
इति । हे इष्टके, पादबद्धं\* मङ्गसाध्यस्तुत्यर्थं त्वाम् उपदधामि ।  
एवमुत्तरत्रापि योज्यं । प्रकाशवाचिनी ‘इक्’ । ‘द्युत्’-‘भा’-  
‘ज्योतिः’-शब्दा आदित्यचन्द्राग्निचक्षदोप्तिविषयतया क्रमेण  
व्याख्येयाः ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“घृतेष्टका उपदधात्येतद्वा  
अग्नेः प्रियं धाम यद्वृतं प्रियेणैवैनं धाम्ना समर्द्धयत्यथो तेजसा”  
(५।३।१० अ०) इति । घृतपिण्डा एव ‘घृतेष्टकाः’ । अमृतमयीषु  
इष्टकासु सूत्रकारेण परिगणितत्वात् घृतस्याग्निप्रियद्रव्यत्वात्  
तेनाग्निः समृद्धो भवति । किञ्च ‘तेजसा’ अपि युक्तो भवति ।

तत्रापि पूर्ववदेकैकस्या इष्टकायाः प्रदक्षिणावृत्तिपूर्वकत्वं वि-  
धत्ते,—“अनुपरिहारं सादयत्यपरिवर्गमेवास्मिन् तेजो दधाति”  
(५।३।१० अ०) इति । परितः क्वापि वर्जनं कृत्वा† सर्वतो  
यजमाने ‘तेजः’ स्थापयति ।

कल्पः, ‘यशोदां त्वेति पञ्च यशोदा’ इति । पाठस्तु,—  
यशोदां त्वा यशसि तेजोदां त्वा तेजसि पयोदां त्वा पयसि वर्चोदां  
त्वा वर्चसि इविणोदां त्वा इविणे सादयामि तेनर्षिणा तेन

\* पादबद्ध-इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अकृत्वा इति पाठो भवितुं युक्तः ।

ब्रह्मणा तथा देवतयाङ्गिरस्वद्भुवा सोदुं<sup>(१०-१४)</sup>” इति । ‘यशः’ कीर्तिः । ‘तेजः’ कान्तिः । ‘वर्चः’ बलं । ‘पयः’ क्षीरं । ‘द्रविणं’ धनं । हे इष्टके, यशःप्रदां तां यशोनिमित्तं ‘सादयामि’ । ‘केन सह’—यस्त्वदभिन्न ऋषिः, यच्च ब्रह्मत्वप्रतिपादकं मन्त्रवाक्यं, या च त्वदभिमानिनी देवता; तैः सर्वैः सह त्वाम् अहं ‘सादयामि’ । यथा अङ्गिरसः सादयन्ति तद्वत् । एवं ‘तेजोदां ता’ इत्यादिषु त्रुतुर्षु मन्त्रेषु सादयामीत्यादिकं सर्वमनुषज्य व्याख्येयम् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“प्रजापतिरग्निमचिनुत स यशसा व्यार्धत स एता यशोदा अपश्यत् ता उपाधत्त ताभिर्वै स यश आत्मन्धत्त यद्यशोदा उपदधाति यश एव ताभिर्यजमान आत्मन्धत्ते” (५।३।१० अ०) इति । अग्निं चित्वाप्येतासामनुपधानात् ‘प्रजापतिः’ यशसा वियुक्त आसीत् । तत एता दृष्ट्वा ता उपधाय यशो लब्धवान् । एवं यजमानोऽपि तदुपधानेन यशो लभते ।

इष्टकासङ्ख्यां विधत्ते,—“पञ्चोपदधाति पाङ्क्तः पुरुषो यावानेव पुरुषस्तस्मिन् यशो दधाति” (५।३।१० अ०) इति । हस्तपादशिरोभिः पञ्चभिरवयवैः पुरुषस्य पाङ्क्तत्वम् ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

वृह,—विश्व,—प्रजेत्येता विश्वज्योतिष ईरिताः\* ।

मुरो,—दृष्टिमनोः पञ्च, छाग्रेः, संधानिकाष्टकम् ॥

मृग्यादित्येष्टका अष्टावृषे पञ्च घृतेष्टकाः ।

यशः,—पञ्च यशोदाः स्युः सादयाम्यनुषण्यते ।

षष्ठानुवाके संप्रोक्ताश्चतुस्त्रिंशन्तु मन्त्रकाः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवोद्ये वेदार्थप्रकाशे दृष्टयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

भूयस्कुदसि वरिवस्कुदसि प्राच्यस्युद्धास्यन्तरिक्ष-  
सदस्यन्तरिक्षे सीद<sup>(१-५)</sup> असुषदसि श्येनसदसि गृध्रस-  
दसि सुपर्णसदसि नाकसदसि<sup>(१-१०)</sup> पृथिव्यास्त्वा द्रविणे  
सादयाम्यन्तरिक्षस्य त्वा द्रविणे सादयामि दिवस्त्वा  
द्रविणे सादयामि दिशां त्वा द्रविणे सादयामि द्रवि-  
णोदां त्वा द्रविणे सादयामि<sup>(११-१५)</sup> प्राणं मे पाह्यपानं  
मे पाहि व्यानं मे ॥ १ ॥

पाह्यायुर्मे पाहि विश्वायुर्मे पाहि सर्वायुर्मे पाहि<sup>(१६-१९)</sup>  
अग्ने यत्ते परं हन्नाम तावेहि सः रभावहि पाञ्च-  
जन्येष्वप्येध्यमे<sup>(२०)</sup> यावा अयावा एवा जमा सन्नः सर्गरः  
सुमेकः<sup>(२१-२६)</sup> ॥ २ ॥

व्यानं मे । दाचिः शच्च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

• षष्ठेऽनुवाके त्रिंशज्जोतिरादय इष्टका उक्ताः । अथ सप्तमे भूयस्कादादय इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, ‘भूयस्कादसीति पञ्च भूयस्कातः’ इति । पाठस्तु,—“भूयस्कादसि वरिवस्कादसि प्राच्य-  
सूङ्गास्यन्तरिक्षसदस्यन्तरिक्षे सीद<sup>(१-५)</sup>” इति । हे इष्टके, त्वं, ‘भूयो’ (वाङ्मयं) करोतीति ‘भूयस्कात्’, तथाविधा ‘असि’ । एवमुत्तरत्रापि योज्यं । ‘वरिवो’ (भूमेः पूज्यत्वं) करोतीति ‘वरिवस्कात्’ ।  
स्यष्टमन्यत् ।

• एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“देवासुराः संयन्ता आसन्, कनीयांऽसौ देवा आसन्, भूयाऽसौऽसुरास्ते देवा एता इष्टका अपश्यन्, ता उपादधन् भूयस्कादसीत्येव भूयाऽसौऽभवन्, वन-  
स्यतिभिरोषधीभिर्वरिवस्कादसीतीमामजयन्, प्राच्यसीति प्राचीं दिशमजयन्सूङ्गासीत्यमूमजयन्तरिक्षसदस्यन्तरिक्षे सीदेत्यन्तरिक्ष-  
मजयन् ततो देवा अभवन्, पराऽसुरा यस्यैता उपधीयन्ते भूयानेव भुवत्यभीमांलोकान् जयति भवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति”  
(५।३।११अ०) इति । देवाश्च असुराश्च यदा युद्धाद्योद्युक्ताः, तदा देवाः पुरुषसङ्ख्याया द्रव्यसम्यक्त्या\* च अल्पा भूत्वा तत्परि-  
हाराय ‘एता इष्टका’ दृष्ट्वा ‘ता’ उपधाय प्रथममन्त्रेण वनस्यत्यो-  
षंधिद्रव्यसम्यक्त्या तदुपलक्षितपुरुषसम्यक्त्या च अतिवज्रला अभवन् ।  
उपरितनैर्मन्त्रैर्भूम्यादिजयं प्राप्ताः, ततो देवां विजयिनोऽभवन्,  
असुराश्च पराभूताः । यजमानोऽप्येतासामुपधानेन तथा भवति ।

कल्पः, ‘असुषदसीति पञ्चाग्निरूपाणि’ इति । पाठस्तु,—

\* द्रव्यसङ्ख्याया चेति क० ह० पु० पाठः ।



“अप्सुषदसि श्येनसदसि गृध्रसदसि सुपर्णसदसि नाकसदसि(१-१०)” इति । योऽग्निरप्सु सोदति, हे इष्टके, तद्रूपा त्वम् ‘असि’ । आरुणकेतुकचयने, जानुदध्रोमुत्तरवेदिमङ्गिः पूरयित्वा तास्वग्नि- श्रीयते । श्येनगृध्रसुपर्णाः पक्षिविशेषाः, तत्तदाकारेण स्थितोऽग्निः श्येनसदादिशब्दैरुच्यते । नाके (स्वर्गे) वर्त्तमानोऽग्निः ‘नाकसत्’ ; तदाग्निरूपा इष्टके त्वम् ‘असि’ इति योज्यम् ।

मन्त्रेष्वप्सुषदादिपदानां भग्न्याकारवत्त्वं दर्शयति,—“अप्सुषदमि श्येनसदसीत्याहैतदा अग्निरूपः रूपेणैवाग्निमवरुन्धे” (५।३। ११अ०) इति । भग्न्याकारवाचिनां पदानां पाठेन योग्यरूपेण युक्तमग्निमेव प्राप्नोति । अग्निरूपवाचिभिर्मन्त्रैरुपधेयत्वादष्टका अग्निरूपपाणीत्येवाच्यन्ते ।

कल्पः, ‘पृथिव्यास्त्वा द्रविणे सादयामीति पञ्च द्रविणोदा’ इति । पाठस्तु,—“पृथिव्यास्त्वा द्रविणे सादयाम्यन्तरिक्षस्य त्वा द्रविणे सादयामि दिवस्त्वा द्रविणे सादयामि दिशां त्वा द्रविणे सादयामि द्रविणोदां त्वा द्रविणे सादयामि(११-१५)” इति । ‘पृथिव्याः’ सम्बन्धि यत् द्रविणं (धनं), तस्मिन् ‘द्रविणे’ ‘त्वां’ ‘सादयामि’ । एवमुत्तरत्रापि योज्यं । द्रविणप्रदां त्वाम् अनुक्त- विशेषेऽपि सर्वस्मिन् ‘द्रविणे’ ‘सादयामि’ ।

मन्त्राणां तात्पर्यं दर्शयति,—“पृथिव्यास्त्वा द्रविणे सादया- मोत्याहेमानेवैताभिर्लोकान् द्रविणावतः कुर्वते” (५।३।११अ०) इति ‘एताभिः’ एतन्मन्त्रसाध्याभिः, द्रविणोदाख्याभिर्द्रविणोदा- शब्दयुक्तैर्मन्त्रैरुपधेयत्वात् ‘द्रविणोदा’ इत्यासां नाम । १ •

कल्पः, 'प्राणं मे पाहीति वडायुष्याः' इति । पाठस्तु,—“प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाह्यायुर्मं पाहि विश्वायुर्मं पाहि सर्वायुर्मं पाहि(११-११)” इति । हे इष्टके, मदीयां प्राणवृत्तिं पालय । एवं सर्वत्र । स्वकीयायुषः साकल्यं विश्वशब्देनोच्यते । स्वसम्बन्धिषु पुत्राद्यायुष्यं\* सर्वशब्देनोच्यते ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“आयुष्या उपदधात्यायु-  
रेत्रास्मिन् दधाति” (५।३।११अ०) इति । आयुःशब्दोपेतैर्मन्त्रै-  
रुपधेयत्वादेता इष्टका ‘आयुष्याः’ ।

कल्पः, ‘अग्ने यत्ते परः हवामेत्यग्नेर्हृदयम्’ इति । पाठस्तु,  
—“अग्ने यत्ते परः हवाम तावेहि सः रम्भावहै पाञ्चजन्येष्वप्ये-  
ध्यग्ने(११)” इति । हे, ‘अग्ने’, ‘हृत्’ इति ‘यत्ते’ ‘परम्’ (उत्कृष्टं)  
‘नाम’, अनिष्टपापं हरतीति ‘हृत्’ तेन नाम्ना युक्तस्त्वम् ‘एहि’  
(सत्समीपमागच्छ) । ‘तौ’ (त्वञ्च अहञ्च इत्युभौ) आवां ‘संरम्भावहै’  
(सङ्गतौ कुर्मः† कुर्वः) । पञ्चजनशब्दः सञ्जायां समस्तत्वाद् व  
र्षितिवच्चकमाचष्टे । हे ‘अग्ने’, त्वं ‘पाञ्चजन्येष्वपि’ (पञ्चचिति-  
सम्बन्धेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु) ‘एधि’ (अवस्थितो भव) ।

मन्त्रस्य प्रथमपादे हृच्छब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्ने यत्ते  
परः हवामेत्याहैतदा अग्नेः प्रियं धाम प्रियमेवास्य धामो—  
पाप्नोति” (५।३।११अ०) इति । हृच्छब्दं वाच्यं पापहारिस्वरूप  
‘यत्’, तदेव ‘अग्नेः’ ‘प्रियं’ स्थानम् ।

मध्यममन्त्रे संरम्भावहै इत्यस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“तावेहि

\* स्वसम्बन्धिपुत्राद्यायुष्यमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† “कुर्मः” इति व्यधिक इव प्रतिभाति ।

सप्तमावहा इत्याह ध्येवैनेन परिधत्ते” (५।३।११अ०) इति ।  
सहानुष्ठानप्रार्थने सति ‘अनेन’ अग्निना स्वस्य परिधानं प्रावरणं  
विशेषेण कृतं भवति ।

ततोयभागे पाञ्चजन्यशब्दार्थं दर्शयति,—“पाञ्चजन्येव्यथेध्वग्ने  
इत्याहैष वा अग्निः पाञ्चजन्यो यः पञ्चचितीकस्तस्मादेवमाह”  
(५।३।११अ०) इति ।

कल्पः, ‘यावा अयावा इति सप्तर्त्तव्याः’ इति । पाठस्तु,—  
“यावा अयावा एवा ऊमाः सन्नः सगरः सुमेकः (११-१५)” इति ।  
यावाद्याः षट् शब्दा वसन्तद्युतुवाचिनः । सुमेकशब्दः संवत्सर-  
वाची । हे इष्टके त्वं तद्रूपासीति योज्यम् ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“ऋतव्या उपदधात्येतद्वा  
ऋतूनां प्रियं धाम यदृतव्या ऋतूनामेव प्रियं धामावरुन्धे ।  
सुमेक इत्याह संवत्सरो वै सुमेकः संवत्सरस्यैव प्रियं धाम्ने-  
पाप्नोति” (५।३।११अ०) इति । एतद्यावादिशब्दानामृतु-  
सम्बन्धित्वात् तैरुपधेया इष्टका अपि ‘ऋतव्या’ इत्युच्यन्ते ॥

अथ त्रिनियोगसंग्रहः,—

भूयो,—भूयस्कृतः पञ्च, पञ्चाप्सित्यग्निरूपकाः ।

पृथि,—पञ्च द्रविणोदाः, प्राणमायुष्यकास्तु षट् ॥

अग्ने,—ऽग्नेर्हृदयं प्रोक्तं, यावाः सप्त ऋतव्यकाः ।

अनुवाके सप्तमेऽस्मिन्नेकोनचिंशदीरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋण्यजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

अग्निना, विश्वाषाट्<sup>(१)</sup> सूर्येण स्वराट्<sup>(२)</sup> क्रत्वा  
 शचीपतिः<sup>(३)</sup> ऋषभेण त्वष्टा<sup>(४)</sup> यज्ञेन मघवान्<sup>(५)</sup>  
 दक्षिण्या सुवर्गो<sup>(६)</sup> मन्युना वृत्रहा<sup>(७)</sup> सौहार्द्येन  
 तनूधा<sup>(८)</sup> अन्नेन गयः<sup>(९)</sup> पृथिव्यासनोद्<sup>(१०)</sup> ऋग्मि-  
 रन्नादो<sup>(११)</sup> वषट्कारेणर्धः<sup>(१२)</sup> साम्ना तनूपा<sup>(१३)</sup> विराजा  
 ज्योतिष्मान्<sup>(१४)</sup> ब्रह्मणा सोमपा<sup>(१५)</sup> गोभिर्यज्ञं दा-  
 धार<sup>(१६)</sup> क्षत्रेण मनुष्यान्<sup>(१७)</sup> अश्वेन च रथेन च  
 वज्री<sup>(१८)</sup> ऋतुभिः प्रभुः<sup>(१९)</sup> संवत्सरेण परिभूः<sup>(२०)</sup>  
 तपसानाष्टष्टः<sup>(२१)</sup> सूर्यः संतनूभिः<sup>(२२)</sup> ॥ १ ॥

अग्निना । एकान्नपञ्चाशत् ॥ ८ ॥

• इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
 अष्टमोऽनुवाकः ॥०॥

सप्तमेऽनुवाके भूयस्त्रिदाद्या इष्टका उक्ताः । अथाष्टमे इन्द्र-  
 तन्वाख्या इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, ‘अग्निना विश्वाषाडिति  
 द्वाविंशतिमिन्द्रतनू’ इति । पाठस्तु,—“अग्निना विश्वाषाट्<sup>(१)</sup>  
 सूर्येण स्वराट्<sup>(२)</sup> क्रत्वा शचीपतिः<sup>(३)</sup> ऋषभेण त्वष्टा<sup>(४)</sup> यज्ञेन  
 मघवान्<sup>(५)</sup> दक्षिण्यां सुवर्गो<sup>(६)</sup> मन्युना वृत्रहा<sup>(७)</sup> सौहार्द्येन  
 तनूधा<sup>(८)</sup> अन्नेन गयः<sup>(९)</sup> पृथिव्याऽसनोद्<sup>(१०)</sup> ऋग्मिरन्नादो<sup>(११)</sup>

वषट्कारेणर्धः<sup>(११)</sup> सान्ना<sup>(१२)</sup> तनूपा<sup>(१३)</sup> विराजा ज्योतिष्मान्<sup>(१४)</sup>  
 ब्रह्मणा सोमपा<sup>(१५)</sup> गोभिर्यज्ञं दाधार<sup>(१६)</sup> चक्षेण मनुष्यान्<sup>(१७)</sup>  
 अश्वेनं च रथेन च वज्री<sup>(१८)</sup> ऋतुभिः प्रभुः<sup>(१९)</sup> संवत्सरेण  
 परिभूः<sup>(२०)</sup> तपसाऽनाष्टयः<sup>(२१)</sup> सूर्यः सन् तनूभिः<sup>(२२)</sup> इति । विश्वं  
 सहते तत्पालनप्रयासमङ्गीकरोतीति 'विश्वाषाट्' । 'अग्निना'  
 सह 'विश्वाषाड्' य इन्द्रः, हे इष्टके तद्रूपा त्वम् असि । एवं  
 सर्वत्र योज्यं । 'सूर्येण' सह स्वतो राजत इति 'स्वराट्'  
 इन्द्रः । 'क्रत्वा' (ज्योतिष्टोमादिप्रौढकर्मणा) सहितः । शच्याः  
 देव्याः 'पतिः' इन्द्रः । 'चक्षभेण' (वर्षित्रा धर्मेण) सह 'त्वष्टा'  
 (रूपकृत्) इन्द्रः । 'यज्ञेन' (अल्पेन पाकयज्ञेन) सहितो 'मघवान्'  
 (अन्नवान्) इन्द्रः । 'दक्षिण्या' (गवादिरूपया) 'सुवर्गः'  
 (स्वर्गलोकात्मको यः) इन्द्रः । 'मन्युना' (क्रोधेन सह) 'वृत्रहा'  
 (शत्रुघाती) इन्द्रः । सुहृदो भावः 'सौहार्द्य' स्नेहाद्विशयः, तेन  
 सहितः 'तनूधाः' (शरीरधारी) इन्द्रः । 'अन्नेन' सहितः 'गयः'  
 (गृहविशेषरूपः) इन्द्रः । 'पृथिव्या' सह 'असनात्' (द्रव्यादिदानं  
 कृतवान्) इन्द्रः । 'ऋग्भिः' मन्त्रविशेषैः सहितः, 'अन्नादो'  
 (हविर्लक्षणास्यान्नस्य भोक्ता) इन्द्रः । 'वषट्कारेण' (हविःप्रदानहेतुना)  
 सह 'ऋद्धः' (समृद्धः) इन्द्रः । 'सान्ना' (गीयमानमन्त्रेण) सह  
 'तनूपाः' (शरीरपालकः) इन्द्रः । 'विराजा' (दशाक्षरच्छन्दसा)  
 सह 'ज्योतिष्मान्' (प्रकाशवान्) इन्द्रः । 'ब्रह्मणा' (मुख्येन  
 ऋत्विजा, मन्त्रेण वा) सह 'सोमपाः' (सोमं पानस्य कर्त्ता) इन्द्रः ।  
 'गोभिः' (दक्षिणारूपाभिः) सह 'यज्ञं दाधार' (यज्ञधारकः)

इन्द्रः। 'क्षत्रेण' (राज्ञा) सह 'मनुष्यान्' दाधारेत्यनुवर्त्तते\* ।  
 योऽयम् अश्वः यश्च रथः, ताम्बासुभाभ्यां सह 'वज्री' (वज्रयुक्तः)  
 इन्द्रः। 'चतुभिः' (वसन्तादिभिः) सह 'प्रभुः' (फलदानसमर्थः)।  
 इन्द्रः। 'संवत्सरेण' (कालरूपेण) सह 'परिभूः' (परितो  
 व्याप्तवान्) इन्द्रः। 'तपसा' (अशनवर्जनधनदानादिरूपेण)  
 'अनाष्टुष्टः' (किनाप्यतिरस्त्रितः) इन्द्रः। 'तनूभिः' (द्वादशमूर्त्तिभिः)  
 सह 'सूर्यः सन्' (सूर्यरूपो भूत्वा) इन्द्रो वर्त्तते। हे इष्टके  
 तद्रूपा लमसि।

एतैर्मन्त्रैः सांध्यमुपधानं विधत्ते,—“देवासुराः संयन्ता आसन्  
 ते न यजयन्त स एता इन्द्रस्तनूरपश्यत् ता उपधत्त ताभिर्वै  
 स तनुमिन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्त ततो देवा अभवन् पराऽसुरा  
 यदिन्द्रतनूरुपदधाति तनुवमेव ताभिरिन्द्रियं वीर्यं यजमान  
 आत्मन्धत्तेऽशो सेन्द्रमेवाग्निः सतनुं चिनुते भवत्यात्मना परास्य  
 भ्रातृव्यो भवति” (५।४।१ अ०) इति। देवानामसुराणाञ्च  
 संग्रामे प्राप्ते दुर्बला देवा विजयं न प्राप्ताः, तदानीं विजयाय  
 'स' 'इन्द्रः' 'एताः' 'तनू'-नामिका इष्टका दृष्ट्वा तदुपधानेन  
 शरीरपुष्टिम् इन्द्रियपाटवं शौर्यपाटवञ्च धृतवान्। ततो देवानां  
 जयोऽसुराणां पराभवश्चासीत्। ततो यजमानोऽपि इन्द्रतनूनाम्  
 उपधानेन तथाविधो भवति। विश्वाषाँडित्यादिशब्दा इन्द्रतनू-  
 विशेषवाचकाः। तद्युक्तैर्मन्त्रैरुपधेयां इष्टका इन्द्रतन्वः†॥

\* “तथा मनुष्यधारक इन्द्रः” इत्यधिकः पाठ आदर्शपुस्तक एवास्ति।

† तनव इति का० ह० पु० पाठः। तनुव इति आदर्शपुस्तकपाठः।

अत्र विनियोगसंग्रहः—

अग्नीन्द्रतनुनामानो द्वाविंशतिरिति रीताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठकेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

प्रजापतिर्मनसान्धोऽच्छेतो<sup>(१)</sup> धाता दीक्षाया<sup>(२)</sup>  
सविता मृत्यां<sup>(३)</sup> पूषा सोमक्रयण्यां<sup>(४)</sup> वरुण उपनद्धो<sup>(५)</sup>  
असुरः ॥ क्रीयमाणो<sup>(६)</sup> मित्रः क्रीतः<sup>(७)</sup> शिपिविष्ट आ-  
सादितो<sup>(८)</sup> नरंधिषः प्रोक्ष्यमाणो<sup>(९)</sup> अधिपतिरागतः<sup>(१०)</sup>  
प्रजापतिः प्रणोयमानो<sup>(११)</sup> अग्निराग्नीध्रे<sup>(१२)</sup> दृहस्पति-  
राग्नीध्रात् प्रणोयमान<sup>(१३)</sup> इन्द्रो हविर्धाने<sup>(१४)</sup> अदिति-  
रासादितो<sup>(१५)</sup> विष्णुरुपावह्रियमाणो<sup>(१६)</sup> ऽथर्वोपोतो<sup>(१७)</sup>  
यमोभिषुतो<sup>(१८)</sup> अपूतपां आधूयमानो<sup>(१९)</sup> वायुः पूय-  
मानो<sup>(२०)</sup> मित्रः क्षीरश्रीः<sup>(२१)</sup> मन्थी सक्तुश्रीः<sup>(२२)</sup> वैश्वदेव  
उन्नीतो<sup>(२३)</sup> रुद्रः, आहुतो<sup>(२४)</sup> वयुराहुतो<sup>(२५)</sup> नृचक्षाः  
प्रतिस्थातो<sup>(२६)</sup> भक्ष आगतः<sup>(२७)</sup> पितृणां नाराशंसो<sup>(२८)</sup>  
ऽसुरात्तः<sup>(२९)</sup> सिन्धुरवमृथमवप्रयन्<sup>(३०)</sup> समुद्रोऽवैभतः<sup>(३१)</sup>  
सलिलः प्रभुतः<sup>(३२)</sup> सुवह्वचं गतः<sup>(३३)</sup> ॥ १ ॥

रुद्रः । एकविंशतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
नवमोऽनुवाकः ॥४॥

अष्टमेऽनुवाके इन्द्रतन्वाख्या इष्टका उक्ताः । अथ नवमे यज्ञ-  
तन्वाख्या इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'प्रजापतिर्मनसान्धोऽच्छेत इति  
चयस्त्रिंशतं यज्ञतनूः' इति । पाठस्तु,—“प्रजापतिर्मनसान्धो-  
ऽच्छेतो<sup>(१)</sup> धाता दोक्षाया<sup>(२)</sup> सविता भृत्यां<sup>(३)</sup> पूषा सोम-  
क्रयण्यां<sup>(४)</sup> वरुण उपनद्धः<sup>(५)</sup> असुरः क्रोयमाणो<sup>(६)</sup> मित्रः  
क्रोतः<sup>(७)</sup> शिपिविष्ट आसादितो<sup>(८)</sup> नरंधिषः प्रोह्यमाणः<sup>(९)</sup>  
अधिपतिरागतः<sup>(१०)</sup> प्रजापतिः प्रणीयमानः<sup>(११)</sup> अग्निराग्नीध्रे<sup>(१२)</sup>  
वृहस्पतिराग्नीध्रात् प्रणीयमानः<sup>(१३)</sup> इन्द्रो हविर्द्वाने<sup>(१४)</sup> अदिति-  
रासादितो<sup>(१५)</sup> विष्णुरुपावह्रियमाणः<sup>(१६)</sup> अथर्वोपोत्तो<sup>(१७)</sup> यमो-  
भिषुतः<sup>(१८)</sup> अपृतपा आधूयमानो<sup>(१९)</sup> वायुः पूयमानो<sup>(२०)</sup>  
मित्रः क्षीरश्रोः<sup>(२१)</sup> मन्यो सक्तुश्रोः<sup>(२२)</sup> वैश्वदेव उन्नीतो<sup>(२३)</sup>  
रुद्र आहुतो<sup>(२४)</sup> वायुरावृतो<sup>(२५)</sup> नृचक्षाः प्रतिख्यातो<sup>(२६)</sup> भक्ष-  
आगतः<sup>(२७)</sup> पितृणां नाराशंसः<sup>(२८)</sup> असुरान्तः<sup>(२९)</sup> सिन्धुरवभृथ-  
मवप्रयन्<sup>(३०)</sup> समुद्रोऽवगतः<sup>(३१)</sup> सलिलः प्रसृतः<sup>(३२)</sup> सुवरुद्वचं  
गतः”<sup>(३३)</sup> इति । अत्र सङ्कल्पमारभ्य समाप्तिपर्यन्तं ये सोम-  
यागाः, ते यज्ञपुरुषस्य तनुविशेषाः । तद्रूपत्वमिष्टकानामुच्यते ।  
यो यजमानोऽस्ति असौ, 'मनसा', 'अन्धः' (अन्धं) तेन तद्धेतुर्यज्ञ  
उपलक्ष्यते, यज्ञं 'अच्छेतः' (प्राप्तं गतः); मनसा यज्ञं करिष्यामि



इति सङ्कल्पितवानित्यर्थः । सोऽयं सङ्कल्पदशामापन्नो यज्ञस्य  
विग्रहः 'प्रजापति'-नामकः । हे इष्टके, तद्रूपा त्वमसि । 'दीक्षायां'  
सोऽयं विग्रहो यज्ञसम्बन्धी, स 'धाता' (धातुसदृशमूर्तिः) । हे  
इष्टके, तद्रूपा त्वमसि । एवं सर्वत्र योज्यं । 'भृतिः' यज्ञभिक्षा,  
तस्यां सविदसमानमूर्तिर्यज्ञतनुः । 'सोमक्रयणी' (एकहायनी  
गौः), तस्यां पूषसमानो\* यज्ञविग्रहः । 'उपनद्धः' (वस्त्रेण बद्धः)  
यः सोमः, स वरुणसमानशरीरो यज्ञपुरुषः । 'क्रियमाणः' यः,  
सोऽयम् 'असुरः' इन्द्रसमानविग्रहः । शत्रूनस्यति क्षिपतीति  
असुरः, असृन् (प्राणान्) राति (ददाति) इति वा असुरं । यः  
'क्रीतः' सोमः, सोऽयं मित्रसमानविग्रहो यज्ञः । 'आसादितः'  
यजमानस्य ल्हुरौ यः स्थापितः सोमः, सोऽयं 'शिपिविष्टः'  
(विष्णुसमानविग्रहो) यज्ञः । 'प्रेक्षमाणः' शकटेन प्राग्वशं प्रति  
नीयमानो यः सोमः, सोऽयं 'नरधिषः' (अग्निस्त्वमानविग्रहो)  
यज्ञः । नरैर्यजमानैर्धीयते अधीयते इति 'नगंधिषः' (अग्निः) ।  
'आगतः' प्राग्वंशे आसन्दीं प्रति समागतो यः सोमः, सोऽयम्  
'अधिपतिः' (अधिकं पालकः) य आहवनीयः, तत्समान-  
विग्रहः । 'प्रणीयमानः' प्राग्वंशादाग्नीधीयं प्रति नीयमानो यः  
सोमः, सोऽयं प्रजापतिसमानविग्रहः । 'आग्नीध्रे' अवस्थितो  
यः सोमः, सोऽयमग्निस्त्वमानविग्रहः । 'आग्नीध्रात्' हविर्धानं  
प्रति नीयमानो यः सोमः, सः वृहस्पतिसमानविग्रहः । 'हविर्धाने'

\* पूषं समान इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

प्रतिष्ठः “इन्द्र”-समानविग्रहः । ‘आमादितः’ (आसन्त्यां स्थापितः) सोमः ‘अदिति’-समानविग्रहः । ‘उपावह्मिण्यमाणः’ (शकटा-दधिध्ववणफलकस्थगन्धस्ववरोप्यमाणः) सोमः ‘विष्णु’-समान-विग्रहः । ‘उपोत्तः’ (वसतीवरीभिरङ्गिः क्लेदितः) सोमः ‘अथर्वा’ (अथर्वमहर्षिसमानविग्रहः) । ‘आधूयमानः’ (अदाभ्यगहे सोमां-शुभिश्चाख्यमानः) । अपूतं मूत्राद्युपहतं भूप्रदेशं पाति शोषयतीति\* विशेषेण शुद्धं करोतीति ‘अपूतपाः’ (आदित्यः) । ‘पूयमानः’ (दशापवित्रेण शोध्यमानः) सोमः ‘वायु’-समानविग्रहः । ‘क्षीरश्रीः’ (मैत्रावरुणगहे पयसा मिश्रितः) सोमः ‘मित्र’-समानविग्रहः । ‘सक्तुश्रीः’ (मन्थिगहे, सक्तुभिर्मिश्रितः) सोमो ‘मन्थी’ (मन्थि-गहदेवतारूपेन्द्रसमानविग्रहः) । ‘उन्नीतः’ (चमसेषु पूरितः सोमः) ‘वैश्वदेवः’ (विश्वेदेवैः समानविग्रहः) । ‘आजतः’ (वक्त्रै प्रक्षिप्तः) सोमः ‘रुद्र’-समानविग्रहः । ‘आवृतः’ (भक्षार्थं सदसि आनेतुं प्रतिनिवृतः) सोमः ‘वार्यु’-समानविग्रहः । ‘प्रतिख्यातः’ (भक्षार्थमपेक्षितः) सोमः ‘नृचक्षाः’ (मनुष्यदृष्टिसमानविग्रहः) । ‘आगतः’ (आस्यं प्रवेशितः) सोमः ‘भक्षः’ (वैश्वानरसमानविग्रहः) । भक्षयन्तीति व्युत्पत्त्या भक्षशब्दस्तदाचो । ‘नाराशंसः’ (भक्षितशेषः सन् पुनर्वसतीवरीभिराप्यायितः) सोमः पितृसमानविग्रहः । ‘अन्तः’ (अवष्टयगमनार्थं स्वीकृतः) सोमः, ‘असुः’ प्राणदेवतासमानविग्रहः ।

\* “शोषयतीति” इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† ‘आतः’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‘अवष्टयमवप्रयन्’ (अवष्टयकर्मार्थं मार्गे गच्छन्) सोमः “सिन्धुः”  
नदीदेवतासमानविग्रहः । ‘अवगतः’ (अवष्टयप्रदेशं प्राप्तः) सोमः  
समुद्रदेवतासमानविग्रहः । ‘प्रसृतः’ (जले प्रक्षिप्तः) सोमो जल-  
देवतासमानविग्रहः । ‘उदृचम्’ (उत्तमामृचं समाप्तिरूपं गतः)  
सोमः स्वर्गनिवासिदेवतासमानविग्रहः ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“यज्ञो देवेभ्योपांक्रमत्  
तमवरुन्धं नाशक्नुवन् त एता यज्ञतनूरपश्यन् ता उपादधत्  
ताभिर्वै ते यज्ञमवारुन्धत यद्यज्ञतनूरुपदधाति यज्ञमेव ताभि-  
र्यजमानोऽवरुन्धे” (५।४।१अ०) इति । केनापि निमित्तेन  
‘देवेभ्यः’ अपरक्तो यज्ञोऽन्यत्रापगच्छत् । ‘तं’ (यज्ञ) देवा अप-  
रोद्धुं ‘नाशक्नुवन्’, तदवरोधोपायत्वेन यज्ञतन्वाख्यं दृष्ट्वा  
दृष्ट्वा ता उपधाय ‘यज्ञमवारुन्धत’ । ततो यजमानोऽपि यज्ञ-  
तनूभिर्यज्ञं प्राप्नोति । यज्ञतनूप्रतिपादकशब्दयुक्तेर्मन्त्रैरुपधेया  
दृष्ट्वा यज्ञतनवः ।

दृष्ट्वासङ्ख्यां विधत्ते,—“त्रयस्त्रिंशत्तमुपदधाति त्रयस्त्रिंशद्दे-  
वता देवता एवावरुन्धेऽथो सात्मानमेवाग्निं सतनुं चिनुते”  
(५।४।१अ०) इति । हविर्भाजां देवतानामियं सङ्ख्या त्रिंश-  
त्त्रयश्चेति मन्त्रे समान्नाता । अतः सङ्ख्या तावती देवताः  
प्राप्नोति । अपि च तनूपधानेन सशरीरमेवाग्निं चितवान्  
भवति । • •

एतद्देदनं प्रशंसति,—“सात्मानुभिस्सोके भवति य एवं वेद”  
(५।४।१अ०) इति ।

## शुद्धिपत्रम् ।

| ईडायां । | पङ्क्ति । | अशुद्धम् ।                 | शुद्धम् ।                        |
|----------|-----------|----------------------------|----------------------------------|
| ३८४      | ६         | पङ्क्ति                    | पदपङ्क्ति                        |
| ”        | ”         | रक्ष                       | अक्षर                            |
| ३८७      | १५        | तपिष्ठेन                   | तपिष्ठेन                         |
| ३८८      | ४         | यविष्ठ                     | यविष्ठ                           |
| ४०९      | १८        | प्रैषा                     | प्रैषा-                          |
| ४१२      | १९        | परस्या                     | परस्या                           |
| ४१३      | ११        | वैश्यकर्मणि                | वैश्यकर्मणे इति<br>भवितुं युक्तं |
| ४२३      | ७         | ‘स्तौमौ                    | स्तौमौ                           |
| ४२५      | ७         | शूरो                       | शूर                              |
| ४२६      | १४        | नो नुमो                    | नोनुमो                           |
| ४४५      | १४        | { (यजमाने)<br>संमिश्रयति } | { यजमाने<br>(संमिश्रयति)         |
| ४४६      | १८        | सुष्टु                     | सुष्टु । एवं परत्र               |
| ४४८      | १         | ‘उघ’                       | ‘उघसः’                           |
| ४४९      | ११        | अघे त्व                    | अघे त                            |
| ४५०      | ७         | आभिष्टे                    | आभिष्टे                          |
| ४५२      | १२        | चित्पुष्टस्य               | कस्यचित्पुष्टस्य                 |
| ४६०      | १०        | अर्धे                      | ऋधे                              |



यदुक्तं सूत्रकारेण, 'ज्योतिष्मतीं त्वा सादयामोति दाद्व  
ज्योतिष्मतीः' इति ।

तदिदं विधत्ते,—“ज्योतिष्मतीरुपदधाति ज्योतिरेवास्मिन्-  
दंधात्येताभिर्वा अग्निश्चितो ज्वलन्ति ताभिरेवैनं समित्थ उभयो-  
रस्मै लोकयोर्ज्योतिर्भवति” (५।४।१ अ०) इति । ज्योतिष्मती-  
शब्दयुक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका ज्योतिष्मत्यः । ते च मन्त्रा आरण्य-  
काण्डे समाह्वताः । तदुपधानेन ज्योतिः स्थापयतीति । किञ्च  
एताभिः ‘चितः’ ‘अग्निः’ प्र-‘ज्वलति’, अतः ‘ताभिरेवैनम्’ अग्निं  
दीपितवान् भवति । ततः ‘अस्मै’ यजमानाय ‘उभयोः’ ‘लोकयोः’  
‘ज्योतिः’ संपद्यते ॥ ,

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

प्रजेति यज्ञतनवस्तयस्त्रिंशतमीरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥०॥

कृत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवतामेरुजः स्थ प्रजापतेर्धातुः  
सोमस्यर्चे त्वा रुचे त्वा द्युते त्वा भासे त्वा ज्योतिषे  
त्वा<sup>(१)</sup> रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्षं नक्षत्रं  
सोमो देवताद्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता पुनर्वसू नक्षत्रं-

मदितिदे॒वता ति॒ष्यो नक्ष॑चं बृ॒हस्पति॑दे॒वतास्त्रे॒षां नक्ष॑-  
चः सर्पा दे॒वता म॒घा नक्ष॑चं पि॒तरौ दे॒वता फल्गु॑नी  
नक्ष॑चं ॥ १ ॥

अ॒यमा दे॒वता फल्गु॑नी नक्ष॑चं भ॒गो दे॒वता ह॒स्तो  
नक्ष॑चः स॒विता दे॒वता चि॒त्रा नक्ष॑चमिन्द्रो दे॒वता  
स्वा॒ती नक्ष॑चं वा॒युदे॒वता वि॒शाखे नक्ष॑चमिन्द्रा॒ग्नी दे॒व-  
ता॒नूरा॒धा नक्ष॑चं मि॒त्रो दे॒वता रोहि॑णी नक्ष॑चमिन्द्रो  
दे॒वता वि॒च॒तौ नक्ष॑चं पि॒तरौ दे॒वता अ॒ष॒ढा नक्ष॑चमा॒पो  
दे॒वताऽषा॑ढा नक्ष॑चं वि॒श्वेदे॒वा दे॒वता आ॒णा नक्ष॑चं  
वि॒ष्णुदे॒वता अ॒वि॒ष्टा नक्ष॑चं व॒सवः ॥ २ ॥

दे॒वता श॒तभि॑ष॒ङ्गक्ष॑चमिन्द्रो दे॒वता प्रो॒ष्ठप॒दा नक्ष॑-  
चम॒ज एक॑पादे॒वता प्रो॒ष्ठप॒दा नक्ष॑चमहि॒र्बु॒भ्रियो दे॒व-  
ता रे॒वती नक्ष॑चं पू॒षा दे॒वता अ॒यु॒जौ नक्ष॑चम॒श्विनौ  
दे॒वताप॒भर॑णीर्नक्ष॑चं य॒मो दे॒वता (१-१७) पू॒र्णा प॒श्चात्<sup>(१)</sup>  
य॒त्ते दे॒वा अ॒दधुः<sup>(२)</sup> ॥ ३ ॥

फल्गु॑नी नक्ष॑चं । व॒सवः । च॒यस्त्रि॑श॒च्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
दशमोऽनुवाकः ॥०॥

नवमेऽनुवाके यज्ञतत्त्वाख्या इष्टका उक्ताः । अथ दशमे नक्षत्रे-  
ष्टका उच्यन्ते । कल्पः, 'पूर्णा पश्चादिति पूर्णमासीं पुरस्तादुपधाया  
क्षत्तिका नक्षत्रमिति नक्षत्रेष्टकाः पुरस्तात् प्रतीचीरसः सृष्टाः पूर्वा  
पूर्वामुपधायापरामपरामाविश्रखाभ्यां दक्षिणेन स्वयमादृष्टाः  
रोतिं प्रतिपादयति यन्ते देवा अदधुरित्यमावास्या पश्चादुपधाया-  
वशिष्टानां पूर्वामापभरणीभ्य उत्तरेण स्वयमादृष्टाः रीतिं  
प्रतिपादयति पौर्णमासीमन्ततः । ऋचे त्वा रुचे त्वेति सर्वासु  
नक्षत्रेष्टकास्वनुषजति' इति । येयं स्वयमादृष्टेष्टका तस्याः पूर्वस्थां\*  
दिशमारभ्य प्रदक्षिणावृत्त्येष्टका उपदध्यात् । तत्र या इष्टका  
पौर्णमास्याख्या पूर्वस्थां दिश्युपधेया, तां 'सर्वासाम् 'अन्ततः'  
उपदध्यात् । तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु,—“क्षत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवताग्ने-  
रुचः स्व प्रजापतेर्धातुः सोमस्वर्चे त्वा रुचे त्वा द्युते त्वा भासे  
त्वा ज्योतिषे त्वा<sup>(१)</sup>” इति । अम्बाऊला-(?)† नितन्निरित्यादिका  
ज्योतिरूपा या देवता दिव्या भ्रमन्ते ताः क्षत्तिकाः । तासां  
समुदायरूपमेकं नक्षत्रं, तस्य च नक्षत्रस्याग्निर्देवता स्वामित्वेन  
वर्तते । हे क्षत्तिकाः, यूयम् 'अग्नेः' 'प्रजापतेः' 'धातुः' 'सोमस्व'  
च सम्बन्धिनो ये 'रुचः' (दीप्तयः) 'स्व' । प्रजापतेर्धातुंश्च पाल-  
कत्वात्पादकत्वाकारेण भेदः । उक्तदेवतारूपे हे इष्टके, 'ऋचे'  
(स्तुतिरूपमन्त्रसिद्ध्यर्थं) त्वाम् उपदधामि । तथा 'रुचे' (शरीर-

\* पूर्वामिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अम्बाऊला इति का० ह० पु० पाठः ।

‡ सम्बन्धिनो या इति पाठो भवितुं युक्तः ।



कालिसिद्ध्यर्थं) त्वाम् उपदधामि । धृतिभाज्योतिःशब्दा  
अग्निसूर्यचन्द्राणां दीप्तिवाचकाः, तत्सिद्ध्यर्थं त्वाम् उपदधामि ।  
एवमुक्तरेखपि नक्षत्रेषु योजनीयम् ।

द्वितीयमक्षचमन्त्रमारभ्य षड्विंशतिनक्षत्रमन्त्राणां पाठस्तु,—  
“रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता<sup>(१)</sup> मृगशीर्षनक्षत्रं सोमो  
देवता<sup>(२)</sup> आर्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता<sup>(३)</sup> पुनर्वसु नक्षत्रमदिति-  
र्देवता<sup>(४)</sup> तिथो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवता<sup>(५)</sup> अश्लेषा नक्षत्रं सर्पा  
देवता<sup>(६)</sup> मघा नक्षत्रं पितरो देवता<sup>(७)</sup> फल्गुनी नक्षत्रम् अर्यमा  
देवता<sup>(८)</sup> फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता<sup>(९)</sup> हस्तो नक्षत्रं सविता  
देवता<sup>(१०)</sup> चित्रा नक्षत्रमिन्द्रो देवता<sup>(११)</sup> स्वाती नक्षत्रं वायु-  
र्देवता<sup>(१२)</sup> विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नीदेवता<sup>(१३)</sup> अनूराधा नक्षत्रं  
मित्रो देवता<sup>(१४)</sup> रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता<sup>(१५)</sup> विचृतो नक्षत्रं  
पितरो देवता<sup>(१६)</sup> अषाढा नक्षत्रमापो देवता<sup>(१७)</sup> अषाढा नक्षत्रं  
विश्वेदेवा देवता<sup>(१८)</sup> आर्षा नक्षत्रं विष्णुर्देवता<sup>(१९)</sup> अश्लेषा नक्षत्रं  
वसवो देवता<sup>(२०)</sup> शतभिषङ्गक्षत्रमिन्द्रो देवता<sup>(२१)</sup> प्रोष्ठपदा  
नक्षत्रमजएकपादेवता<sup>(२२)</sup> प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्नियो देवता<sup>(२३)</sup>  
रेवती नक्षत्रं पूषा देवता<sup>(२४)</sup> अश्वयुजो नक्षत्रमश्विनो देवता<sup>(२५)</sup>  
अपभरणी नक्षत्रं यमो देवता<sup>(२६)</sup>” इति । अत्र रोहिण्यादयो  
नक्षत्रविशेषा ज्योतिःशास्त्राभिज्ञेषु तदीयव्यवहाराभिज्ञेषु च  
प्रसिद्धाः । ‘तिथ्यः’ पुण्यः । द्वितीया रोहिणी ज्येष्ठा । विचृत-  
शब्दो मूलवाची, ज्योतिर्मण्डलद्विरूपतो दिवचनं । पितृशब्दोऽपि  
निर्धृतिवाची । आधानेन पालनात् पितृत्वम् । अर्षाशब्दः

अवृणवासी । अविष्टाशब्दे, धनिष्ठावासी । शतभिषङ्गचक्रस्य  
वरूपो देवता, स च परमैश्वर्ययोगादिन्द्र इत्युच्यते । 'प्रोष्ठपदाः'  
भाद्रपदाः ।

• अथ पौर्णमास्यमावास्याभिधेययोगिष्टकयोर्यौ मन्त्रौ तयोः  
प्रतीके दर्शयति,—“पूर्णा पश्चात्<sup>(१)</sup> यत्ते देवा अदधुः<sup>(२)</sup>” इति ।  
एतच्चोभयं तृतीयकाण्डस्य पञ्चमप्रपाठकादौ व्याख्यातम् ।

एतेर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“नक्षत्रेष्टका उपदधात्ये-  
तानि वे दिवो ज्योतींषि तान्येवावरुन्धे” (५।४।१अ०) इति ।  
नक्षत्रशब्देऽप्येतेर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका 'नक्षत्रेष्टकाः' । यानि कृत्तिका-  
दीनि द्युलोकसम्बन्धीनि 'ज्योतींषि', अतः\* उपधानेन 'तान्येव'  
प्राप्नोति ।

प्रकारान्तरेण प्रशंसति,—“सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि  
यज्ञचक्राणि तान्येवाप्नोत्यथो अनूकाशमेवैतानि ज्योतींषि कुरुते  
सुवर्गस्य 'लोकस्थानुख्यात्यै' (५।४।१अ०) इति । ये शोभनं  
शास्त्रविहितं पुण्यं कर्म कुर्वन्ति ते सुकृतिनः, तेषाम् 'एतानि'  
दिवि दृश्यमानानि नक्षत्ररूपाणि 'ज्योतींषि' । ते हि पुण्यकृतः  
स्वर्गे गत्वा भासमानविग्रहाः तान्याप्नुवन्ति । अत एव तदुपधानेन  
तदीयानि 'ज्योतींषि' प्राप्नुवन्ति । अपि च 'एतानि' नक्षत्र-  
ज्योतींषि 'अनु' तेनोपधानेन किञ्चित्प्रकाशं करोति । स च प्रकाशः  
स्वर्गलोकाविर्भावाय सम्यच्यते ।

अथोपधाने कश्चिदिशेषं विधत्ते,—“यत् सः स्पृष्टा उपदध्याद्

\* अनन इति पाठो भवितुं युक्तः ।

वृष्टौ, लोकमपि दध्यादवर्षुकः पर्जन्यः स्यादसंस्पृष्टा उपदधाति वृष्ट्या एव लोकं करोति वर्षुकः पर्जन्यो भवति” (५।४।१अ०) इति । इष्टकानां परस्परसंस्पर्शे सति वृष्टेः स्थानस्याच्छादितत्वाद् ‘पर्जन्यो’ वृष्टिरहितो भवति । असंस्पर्शे तु तच्छिद्रस्य वृष्टिस्थानत्वात् मेघो वर्षणशीलो भवति ।

उपधाने विशेषान्तरं विधत्ते,—“पुरस्तादन्याः प्रतोचोरुप-  
दधाति पश्चादन्याः प्राचीस्तस्मात् प्राचीनानि च प्रतीचीनानि च  
न चन्नाण्यावर्त्तन्ते” (५।४।१अ०) इति । स्वयमादृष्ट्या दक्षिण-  
भागे पूर्वां दिशमारभ्य प्रत्यगवसानाः कृत्तिकादिविशखाः  
इष्टका उपदध्यात् । अनूराधा आरभ्य भरणीन्ता इष्टकाः  
स्वयमादृष्ट्या उत्तरभागे प्रतीचीं दिशमारभ्य प्रागवसाना  
उपदध्यात् । स्वयमादृष्ट्या दक्षिणोत्तरभागस्थितयोः पंक्त्योर्मध्ये  
पश्चिमायां दिशि समरूपेण अमावास्यामिष्टकामुपदध्यात् ।  
स्वयमादृष्ट्या दक्षिणोत्तरभागस्थितयोः पंक्त्योर्मध्ये पूर्वस्यां दिशि  
समरूपेण पौर्णमास्यामिष्टकामुपदध्यात् । यस्मादेवं, तस्मात्-  
ल्लोकेऽपि न चन्नाणि गोलुकस्यापि दक्षिणभागे पश्चिमाभिमुखानि,  
उत्तरभागे तु प्राङ्मुखानित्येवमावर्त्तन्ते ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

कृत्तिकानक्षत्रैष्टकाः स्युः (?) सप्तविंशतिरिरीताः ।

अर्चं त्वा सर्वशेषः स्यात् पूर्णा, यत्ते, इति द्वयम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवोद्ये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-

संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू<sup>(१-२)</sup> शुक्रश्च शुम्बिश्च  
 ग्रैष्मावृतू<sup>(१-४)</sup> नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू<sup>(१-५)</sup> इष-  
 ष्वर्जश्च शारदावृतू<sup>(१-६)</sup> सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिका-  
 वृतू<sup>(१-१०)</sup> तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू<sup>(११-१५)</sup> अमरन्त-  
 स्त्रेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधीः  
 कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रता ॥ १ ॥

येऽग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी शैशिरावृतू  
 अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवता अभिसंविशन्तु<sup>(१)</sup>  
 स यच्च प्रचेताश्चाम्रे; सोमस्य सूर्यस्य<sup>(१)</sup> उग्रा च भीमा  
 च पितृणां यमस्येन्द्रस्य<sup>(१)</sup> भ्रुवा च पृथिवी देवस्य  
 सवितुर्मरुतां वरुणस्य<sup>(१)</sup> धर्ची च धरिची च मिचा-  
 वरुणयेर्मर्मिचस्य धातुः<sup>(४)</sup> प्राची च प्रतीची च वस्त्रना-  
 रुद्राणां ॥ २ ॥

आदित्यानां<sup>(५)</sup> ते तेऽधिपतयस्तेभ्यो नमस्ते नो  
 मृडयन्तु ते यं हिष्मो यश्च नो देष्टि तं वो जम्भे  
 दधामि<sup>(६)</sup> सैहस्यस्य प्रमा असि सहस्यस्य प्रतिमा  
 असि सहस्यस्य विमा असि सहस्यस्योन्मा असि  
 सोहस्योऽसि सहसाय त्वा<sup>(१-५)</sup> इमा मे अम इष्टका  
 धेनवः सन्वेका च शतं च सहस्रं चायुतं च ॥ ३ ॥

नियुतञ्च प्रयुतञ्चावुदञ्च न्यवुदञ्च समुद्रश्च मध्य

चाप्तिश्च परार्धश्चेमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु षष्टिः  
सहस्रमयुतभक्षीयमाणा ऋतस्याः स्थतीवृधे घृतसुतो  
मधुश्चतुर्जर्जस्वती स्वधाविनीस्ता मे अग्न इष्टका  
धेनवः सन्तु विराजो नाम कामदुधा अमुचामुषि-  
लोके<sup>(१)</sup> ॥ ४ ॥

सन्नता । रुद्राणाम् । अयुतश्च । पञ्चचत्वारिंशच्च ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

दशमेऽनुवाके नक्षत्रेष्टका उक्ताः । अथैकादशे ऋतव्याख्या  
इष्टका उच्यन्ते । कल्पः, ‘मधुश्च माधवश्चेति द्वे ऋतवे समानतया  
देवते’ इति । पाठस्तु,—“मधुश्च माधवश्च वासन्निकावृत्<sup>(१-२)</sup>”  
इति । ‘मधुः’ चैत्रमासः, ‘माधवः’ वैशाखमासः, तावुभौ  
वसन्तसम्बन्धिनावृत्ववयवौ । यद्यप्येतौ द्वौ मन्त्रौ, तथापि सहपठित-  
त्वात् तथा देवतयेति शेषं सक्तदेव उच्चार्य द्वे इष्टके प्रथमचिता-  
वुपदध्यात् ।

कल्पः, ‘शुक्रश्च शुचिश्चेति द्वे ऋतवे समानतया देवते’ इति ।  
पाठस्तु,—“शुक्रश्च शुचिश्च वैशावृत्<sup>(१-४)</sup>” इति । ‘शुक्रः’ (ज्यैष्ठ्यः),  
‘शुचिः’ (आषाढः) । तावुभौ ग्रीष्मसम्बन्धिनावृत्ववयवौ । एतेन  
मन्त्रेण द्वितीयस्यां चितौ द्वे उपदध्यात् ।

. कल्पः, 'नभस्य नभस्यस्येति चतस्रश्चतव्या द्वे द्वे समानतया देवते' इति । पाठस्तु,—“नभस्य नभस्यस्य वार्षिकावृत्त<sup>(५-१)</sup> ईष्योर्जेश्च शारदावृत्त<sup>(७-८)</sup>” इति । ‘नभः’ आवणः, ‘नभस्यः’ भाद्रपदः, तावुभौ वर्षाणां ‘सम्बन्धिनौ’ चतुर्वयवौ । ‘इषः’ आश्वयुजः । ‘ऊर्जः’ कार्तिकः, तावुभौ शरत्सम्बन्धिनौ चतुर्वयवौ । एतन्मन्त्रसाध्याश्चतस्र इष्टंका मध्यमचितावुपदध्यात् ।

.. कल्पः, ‘सहस्र सहस्रस्येति द्वे चतव्ये समानतया देवते’ इति । पाठस्तु,—“सहस्र सहस्रस्य हेमन्तिकावृत्त<sup>(९-१०)</sup>” इति । ‘सहः’ मार्गशीर्षः, ‘सहस्रः’ पौषः, तावुभौ हेमन्तसम्बन्धिनौ चतुर्वयवौ । एतन्मन्त्रसाध्या द्वे इष्टके चतुर्थ्यां चितावुपदध्यात् ।

कल्पः, ‘तपस्य तपस्यस्येति द्वे चतव्ये समानतया देवते’ इति । पाठस्तु,—“तपस्य तपस्यस्य शैशिरावृत्त<sup>(११-१२)</sup>” इति । ‘तपः’ माघः, ‘तपस्यः’ फाल्गुनः, एतावुभौ शिशिरसम्बन्धिनौ चतुर्वयवौ । एतन्मन्त्रसाध्या द्वे इष्टके पञ्चम्यां चितावुपदध्यात् ।

. अथ सर्वेष्वप्यनुषञ्जनीयं मन्त्रशेषमाह,—“अग्नेरन्तःक्षेपोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधीः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सन्नता येऽग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवौ शैशिरावृत्त अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु<sup>(०)</sup>” इति । हे चतुर्विधेषु, त्वं चीयमानस्य ‘अग्नेरन्तःक्षेपोऽसि’, यथा कुक्ष्यान्तर्दार्ढ्यार्थं काष्ठपाषाणादयः स्निह्यन्ते तद्वत् ‘मम’ (अग्निं स्निह्यतो यजमानस्य) ‘ज्यैष्ठ्याय’ उत्कर्षार्थं इमे द्यावापृथिव्यौ ‘कल्पेतां’ (स्त्रोचितमपकारं सम्यादयतां) । समान ‘व्रतं’ (कर्म) येषां

ते 'समताः', एकस्मिन् कर्मण्यवस्थिता, आह्वयनीयाद्यग्नयेऽपि 'वृथक्' 'कल्पन्तां' (स्वस्वोचितव्यापारं सम्पादयन्तु) । किञ्च 'द्यावापृथिवी' 'अन्तरा' (द्यावापृथिव्योर्मध्ये) वर्त्तमानाः 'समनसः' (एकमनस्काः) 'येऽग्नयः', ते सर्वेऽपि शिशिरसम्बन्धिना चतुर्वयवैः 'अभिकल्पमानाः' (सर्वतः सम्पादयन्तः) एतत् कर्म 'अभिसंविशन्तु' । 'इन्द्रमिव देवाः',—यथा अन्ये सर्वे देवा इन्द्रमभितः सेवन्ते, तद्वत् । हे इष्टके, ईदृशतुस्वरूपां त्वामुपदधामीति तात्पर्यार्थः । यदा वसन्ताद्यृतुमन्त्रविशेषत्वेनायं पद्यते, तदानीं 'शैशिरावृत्त' शैशिरसमानौ वासन्तिकावृत्त इत्याद्यर्थो व्याख्येयः ।

एतन्मन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“चतुर्व्या उपदधात्यृतुनां कृत्यै इन्द्रमुपदधाति तस्माद् इन्द्रमृतवः” (५।४।२अ०) इति । यस्मादिष्टकयोर्द्वन्द्वमुपधीयते, तस्मान्मासयोर्द्वयमृतुस्वरूपं भवति ।

मध्यमचितौ चतुष्टयोपधानं विधत्ते,—“अष्टतेव वा एषा यन्मध्यमा चितिरन्तरिक्षमिव वा एष इन्द्रमन्यासु चितिषूपदधाति चतस्रो मध्ये धृत्यै” (५।४।२अ०) इति । येषां मध्यमा चितिः, सेयं भूमिं न स्पृशति नापि दिवं, तस्माद् द्यम् 'अष्टतेव' (आधाररक्षितेव) तिष्ठति, अत एवान्तरिक्षसमाना । तस्मात् 'अन्यासु' 'चितिषु' इन्द्रमात्रोपधानेऽप्यस्यां चितौ धारणार्थं 'चतस्रः' उपदध्यात् ।

अथ सर्वा चतुर्व्याः सामान्येन प्रशंसति,—“अन्तःक्षेपण वा एतास्त्रितीनां यदृतव्या यदृतव्या उपदधाति चितोनां विधृत्यै” ।

(५।४।२अ०) इति । यथा .कुड्यादेर्दृढधारणाय पाषाणाद्यन्तः-  
श्लेषणं, तथा चित्तीनां .दृढधारणाय 'क्षतव्याः' उपदध्यात् ।

एतासां स्तव्यानामुपरि शैवालस्योपनिधानं विधत्ते,—“अव-  
कामनूपदधात्येषा वा अग्नेर्योनिः । स योनिमेवाग्निं चिनुते”  
(५।४।२अ०) इति । उदकजन्यां शैवालापरपर्यायां 'अवकाम्'  
उपरि उपदध्यात् । आपो हि अग्नेः स्थानं, 'स निलायत सोऽपः  
प्राविशत्' इति श्रुत्यन्तरात् । अवका च जलस्य कार्यत्वाज्जलव-  
दग्नेर्योनिः । अतस्तदुपधानेन स योनिमेवाग्निं चितवान् भवति ।

प्रकारान्तरेणावकासहिता क्षतव्यास्तद्देदनञ्च प्रशंसति,—  
“उवाच ह विश्वामित्रोऽददित् स ब्रह्मणानं यस्यैता उपधीयन्ते  
य उ चेना एवं वेदत्” (५।४।२अ०) इति । 'यस्य' (यजमानस्य)  
अवकायुक्ता क्षतव्या 'उपधीयन्ते', योऽप्येता जानाति, 'स'  
(उपधाता, ज्ञाता च) 'ब्रह्मणा' (मुख्यया ब्राह्मणवृत्त्या) 'अन्नम्'  
'आदत् इत्' (सर्वथापन्नं भक्षयत्येष) इति 'विश्वामित्रः' 'स' 'ह'  
अथ च 'उवाच' । तस्मादेताः स्तव्या इत्यर्थः ।

कल्पः, 'अथ यो न प्रतितिष्ठेद् स क्रतुमारभमाण  
एकचित्तोकमेव चिन्वीत संयच्च प्रचेताश्चेति पञ्च नामामन्त्रो  
उत्तरवेद्यामुपदध्यात्' इति । तच्च प्रथमेष्टकामन्त्रमाह,—“संयच्च  
प्रचेताश्चाग्नेः सोमस्य सूर्यस्य<sup>(१)</sup>” इति । अग्निः सोमसूर्याणां 'संयत्'  
(संयमनकारणं) यदस्ति, 'प्रचेताः' (प्रकाशज्ञानहेतुः) च योऽस्ति,  
हे इष्टके, तदुभयरूपा त्वमसि ।

अथ, द्वितीयेष्टकामन्त्रमाह,—“उया च भीमा च पितृणां



यमस्येन्द्रस्य<sup>(१)</sup>” इति । पिचादीनां येषाम् ‘प्रया’ (ताडनादिशक्तिः), या च ‘भीमा’ (भयङ्करो शक्तिः) तदुभयरूपा त्वमसि ।

अथ तृतीयेष्टकामन्त्रमाह,—“भ्रुवा च पृथिवी च देवस्य सवितुर्महतां वरुणस्य<sup>(२)</sup>” इति । सवित्रादीनां या ‘भ्रुवा’ (स्थिरा शक्तिः), या च ‘पृथिवी’ (विस्तीर्णा शक्तिः) तदुभयरूपा त्वमसि ।

अथ चतुर्थेष्टकामन्त्रमाह,—“धर्ची च धरित्री च मित्रावरुणयोर्मित्रस्य धातुः<sup>(३)</sup>” इति । मित्रावरुणादीनां या धारणशक्तिः, या च परप्रेरणारूपा धारयितृत्वशक्तिः, तदुभयरूपा त्वमसि ।

अथ पञ्चमेष्टकामन्त्रमाह,—“प्राची च प्रतीची च वसूनां रुद्राणाम् आदित्यानाम्<sup>(४)</sup>” इति । वस्त्रादीनां प्राग्वर्त्तिनी या शक्तिः, या च प्रतीचीदिग्वर्त्तिनी, तयोर्हि दिशोः सर्वे प्राणिनः एतदाज्ञामनुसृत्यैव वर्त्तन्ते, हे इष्टके तथाविधशक्तिरूपा त्वमसि ।

अथ सर्वेष्वप्यनुषङ्गनोयं मन्त्रशेषमाह,—“ते तेऽधिपतयस्तेभ्यो नमस्ते नो मृडयन्तु ते यं दिशो यस्य नो द्देष्टि तं वो जग्मे दधामि<sup>(५)</sup>” इति । ‘ते’ अग्निषोमादयः तत्तन्मन्त्रोक्ता देवाः, हे इष्टके ‘ते’ (तव) अधिकं पालयितारः, तेभ्यो नम इत्यादिकं तु पञ्चचोड़ामन्त्रवद्वाक्यम् ।

ता एतः इष्टकाः षष्ठ्यैव विधातुमादौ षष्ठीं चितिं विधत्ते,—“संवत्सरो वा एतं प्रतिष्ठाये नुदते योऽग्निं चित्वा त प्रतिष्ठति पञ्च पूर्वास्तितयो भवन्त्यथ षष्ठीं चितिं चिनुते

षड् वा ऋतवः संवत्सरः चतुर्व्येव संवत्सरे प्रतितिष्ठति” (५।४।२अ०) इति । यो यजमानः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चचित्तिकमग्निं चित्वापि उत्तरक्रत्वनुष्ठानाय द्रव्यादिसम्पत्तिरूपां प्रतिष्ठां न प्राप्नोति, एतं यजमानं संवत्सराभिमानी देवः ‘प्रतिष्ठाये’ अप-  
नुदति, तथा सति याः पूर्वाः पञ्च चित्तय आसन्, ताभिः प्रतिष्ठाया अलाभात् तदपेक्षया येथे चितिः षष्ठो, तां चिनुयात्, षट्सङ्ख्याया बुद्धिस्था ‘ऋतवः’ तद्वारा ‘संवत्सरे’ ‘प्रतितिष्ठति’ ।

षष्ठौ चितिं विधाय तत्र संयच्छेत्यादिमन्त्रसाध्यमुपधानं विधत्ते,—“एतां वा अधिपत्नीर्नामेष्टका यस्येता उपधीयते-  
ऽधिपतिरेव समानावा, भवति” (५।४।२अ०) इति । अधिपति-  
शब्दयुक्तैर्मन्त्रैरुपधिया इष्टका अधिपत्यः । तदुपधानेन स्वसमानानां पुरुषाणां स्वयमधिपतिर्भवति ।

उपधानकाले ध्यानविशेषं विधत्ते,—यं दिव्यात्तमुपदधद्  
आयेदेताभ्य एवेन देवताभ्य आवृक्षति ताजगार्त्तिमार्च्छति” (५।  
४।२अ०) इति । एतदाकं पञ्चचोडाब्राह्मणवद्वाक्येयम् ।

कल्पः, ‘सहस्रस्य प्रमा असीति सहस्रेण हिरण्यशक्कैरुद्धं-  
स्तिष्ठन्\* प्रतिदिशमग्निं प्रोक्षति’ इति । पाठस्तु,—“सहस्रस्य प्रमो  
असि सहस्रस्य प्रतिमा असि सहस्रस्य विमा असि सहस्रस्योन्मा  
असि साहस्रीऽसि सहस्राय त्वा<sup>(१-५)</sup>” इति । हे इष्टके, प्राच्यां  
दिशि इष्टका ‘सहस्रस्य, प्रमातुल्यां ‘असि’ । एनं दक्षिणस्यां

दिशि 'सहस्रस्य, प्रतिमातुल्या 'असि' । तथा पश्चिमायां दिशि 'सहस्रस्य, विमातुल्या 'असि' । तथोत्तरायां दिशि 'सहस्रस्य, उन्मातुल्या 'असि' । हे चित्वाग्रे, त्वं ऊर्द्धायां दिशि साहस्रं-सम्बन्धयिषि । अतः 'सहस्राय' (सहस्रसङ्ख्याकफलसिद्ध्यर्थं) त्वां प्रोचामि ।

एतन्मन्त्रसाध्यं प्रेक्षणं विधत्ते,—“अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्नो या यज्ञस्य निष्कृतिरासीत् तामृषिभ्यः प्रत्यौचन् तद्भिरण्य-मभवद् यद्भिरण्यश्लेः प्रोचति यज्ञस्य निष्कृत्या अथो भेषज-मेवासौ करोत्यथो रूपेणैवैनं समर्धयत्यथो हिरण्यज्योतिषैव सुवर्गं लोकमेति” (५।४।२अ०) इति । 'अङ्गिरसो' महर्षयः कर्मानुष्ठायिनो यदा स्वर्गं गताः, तदानीं 'यज्ञस्य' यन्मूल्यं स्वाधीनत्वकारणसाधनद्रव्यं, तदप्येभ्य ऋषिभ्यः प्रददुः । 'तत्' च द्रव्यं 'हिरण्यमभवत्' ततो 'हिरण्यश्लेः' हस्तोद्धृतैः सह प्रोक्षणं यत्, तन्मूल्यदानेन यज्ञनिष्क्रयार्थं सम्यज्यते । अपि च वैकल्पपरि-हाररूपं 'भेषजम्' अन्यर्थं सम्पादयति । अपि च हिरण्यसम्बन्धात् 'एनम्' अग्निं रूपसमृद्धं करोति । अत एवान्यत्रास्मात्, 'यथा हं वै योषं सुवर्णं हिरण्यं पेशलं बिभ्रती रूपाण्यास्ते' इति । अपि चायं यजमानो हिरण्यरूपेणैव ज्योतिषा मार्गं दृष्ट्वा स्वर्गं प्राप्नोति ।

तस्मिन् प्राक्षणे सहस्रस्य प्रमेत्यादिमन्त्रं विनियुक्ते, “साहस्रं-वता प्रोचति साहस्रः प्रजापतिः प्रजापतेरासौ” (५।४।२अ०) इति । साहस्रोऽसीत्येवं साहस्रशब्दे यस्मिन् प्रोक्षणमन्त्रसङ्गोऽस्ति

सोऽयं साहस्रवान् । प्रजापतिश्च सहस्रसङ्ख्याकजगदुत्पादकत्वात्  
साहस्रः, अतोऽयं मन्त्रः प्रजापतिप्राप्तये भवति ।

‘कन्यः’ ‘इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्वितीष्टका धेनूः  
यंजमानः कुरुते’ इति । पाठस्तु, “इमा मे अग्न इष्टका धेनवः  
सन्वेका च शतं च सहस्रं चाद्युतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं  
च न्यर्बुदं च समद्रुशं मधं चान्तश्च परार्धश्चेमा मे अग्न इष्टका  
धेनवः सन्तु षष्टिः सहस्रमयुतमक्षीयमाणा ऋतस्थाः स्थर्त्तावृधो  
घृतश्रुतो मधुश्रुत उर्जस्वतीः स्वधाविनीस्ता मे अग्न इष्टका धेनवः  
सन्तु विराजो नाम कामदुघा अमुत्रामुष्मिलोके<sup>(१)</sup>” इति । हे  
अग्ने, ‘इमा’ उपहिता, ‘इष्टकाः’ ‘मे’ (मम) ‘धेनवः’ (धेनुवत्  
प्रीतिहेतवः) ‘सन्तु’ । शतादयः परार्धान्ता दशोत्तराः सङ्ख्या-  
विशेषा एकशतसहस्रादिसङ्ख्यामङ्गीयथोः सत्योः मां प्रीणयन्तु ।  
‘यदा मुमैक्या प्रीति तदा ‘शत’ भूत्वेत्येवं सर्वत्र द्रष्टव्य । उत्तर-  
वाक्यसम्बन्धार्थम् ‘इमा मे अग्न’ इत्यादेः पुनर्वचनम् । हे  
‘इष्टकाः’, षष्ठादिसङ्ख्यामङ्गीयथोः सत्योः ‘अक्षीयमाणाः (क्षय-  
रहिताः)’, ‘ऋतस्थाः’ (यज्ञवर्त्तिन्यस्याः), ‘ऋतावृधः’ (यज्ञ-  
वर्धयित्री) भवत । ‘घृतश्रुतः’ (घृतचरणशीलाः), ‘मधुश्रुतः’  
(मधुररसचरणशीलाः), ‘उर्जस्वतीः’ (बलवत्यः), ‘स्वधाविनीः’  
(अन्नवत्यः) ‘स्थ’ (भवत) । ‘ता मे अग्नि’ इत्यादि वक्ष्यमाण-  
वाक्यसम्बन्धार्थम् । ‘विराजः’ (विविधराजमानाः), ‘कामदुघाः’  
(कम्मानां दोग्धः), ‘अमुत्र’ (सामान्येन स्वर्गमात्रे), ‘अमुष्मिलोके’  
(विशेषतः इन्द्रादिलोके) कामं धेनवः ‘सन्तु’ इत्यन्वयः ।

मन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“इमा मे अग्नि इष्टका धेनवः  
सन्वित्याह धेनुरेवैनाः कुरुते ता एनं” कामदुषा अमुन्नामुन्निस्तोक  
उपतिष्ठन्ते” (५।४।२अ०) इति ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

मधुश्च द्वादशर्त्तव्याः, ‘अग्नेरित्यनुषज्यते ।  
संयजोग्रा ध्रुवा धर्त्री प्राची पञ्चेष्टका इमाः ॥  
षष्ठां चितौ सर्वशेषः ते त इत्यादिको मतः ।  
सहस्रं पञ्चभिर्मन्त्रैर्दिक्षु मध्ये च तां चितिं ॥  
सहस्रस्वर्णशकलैः प्रोचे तत इमामिति ।  
स्वामीधेनूः करोत्येतास्तयोर्विंशतिमन्त्रकाः ॥

अथ मोमांसा,—चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे (१अ०) चिन्तितम् ।

नित्या षष्ठी चितिर्नो वा पञ्चापूर्वत्वतोऽयिमः ।

अपठन्तावप्रतिष्ठान्निर्मितोक्तस्य नोऽयिमः ॥

अग्नौ श्रूयते, ‘योऽग्निं चित्वा न प्रतितिष्ठति पञ्च पूर्वाञ्चितयोः  
भवन्त्यथ षष्ठीं चितिं चिनुते’ इति । लाङ्गलेन छष्टभूम्यां याम-  
मात्रे भूप्रदेशे नानाविधाभिरिष्टकाभिः पक्ष्याकारेण स्पर्ण्डलं  
निष्पाद्यते सेचं चितिः । तादृशः पञ्च चितयः पूर्वाः क्रियन्ते ।  
तत्र षष्ठी चितिः, तत्र षष्ठां पूरणो षष्ठोति व्युत्पत्तौ धूर्त्ताः पञ्च  
चितयोऽपेक्ष्यन्ते, अन्यथा षट्संख्यापूरकत्वासम्भवात् । तस्मादेक-  
प्रयोगनिश्चयमादितरचितिवत् नित्येति चेत् । मैवं, अग्निं चित्तेति  
पूर्वाभिरेव पञ्चभिश्चितिभिर्नित्यस्याग्निचयनस्य समानैः सत्यां

पञ्चात् यो न प्रतिष्ठति, असौ षष्ठीं चितिं चिनुत इति  
 कर्हसमानाधिक्येन यच्छब्देन अप्रतिष्ठां निमित्तोक्त्य विधानात्  
 षष्ठी नैमित्तिकी । • ततः पञ्चचितिको नित्योऽग्निः, नैमित्तिक-  
 स्त्वेकचित्येति न प्रयोगैक्यं, पूरणप्रत्ययस्तु अभिधानापेक्षया  
 उपपद्यते । पूर्वाः पञ्चचितयोऽभिहिताः, अभिधास्यमानानां\*  
 षष्ठीं चितिं चिनुत इति वचनव्यक्तिः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टान्तजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

समिहिशामाशया नः सुवर्विन्मधोरतो माधवः  
 पात्वस्मान् । अग्निर्देवो दुष्टरोतुरदाभ्य इदं क्षत्रं  
 रक्षतु पात्वस्मान्<sup>(१)</sup> । रथन्तरं सामभिः पात्वस्मान्  
 गायत्री च्छन्दसां विश्वरूपा । चिष्टनो विष्टया स्तोमो  
 अह्नाः समुद्रो वात इदमोजः पिपर्तुं<sup>(२)</sup> । उग्रा दिशा-  
 मभिभूतवयोधाः शुचिः शुक्रे अह्न्योजसोना । इन्द्रा-  
 धिपतिः पिष्टतादतो नो महि ॥ १ ॥ • •

\* अभिधास्यमाना इति पाठो भवितुं युक्तः ।

क्षत्रं विश्वेनो धारयेदं<sup>(१)</sup> । दृष्टत्साम क्षत्रं दुष्ट-  
दृष्टिभ्यं चिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरं । इन्द्रं स्तोमेन  
पञ्चदशेन मध्यमिदं वातेन सगरेण रक्ष<sup>(२)</sup> । प्राचीं  
दिशः सहयशा यशस्वती विश्वे देवाः प्रावृषाह्नाः  
सुवर्वती । इदं क्षत्रं दुष्टरैर्मत्तो जोगाऽनाष्टः सहसि-  
यः सहचत्<sup>(३)</sup> । वैरूपे सामन्निह तच्छक्रेम जगत्यैनं  
विश्ववावैश्यामः । विश्वे देवाः सप्तदशेन ॥ २ ॥

वचं इदं क्षत्रं सलिलवातमुग्रं<sup>(१)</sup> । धर्ची दिशां  
क्षत्रमिदं दाधारोपस्थाशानां मित्रवदस्त्वौजः । मित्रा-  
वरुणा शरदाह्नां चिकित्वा अस्मै राध्रायं महि शमं  
दच्छत्<sup>(२)</sup> । वैराजे सामन्नधि मे मनीषानुष्टुभा सम्भृतं  
वीर्यं सहः । इदं क्षत्रं मित्रवदार्द्रदानु मित्रावरुणा  
रक्षतमाधिपत्यैः<sup>(३)</sup> । स्रष्टा दिशः सहसामी सह  
स्वत्तुह्ये मनो विष्टया नः पिपतु । अवस्युवाताः ॥  
॥ ३ ॥

दृष्टतीर्नु शक्नोरीरिमं यज्ञमदन्तु नो घृताचीः<sup>(१)</sup> ।  
सुवर्वती सदुधा नः पयस्वती दिशं देव्यस्तु नो  
घृताची । त्वं गोपाः पुं एतोत पश्चाद् दृष्टस्यते  
याम्यां युङ्गधि वचं<sup>(२)</sup> । जुह्वी दिशः रक्षितराशौ  
धीनाः संवत्सरेण सविता नो अह्ना । रेवत् सामन्ति-

अन्दा उ अन्द्रे जातश्चुः स्योनां नो अस्तु<sup>(११)</sup> । स्तेम-  
चयस्त्रिंशे भुवनस्य पत्नि विवस्वदाते अभि नः ॥

॥ ४ ॥

गृणाहि धृतवती सवितराधिपत्यैः पयस्वती रन्तिगाशा  
नो अस्तु<sup>(१२)</sup> । ध्रुवा दिशां विष्णुपत्न्यघ्नोरास्येशाना  
सहसो या मनोता । बृहस्पतिर्मातरिश्वोत वायुः  
सन्धुवाना वाता अभि नो गृणन्तु<sup>(१३)</sup> । विष्टम्भो दिवो  
धरुणः पृथिव्या अस्येशाना जगो विष्णुपत्नी । विश्व-  
व्यचा इषयन्ती सुभूतिः शिवा नो अस्त्वदितिरुपस्थे<sup>(१४)</sup> ।  
वैश्वानरो न ऊत्या<sup>(१५)</sup> पृष्ठो दिवि<sup>(१६)</sup> अनु नो ऽद्यानु-  
मतिः<sup>(१७)</sup> अन्विदनुमते त्वं<sup>(१८)</sup> कया नश्चिच आ भवत्<sup>(१९)</sup>

को अद्य युक्ते<sup>(२०)</sup> ॥ ५ ॥

महि । सप्तदशेन । अवस्यवाता । अभि नः । अनु  
नः । चतुर्दश च ॥ १२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके  
द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

अग्निर्मरसि । राज्ञसि । अयं पुरो हरिकेशः ।  
अग्निर्मूर्धा । इन्द्राग्निभ्यां । बृहस्पतिः । भूयंस्कृदसि ।  
अग्निना विश्वाषाट् । प्रजापतिर्मनसा । कृत्तिका ।  
मधश्च । समिहिशां । द्वादश ॥ १२ ॥



रश्मिरसि (१ अ० १) । प्रतिधेनुम् (५ अ० २) । असि  
स्तनयितुसनिरसि (६ अ० २) । आदित्यानां (११ अ० ३) ।  
सप्तचिंशत्\* ॥ ३७ ॥

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

॥०॥ समाप्तश्च चतुर्थप्रपाठकः ॥०॥

एकादशेऽनुवाके ऋतव्याद्या इष्टका उक्ताः, तावता चितयः  
समाप्ताः । अथान्तिमे द्वादशे याज्यानुवाक्या उच्यन्ते । अथमेध-  
प्रकरणे कल्पः पथ्यते,—‘अग्नये गायत्रायेति दश हविषाः सर्व-  
पृष्ठां निर्वपति समिद्दिशामाशया न इति यथालिङ्गं याज्यानु-  
वाक्याः’ इति । तत्र ‘अग्नये गायत्राय त्रिवृते रायन्तराय वासन्ता-  
याष्टाकपालः’ इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—‘समिद्दिशामाशया नः  
सुवर्विन्मधोरतो माधवः पालस्मान् । अग्निर्देवो दुष्टरीतुरदाभ्य  
इदं चत्रं रचतु पालस्मान्<sup>(१)</sup>’ इति । ‘दिशां’ मध्ये यां दिक्  
‘समित्’ (समिन्धनहेतुः) । तदेव कथम् ? इति । तदुच्यते, ‘सुवर्वित्’  
स्वर्गस्थमादित्यं विन्दते लभते इति सुवर्वित् । आदित्योदय-  
स्थानत्वात् प्राच्या दिशः समिन्धनहेतुलं । तादृशी दिक् ‘नः’  
(अस्मान्) ‘आशया’ ‘पातु’, (अस्माकं धनादिविषया या काचिद्  
आशा वर्त्तते, तस्याः पूरणेन ‘नः’ [अस्मान्] रचतु) । मधुः  
चैत्रमासः, ‘माधवः’ वैशाखमासः, तावुभावपि पूर्वोदयत्  
समिन्धनहेतुः, तयोर्मासयोरदित्यप्रकाशस्यातितोष्णत्वात् । तत्रापि

\* प्रथमेऽनुवाके ३, द्वितीये ३, तृतीये ३, चतुर्थे ८, पञ्चमे ६, षष्ठे  
२, सप्तमे २, अष्टमे १, नवमे १, दशमे ३, एकादशे ४, द्वादशे  
५ इति सप्तचिंशत् ।

‘अन्’ (अस्मात्) ‘मधोः’ (चैत्रमासात्) अधिकप्रकाशो यो ‘मार्धवः’ (वैशाखमासः), सः ‘अस्मान्’ सन्तापमयात् ‘पातु’ । दुःखेन स्तरोता (आच्छादयिता) ‘दुष्टरोता’, यो वैरो प्रावरणवस्त्रेणैव दुःखेन आच्छादयति, तस्यापि दुःखकारिणो वैरिणः ‘अदाभ्यः’ दम्भितुं हिंसितुमशक्यो यः ‘अग्निर्देवः’, सेऽयम्-‘इदं चक्रं’ (अस्मदीयमिदं बल), अस्मांश्च ‘रक्षतु’ ।

५. तत्रैव याज्यामाह,—“रथन्तरं सामभिः पालस्मान् गायत्री च्छन्दमां विश्वरूपा । त्रिवृन्नो विष्टया स्तोमो अङ्गां समुद्रो वात इदमोजं पिपर्तुं<sup>(१)</sup>” इति । यत् ‘रथन्तरं’ साम, तदन्यैः ‘सामभिः’ सह ‘अस्मान्’ ‘पातु’ ॥ ‘छन्दमां’ मध्ये ‘गायत्री’ ‘विश्वरूपा’ यवमध्यपिकामध्यादिभेदैर्बर्ज्यरूपा, सा ‘अस्मान्’ रक्षतु । त्रिवृदाख्यो यः ‘स्तोमः’ ‘अङ्गाम्’ एकाहादिमन्त्रिन्या ‘विष्टया’ (विविधया स्थित्या) युक्तः, अहं सु विविधं प्रयुज्यत इत्यर्थः, तादृशः ‘अस्मान्’ ‘पातु’ । समुद्राख्यो यः ‘वातः’ अस्ति,—‘समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा । समुद्रोऽसि नभस्मान् इत्यादावान्नातः, तादृशो वायुः ‘इदमोजः’ (अस्मदीयबल) ‘पिपर्तुं’ (पालयतु पूरयतु वा) ।

अथ ‘इन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय वार्हताय यैश्चायैकादश-कंपालः’ इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“उया दिशमभिभूतिर्वयोधाः, उचिः शुक्रे अहन्योजसोना । इन्द्राधिपतिः पिष्टतादतो नो महि चक्रं विश्वतो धारयेदम्<sup>(२)</sup>” इति । ‘दिशां’ मध्ये ययं ‘उयः’ (दक्षिण दिक्), उग्रत्वे हेतुः,—‘अभिभूतिः’, पापानामभि-भवहेतुर्जादुगल । सा ‘वयोधाः’ (वय आयुष्यं, तस्मिन्नतोते सति

मृतां पुरुषान् थमलोके दधाति स्थापयतीति वयोधम्) ।  
 वयसोऽन्ते दधातीति, मध्यमपदलोपो द्रष्टव्यः । 'शुचिः' आषाढ-  
 मासः, 'शुक्रः' ज्येष्ठः, तयोः सन्ध्विनि दिवसे यदौष्ण्यमस्ति,  
 ततोऽपि 'शुचिः' 'श्राजसोना' (अतिशयेनौष्ण्यरूपौजायुक्तः) ।  
 हे 'इन्द्र' (परमैश्वर्ययुक्त), त्वम् 'अधिपति' (तस्या उपाया दिशः,  
 तयोरत्युष्णयोश्च स्नामी । तादृशस्त्व 'अनः' (उभयस्मात्) 'नः'  
 (अस्मान्) 'पिपृतात्' (पालय) । किञ्च 'विश्वतः' 'महि' (सर्व-  
 स्मात् महत्) 'इद' 'चत्रं' (बलं) 'धारय' (सम्पादय) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“बृहत् साम चत्रमृदृद्धृष्टिण्यं त्रिष्टु-  
 भौजः शुभितमुग्रवीरं । इन्द्र स्तोमेन पञ्चदशेन मध्यमिदं  
 वातेन सगरेण रक्ष(४)” इति । बृहदाख्यं यत् 'साम', तत् 'त्रिष्टुभा'  
 कृन्दमा सह, पिपृत्वित्यनुवर्त्तते, अस्मान् पालयत्वित्यर्थः । कोदृशं  
 साम ?—‘चत्रमृत्’ (बलस्य धारयितृ), ‘वृद्धृष्टिण्यं’ (उत्थिनपुंस्ते),  
 ‘श्राजः’ (बलप्रदं), ‘शुभितं’ (शोभमानं), ‘उग्रवीरं’ (तोत्रपुत्र-  
 प्रदं) । हे 'इन्द्र', पञ्चदशाख्येन 'स्तोमेन' सगराख्येन 'वातेन'  
 सहितः सन् 'इदं' 'मध्यं' 'रक्ष' (अतोतानागतयोर्मध्ये स्थितं  
 इदमस्मदीयं शरीरं पालय) ।

अथ 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो  
 वार्षिकेभ्यो द्वादशकपालः' इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“असौ  
 दिशाः संहयंशा यशस्वतो विश्वे देवाः प्रावृषाक्ताः सुवर्तते । इदं  
 चत्रं दुष्टरमस्त्वौजाऽनाष्टष्टः सहस्त्रियः सहस्वत्(५)” इति । अत्र  
 प्रश्नवद् प्रतिशब्दार्थे वर्त्तते । तथा सति 'दिशां' मध्ये या 'प्राची' ।

पश्चिमा दिगित्यर्थः, सा च “सहयशाः” (अस्मासु सम्पाद्यमानेन यज्ञमा सहिता), स्वयमपि ‘यशस्वती,’ सा च ‘सुवर्वती’ (स्वर्ग-निवासिनी) सूर्येणास्तमयकालभाविना युक्ता; तथाविधा दिक्-अस्मान् पालति शेषः । तथा ‘विश्वे देवाः’ ‘प्रावृषा’ (वर्षर्तुना) तदोद्यानाम् ‘अक्षां’ समूहेन सहिता अस्मान् पालयन्ति शेषः । ‘इदं चक्रं’ (अस्मात्परिपालकं राजशरीरं) केनाप्यन्येन वैरिणा किरितुं लङ्घयितुमशक्यम् ‘अस्तु’ । ‘ओजो’ (मदीयं बलं) ‘अना-धृष्टे’ (केनाप्यतिरस्कृतम्) अस्तु । तथा ‘सहस्रिय’ (सहस्रसङ्ख्या-योग्यं) ‘सहस्रत्’ (प्रबलं धाम) अस्तु ।

तत्रैव याज्यामाह,—“वैरूपे मामन्निह तच्छकेम जगद्यैनं विस्त्वावेशयाम् । विश्वे देवाः सप्तदशेन वर्चं इदं चक्रं सलिला-वारमुयम्<sup>(१)</sup>” इति । वैरूपाख्यं यत् सामान्ति, तस्मिन्नाश्रिता वयम् ‘इह’ (कर्मणि) यत् फलमपेक्षितं, ‘तत्’ ‘शकेम’ (सम्पादयितुं शक्ताः स्मः) । तथा जगत्याख्यया कन्दोदेवतया अनुगृहीता वयं ‘एनं’ (यजमानं) ‘विष्णु’ (प्रजासु) ‘आवेशयामः’ (प्रजानां स्वामिनं कुर्म इत्यर्थः) । हे ‘विश्वे देवाः’ सप्तदशाख्येन स्तोमेन युष्माभिश्च अनुगृहीतं ‘इदं चक्रम्’ (अस्मात्पालकं राजशरीरं) ‘वर्चः’ (तैजोयुक्तं) सलिलाख्येन वायुविशेषेणानुगृहीतं,—‘सलिलाय त्वा वाताय-त्वं’ इति । ‘उयं’ (वैरितिस्कारक्षमम्) अस्तु ।

अथ ‘मित्रावरुणाभ्यामनुदुभाभ्यामेकविंशाभ्यां वैराजाभ्यां शरदाभ्यां पयस्या’ इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“धर्चो दिशां चक्र-सिदं दाधारोपस्थाशानां मित्रवदस्त्रोजः । मित्रावरुणा शरदाक्षां

चिकित्स्व अस्मै राट्वाय महि शर्म यच्छतम्<sup>(५)</sup> इति । 'दिशां' मध्ये 'धर्त्री' (अस्माकं धारयित्री); इयमुदोची 'इदं चत्रम्' ('अस्मत्पालकं चत्रियशरीरं') 'दाधार' (पोषयामास) । कीदृशी?— 'आशानाम्' उपस्थेया (अस्माकं धनादिविषयाणामाशानां सिध्यर्थं सेव्या), यस्या दिशः प्रसादादस्मदीयम् 'ओजो' (बलं) 'मित्रवद्' 'अस्तु' (बहुभिर्मित्रैरूपेतमस्तु) । हे 'मित्रावरुणा' 'शरदा' (शरन्नामकेन) चतुर्ना तदीयानाम् 'अङ्गां' 'चिकित्स्व' (ज्ञातारौ) युवां 'अस्मै' (इदानीं वर्त्तमानाय) 'राट्वाय' 'महि' 'शर्म' 'यच्छतं' (महत् सुखं मयादयतम्) ।

तत्रैव याज्यामाह,—'वैराजे सामन्नाधि मे मनीषानुष्टुभा सम्भृत वीर्यम् सहः । इदं चत्रं मित्रवदार्द्रदानु मित्रावरुणा रक्षतमाधिपत्यैः<sup>(६)</sup>' इति । वैराजाख्य यत् सामास्ति, तस्मिन् 'मे' (मदीया) 'मनीषा' (बुद्धिः) आश्रिता तथाऽस्त्विति शेषः । तथा 'वीर्यम्' (अस्मदीयं शरीरव्यवहारसामर्थ्यं), 'सहः' (वैरितिरस्कारकं बलं) च 'अनुष्टुभा' (कुन्दोदेवतया) 'सम्भृतं' (सम्पादितम्) अस्तु । 'मित्रावरुणा' (हे मित्रावरुणा), 'इदं चत्रं' (राजशरीरं) 'मित्रवत्' (मित्रैर्बहुभिर्रूपेतं), 'आर्द्रदानु' (आर्द्रस्य जलसम्पूर्णस्य चोदादेर्धातुः\*) यथा भवति, तथा युवां 'आधिपत्यैः' 'रक्षतं' (आधिपत्यान् विदित्वा पालयतम्) ।

अथ "बृहस्पतये पाङ्गाय त्रिणवाय शाकराय हैमन्तिकाय

सहः' इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“संघाद् दिशां सहसाक्षी सह-  
स्वत्यृतुर्हेमनो विष्टया नः पिपर्तु । अवस्युवाता वृहतीर्नु शकरीरिमं  
यश्मयन्तु नो घृताक्षी<sup>(९)</sup>” इति । ‘दिशां’ मध्ये (सम्यगाजते इति)  
‘संघाद्’ ‘ऊर्ध्वा दिक्’, सा च ‘सहसाक्षी’ (सामभिः सहिता), ‘सह-  
स्वती’ (बलवती), ‘नः’ (अस्मान्) ‘पिपर्तु’ (पालयतु) । तथा हेमन्ताख्य  
‘चतुः’ ‘विष्टया’ (विशिष्टया, स्थित्या) ‘नः पिपर्तु’ । ‘अवस्युवाताः’  
(अवस्यवो रक्षयितारो ‘वाताः’ वायवः यासां वृहतीनामृचां, ताः  
अवस्युवाताः), ‘वृहतीः’ (वृहत्याख्यच्छन्दोयुक्ताः), ‘शकरीः’ ‘नु’  
(शाकरसाक्षो योनिभूता चचः अपि), ‘घृताक्षीः’ (घृताङ्गतियुक्ताः)  
सत्यः ‘नः’ (अस्मदीयं) ‘इमं’ ‘यश्मयन्तु’ ।

● तत्रैव याज्यमाह,—“सुर्वती सुदुघा नः पयस्वती दिशां देव्यवतु  
नो घृताक्षी । त्वं गोपाः पुर एतोत पश्चाद् वृहस्पते याम्यां  
युङ्धि वाचम्<sup>(१०)</sup>” इति । ‘दिशां’ स्वामिभूता देवी\* ‘सुर्वती’  
(स्वर्गयुक्ता\* स्वर्गप्रदेत्यर्थः), ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘सुदुघा’ (काम-  
धेनुवत् सुष्ठु दोहनशीला), अत एव ‘पयस्वती’ (जीरादिरसद्रव्य-  
पूर्णा), विशेषतः ‘घृताक्षी’ (घृतं प्राप्नुवती), हे ‘वृहस्पते’, ‘त्वं’ ‘पुर’  
‘एता’ (पुरतो गन्ता सन्) ‘गोपाः’ (रक्षकः) ; ‘उत’ (अपि च)  
‘पश्चात्’ (वृष्टतः) अपि रक्षकः, तादृशस्त्वं ‘याम्यां’ (यममयीं) ‘वाचं’  
‘युङ्धि’ (घोजय), एवमेव वर्त्तस्व आदिश्लोकार्थः ।

अथ ‘सवित्रे अतिच्छन्दसाय जयस्त्रिंशाय रैवताय त्रैत्रिराय  
द्वादशकपालः’ इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—“ऊर्ध्वा दिशां रन्ति-

\* ‘देवीः’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

राशौषधीनां संवत्सरेण सविता नो अङ्गां । रेवत् सामानिष्कन्दा  
 उ च्छन्दोऽजातशत्रुः स्योना नो अस्तु<sup>(११)</sup>” इति । ‘दिशां’ मध्ये  
 येयम् ‘जङ्घां’ दिक्, सा ‘रन्तिः’ (प्रीतिहेतुः), सा च ‘ओषधीनां’  
 दृष्टिद्वारा सम्पादिकेति शेषः । तादृशी ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘स्योना’  
 (सुखदा) ‘अस्तु’ । तथा ‘अङ्गां’ समूहरूपेण ‘संवत्सरेण’ सह ‘सविता’  
 (सुखप्रदः) ‘अस्तु’ । तथा ‘रेवत्’ (रैपतम्यं) यत् ‘साम’ ‘अति-  
 ष्कन्दा उ’ (अतिच्छन्दोयुक्ता च्छगपि), तथा तस्यामृचि वर्तमान-  
 ष्छन्दश्चेत्येष समूहः ‘अजातशत्रुः’ ‘अस्तु’,—अस्मदीयः शत्रुर्यथा  
 नात्पद्यते तथा करोत्वित्यर्थः ।

तत्रैव याज्यामाह,—“स्तोमत्रयस्त्रिंशे भुवनस्य पत्नि विवस्वदाते  
 अभि नो गृणाहि । धृतवती सवितराधिपत्यैः पयस्वती रन्तिरा  
 नो अस्तु<sup>(११)</sup>” इति । हे ‘स्तोमत्रयस्त्रिंशे’ (त्रयस्त्रिंशाख्यः स्तोमो यस्या  
 जङ्घादिशः सा स्तोमत्रयस्त्रिंशा तत्सम्बन्धनमिदम्), ‘भुवनस्य  
 पत्नी’ (भूतजातस्य पत्नी पालयित्री),\* हे ‘विवस्वदाते’ (विवस्वन्नामको  
 वातो वायुर्यस्याः सा विवस्वदाता, तत्सम्बन्धनमिदं), ‘विवस्वते  
 त्वा वाता स्वाहा’ इत्यन्यत्राज्ञातं । तथाविधा ‘नः’ ‘अभि’  
 ‘गृणाहि’ (अस्मान् प्रति हितमुपदिश) । हे ‘सवितः’, इयम्  
 ‘आशा’ (दिक्) ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘धृतवती’ (बहुलधृतसम्पादिका),  
 ‘अधिपत्यैः’ (अधिकपालनशक्तिभिः) योजयित्री, ‘पयस्वती’ (क्षीर-  
 सम्पादिका), ‘रन्तिः’ (प्रीतिहेतुः) ‘अस्तु’ ।

\* अत्र, ‘भुवनस्य पत्नि, भूतजातस्य पत्नी पालयित्री, तत्सम्बन्धन-  
 मिदम्’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ 'अदित्यै, विष्णुप्रत्यै, चरुः' इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—  
 “भ्रुवा दिशां, विष्णुप्रत्यघोराश्चेशाना सहसो या मनोता । बृहस्पति-  
 मातरिश्चोत वायुः सन्धुवाना वाता अभि नो गृणन्तु<sup>(१२)</sup>” इति ।  
 ‘दिशां’ मध्ये या ‘भ्रुवा’ (स्थिरा, सूर्यगतिषापेक्षप्राच्यादिविभागरहिता  
 समारूपा) दिक्, यस्य ‘बृहस्पतिः’ यस्य मातरिश्चाख्यो मुख्यवायुः,  
 ये च अन्ये ‘सन्धुवानाः’ (सम्यक् तत्र तत्र कम्पयन्तः) ‘वाताः’ ते सर्वेऽपि  
 ‘नः’ ‘अभि’ ‘गृणन्तु’ (अस्मान् प्रति हितमुपदिशन्तु) । कीदृशी भ्रुवा ?  
 ‘विष्णुपत्नी’ (विष्णुः पतिः पालको यस्याः सा ‘विष्णुपत्नी’), ‘अघोरा’  
 (शान्तरूपा), ‘अस्य’ ‘सहसः’ (सर्वस्य बलस्य) ‘ईशाना’ (नियामिका) ।  
 ‘मनोता’ (मनसि जाता पूजितेत्यर्थः) ।

\* तत्रैव याज्यामाह,—“विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या अस्त्रेशाना  
 जगतो विष्णुपत्नी । विश्वव्यचा द्रुषयन्ती सुभूतिः शिवा नो अस्त्र-  
 दितिरूपस्त्रे<sup>(१३)</sup>” । ‘अदितिः’ (अखण्डनीया) दिक्सामान्यरूपा  
 देवता ‘उपस्त्रे’ (स्रोतस्त्रे) स्थितान् ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘शिवा’  
 (शान्ता) ‘अस्तु’,—सुखकरी भवतु । कीदृशी अदितिः ? ‘दिवो’ ‘विष्टम्भः’  
 (द्युलोकस्याधारभूता), ‘पृथिव्या’ ‘धरुणः’ (भूभेधारयत्री), ‘अस्य’  
 ‘जगतः’ ‘ईशाना’ (सर्वस्य जगतः स्वामिभूता), (विष्णुः पतिः पालको  
 यस्याः सा) ‘विष्णुपत्नी’, ‘विश्वव्यचा’ (जगद्व्यापिनी), ‘द्रुषयन्ती’  
 (द्रुषमन्त्रं कुर्वती), ‘सुभूतिः’ (शोभनैश्वर्योपेता) ।

अथ ‘अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालः’ इत्यस्य ग्राज्यानुवाक्ययोः  
 प्रतीके दर्शयति,—“वैश्वानरो न ऊत्या पृष्टो दिवि<sup>(१५-१६)</sup>” इति ।  
 ‘वैश्वानरो न ऊत्या’ इति पुरोऽनुवाक्या । ‘पृष्टो दिवि’ इति याज्या ।



एतस्योभयं प्रथमकाण्डस्य पञ्चमप्रपाठकस्यान्यनुवाके व्याख्यातम् ।

अथ 'अनुमत्ये चरः' इत्यस्य याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—  
“अनु नोऽद्यानुमतिरन्विदनुमते त्वम्<sup>(१०-१८)</sup>” इति । ‘अनु नोऽद्यानुमतिः’  
इति पुरोऽनुवाक्या, ‘अन्विदनुमते त्वम्’ इति याज्या । एतस्योभयम्  
“इदं वामास्ये हविः” (३।३।११) इत्यस्मिन्ननुवाके व्याख्यातम् ।

अथ 'काय एककपालः' इत्यस्य याज्यानुवाक्ययोः प्रतीके दर्श-  
यति,—“कया नश्चिच आभुत् को अद्य युक्ते<sup>(१८-१०)</sup>” इति । ‘कया  
नश्चिच आभुवत्’ इति पुरोऽनुवाक्या, ‘को अद्य युक्ते’ इति याज्या ।  
एतस्योभयम्,—“इन्द्राग्नी रोचना” (४।२।११) इत्यस्मिन्ननुवाके  
व्याख्यातम् ।

अथ विनियोगसंग्रहः,—

अथान्धमेधे या लिष्टिर्हविर्भिर्दक्षभिर्युता ।

विधीयतेऽग्नये गायेत्यनुवाकेन (७।५।१४अ०) तत्र च ॥

द्वे द्वे याज्यानुवाक्ये स्तामित्युचो विंशतिस्त्रिह ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं विनाशयन् ।

षमर्थांश्चतुरो देयादिद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्षप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्क-  
भूपाख्यसाम्नाथधुरन्वरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-  
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे चतुर्षप्रपाठकः  
सम्पूर्णः ॥०॥ ॥०॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

१०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः । नमस्ते  
अस्तु धन्वने बाहुभ्यामुत ते नमः<sup>(१)</sup> । या त इषुः शिव-  
तमा शिवं बभूव ते धनुः । शिवा शर्व्या या तव तथा  
नो रुद्र मृडय<sup>(२)</sup> । या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापाप-  
काशिनी । तथा नस्तनुवा शंतमया गिरिशंताभि  
चाकशीहि<sup>(३)</sup> । यामिषुं गिरिशंत हस्ते ॥ १ ॥

विभर्ष्यस्तवे । शिवां गिरिञ्च तां कुरु मा हिंसी  
पुरुषं जगत्<sup>(४)</sup> । शिवेन वचसा त्वा गिरिशास्त्रा  
वदामसि । यथा नः सर्वमिज्जगदयश्च सुमना  
असत्<sup>(५)</sup> । अद्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।  
अहींश्च सर्वान् जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्<sup>(६)</sup> । असौ  
यस्ताम्रो अरुण उत बभुः सुमङ्गलः । ये चेमा रुद्रा  
अभिते दिक्षु ॥ २ ॥

अ॒त्रि॒ताः स॒हस्र॒शोऽवै॒षां हे॒ड ई॒महे<sup>(९)</sup> । अ॒सौ यो-  
 ऽव॒सर्प॑ति॒ नील॑ग्री॒वो वि॒क्षोऽहितः॑ । उ॒तैनं॑ गो॒पा अ॒ह-  
 श॒न्नद॑श्नुद॒हार्यः॑ उ॒तैनं॑ वि॒श्वो भू॒तानि॑ सः ह॒ष्टो मृ॒ड-  
 या॒ति नः<sup>(८)</sup> । नमो॑ अस्तु॒ नील॑ग्री॒वाय स॒हस्रा॑क्षाय॒ मी-  
 दु॒षे । अथो॑ ये अ॒स्य स॒त्वा नोऽहं॑ तेभ्योऽकर॒न्मः<sup>(८)</sup> ।  
 प्र मु॒ञ्च ध॒न्व न॒स्त्वमु॒भयो॒रार्ति॑योज्यां । याश्च॑ ते ह॒स्त  
 इ॒षवः॑ ॥ ३ ॥

परा॒ ता भ॑गवो वप<sup>(१०)</sup> । अ॒व॒तत्य॑ भ॒नुस्त्वः॑ स॒ह-  
 स्रा॒क्ष श॑र्त॒ेषुधे॑ । नि॒शीर्य॑ श॒ल्यानां॑ मु॒खा शि॒वो नः॑ सु॒मना॑  
 भव<sup>(११)</sup> । वि॒ज्यं ध॒नुः क॒पर्दि॑नो वि॒श्वो वा॒णवाः॑  
 उ॒त । अ॒ने॒श॒न्नस्ये॑षव आ॒भुर॑स्य निष॒ङ्गयिः<sup>(१२)</sup> । या ते  
 हे॒तिर्मी॑दुष्ट॒म ह॒स्ते ब॒भूव॑ ते ध॒नुः । तया॑स्मान् वि॒श्व-  
 त॒स्त्वम॑य॒क्ष्मया॑ परि॒भुज॑<sup>(१३)</sup> । नम॑स्ते अ॒त्वाय॑धा॒या-  
 ना॒तता॑य धृ॒ष्णवे॑ । उ॒भाभ्या॑म्, उ॒त ते नमो॑ बा॒ह्वभ्यां॑  
 तव॑ ध॒न्वने॑<sup>(१४)</sup> । परि॑ ते ध॒न्वनो॑ हे॒तिर॑स्मान् वृ॒णक्तु॑  
 वि॒श्वतः॑ । अथो॑ य इ॒षुधि॑स्त॒वारे॑ अ॒स्मन्नि धे॑हि तम्<sup>(१५)</sup>  
 ॥ ४ ॥

ह॒स्ते । दि॒क्षु । इ॒षवः । उ॒भाभ्यां॑ । द्वावि॑शतिश्च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
 प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

आगच्छाय नमः ।



यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥१॥

दष्टकाचितयः सर्वस्त्वर्थे हि समापिताः ।

रुद्राध्याये पञ्चमे तु चित्यग्नौ होम उच्यते ॥२॥

कर्मप्रकरणे पाठात् कर्माङ्गत्वमपीव्यते ।

ज्ञानहेतुत्वमप्यस्य तथोपनिषदीरितम् ॥३॥

किं जप्येनामृतत्वं नो ब्रूहीत्युक्ते मुनिर्जगौ ।

शतरुद्रीयकेणेति जाबाला आमनन्ति तत् ॥४॥

स्वत्यागमपुराणेषु रुद्राध्यायप्रशंसनम् ।

बद्धस्ति तद्विस्तरेण रुद्रकल्पेऽभिधास्यते ॥५॥

इह कर्माङ्गता यादृग्वर्णिता ब्राह्मणेन ताम् ।

बोद्धुं शब्दार्थमात्रस्य विवृतिः क्रियते स्फुटा ॥६॥

कल्पः,—‘शतरुद्रीयं जुहोति, जर्त्तिलयवाग्वा गवीधुकयवाग्वा जुहुयात् । जर्त्तिलैर्गवीधुकस्र्कुभिर्वा कुशयवसर्पिषा अजाक्षीरेण मृगीक्षीरेण वार्कपर्णेनोदङ्तिष्ठन्, उत्तरस्य पक्षस्य उत्तरापरस्याऽस्र्क्त्यां विकर्षां स्वयमावृष्टायामनु परिचारं वा नमस्ते रुद्रमन्यव इत्येतान् अनुवाकाऽस्त्रेधा विभज्य, अपि वा प्रथमादुपक्रम्य, नमस्तुत्तभ्य इति जानुदध्ने धारयमाणः, रथकारेभ्यः अव इत्युपक्रम्य, नमः स्वायुधाय चेति नाभिदध्ने शेषेण प्रागवसानेभ्य आस्यदध्ने ऊत्वा, सहस्राणि सहस्रश

इति दशावदाना ऊत्वाऽन्वारोहं जुहोति, नमो रुद्रेभ्यो यो  
 पृथिव्यामिति जानुदघ्ने धारयमाणः, नमो रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्ष इति  
 नाभिदघ्ने, नमो रुद्रेभ्यो ये दिवीत्यास्यदघ्ने ऊत्वा, एतानेव यजमानं  
 वाचयित्वैतानेव विपरीतान् प्रत्यवरोहान् ऊत्वा, सञ्चरे पशूनामर्क-  
 पर्णमुदस्यति ग्रं दिव्यात् तस्य सञ्चरः' इति । तच्च प्रथमानुवाके  
 प्रथमानुचमाह,—“नमस्ते रुद्र मन्यवे उतो ते इषवे नमः । नमस्ते  
 अस्तु धन्वने बाहुभ्यामुत ते नमः<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘रुद्र’, त्वदीयो यो  
 ‘मन्युः’ (कोपः) तस्मै ‘नमः’ ‘अस्तु’, स मन्युरस्मद्वैरिष्वेव प्रसरतु न  
 तस्मासु । ‘उतो’ (अपि च) ‘ते’ ‘इषवे’ ‘नमः’ (त्वदीयाय वाणाय  
 नमः) ‘अस्तु’, तथा ‘ते’ ‘धन्वने’ (त्वदीयाय धनुषे) ‘नमः’ ‘अस्तु’, ‘उत’  
 (अपि च) ‘ते’ ‘बाहुभ्यां’ (त्वदीयाभ्यां धनुर्बाणोपेताभ्यां हस्ताभ्यां)  
 ‘नमः’ अस्तु । एतत्सर्वं वैरिष्वेव प्रवर्त्ततां न तु मयीत्यभिप्रायः ।

द्वितीयानुचमाह,—“या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः । शिवा  
 शरव्या या तव तथा नो रुद्र मृडय<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘रुद्र’, ‘ते’ (त्वदीया)  
 ‘या’ इयम् ‘इषुः’ ‘शिवतमा’ (शान्ततमा) ‘बभूवः’ तथा त्वदीयं यत्  
 ‘धनुः’ शान्ततमं बभूव, ‘या’ च ‘शरव्या’ ‘तव’ (इषुधिः) ‘तथा’ शान्तया  
 इच्छा तेन च शान्तेन बाणेन, शान्तेन धनुषा, तथा शान्तया शरव्यया  
 ‘नः’ (अस्मान्) ‘मृडय’ (सुखय) भक्तेषु प्रवृत्त्यभावस्तेषां शान्तत्वम् ।

अथ तृतीयानुचमाह,—“या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापका-  
 शिनी । तया नृस्तनुवा शंतमया गिरिशंताभि चाकशीहि<sup>(१)</sup>” इति ।  
 हे हि रुद्रस्य तनू, तथा चोपरिष्ठादाप्तायते, ‘रुद्रो वा एष  
 यदग्निसंस्थैते तनूवौ घोरान्या शिवान्या’ इति । हिंसिका घोरा ।

अनुग्राहिका शिवा । हे. 'रुद्र', 'ते' (तव) . 'या' 'तनूः' 'शिवा'  
(अस्मासु अनुग्रहकारिणी), अन्न एवाहंसिका भवति । अघोरत्वमेव  
स्यष्टीक्रियते,—'अपापकाग्निनी' (पापं हिंसारूपमनिष्टं काशयतीति  
पापकाग्निनी, तादृशी न भवतीत्यपापकाग्निनी) । (गिरौ कैलासे  
स्थिता नित्यं प्राणिभ्यो यः शः सुखं तनोति, तत्सम्बोधनं)  
हे 'गिरिशंत' । 'तथाविधं हे रुद्र, 'शंतमया' (अतिशयेन  
:सुखकारिणा) 'तया' 'तनुवा' 'अभि चाकशीहि' (मामभिलक्ष्य  
प्रकाशं कुरु) । तादृशीं त्वदीयां तनू प्रकाशयन् मां सुखिन्  
कुर्वित्यर्थः ।

अथ चतुर्थोमाह,—“यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्षिस्तवे । शिवां  
गिरिच तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्<sup>(४)</sup>” इति । हे 'गिरिशंत',  
'याम्' 'इषुं' (वाणं) 'अस्तवे' (वैरिषु प्रचेष्टुं) 'हस्ते' 'बिभर्षिः', (गिरिं  
'कैलासं चाप्यते पालयति इति 'गिरिचः', तत्सम्बोधनं) तथाविधं हे  
रुद्र, 'तां' 'हस्ते' धृताम् 'इषुं' 'शिवां' अस्मासु (शान्तां) 'कुरु' ।  
'पुरुषम्' (अस्मदीयं मनुष्यं), 'जगत्' मनुष्यव्यतिरिक्तमपि (जगत् जङ्गमं)  
गवादिकं 'मा हिंसीः' ।

अथ पञ्चमीमाह,—“शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।  
यथा नः सर्वमिच्छगदयच्छा सुमना असत्<sup>(५)</sup>” इति । (गिरौ  
कैलासे ज्ञेते तिष्ठतीति गिरिशः) हे 'गिरिश', त्वाम् 'अच्छ'  
(प्राप्तुं) 'शिवेन' (मङ्गलेन) स्तुतिरूपेण 'वचसा' 'वदामसि' (वयं  
प्रार्थयामहे),—'यथा' (येन प्रकारेण) 'नः' (अस्मदीयं), 'सर्वमित्'  
'जगत्' (यथा सर्वमपि मनुष्यपञ्चादिकं जङ्गमजातं) 'अयच्छाम्'

(अरोगं\*) 'सुमना' 'असत्' (अभवत्);—सौमनस्योपेतं यथा भवति, तथा कुरु ।

अथ षष्ठीमाह,—“अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् । अहीँश्च सर्वान् जम्भयन्सर्वाश्च यातुधान्यः<sup>(१)</sup>” इति । यो रुद्रः 'अधिवक्ता' (अधिकोऽयमित्येवं सर्वेषां अग्रे मां प्रतिवक्तुं क्षमः), तेनोक्ते सति मम सर्वाधिकं तदानीमेव सिध्यति । अतस्तादृशो रुद्रः 'अध्यवोचत्' (मां सर्वाधिकं वक्ति) । कीदृशोऽधिवक्ता ? 'प्रथमः' (देवानां मध्ये मुख्यः) 'दैव्यः' (सर्वान् देवान् अर्हति), स्वयं देवान् पालयितुं क्षम इत्यर्थः । 'भिषक्' (एतस्य ध्यानमात्रेण सर्वरोगोपशमनादयं चिकित्सकः) । किं कुर्वन् ? 'अहीँश्च' 'सर्वान्' (सर्पव्याघ्रादीन् सर्वानपि), 'सर्वाश्च' 'यातुधान्यः' (सर्वानपि राक्षसान्) 'जम्भयन्' (विनाशयन्) ।

अथ सप्तमीमाह,—“असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः । ये चेमाँ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे<sup>(२)</sup>” इति । 'यः' रुद्रः, 'असौ' (मण्डलस्थादित्यरूपः), स च 'ताम्रः' (उदयकाले अत्यन्तरक्तः), 'अरुण' (उदयादूर्ध्वमीषद्रक्तः) । 'उत' (अपि च) 'बभ्रुः' (ततोऽप्यूर्ध्वं पिङ्गलः) । एवमन्येऽपि वर्णास्तत्कालगता उन्नेयाः । 'सुमङ्गलः' (नानावर्णः सन् तदा तदा अन्धकारादिनिवर्त्तनादत्यन्तमङ्गलः) । 'ये च' अन्ये रश्मिरूपा 'रुद्राः' 'इमाम्' 'अभितः' (अस्या भूमेः परितः) 'दिक्षु' 'श्रिताः' (प्राच्यादिदिक्षु अवस्थिताः), ते च 'सहस्रशः' (अनेकसहस्रसङ्ख्याकाः), 'एषाम्' (आदित्य-तद्रश्मि-

\* 'अरोगः' इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

रूपाणां सर्वेषां रुद्राणां) 'हेडः' (क्रोधसदृशं तीक्ष्णत्वं) 'अव'-'ईमहे'  
(भक्तिनमस्कारादिना निवारय्यामः) ।

अथाष्टमीमाह,—“असौ योऽवसर्पति नीलघीवो विलोहितः ।  
उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नदहार्थः । उतैनं विश्वा भूतानि सः दृष्टो  
मृडयाति नः<sup>(८)</sup>” इति । 'यः' रुद्रः, 'नीलघीवः' (कालकूटविष-  
धारणे नीलवर्णा घीवा यस्य असौ नीलघीवः), स एव 'विलोहितः'  
(विशेषेण लोहितः सन्) 'असौ' मण्डलवर्त्ती भूत्वा 'अवसर्पति'  
(उदयास्तमयं सम्पादयितुं प्रवर्त्तते) । तस्य च रुद्रस्य मण्डलवर्त्तित्व-  
रूपधारणे प्रयोजनमुच्यते,—‘उत’ (अपि च), ‘गोपाः’ (वेदसंस्कार-  
रहिता गोपालाः) अपि ‘एनं’ (मण्डलवर्त्तिनमादित्यरूपं रुद्रम्)  
‘अदृशन्’ (पश्यन्ति\*) । ‘उदहार्थः’ (उदकानां हारिण्यो योषितः) अपि  
‘एनम्’ ‘अदृशन्’ (पश्यन्ति) । ‘उत’ (अपि च) ‘एनं’ (मण्डलवर्त्तिन-  
मादित्यरूपिणं रुद्रं) ‘विश्वा’ ‘भूतानि’ (गोमहिषादयः सर्वेऽपि  
प्राणिनः) पश्यन्ति । सर्वेषां दर्शनार्थमेव हि रुद्रस्यादित्यमूर्त्तिधारणं,  
कैलासादिवर्त्ति रुद्रस्य रूपं वेदशास्त्राभिज्ञैरेव दृश्यते नान्यैः । तादृशो  
रुद्रः ‘दृष्टः’ सन् ‘नः’ (अस्मान्) ‘मृडयाति’ (अतिसुखिनः करोतु) ।

अथ नवमीमाह,—“नमो अस्तु नीलघीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।  
अथो ये अस्य सत्वाक्षोऽहं तेभ्योऽकुरुन्नमः<sup>(९)</sup>” इति । यः पूर्वोक्त-  
रीत्या नीलघीवः, स एव इन्द्रमूर्त्तिधारणेन, सहस्राक्षः, स पुनः  
पर्जन्यमूर्त्तिधारणेन मीढवान् (सेचकः) वृष्टिकर्त्तैत्यर्थः । तादृशाय रुद्राय

\* का० की० पुस्तके ‘पश्यन्ति स्म’ इति पाठः । परन्तु परञ्च  
पश्यन्ति इत्येव पाठः ।



‘नमः’ ‘अस्तु’ । ‘अथो’ (अपि च) ‘ये’ , केचिद् ‘अस्तु’ (रुद्रस्य)  
 ‘सत्त्वानो’ (मृत्युरूपाः प्राणिनः) ‘तेभ्यः’ (सर्वेभ्यः) ‘अहं’ ‘नमः’  
 ‘अकरम्’ (नमस्करोमि) ।

अथ दशमीमाह,—“प्र मुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्त्रियोर्ज्यां । याश्च  
 ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘भगवः’ (भगवान्,  
 पूजावान्[?] महदैश्वर्यसम्पन्न) रुद्र, ‘त्वं’ ‘धन्वनः’ (त्वदीयस्य धनुषः)  
 ‘उभयोरार्त्त्रियोः’ (कौट्योः) अवस्थितां ‘ज्याम्’ (सौर्वी) ‘प्र मुञ्च’  
 (अवरोपय) । ‘याश्च’ ‘ते’ ‘हस्ते’ ‘इषवः’ वर्त्तन्ते, ‘ता’ अपि ‘परा’  
 —‘वप’ (परित्यज्य[?]) ।

अथैकादशीमाह,—“अवतत्य धनुस्त्व सहस्राक्ष शतेषुधे । नि-  
 शीर्यं शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव<sup>(११)</sup>” इति । इन्द्ररूपेण  
 सहस्रसंख्याकानि अक्षीणि यस्यासौ सहस्राक्षः । शतसंख्याका इषुधयो  
 बाणस्थापनकोशा यस्य असौ शतेषुधिः । तादृश हे रुद्र, ‘धनुः’ ‘अवतत्य’  
 (अवरोपितज्याकं कृत्वा) ‘शल्यानां’ ‘मुखा’ (इषुगतलोहानाम्  
 उपाणि\*) ‘निशीर्यं’ (इषुधिषु न्यग्भावेन शीर्णां कृत्वा) ‘नः’ (अस्यान्)  
 प्रति ‘सुमना’ (अनुग्रहयुक्तः) ‘शिवः’ (शान्तः) ‘भव’ ।

अथ द्वादशीमाह,—“विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाः  
 उत । अनेशन्नस्तेषव आभुरस्य निषङ्गक्षिः<sup>(१२)</sup>” इति । कपर्दी  
 जटाजूटः, सोऽस्यास्तीति ‘कपर्दी’ रुद्रः, तस्य ‘धनुः’ ‘विज्यं’ (विगत-  
 ज्याकम्) अस्तु । ‘उत’ (अपि च) बाणमस्मिन् तिष्ठतीति बाणवान् इषुधिः,

\* ‘अपाणि’ इति पाठो भवितुं युक्तः । एवं परञ्च शीर्णमित्यत्र  
 ‘शीर्णानि’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

स च 'विश्वस्य' अस्तु,—इषुगतानां श्रव्यानां तदुदरे गोपितत्वेन बहिराविर्भूतशब्दरहितोऽस्तु । 'अस्य' (रुद्रस्य) 'इषवः' (बाणाः) इषुधौ प्रक्षिप्ता 'अनेशन' (वेदुमसमर्थाः) भवन्तु । 'अस्य' (रुद्रस्य) 'निषङ्गयिः' (वाणाधारः) 'आभुः' अस्तु (ईषत्प्रभुः) अस्तु । कुडूसानिखातशङ्कावासं-जितत्वेन(?) वाणान् धारयितुमेव प्रभवति न तु वाणाकर्षणयोग्य इत्यर्थः । अथ वा 'निषङ्गयिः' (खड्गकोशः) ; सोऽपि पूर्ववत् कचि-दारेोपितत्वेन खड्गं धारयितुमेव प्रभवति, न तु खड्गाकर्षणसमर्थः ।

अथ त्रयोदशीमाह,—“या ते हेतिर्मिदुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः । •तयास्मान् विश्वतस्त्वमयक्षया परि भुज(११)” इति । हे 'मीदुष्टम' (अतिशयेन कामाभिवर्षक), 'या' 'ते' 'हेतिः' (तव सम्बन्धि खड्गादिरूपं यदायुधं), यदपि तव 'हस्ते' 'धनुः' 'बभूव' । 'अयक्षया' (अनुपद्रवकारिण्या) 'तया' हेत्या तथाविधेन धनुषा च 'त्वम्' 'अस्मान्' 'विश्वतः' 'परि भुज' (सर्वतः परिपालय) ।

अथ चतुर्दशीमाह,—“नमस्ते अस्त्रायुधायानातताय धृष्णवे । उभाभ्याम्, उत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने(१२)” इति । हे रुद्र, 'ते' (त्वदीयाय) 'आयुधाय' (बाणरूपाय) 'नमः' 'अस्तु' । कीदृशाय आयुधाय ?—‘अनातताय’ (धनुषि सन्धानाभावादनपसंगिताय), 'धृष्णवे' (स्वरूपेण प्रहर्तुं प्रगल्भाय) । किञ्च 'ते' (त्वदीयाभ्याम्) 'उभाभ्यां' 'बाहुभ्यां' 'नमः' अस्तु । तथा 'तव' (त्वदीयाय) 'धन्वने' 'नमः' अस्तु ।

• • •

अथ पञ्चदशीमाह,—“परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृष्णकु विश्वतः । अथो यं इषुधित्तवारे अस्मान्नि धेहि तम्(१३)” इति । हे रुद्र,

‘ते’ (त्वदीयस्य) ‘धन्वनः’ ‘हेतिः’ वाणशब्दरूपा, ‘अस्मान्’ ‘विश्वतः’ (सर्वतः) ‘परि दृणक्तु’ (वर्जितान् करोतु) आ बाधतामित्यर्थः । ‘अथो’ (अपि च) ‘यः’ ‘तव’ ‘दधुधिः’ ‘अस्मद्’ ‘आरे’ (अस्मत्तो दूरे) ‘नि’-‘धेहि’ (स्थापय) ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्यजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

नमो हिरण्यवाहवे सेनान्ये दिशाञ्च पतये नमः<sup>(१)</sup>  
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमः<sup>(२)</sup> नमः ।  
सस्मिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमः<sup>(३)</sup> नमो  
बभ्रुशाय विव्याधिनेऽन्नानां पतये नमः<sup>(४)</sup> नमो हरि-  
केशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः<sup>(५)</sup> नमो भवस्य  
हृत्यै जगतां पतये नमः<sup>(६)</sup> नमो रुद्रायातताविने  
क्षेत्राणां पतये नमः<sup>(७)</sup> नमः सूतायाहन्त्याय वनानां  
पतये नमः<sup>(८)</sup> नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये  
नमः<sup>(९)</sup> नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये  
नमः<sup>(१०)</sup> नमो भुवन्तये वारिवत्कृतयैषधीनां पतये  
नमः<sup>(११)</sup> नमः उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्नीनां पतये  
नमः<sup>(१२)</sup> नमः कृत्स्नवीताय धाक्ते सत्त्वनां पतये  
नमः<sup>(१३)</sup> ॥ १ ॥

वनीनां पतये नमः नमः । एकान्नविंशच्च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

प्रथमेऽनुवाके भगवतो रूद्रस्य या प्रधानभूता तनुः, तां बद्धा  
ः प्रसाद्य तस्य ये लीलाविग्रहा जगन्निर्वाहहेतवः तेऽष्टभिरनुवाकैः  
प्रस्यन्ते । तेषु चानुवाकेषु सर्वाण्यपि यजूंषि ; तानि च द्विविधानि,—  
उभयतो नमस्काराणि अन्यतरतो नमस्काराणि च । तत्र त्रिषु  
अनुवाकेषु नमस्कारादिकं नमस्कारान्तकम् एकैकं यजुः ; इतरेषु  
पञ्चसु अनुवाकेषु नमस्कारादिकम् एकैकं यजुः । तत्र द्वितीयेऽनुवाके  
प्रथमं यजुराह,—“नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशाञ्च पतये नमः<sup>(१)</sup>  
इति । हिरण्यनिर्मितानि आभरणानि बाह्वोः यस्यासौ हिरण्यबाहुः ।  
संयामेषु सेनां नयतीति सेनानी । तादृशमूर्त्तिधारी यो रूद्रः,  
तस्मै ‘नमः’ अस्तु । यस्य ‘दिशां’ पालको रूद्रः तस्मै ‘च’ ‘नमः’ अस्तु ।

अथ द्वितीयं यजुराह,—“नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां  
पतये नमः<sup>(१)</sup>” इति । हरितवर्णाः केशा येषां वृक्षाणां, ते हरिकेशाः,  
तादृशेभ्यो वृक्षेभ्यो रूद्रमूर्त्तिधारिभ्यः ‘नमः’ अस्तु । यो रूद्रः  
‘पशूनां’ पालकः, तस्मै ‘नमः’ अस्तु ।

अथ तृतीयं यजुराह,—“नमः संस्पिञ्जराय त्रिषीमसे पथीनां  
पतये नमः<sup>(१)</sup>” इति । संस्पिञ्जरश्चेदो बालदणवाची । पीतरक्तसङ्कीर्ण-  
वाची संस्पिञ्जरः, बालदणवत् पिञ्जरः संस्पिञ्जरः । स च त्रिषीमान्\*

\* त्रिषीमसे इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‘नमः सहमानाय निव्याधिनं आव्याधिनीनां पतये  
 नमः<sup>(१)</sup> नमः ककुभाय निषङ्गिणे स्तेनानां पतये  
 नमः<sup>(२)</sup> नमः । निषङ्गिणं इषुधिमते तत्कराणां पतये  
 नमः<sup>(३)</sup> नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमः<sup>(४)</sup>  
 नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः<sup>(५)</sup> नमः  
 सृक्काविभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमः<sup>(६)</sup> नमो-  
 ऽसिमद्भ्यो नक्तश्चरद्भ्यः प्रहन्तानां पतये नमः<sup>(७)</sup> नमः  
 उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो<sup>(८)</sup>  
 नमः ॥ १ ॥

इषुमद्भ्यो धन्वाविभ्यश्च वो नमः<sup>(९)</sup> नम आतन्वा-  
 नेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमः<sup>(१०)</sup> नम आ यच्छद्भ्यो  
 वि सृजद्भ्यश्च वो नमः<sup>(११)</sup> नमोऽस्यद्भ्यो विधाद्भ्यश्च वो  
 नमः<sup>(१२)</sup> नमो आसीनेभ्यः शयानेभ्यश्च वो नमो नमः  
 स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च  
 वो नमो नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमो  
 अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यः, च वो नमः<sup>(१३-१७)</sup> ॥ २ ॥

कुलुञ्चानां पतये नमो नमः । अश्वपतिभ्यः ।  
 चीणि च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
 तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

द्वितीयेऽनुवाकेऽभयबोनमस्काराणि कानिचिद् यजूंषि उक्तानि ।  
अथापराणि तथाविधान्येत्र तृतीये अस्यष्टार्थानि द्वादश, स्पष्टार्थानि  
पञ्च\* कानिचिदुच्यन्ते । तत्र प्रथमं यजुराह,—“नमः सहमानाय  
निव्याधिन आव्याधिनीनां पतये नमः<sup>(१)</sup>” इति सहमानो विरोधिना-  
ऽभिभवन् । नितरां विरोधिना त्रिधतीति निव्याधी । तादृशाय  
रुद्राय “नमः” । ‘आं’ (समन्ताद्) विध्यन्तीति आव्याधिन्यः शूराः  
सेनाः, तासां पालकाय ‘नमः’ ।

अथ द्वितीयं यजुराह,—“नमः ककुभाय निषङ्गिणे स्तेनानां  
पतये नमः<sup>(२)</sup>” इति । ‘ककुभाय’ ककुत्सदृशाय प्रधानभूतायेत्यर्थः ।  
निषङ्गी खड्गहस्तः, तस्मै ‘नमः’ । ‘स्तेनाः’ गुप्तचाराः तेषां पालकाय  
‘नमः’ । रुद्रो हि लीलया नट इव तत्तद्देशं धत्ते । यदा तस्य  
सर्वजगदात्मकत्वात् ये यत्र यथा वर्त्तन्ते, तेषु तत्र रुद्र एव तत्तद्रूपेण  
वर्त्तन्ते† । इति रुद्रस्य सार्वत्र्यमनुसन्धातुं मन्त्रैरेवमुच्यते । स्तेनादि-  
शरीरेषु रुद्रो द्वेधा वर्त्तन्ते†, जीवरूपेणेश्वररूपेण च, तत्र यज्जीवरूपं  
तत् स्तेनादिशब्दानां वाच्योऽर्थः, स एव शास्त्रेषु निन्द्यः, यत्तु ईश्वर-  
रूपं तत्तु स्तेनादिशब्दैरुपलक्ष्यते, तदनुसन्धानन्तु पापक्षयहेतुत्वेन  
परमपुरुषार्थ इति, लक्ष्यार्थविवक्षया मन्त्रेषु लौकिकाः शब्दाः  
प्रयुज्यन्ते इति द्रष्टव्यं । उपलक्षकवाच्यार्थद्वारेण लक्ष्यार्थो सुगर्भ-  
रपि सहसा सम्यक् बोद्धुं शक्यते, यथा ‘शाखाये चन्द्र इत्यत्र ।

\* ‘अस्यष्टार्थानि द्वादश, स्पष्टार्थानि पञ्च’ इति पाठः कश्चित्  
नास्ति । .

† वर्त्तन्ते इति पाठो भवितुं युक्तः ।

तस्मात्तद्व्यार्थस्यैव विवक्षायामपि सुखाद्यबोधद्वारात्तेन मुख्यार्थवाचकाः  
शब्दाः प्रयोक्तव्याः ।

अथ तृतीयं यजुराह,—“नमो निषङ्गिण इषुधिमते तत्स्कराणां  
पतये नमः<sup>(१)</sup>” इति । धनुषि सन्धातुं हस्ते धृतो वाणे निषङ्गः,  
पृष्ठे बद्धो वाणाधार इषुधिः, तदुभययुक्ताय ‘नमः’ । तत्स्कराः  
प्रकाशचोराः, तेषां पालकाय ‘नमः’ ।

अथ चतुर्थं यजुराह,—“नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये  
नमः<sup>(२)</sup>” इति । स्वामिन आप्तो भूत्वा तदीयक्रयविक्रयादिव्यवहारेषु  
यच्च-कापि यत्किञ्चिद्द्रव्यापणवो वञ्चनं, सर्वेष्वपि व्यवहारेषु  
अपणवः परिवञ्चनं, तदुभयरूपाय ‘नमः’ । गुप्तचोरा द्विविधाः,—  
दूरादागत्य रात्रावज्ञाताः सन्तः कपाटाद्युद्घाटनेन ये द्रव्याप्रहर्त्तारस्ते  
स्तेनाः, स्वकीया एवभूता रात्रौ अहनि वा अन्यैरज्ञाताः सन्तोऽप-  
हर्त्तारो ये ते स्तायवः, तेषां पालकाय ‘नमः’ ।

अथ पञ्चमं यजुराह,—“नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये  
नमः<sup>(३)</sup>” इति । स्वामिगृह एव कदा अपहरिष्यामीत्यनया बुद्ध्या  
सावधानो निरन्तरं उरणशीलो निचेरः, परितः आपणविथी-  
प्रवाटिकादौ अपहारेच्छया चरणशीलः परिचरः, तदुभयरूपाय  
‘नमः’ । मार्गे गन्तुं द्रव्यापहारेण बाधितुम् अरण्ये वर्त्तमानाश्चोरा  
आरण्याः, तेषां पालकाय ‘नमः’ ।

अथ षष्ठं यजुराह,—“नमः सृकाविभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां  
पतये नमः<sup>(४)</sup>” इति । सृक्शब्दो वज्रवाची तेन स्वशरीरं अवन्ति  
रचन्तीति सृकाविनः, प्राणिनो हन्तुमिच्छन्तश्चोरा जिघांसन्तः,

तदुभयरूपाय 'नमः' ।। छषिकाः सन्तो स्वामिधान्यापहर्तारो सुष्णन्तः, तेषां पालकाय 'नमः' ।

अथ सप्तमं यजुराह,—“नमोऽसिमङ्गो नक्तंचरङ्गः प्रकृन्तान्त्रं पंतये नमः<sup>(७)</sup>” इति । असिमन्तः खड्गधारिणः, ये रात्रौ चरन्तो वीथ्यां निर्गतान् प्राणिनो वाधमानाश्चोराः ते नक्तंचरन्तः, तदुभयरूपाय 'नमः', हवैवापहरन्तः प्रकृन्ताः, तेषां पालकाय : 'नमः' ।

अथाष्टमं यजुराह,—“नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये 'नमः'<sup>(८)</sup>” इति । शिरोवेष्टनवान् उष्णीषी, ग्राम्यजनवद् उष्णीषेण शिरो वेष्टयित्वा तन्मध्ये प्रविश्य वर्त्तमानस्यैव उष्णीषी, गिरौ काष्ठादिसंन्यादकानां वस्तुदिकमपहृतुं चरतीति गिरिचरः, तदुभयरूपाय 'नमः' । 'कुं' (भूमिं गृह्णेच्चादिरूपां) लुञ्चन्ति (अपहरन्तीति) कुलुञ्चाः, तेषां पालकाय 'नमः' ।

अथ नवमं यजुराह,—“नम इधुमङ्गो धन्वाविभ्यश्च वो नमः<sup>(९)</sup>” इति । भीषयितुं हस्ते वाणधारिण इधुमन्तः, तथा, भीषयितुं हस्ते धनुर्धारिणो धन्वाविनः, तदुभयरूपा हे रुद्राः, 'वः' (युष्मभ्यं) 'नमः' इति विशेषणद्वयेन वाक्यं भेत्तुं द्विर्नमस्कारः ।

अथ दशमं यजुराह,—“नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमः<sup>(१०)</sup>” इति । धनुषि ज्यामारोपयन्ती आतन्वानाः, तद्रूपेभ्यो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यः 'नमः' । धनुषि वाणं सन्धधानाः, तद्रूपेभ्यो युष्मभ्यं 'नमः' ।

अथैकादशं यजुराह,—“नम आयच्छङ्गो विसृजङ्गश्च वो



नमः<sup>(११)</sup>” इति । ज्वाकर्षणं कुर्वन्तः आसक्तन्तः । वाणं सुञ्जन्तो विस्मजन्तः । शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

अथ द्वादशं यजुराह,—“नमोऽस्यद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमः<sup>(११)</sup>” इति । मुक्तस्य वाणस्य लक्ष्यपर्यन्तं गमनं असनं, तस्य कर्त्तारो अस्यन्तः । लक्ष्यसमीपं गतस्य वाणस्य लक्ष्ये प्रवेशो वेधः, तस्य कर्त्तारो विध्यन्तः ।

अथ त्रयोदशयजुरादि—सप्तदशयजुःपर्यन्तानि स्पष्टार्थान्याह,—  
“नम आसीनेभ्यः शयानेभ्यश्च वो नमो<sup>(१२)</sup> नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो<sup>(१३)</sup> नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमो<sup>(१४)</sup> नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो<sup>(१५)</sup> नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमः<sup>(१६)</sup>” इति ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

नम आ॒व्या॒धिनी॑भ्यो वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो नमः<sup>(१)</sup>  
नम उ॒ग॒णाभ्य॑स्तृ॒ह॒तीभ्य॑श्च वो नमः<sup>(२)</sup> नमो गृ॒त्सेभ्यो॑  
गृ॒त्स॒प॒तिभ्य॑श्च वो नमः<sup>(३)</sup> नमो ब्रा॒त॑र्तेभ्यो ब्रा॒त॑पतिभ्यश्च  
वो नमः<sup>(४)</sup> नमो ग॒णेभ्यो॑ ग॒ण॒प॒तिभ्य॑श्च वो नमः<sup>(५)</sup>  
नमो वि॒रू॒पेभ्यो॑ वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो नमः<sup>(६)</sup> नमो

महद्भाः क्षुल्लकेभ्यश्च वो नमः<sup>(९)</sup> नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च  
वो नमः<sup>(९)</sup> नमो रथेभ्यः ॥ १ ॥

रथपतिभ्यश्च वो नमो नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च  
वो नमो नमः क्षत्रभ्यः संग्रहीतभ्यश्च वो नमो नमः-  
स्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः  
कर्म्मारेभ्यश्च वो नमो नमः पुञ्जिष्टेभ्यो निषादेभ्यश्च  
वो नमो नमः इषुक्छो धन्वक्छश्च वो नमो नमो  
मृगयुभ्यः श्वनिभ्यश्च वो नमो नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च,  
वो नमः<sup>(९-१०)</sup> ॥ २ ॥

रथेभ्यः । श्वपतिभ्यश्च । द्वे च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

तृतीयेऽनुवाके यानि उभयतोनमस्काराणि यजूष उक्तां,  
तिभ्योऽन्यानि कानिचिदुभयतोनमस्काराणि च यजूषि चतुर्थेऽभिधी-  
यन्ते । तच्च प्रथमं यजुराह,—“नम आवाधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च  
वो नमः<sup>(१)</sup>” । ‘आ’ (समन्तात्) वेदुं शक्या । स्त्रीसूच्य आ-  
वाधिभ्यः विशेषेण वेदुं शक्यां विविध्यन्त्यः, ताभ्यः ‘नमः’ ।

अथ द्वितीयं यजुराह,—“नम उगणाभ्यस्तृहतीभ्यश्च वो नमः<sup>(१)</sup>”

इति । उक्त्या गणरूपाः सप्तमाहकाद्याः स्त्रियः उगणाः, हिंसितुं समर्था दुर्गाद्या उग्रदेवताः त्वंहत्यः ताभ्यः 'नमः' ।

अथ तृतीयं यजुराह,—“नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमः(९)” इति । गर्धनशीला गृत्साः, विषयक्षम्यटा इत्यर्थः, तेषां पालका गृत्सपतयः, तेभ्यः 'नमः' ।

अथ चतुर्थं यजुराह,—“नमो ब्रातेभ्यो ब्रातपतिभ्यश्च वो नमः(१०)” इति । नानाजातीयानां संघाता ब्राताः, तेषां पालका ब्रातपतयः, तेभ्यः 'नमः' ।

अथ पञ्चमं यजुराह,—“नमो गण्णेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः(११)” इति । देवस्यानुचरा भूतविशेषा गणाः, तेषां पालका गणपतयः, तेभ्यः 'नमः' ।

अथ षष्ठं यजुराह,—“नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः(१२)” इति । विरूपा विह्वतरूपा नग्नमुण्डादयः, विश्वरूपाः तुरङ्गगजवक्त्रादिनानाविधरूपधारिणो भृत्याः, तेभ्यः 'नमः' ।

अथ सप्तमं यजुराह,—“नमो महद्भ्यः जुल्लकेभ्यश्च वो नमः(१३)” इति । अणिमाद्यैश्वर्योपेता महान्तः, तूद्ग्रहिताः जुल्लकाः, तेभ्यः 'नमः' ।

अथाष्टमं यजुराह,—“नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमः(१४)” इति । रथमारूढा रथिनः, तूद्ग्रहिता अरथाः, तेभ्यः 'नमः' ।

अथ नवमम्परमं सप्तदशपर्थ्यन्तानि यजूंषि स्पष्टार्थानि यजूंषि आह,\*—“नमो रथेभ्यो रथपतिभ्यश्च वो नमो(१५) नमः सेनाभ्यः

\* अथ यजूंषि इत्येकोऽधिका इव प्रतिभाति ।

बेनुनिभ्यश्च वो नमो<sup>(१७)</sup> नमः क्षत्रभ्यः सङ्गृहीतभ्यश्च वो नमो<sup>(१८)</sup>  
 नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो<sup>(१९)</sup> नमः कुलालेभ्यः कर्मादेभ्यश्च  
 वो नमो<sup>(२०)</sup> नमः पुञ्जिष्टेभ्यो निषादेभ्यश्च वो नमो<sup>(२१)</sup> नम इषुकद्भ्यो  
 धन्वकद्भ्यश्च वो नमो<sup>(२२)</sup> नमो मृगयुभ्यः श्वनिभ्यश्च वो नमो<sup>(२३)</sup>  
 नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः<sup>(२४)</sup> इति । पक्षिपुञ्जानां घातकाः  
 पुञ्जिष्टाः । मत्स्यघातिनो निषादाः । शूनां गलेषु बद्धानां पाशानां  
 धारकाः श्वनयः ।

अत्र द्वितीयानुवाको लीलार्थदेवतामूर्त्तिप्राधान्येन स्तोतुं प्रवृत्तः ।  
 तृतीयानुवाकश्चैवमूर्त्तिप्राधान्येन स्तोतुं प्रवृत्तः । चतुर्थानुवाको  
 नानाजातिप्राधान्येनेति विभागे द्रष्टव्यः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके चतुर्थानुवाकः ॥०॥

नमो भुवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये  
 च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च नमः कप-  
 र्द्दिने च वृत्तकेशाय च नमः सहस्राङ्गाय च शत-  
 धन्वने च नमो गिरिशाय च शिपिविष्टाय च नमो  
 मीढुष्टमाय चेषुमते च नमो ह्रस्वाय च वामनाय च  
 नमो वृद्धते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च संवृद्धने  
 च ॥ १० ॥

नमो अग्रियाय च प्रथमाय च नमः आशवे वा-  
जिराय च नमः शीघ्रियाय च शीभ्याय च नमः  
ऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमः स्रोतस्याय च दीप्याय  
च<sup>(१-१५)</sup> ॥ २ ॥

संवृध्वने च । पञ्चविंशतिश्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपातके  
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

चतुर्थेऽनुवाके उभयतो नमस्काराणि यजूंषि समापितानि ; अथ  
पञ्चममारभ्य नवमान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारोपक्रमाख्येव यजूंषि  
आह्वयन्ते । तत्र पञ्चमानुवाके प्रथमं यजुरारभ्य पञ्चदशान्तानि  
यजूंषि आह,—“नमो भवाय च रुद्राय च<sup>(१)</sup> नमः शर्वाय च पशुपतये  
च<sup>(२)</sup> नमो नीलघ्नीवाय च शिनिकण्ठाय च<sup>(३)</sup> नमः कपर्दिने च  
व्युप्तकेशाय च<sup>(४)</sup> नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च<sup>(५)</sup> नमो गिरिशाय च  
शिपिविष्टाय च<sup>(६)</sup> नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च<sup>(७)</sup> नमो ह्रस्वाय च  
वामनाय च<sup>(८)</sup> नमो बृहते च वर्षीयसे च<sup>(९)</sup> नमो वृद्धाय च  
संवृध्वने च<sup>(१०)</sup> नमो अग्रियाय च प्रथमाय च<sup>(११)</sup> नम आशवे  
वाजिराय च<sup>(१२)</sup> नमः शीघ्रियाय च शीभ्याय च<sup>(१३)</sup> नम ऊर्म्याय  
चावस्वन्याय च<sup>(१४)</sup> नमः स्रोतस्याय च दीप्याय च<sup>(१५)</sup>” इति ।  
भवन्ति प्राणिनोऽस्मादिति भवः । रुद्रो,—रोदनहेतुभूतं दुःखं  
द्रावयतीति रुद्रः । शृणोति हिंस्ति पापमिति शर्वः । पशु-

समज्ञानं अज्ञानिः पुङ्खान् पालयतीति पशुपतिः । कालकूट-  
धारणेन नीलवर्णा ग्रीवैकदेशो यस्यासौ नीलगीवः । श्रितिः  
श्वेतवर्णावशिष्टः कण्ठप्रदेशो यस्यासौ श्रितिकण्ठः । कपर्दी जटाजूटो  
यस्यास्तीति कपर्दी । मुण्डितकेशो व्युत्तकेशः । पाशुपतादिवेषेण  
कपर्दित्वं, यत्यादिवेषेण मुण्डितकेशत्वं । इन्द्रवेषेण सहस्राक्षत्वं ।  
सहस्रभुजावतारेण शतसङ्ख्याकैर्धनुर्भिरुपेतत्वं । गिरौ कैलासे श्रुते  
ःतिष्ठतीति गिरिशः । विष्णुमूर्त्तिधारी शिपिविष्टः, 'विष्णुः शिपिविष्टः'  
इति श्रुतेः । मेघरूपेणात्यन्तं वर्षयिता मीढुष्टमः । वाणधारक  
दधुमान् । शरीरेऽल्पप्रमाणत्वं ह्रस्वत्वं । अङ्गुल्याद्यवयवसङ्कोचाद्  
वामनत्वम् । आकारेण प्रौढो बृहत् । गुणैः समृद्धो वर्षयिन् ।  
वयसाऽधिको वृद्धः । सम्यक् स्तुतिभिर्वर्धितः संवृद्धा । जगदुत्पत्तेः  
पूर्वमवस्थितोऽग्रियः । सभायां मुख्यः प्रथमः । आशुर्थापी । अजिरो  
गम्जनकुशलः । शीघ्रियः शीघ्रगामी । शीभशब्द उदकप्रवाहवाची, तत्र  
अवस्थितः शीघ्रः । ऊर्मैस्तरङ्गैः स्थित ऊर्म्यः । अवस्वने (ध्वनिरहिते)  
स्थिरञ्जलेऽवस्थितोऽवस्वन्यः । स्रोतसि (प्रवाहे) स्थितः स्रोतस्यः । दीपे  
वारिमध्यवर्त्तिभूमौ स्थितो दीप्यः । अत्रैकैकस्मिन् यजुषि चतुर्थन्ताभ्यां  
पदाभ्यां नमःशब्दं पृथगन्वेतुं समुच्चयार्थे चकारौ पठितौ ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयज्ञ-  
सहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चा-  
 परजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो  
 जघन्याय च बुध्नियाय च नमः सोभ्याय च प्रति-  
 सूर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नम उर्वर्याय  
 च खल्याय च नमः श्लोक्याय, चावसान्याय च नमो  
 वन्याय च कक्षाय च नमः अवाय च प्रतिअवाय च,  
 नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चाव-  
 भिन्दते च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमो त्रिल्लिने  
 च कवचिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च<sup>(१-१५)</sup> ॥  
 ॥ १ ॥

प्रतिअवाय च । पञ्चविंशतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
 षष्ठोऽनुवाकः ॥०॥

पञ्चमेऽनुवाके कानिचिद् अन्यतरतो नमस्काराणि यजुंषि उक्तानि ।  
 अथ षष्ठे तथाविधान्येव कानिचिद् यजुंषि उच्यन्ते । तत्र विद्यमानानि  
 पञ्चदश यजुंषि आह,—“नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च<sup>(१)</sup> नमः पूर्वजाय  
 चापरजाय च<sup>(१)</sup> नमो मध्यमाय चापगल्भाय च<sup>(१)</sup> नमो जघन्याय  
 च बुध्नियाय च<sup>(४)</sup> नमः सोभ्याय च प्रतिसूर्याय च<sup>(५)</sup> नमो याम्याय  
 च क्षेम्याय च<sup>(१)</sup> नम उर्वर्याय च खल्याय च<sup>(७)</sup> नमः श्लोक्याय

चावसान्याय च<sup>(८)</sup> नमो. वन्याय च कक्ष्याय च<sup>(९)</sup> नमः अवांथ च प्रतिश्रवाय च<sup>(१०)</sup> नम अंशुषेणाय चाशुरथाय च<sup>(११)</sup> नमः शूराय चावभिन्दते च<sup>(१२)</sup> नमो वर्मिणे च वरूथिने च<sup>(१३)</sup> नमो बिल्लिने\* च कवचिने च<sup>(१४)</sup> नमः श्रुताय श्रुतसेनाय च<sup>(१५)</sup>” इति । विद्यैश्वर्यादिभिरध्विको ज्येष्ठः । तैः रहितो अल्पः कनिष्ठः । पूर्वं (जगदादौ) हिरण्यगर्भरूपेणोत्पन्नः पूर्वजः । अपरस्मिन् (जगदवसानकाले) संहर्तुं कालान्यादिरूपेणोत्पन्नोऽपरजः । मध्यकाले देवतिर्यगादिरूपेणोत्पन्नो मध्यमः । अपगच्छो प्रौढेन्द्रियो वालः । जघने (गवादीनां पश्चाद्भागे) वत्सादिरूपेण भवो जघन्यः । बुध्ने (वृक्षादीनां मूले) शाखादिरूपेणोत्पन्नो बुध्नियः । उभाभ्यां पुण्यपांपाभ्यां सह वर्त्तत इति सोम्यो† मनुष्यलोकः । अत एव आथर्वणिका आमनन्ति, ‘पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पाप-मुभाभ्यामेत मनुष्यलोकम्’ इति । तच्च भवः सोम्यः । प्रतिसरो विवाहादौ हस्ते धार्यमाणो रचाबन्धः, तमर्हतीति प्रतिसर्यः । यम-लोके पापिञ्चत्तरूपेण भवो याम्यः । चेमो मोचः, तमर्हतीति चेम्यः । उर्वरा सर्वसस्याद्या भूमिः, तमर्हति धान्यविशेषरूपेणेति उर्वर्यः । खलो धान्यविवेचनदेशः, तमर्हति मेढ्यादिरूपेणेति खल्यः । श्लोका वैदिकमन्त्राः, तत्प्रतिपाद्यत्वेन तच्च भवः श्लोक्यः । अवसानं वेदान्तः‡, तत्प्रतिपाद्यत्वेन तच्च भवोऽवसान्यः । वने वृक्षादिरूपेण भवो वन्यः । कचे लतादिरूपेण भवः कक्ष्यः । श्रूयत इति अवः-

\* संहितायां बिल्लिने इति पाठः ।

† अथ सोम इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ अवसानवेदान्त इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।



शब्दः, प्रतिश्रवः प्रतिध्वनिः । आशुः शीघ्रगामिनी सेना यस्यसौ  
 आशुषेणः । शीघ्रगामी रथो यस्यासानाशुरथः । शूरो युद्धे धैर्य-  
 वान् । अवभिन्दन् वैरिणां प्रहर्त्ता । वर्मा कञ्चुकोपेतः । वरूथी  
 गृहोपेतः । बिल्वं बिलोपेतं युद्धे शिरोरत्नकं, तदस्यास्तीति बिल्वी ।  
 कवचः शरीररत्नकः, सोऽस्यास्तीति कवची । श्रुतो वेदेषु प्रसिद्धः ।  
 श्रुतौ वेदेषु प्रसिद्धा सेना यस्य सः\* श्रुतसेनः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥०॥

नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च नमो धृष्णवे च  
 प्रमृशाय च नमो दताय च प्रहिताय च नमो  
 निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिनं च  
 नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च नमः सुत्याय च पथ्याय  
 च नमः काव्याय च नीष्याय च नमः सूद्याय च  
 सरस्याय च नमो नाद्याय च वैशन्ताय च ॥ १ ॥

नमः कृष्याय चावध्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय  
 च नमो मेध्याय च विद्युत्याय च नम इन्द्रियाय  
 चातप्याय च नमो वात्याय च रेष्मियाय च नमो  
 वास्तव्याय च वास्तुपाय च<sup>(१-१९)</sup> ॥ २ ॥

• वैशन्ताय च । त्रिंशच्च ॥ ७ ॥

• इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

षष्ठेऽनुवाके यानि अन्यतरतो नमस्काराणि यजूंषि उक्तानि,  
तेभ्योऽन्यानि कानिचित् सप्तमेऽभिधीयन्ते । तत्र विद्यमानानि षोडश  
यजूंष्याह,—“नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च<sup>(१)</sup> नमो धृष्णवे च  
प्रमृशाय च<sup>(२)</sup> नमो दूताय च प्रहिताय च<sup>(३)</sup> नमो निषङ्गिणे  
चेषुधिमते च<sup>(४)</sup> नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च<sup>(५)</sup> नमः स्वायुधाय च  
धन्वने च<sup>(६)</sup> नमः सुत्याय च पथ्याय च<sup>(७)</sup> नमः काव्याय च  
नीष्याय च<sup>(८)</sup> नमः सूद्याय च सरस्याय च<sup>(९)</sup> नमो नाद्याय च  
वैशन्ताय च<sup>(१०)</sup> नमः कूप्याय चावद्याय च<sup>(११)</sup> नमो वर्ध्याय  
चावर्ध्याय च<sup>(१२)</sup> नमो मेध्याय च विद्युत्याय च<sup>(१३)</sup> नम ईध्रियाय  
चातंथ्याय च<sup>(१४)</sup> नमो वात्याय च रेभ्रियाय च<sup>(१५)</sup> नमो वास्तव्याय  
च वास्तुप्स्य च<sup>(१६)</sup>” इति । दुन्दुभौ (भेर्यां) भवः शब्दो  
दुन्दुभ्यः । आहन्यते ताड्यतेऽनेनेत्याहननं दुन्दुभ्याघातार्था दण्डः,  
तत्र ताडनरूपेणोत्पन्न आहनन्यः । धृष्णुः युद्धे पलायनरहितः ।  
प्रमृशः परमैत्यवृत्तान्तपरामर्शकः । दूतः तद्वृत्तान्तज्ञानकुशलः । प्रहितः  
स्वामिना प्रेषितः पुरुषः । निषङ्गी खड्गहस्तः । इषुधिमौन् वाणा-  
धारयुक्तः । तीक्ष्ण इषवो यस्यासौ तीक्ष्णेषुः । बह्वनि आयुधानि  
अस्य सन्तीत्यायुधी । शोभनमायुधं त्रिशूलरूपं यस्यासौ स्वायुधः ।

शोभनं धन्व\* पिनाकरूपं यस्यासौ सुधन्वा । क्षुतिः पादसञ्चारमात्र-  
योग्यः क्षुद्रमार्गः, तमर्हतीति क्षुत्यः । पन्थाः अश्वादिसञ्चारक्षमः† प्रौढो  
मार्गः, तमर्हतीति पथ्यः । कुक्षितमटति जलमत्रेति‡ काटः, अल्प-  
प्रवाहयोग्यः कुल्याप्रदेशः, तत्राल्परूपेण भवः काव्यः । यस्मिन् प्रदेशे  
पर्वताग्राज्जलं न्यग्भावेन पतति स प्रदेशो नीपः, तत्र भवो नीप्यः ।  
सूदः कर्दमप्रदेशः, तत्रत्य-जलरूपः सूयः । सरः प्रसिद्धं, तत्रत्य-  
जलरूपः सरस्यः । नदीगतजलरूपो नाद्यः । अल्पसरो वेशन्तः,  
तत्रत्य-जलरूपो वैशन्तः । कूपस्थजलरूपः कूप्यः । अवटस्थजलरूपो  
ऽवथः । वर्षजलरूपो वर्थः । अवर्थः,—वर्षनिरपेक्षसमुद्रादिजलरूपेण  
अवर्थः । मेघेषु स्थितो मेघ्यः । विद्युता सह चरितो विद्युत्यः ।  
ईध्रं निर्मलरूपत्वेन दीप्यमानं शरदभ्रं, तत्र भव ईध्रियः । आतपेन  
सह वृष्ट आतप्यः । वातेन सह वृष्टो वात्यः । रिथ्यन्ति विनश्यन्ति  
भूतानि अत्रेति रेभ्यः प्रलयकालः, तत्र भवः शर्करापाषाणादिसंहितो  
वृष्टिजलविशेषो रेभियः । वसु धां (गवादिपदार्थरूपं), तत्र तत्कार्य-  
रूपेणावस्थितो वास्तव्यः । गृहनिर्माणार्था भूमिर्वास्तुः, तत्पालको  
वास्तुपः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥७॥

\* अथ धनुः इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† पथ्याश्वादिसम इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

‡ मन्त्रेति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय  
 च नमः शङ्गाय च पशुपतये च नम उग्राय च  
 भीमाय च नमो अग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो  
 हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नम-  
 स्ताराय नमः शम्भवे च मयोभवे च नमः शङ्कराय च  
 मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ १ ॥

नमस्तीर्थाय च कूल्याय च नमः पाथीय चावा-  
 यीय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नम आता-  
 यीय चालाद्याय च नमः शष्पाय च फेन्याय च नमः  
 सिकत्याय च प्रवाच्याय च<sup>(१-१७)</sup> ॥ २ ॥

शिवतराय च । चि० शच्च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
 अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सप्तमोऽनुवाके यानि यजूंषि अन्यतरतो नमस्कारानि उक्तानि,  
 द्वेभ्योऽन्यानि कानिचिदन्यतरतो नमस्काराणि यजूंषि अष्टमे  
 कथ्यन्ते । तत्र विद्यमानानि सप्तदश यजूंषि आह,—“नमः सोमाय  
 च रुद्राय च<sup>(१)</sup> नमस्ताम्राय चारुणाय च<sup>(२)</sup> नमः शङ्गाय च  
 पशुपतये च<sup>(३)</sup> नम उग्राय च भीमाय च<sup>(४)</sup> नमो अग्रेवधाय च  
 दूरेवधाय च<sup>(५)</sup> नमो हन्त्रे च हनीयसे च<sup>(६)</sup> नमो वृक्षेभ्यः

हरिकेशेभ्यो<sup>(७)</sup> नमः ताराय<sup>(८)</sup> नमः शम्भवे च मयोभवे च<sup>(९)</sup>  
 नमः शङ्कराय च मथस्कराय च<sup>(१०)</sup> नमः शिवाय च शिवतराय  
 च<sup>(११)</sup> नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च<sup>(१२)</sup> नमः पार्याय चावार्याय  
 च<sup>(१३)</sup> नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च<sup>(१४)</sup> नमः आतार्याय चालो-  
 द्याय च<sup>(१५)</sup> नमः शय्याय च ज्ञेन्याय च<sup>(१६)</sup> नमः सिकत्याय च  
 प्रवाह्याय च<sup>(१७)</sup> इति । उमया सर्वं वर्त्तत इति सोमः । रुद्रो  
 रोदनहेतुभूतदुःखं द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । आदित्यरूपेण  
 उदयकालेऽत्यन्तं रक्तः ताम्रः । उदयादूर्ध्वम् ईषद्रक्तोऽरुणः । शं  
 मुखं गमयति प्रापयतीति शङ्गः । पशूनां पालयिता पशुपतिः ।  
 विरोधिना नाशयितुं क्रोधयुक्त उग्रः । दर्शनमात्रेण विरोधिनां  
 भयहेतुर्भीमः । अग्रे पुरतो वधोऽस्येति अग्रेवधः, एवं दूरेवधः,  
 पुरतो दूरे वा वर्त्तमानं विरोधिनं अनायासेन हन्तीत्यर्थः । लोके  
 ऽपि यत्र विरोधिनं हन्ति तत्र तद्रूपेणायमेव हन्ता ; अतः  
 एवेश्वरेणार्जुनं प्रत्युक्तं, -“मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव  
 सव्यसाचिन्” इति । संहारकालेऽतिशयेन सर्वेषां हन्ता हनीयमान् ।  
 हरितवर्णानि केशसदृशानि वर्णानि येषां ते हरिकेशाः, तथाविधा  
 ये वृक्षाः कल्पतरुप्रभृतयः, तद्रूपोऽयं रुद्र इत्यर्थः । तारः प्रणव-  
 प्रतिपाद्यः । शं (सुखं) भावयति उत्पादयतीति शम्भुः । मयः सुखं  
 भावयतीति मयोभूः । एकं विषयसुखम्, अपरं मोक्षसुखमिति  
 तयोर्विवेकः । पित्रादिरूपेण शं (लौकिकसुखं) करोतीति शङ्करः ।  
 अचार्यरूपेण मयो मोक्षसुखं करोतीति मथस्करः । साक्षात्सुख-  
 कारित्वमेताभ्यां पदाभ्यामुक्तं । एतन्मुखेन कारयित्वं पूर्वाभ्यां

पदभ्यामिति विवेकः । शिवः कल्याणरूपः, स्वयं निष्कल्मष इत्यर्थः ।  
 अतिशयेन शिवः शिवतरः, स्वभक्तान् अपि निष्कल्मषान् करोती-  
 त्यर्थः । तीर्थे प्रयागादौ सन्निहितस्तीर्थः । कूले नदीतीरादौ  
 प्रतिष्ठापितलिङ्गरूपेणावतिष्ठत इति कूल्यः । पारे संसारसमुद्रस्य  
 परतीरे मुमुक्षुभिर्ध्येयत्वेनावतिष्ठत इति पार्यः । अवारे अर्वाक्तीरे  
 संसारअहेतुकाम्यफलप्रदत्वेनभवतिष्ठत इत्यवार्थः । प्रकृष्टेन मन्त्र-  
 जपादिरूपेण पापतरणहेतुः प्रतरणः । तत्त्वज्ञानरूपेण कृत्स्नसंसारो-  
 च्छारणहेतुरुत्तरणः । सम्भवत्यपि संसारोत्तरणहेतौ तत्त्वज्ञाने तदुपेक्ष्य  
 काम्यकर्मानुष्ठाबेन संसारे पुनरागमनम् आतारः, तमर्हतीत्यातार्यः,  
 काम्यफलप्रद इत्यर्थः । अलं सम्यग् कर्म यथा भवति, तथा कर्म-  
 फलमत्तीत्यलादो जीवः, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति श्रुतेः, तस्य  
 प्रेरकत्वेन तत्सम्बन्धित्वादात्लाद्यः । शय्यं बालवृणं, गङ्गातीरादा-  
 वृत्पन्नकुशाङ्कुरादि, तदर्हतीति शय्यः । नदीमध्यगतं फेनमर्हतीति  
 फेन्यः । सिकतामर्हतीति सिकत्यः । प्रवाहमर्हतीति प्रवाह्यः । यः  
 पुंशः अद्भालुः सन् स्नानादितत्परो निरन्तरं गङ्गादितीरे वर्त्तते  
 तद्रूप इति शय्यादिशब्दानां तात्पर्यार्थः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥०॥

नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च नमः किंशिलाय  
 च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमो  
 गोक्षाय च गृक्षाय च नमस्तल्प्याय च गेक्षाय च  
 नमः काव्याय च गह्वरेष्ठाय च नमो हृदयाय च  
 निवेध्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमः  
 शुष्काय च हरित्याय च नमो लोण्याय चोलाण्याय  
 च ॥ १ ॥

नम ऊर्ध्वाय च सूर्याय च नमः पृथ्वाय च पर्ण-  
 शद्याय च नमोऽपगुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आरि-  
 खद्ते च प्ररिखद्ते च नमो वः किंरिकेभ्यो देवानां  
 हृदयेभ्यो नमो विक्षीणकेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो  
 नम अनिर्हतेभ्यो नम आमीवत्केभ्यः<sup>(१-१६)</sup> ॥ २ ॥

उल्लाप्याय च । चयस्त्रिंशच्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
 नवमोऽनुवाकः ॥०॥

अष्टमोऽनुवाके यानि, अन्यतरतो नमस्काराणि यजूर्षि उक्ताणि,  
 तेभ्योऽप्यन्यानि कानिचिन्नवमोऽनुवाके उच्यन्ते । तत्र विद्यमानानि  
 एकोनविंशतिसङ्ख्याकानि यजूर्षि आह,—“नम इरिण्याय च प्रपथ्याय  
 च<sup>(१)</sup> नमः किंशिलाय च क्षयणाय च<sup>(१)</sup> नमः कपर्दिने च पुलस्तये

च<sup>(१)</sup> नमो गोक्ष्याय च गृह्याय च<sup>(४)</sup> नमस्तल्याय च गेह्याय  
 च<sup>(५)</sup> नमः काव्याय च गङ्गरेष्ठाय च<sup>(६)</sup> नमो हृदयाय च निवेद्याय  
 च<sup>(७)</sup> नमः पांसव्याय च रजस्याय च<sup>(८)</sup> नमः शुष्काय च  
 हरित्याय च<sup>(९)</sup> नमो लोप्याय चोलप्याय च<sup>(१०)</sup> नम ऊर्ध्वाय च  
 सूर्म्याय च<sup>(११)</sup> नमः पर्ण्याय च पर्णशद्याय च<sup>(१२)</sup> नमोऽपगुग्माणाय  
 चाभिन्नते च<sup>(१३)</sup> नम आरिखदते च प्ररिखदते च<sup>(१४)</sup> नमो वः  
 किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो<sup>(१५)</sup> नमो विल्लीणकेभ्यो<sup>(१६)</sup> नमो  
 विचिन्वत्केभ्यो<sup>(१७)</sup> नम आनिर्हतेभ्यो<sup>(१८)</sup> नम आमीवत्केभ्यो<sup>(१९)</sup>”  
 इति । इरिणम् ऊषरं, तत्र भव इरिणः । प्रपयो बद्धभिः सेवितो  
 मार्गः, तत्र भवः प्रपथः । कुत्सिताः क्षुद्राः शिला यत्र प्रदेशे, तादृशः  
 शार्करिलः प्रदेशः किंशिलः । क्षयणो निवासयोग्यो देशः । कपर्दी  
 जटाबन्धनवान् । भक्तानां पुनस्तुष्टीति पुलस्तिः । गवां स्यानं  
 गेहं तत्र भवो गेह्यः । गृहे भवो गृह्यः । तल्पे खट्वायां शयानः  
 तल्पः । गेहे प्रासादे भवो गेह्यः । कुत्सितमटति कण्टकलतादि-  
 पूर्णतया दुष्प्रवेशत्वं प्राप्नोतीति दुर्गमारण्यविशेषः काटः, तत्र भवः  
 काव्यः । गङ्गरे विषमे गिरिगुहादौ तिष्ठतीति गङ्गरेष्ठः । हृदेषु  
 अगाधजलेषु भवो हृदयः । निवेद्यं नीहारजलं तत्र भवो निवेद्यः ।  
 पांसुषु परमाणुष्ववस्थितः पांसव्यः । रजसि विसृष्टायां धूल्यामवस्थितो  
 रजस्यः । शुष्केषु काष्ठेषु भवः शुष्कः । हरितमार्द्रं, तत्र भवो  
 हरित्यः । लुप्यते लणादिकमस्मिन्निति लोपः कटिनप्रदेशः, तत्र  
 भवो लोप्यः । उलपा बज्जलणादयः, तत्र भव उलप्यः । ऊर्ध्वां  
 पृथिव्यां भव ऊर्ध्वः । शोभना ऊर्मयो यस्या नद्या सेयं सूर्मिः,



तत्र भवः सूर्यः । पर्णेषु पत्रेषु भवः पर्णः । शुष्काणां पर्णानां सङ्गतः  
पर्णशब्दः, तत्र भवः पर्णशब्दः । अपगुरमाण उद्यतायुधः । अभिघ्नन्  
प्रहरन् । आरिखदन् इषत्खेदयन् । प्ररिखदन् अत्यन्तं खेदयन् ।  
किरन्ति भक्तेभ्यो धनानीति किरिका उदाराः रुद्रावताराः ।  
ते च देवानां हृदयभूताः, सर्वदेवप्रियत्वात्, तादृशेभ्यो 'वो'  
(युष्मभ्यं) नमः । क्षीणकेभ्यो विपरीता विक्षीणकाः, कदाचिदपि क्षय-  
रहिता इत्यर्थः । विचिन्वन्ति अपेक्षितमर्थं साधयन्तीति विचिन्वत्काः ।  
'आ' समन्तात् निःशेषेण हतं पापं यैस्ते आनिर्हताः । 'आ' समन्तात्  
मीवन्ति\* प्राप्नुवन्तीति आमीवत्काः । अत्र 'देवानां हृदयेभ्यः'  
इति विक्षीणविचिन्वदानिर्हतामीवत्केषु† अग्र्यनुषज्यते ।

पञ्चमानुवाकमारभ्य नवमान्तेष्वनुवाकेषु अन्यतरतो नमस्काराणि  
बह्वि यजुंषि अभिहितानि । तैः सर्वैः परमेश्वरस्य सार्वगत्यं प्रतिपादयितुम्  
एकैकेन यजुषा स्यावरं जङ्गमं चैकैकं रूपमभिहितं । अनुवाकभेदस्तु  
ऋतोर्बहिःप्रयोगे मन्त्रभेदाभिप्रायेण द्रष्टव्यः । एकैकोऽनुवाक एकैको  
मन्त्रः । तस्य पुरश्चरणादिप्रकारस्तु रुद्रकल्पेऽभिधास्यते ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥०॥

\* 'मीवन्ती' इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

† अत्र विक्षीणक-विचिन्वत्कानिर्हतामीवत्केषु इति पाठो भवितुं  
युक्तः । 'विक्षीणविचिन्वदानिर्हतामीवत्केषु' इति सर्वत्र पाठो न  
सम्यक् ।

द्रापे अन्धसैस्यते॒ दर्पि॑द्रन्नीललोहित । एषां पुरुषा-  
णाम॒षां प॑शूनां मा भेर्मारो॒ मो एषां॑ किञ्चनाममत्<sup>(१)</sup> ।  
या ते रुद्र॑ शिवा त॒नूः शिवा॑ विश्वाह॒भेष॑जी । शिवा  
रुद्रस्य॑ भेष॒जी तया॑ नो मृड॒जीव॑से<sup>(२)</sup> । इमां॑ रुद्राय  
तव॑से॒ कपर्दि॑ने॒ क्षय॑द्दीराय॒ प्रभ॑रामहे म॒तिं । यथा  
नः॑ शमसद् द्विपदे॒ चतु॑ष्पदे॒ विश्वं॑ पुष्टं ग्रामे॑ अस्मिन् ॥  
॥ १ ॥

अना॑तुर<sup>(३)</sup> । मृडा नो रुद्रो॒त नो॒ मय॑स्कृधि क्षय-  
द्दीराय॑ नम॒सा विधेम॑ ते । यच्छ॑च्च योश्च म॒नुराय॑जे  
पि॒ता तद॑श्याम॒ तव॑ रुद्र॒ प्रणी॑तौ<sup>(४)</sup> । मा नो॑ म॒हान्त॑-  
मु॒त मा नो॑ अ॒र्भकं॑ मा न॒ उक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ उक्षि॒तं ।  
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॑ मे॒त मा॒तरं॑ प्रि॒या मा न॑स्तनुवः॥  
॥ २ ॥

रुद्र॑ रीरिषः<sup>(५)</sup> । मा न॑स्तोके तनये॒ मा न॒ आयु॑षि  
मा नो॑ गोषु मा नो॒ अश्वेषु॑ रीरिषः । वी॒रान्मा॑ नो  
रुद्र॑ भामि॒तो व॑धीहविष्म॒न्तो नम॑सा विधेम ते<sup>(६)</sup> ।  
आ॒रात्ते॑ गोघ्न उ॒त पू॑रुषघ्ने क्षय॑द्दीराय सु॒मम॑स्मे ते  
अस्तु । रक्षा॑ च नो॒ अधि॑ च देव ब्रू॒ह्यधा॑ च नः॒ शर्म॑  
यच्छ॑ द्वि॒वर्हीः<sup>(७)</sup> । स्तु॒हि ॥ ३ ॥

१० अ॒तं ग॑र्त॒सद॑ यु॒वानं॑ मृ॒गं न॑ भीममु॒पह॑न्तुमु॒ग्रं ।

मृडा जरिचे रुद्रस्तवानो अन्धं ते अस्मिन् नि वपन्तु  
 सेनाः<sup>(८)</sup> । परि णो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य  
 दुमतिरघायोः । अव स्थिरा मघवज्ञस्तनूष मीढ-  
 स्तोकाय तनयाय मृडय<sup>(९)</sup> । मीढुष्टम् शिवतम शिवो  
 नः सुमना भव । परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं  
 वसान आ चर पिनाकं ॥ ४ ॥

बिभ्रदागहि<sup>(१०)</sup> । विकिरिद विलोहित नमस्ते  
 अस्तु भगवः । यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यमुस्मन्नि-  
 वपन्तु ताः<sup>(११)</sup> । सहस्राणि सहस्रधा बाहुवोस्तव हेतयः ।  
 तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि<sup>(१२)</sup> ॥ ५ ॥

अस्मिन् । तनुवः । स्तुहि । पिनाकम् । एकान्न-  
 चिःशच्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहिताया चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
 दशमोऽनुवाकः ॥०॥

द्वितीयानुवाकमारभ्य नवमान्तेष्वनुवाकेषु विविधानि यजुषि  
 उभयतो नमस्काराणि अन्यतरतो नमस्काराणि चोक्तानि । अथ दशमे-  
 ऽनुवाके ऋगूपा मन्त्रा उच्यन्ते । तत्र प्रथमामृचमाह,—“द्रापे  
 अन्धसस्यते दरिद्रं नीललोहित । एषां पुरुषाणामेषां पशूनां मा भे-

ममरों मो एषां किञ्चनाममत्<sup>(१)</sup>” इति । द्रापयति (कुसितां गतिं प्रापयति) । इति द्रापिः, चापिनो नरकप्रदानेन क्लेशयतीत्यर्थः । अन्धोऽन्नं तस्य पतिः (पालकः), भक्तानामन्नं पालयतीत्यर्थः । दरिद्रत् अकिञ्चनः, स्वयं विरक्त इत्यर्थः । कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहित इति नीललोहितः । एतैः शब्दैः सम्बोध्यमान हे रुद्र, ‘एषां’ अस्रदीयानां ‘पुरुषाणां’ (पुत्रपौत्रादीनां) अस्रदीयानां ‘पशूनां’ (गोमहिष्यादीनाञ्च) समूहं ‘मा’ ‘भेः’ (मा भीषय) । ‘एषाम्’ उक्तानां सर्वेषां मध्ये ‘किञ्चन’ (एकमपि वस्तु) ‘मा अरः’ (मा गच्छतु) मा विगच्छत्वित्यर्थः । ‘मो’ ‘आममत्’ (मैव हृणमभूत्) ।

अथ द्वितीयामाहुः,—“या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाह-भेषजी । शिवां रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘रुद्र’, त्वदीया ‘शिवा’ (शान्ता) ‘तनूः’ ‘या’ विद्यते, ‘तया’ तन्वा ‘नः’ (अस्मिन्) ‘जीवसे’ (जीवयितुं) ‘मृड’ (सुखय) । कथं तन्वाः शिवत्वम्?—इति तदुच्यते, यस्मादैवं,—‘विश्वाहभेषजी’ (सर्वेष्वहःसु रोगदारिद्र्यादेरौषधवद्विनाशहेतुः) तस्मात् ‘शिवा’ । किञ्च यस्मात् ‘रुद्रस्य’ तादात्म्यप्राप्तये ‘भेषजी’ (औषधरूपा),—ज्ञानप्रदानेन जन्ममरणादिदुःखं निवारयति तस्मादप्येषा ‘शिवा’ ।

अथ तृतीयामाहुः,—“इमां रुद्राय तवसे कपर्दिनं त्र्यम्बकं प्र भरामहे मतिं । यथा नः शमसन्तं द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्<sup>(१)</sup>” इति । ‘यथा’ (येन प्रकाशेण), ‘नः’ (अस्रदीयाय) ‘द्विपदे’ (पुत्रपौत्रादिरूपाय मनुष्याय), ‘चतुष्पदे’ (गोमहिष्यादिरूपाय पशवे) च, ‘शम्’ ‘असत्’ (सुखं स्यात्) । किञ्च

‘अस्मिन्’ ‘ग्रामे’ ‘विश्व’ (सर्वं प्राणिजातं) ‘पुष्ट’ (सुखपूर्णं) ‘अनातुस्म’ (उपद्रवरहितं) यथा भवति, तथा वयं ‘रुद्राय’ (रुद्रार्थं) ‘इमां’ (पूजाध्यानादिविषयां बुद्धिं) ‘प्र भरामहे’ (प्रकर्षेण पोषयामः) । कीदृशाय रुद्राय?,—‘तवसे’ (बलाय), अस्मदपेक्षितं कर्तुं समर्थाय इत्यर्थः । ‘कपर्दिने’ (जटाबन्धयुक्ताय) तापसवेषाय इत्यर्थः । ‘क्षय-दीराय’ (क्षयितासदीयपापाय) ‘अन्यथाभानरूपपापविनाश-हेतवे इत्यर्थः\* ।

अथ चतुर्थोमाह,—“मृडा नो रुद्रेत नो मयस्त्रधि क्षयदीराय नमसा विधेम ते । यत् शश्व योश्च मनुरायजे पिता तदश्शाम तव रुद्र प्रणीतौ<sup>(६)</sup>” इति । हे ‘रुद्र’, ‘नः’ (अस्मान्) मृडय इह लोके (सुख्य) । ‘उत’ (अपि च) ‘नः’ (अस्माकं) परलोकेऽपि ‘मयः’ (सुखं) कुरु । ‘क्षयदीराय’ (क्षयितासदीयपापाय) ‘ते’ (तुभ्यं) ‘नमसा’ (नमस्कारेण) ‘विधेम’ (परिचरेम) । ‘पिता’ (पालकः) ‘मनुः’ (प्रजापतिः) ‘शश्व’ (सुखञ्च) ‘योश्च’ (दुःखपृथग्भावश्च) ‘यत्’ ‘आयजे’ (यत्किञ्चित् सम्पादितवान्), तत् सर्वं, वयं हे ‘रुद्र’,

\* ‘यथा’ (येन प्रकारेण) ‘नः’ (अस्मदीयाय) ‘दिपदे’ (पुत्र-पौत्रादिरूपाय मनुष्याय), ‘चतुष्पदे’ (गोमहिष्यादिरूपाय), ‘तवसे’ (बलाय), अस्मदपेक्षितं कर्तुं समर्थाय इत्यर्थः । ‘क्षयदीराय’ (क्षयितासदीयपापाय) पापविनाशहेतवे इत्यर्थः । ‘शम्’ ‘असत्’ (सुखं स्यात्) । ‘यथा’ (येन प्रकारेण) ‘अस्मिन्’ ‘ग्रामे’ ‘अस्मिन्’ वयं वसामः, तस्मिन्, ‘विश्वम्’ अपि प्राणिजातं, ‘पुष्ट’ ‘अनातुर’ च स्यात्, तेन प्रकारेण ‘इमा’ ‘मति’ (इहृशीं बुद्धिं मानसज्जाया) ‘प्र’ ‘भरामहे’, सर्वदा व्रजस्तुत्या आराधयाम इत्यर्थः । कीदृशाय रुद्राय? इति क० स० पु० पाठः ।

‘तव’ ‘प्रेणीतौ’ (प्रेणये, स्नेहतिशये) सति ‘अश्याम’ (प्राप्नुयाम्) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“मां नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उच्यन्तमुत मा न उक्षितं । मा नो वधीः पितरं मोत मातरं प्रिया मा नस्तनुवो रुद्र रीरिषः<sup>(५)</sup>” इति । हे ‘रुद्र’, ‘नः’ (अस्मदीयं) ‘महान्तं’ पुरुषं (स्वविरं पुरुषं\*), ‘मा’ ‘रीरिषः’ (मा हिंसीः) । ‘उत’ (अपि च) ‘नः’ (अस्मदीयं) ‘अर्भकं’ (बालकं) ‘मा’ ‘रीरिषः’ । किञ्च ‘नः’ (अस्मदीयं) ‘उच्यन्तं’ (सेचनसमर्थं) युवानं पुरुषं ‘मा’ ‘रीरिषः’ । ‘उत’ (अपि च) ‘नः’ (अस्मदीयं) ‘उक्षितं’† (गर्भस्थं) ‘मा रीरिषः’ । ‘नः’ (अस्मदीयं) ‘पितरं’ ‘मा वधीः’ । ‘उत’ (अपि च) ‘मातरं’ ‘मा वधीः’, ‘नः’ (अस्मदीयाः) ‘प्रियाः’ च ‘तनुवः’ (शरीराणि) ‘मा’ ‘रीरिषः’ ।

अथ षष्ठीमाह,—“मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधी-हविष्मन्तो नमसा विधेम<sup>(६)</sup>” इति । हे ‘रुद्र’, ‘नः’ (अस्मदीये) ‘तोक्ते’ (अपत्यमात्रे) ‘तनये’ (विशेषतः पुत्रे) ‘मा’ ‘रीरिषः’ (मा हिंसां कुरु) । ‘नः’ (अस्मदीये) ‘आयुषि’, ‘मा’ ‘रीरिषः’ । ‘नः’ (अस्मदीयासु) ‘गोषु’ ‘मा’ ‘रीरिषः’ । ‘नः’ (अस्मदीयेषु) ‘अश्वेषु’ ‘मा’ ‘रीरिषः’ । ‘भामितः’ (क्रुद्धः सन्) ‘नः’ (अस्मदीयान्) ‘वीरान्’ शत्रून् ‘मा’ ‘वधीः’ । वयं ‘हविष्मन्तः’ (हविर्युक्ताः) ते (तुभ्यं) ‘नमसा’ (नमस्कारेण) ‘विधेम’ (परिचरेम) ।

\* इदं पुरुषपदं क० स० पुस्तके नास्ति ।

† उच्यन्तमिति सर्वत्र पाठो न सत्यम् ।

‘अथ सप्तमीमाह,—“आरात्ते गोप्न उत पूरुषप्ने क्षयदीराय सुखमस्मे ते अस्तु । रक्षा च नो अधि च देव ब्रूहधा च नः शर्म यच्छ दिवर्हाः<sup>(१)</sup>” इति । गोप्ने ‘गोप्नः’ तस्य, ‘पूरुषप्ने’ (पुत्रपौत्रादि-पूरुषप्नस्य), ‘क्षयदीराय’ (क्षयितमृत्यस्य), ‘ते’ (तव) उग्रस्वरूपम् ‘आरात्’ ‘अस्तु’ (दूरे तिष्ठतु) । अन्तु ‘सुखं’ (त्वदीयस्वरूपं सुखकरं) तत् ‘अस्मे’ (अस्मासु) ‘अस्तु’,—घोराऽन्यां शिवाऽन्येति यच्छरीरद्वयम् उक्तं, तयोर्मध्ये यत् घोरं शरीरं, तत् दूरे गच्छतु । किञ्च ‘नः’ (अस्मान्) ‘रक्ष’ (सर्वतः पालय) । किञ्च हे ‘देव’, ‘अधि’—‘ब्रूहि’ (अस्मान् इतरेभ्यो यजमानेभ्योऽधिकान् देवेषु ब्रूहि) । ‘उत’ (अपि च) ‘दिवर्हाः’ (द्वयोर्लोकयोर्वर्द्धयिता) त्वं ‘शर्म’ ‘यच्छ’ (सुखं देहि) ।

अथाष्टमीमाह,—“सुहि श्रुतं गर्त्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहन्तु-मुग्रं । मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मान्नि वपन्तु सेनाः<sup>(२)</sup>” इति । हे\* मदीयं वचः ‘श्रुतं’, मदीयमात्मन्, रुद्रं, ‘सुहि’ ! कीदृशं?,—‘गर्त्तसदं’ (गर्त्तसदृशे हृदयपुण्ड्राके सर्वदा तिष्ठन्ति), “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” इति श्रुतेः । ‘युवानं’ (नित्यतरुणं) ‘उपहन्तु’, (प्रलयकाले सर्वं जगत् संहर्तुं) उग्ररूपिणं, तच्च दृष्टान्तः,—‘भीमं’ ‘मृगं’ ‘न’ (भयङ्करं सिंहमिव),—यथा गृज-विदारणाद्योगः सिंहो भवति तद्वत् । हे रुद्र, ‘स्तवानः’ (अस्मद्वचसां स्तव्यमानः) ‘जरित्रे’ (जरणशीले देहे) दिने दिने क्षीयमाणे अस्मच्छरीरे ‘मृड’ (सुखं क्षुब्ध) । ‘ते’ (त्वदीयाः) ‘सेनाः’ ‘अस्मात्’ ‘अन्यं’ वैरिणं ‘नि’—‘वपन्तु’ (विनाशयन्तु) ।

\* अत्र हे ‘रुद्र’ इति आदर्शपुस्तकपाठो न सम्यक् ।

अथ नवमीमाह,—“परि णो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः । अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीद्वस्तोकाय तनयाय मृडय<sup>(६)</sup>” इति । हन्यते अनयेति ‘हेतिः’ आयुधं । ‘रुद्रस्य हेतिः’ ‘नः’ (अस्मान्) ‘परि’-‘वृणक्तु’ (परितो वर्जितान् करोतु), कदाचित् मा विध्यलित्यर्थः । ‘त्वेषस्य’ (क्रोधोज्ज्वलितस्य) ‘अघायोः’ (अघः पापं ग्रहारूपमिच्छतः) रुद्रस्य या ‘दुर्मतिः’ (उग्रबुद्धिः) सापि अस्मान्परिवृणक्तु । ‘स्थिरा’ (विरोधिनाशाय या दृढा दुर्मतिः) अस्ति, तां ‘मघवद्भ्यः’ (द्विवर्लक्षणान्नयुक्तेभ्यो यजमानेभ्यः) सकाशात् ‘अव’-‘तनुष्व’ (अवततां अपनीतां कुरु) । हे ‘मीद्वः’ (कामानामभिवर्षक), ‘तोकाय’ (अस्मात्पुत्राय) ‘तनयाय’ (तदीयपुत्राय) च ‘मृडय’ (सुखं देहि) ।

अथ दशमीमाह,—“मीदुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव । परमे वृत्त आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि<sup>(१०)</sup>” इति । हे ‘मीदुष्टम’ (अतिशयेन सेचक, कामानामभिवर्षक), हे ‘शिवतम’ (अतिशयेन शान्तस्वरूप), ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘शिवः’ (शान्तः) ‘सुमनाः’ (सौमनस्येन स्नेहेन युक्तः) च ‘भव’ । ‘आयुधं’ (त्रिशूलादिकं) ‘परमे’ (अत्युन्नते) ‘वृत्ते’ (वटान्श्रत्यादिरूपे)\* ‘निधाय’ यथाऽस्माभिर्न दृश्यते, तथा अवस्थाप्य, ‘कृत्तिं वसानः’ (व्याघ्रचर्ममात्रं परिदधानः) ‘आ’-‘चर’ (अस्मदाभिमुख्येनागच्छ) । आगच्छन्नपि ‘पिनाकं’ ‘बिभ्रत्’ (भूषणार्थं धनुर्मात्रं हस्ते धारयन्) ज्यावाणादिकं परित्यज्य ‘आगहि’ (आगच्छ) ।

\* ‘वटान्श्रत्यादेरूपे’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।



‘अथैकादशीमाह,—“विकिरिद विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।  
यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यमस्मान्नि वपन्तु ताः<sup>(११)</sup>” इति । कीर्यन्ते\*  
भक्तानां सन्निधौ बज्रधा प्रक्षिप्यन्त इति विकिरियो धनानि, तानि  
ददातीति ‘विकिरिदः’, ‘विलोहितः’ (लौहित्यरहितः) श्वेत इत्यर्थः ।  
अतः एव मान्त्रिकाः पञ्चाक्षरध्याने स्मरन्ति,—‘ध्येयो मुक्तापरागा-  
मृतरसकलिताद्रिप्रभवः’ इति । यद्वा ‘विशेषेण लोहितो ‘विलोहितः’  
इति, अत एवाष्टाक्षरध्याने स्मरन्ति, ‘काञ्चनाभो ध्येयः पद्मा-  
सनस्यः’ इति । भगवान् षड्गुणसम्पन्नः, भगवन्न्दस्य षड्गुणवाचित्वं  
स्मर्यते,—

“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णं भग इतीरणा” ॥ इति ।

प्रकारान्तरेणापि स्मर्यते,—

“उत्पत्तिञ्च विनाशञ्च भूतानामागतिं गतिं ।

वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति” ॥

यथोक्तविशेषणचययुक्त हे रुद्र, ‘ते’ (तुभ्यं) ‘नमः’ ‘अस्तु’ । ‘ते’  
(तव) ‘सहस्रं’ (सहस्रसङ्ख्याका) ‘हेतयः’ यानि आयुधानि सन्ति  
‘ताः’ सर्वा ‘अस्मत्’ ‘अन्यं’ विरोधिनं ‘नि’-‘वपन्तु’ (विनाशयन्तु) ।

अथ द्वादशीमाह,—“सहस्राणि सहस्रधा बाहुवोस्तव हेतयः ।  
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा हृदि<sup>(१२)</sup>” इति । हे रुद्र,  
‘तव’ ‘बाहुवोः’ (हस्तयोः) ‘हेतयः’ ‘सहस्रधा’ (सहस्रप्रकाराः)  
‘सहस्राणि’ (सहस्रसङ्ख्याकाः) विद्यन्ते ; धनुः खड्गस्त्रिशूलमित्येवं

\* विकीर्यन्ते इति पाठो भवितुं युक्तः ।

जातिभेदेन सहस्रप्रकारं, एकैकस्यां जातौ बहवः सहस्रसंख्याकतः ।  
हे 'भगवः' (षड्गुणोपेत), त्वं 'ईशानः' समर्थः सन्, तासां हेतीनां  
'सुखा' (सुखानि) शब्दानि 'पराचीना' 'कधि' (अस्मत्तः पराङ्मुखानि  
कुर्व) ॥

इति सायनाचार्य्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

सहस्राणि सहस्रंशो ये रुद्रा अधि भूयः । तेषां  
सहस्रयोजनेऽव धेनूनि तन्मसि<sup>(१)</sup> । अस्मिन् महत्य-  
णुवेऽन्तर्निष्ठे भवा अधि<sup>(२)</sup> नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः  
शूर्वा अधः क्षमाचराः<sup>(३)</sup> । नीलग्रीवाः शितिकण्ठा  
दिवः रुद्रा उपश्रिताः<sup>(४)</sup> ये वृक्षेषु सप्तिञ्जरा नील-  
ग्रीवा विलोहिताः<sup>(५)</sup> । ये भूतानामधिपतयो विशि-  
खासः कपर्दिनः<sup>(६)</sup> । ये अन्नेषु विविध्यन्ति पाचेषु  
विवतो जनान्<sup>(७)</sup> । ये पश्यां पथिरक्षय ऐलवृदा  
यव्युधः<sup>(८)</sup> । ये तीर्थानि ॥ १ ॥

प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः<sup>(९)</sup> । यं एतावन्तश्च  
भूयास्तश्च दिशो रुद्रा वि तस्थिरे । तेषां सहस्रयोजनेऽव

धन्वानि तन्मसि<sup>(१०)</sup> । नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां ये  
अन्तरिक्षे ये दिवि येषामन्नः वातो वर्षमिषवस्तेभ्यो  
दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्द्धा-  
स्तेभ्यो नमस्ते नो मृडयन्तु ते यं हिषो यश्च, नो हेष्टि  
तं वो जम्भे दधामि<sup>(११-१४)\*</sup> ॥ २ ॥

तीर्थानि । यश्च । षट् च ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके  
एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

नमस्ते । नमो हिरण्यवाहवे । नमः सहमानाय ।  
नम आव्याधिनीभ्यः । नमो भवाय च । नमो ज्येष्ठाय  
च । नमो दुन्दुभ्याय च । नमः सोमाय च । नम  
इरिण्याय च । द्रापे । सहस्राणि ॥ एकादश ॥ ११ ॥

नमस्ते<sup>(१-१)</sup> । नमो भवाय च<sup>(५-१)</sup> । द्रापे<sup>(१०-१)</sup> ।  
सप्तविंशतिः† ॥ २७ ॥

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

\* इदं यजुःचयं ।

† प्रथमे ४, द्वितीये २, तृतीये २, चतुर्थे २, पञ्चमे २, षष्ठे २  
सप्तमे २, अष्टमे २, नवमे २, दशमे ५, एकादशे च २, इति २७ ।

• दशमेऽनुवाके ऋग्युपाः केचिन्मन्त्रा उक्ताः, अथैकादशे श्रिष्टा ऋचः श्रिष्टानि च यजूंषि उच्यन्ते । तत्रादौ दशसंख्याका ऋचः, तासु प्रथमामाह,—“सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्यां । तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि<sup>(१)</sup>” इति । ‘भूम्याम्’ ‘अधि’ (भूमेरूपरि) ‘ये रुद्राः’ ‘सहस्रशः’ (सहस्रप्रकाराः) ‘सहस्राणि’ (सहस्रसंख्याकाः) सन्ति । सहस्रश्च इति जात्युक्तिः ; विनायकप्रथम-श्रैलादयो जातिभेदाः, ते सर्वेऽपि रुद्रविशेषाः, तत्राप्येकस्यां जातौ बह्वभिः सहस्रैः संख्याता मूर्त्तिविशेषाः, ‘तेषां’ सर्वेषां ‘धन्वानि’ (धनूंषि) ‘सहस्रयोजने’ (अस्मत्तः सहस्रयोजनव्यवहिते देशे) ‘अव’-‘तन्मसि’ (अवततज्याकानि स्थापयामः) ।

अथ द्वितीयांमाह,—“अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि<sup>(२)</sup>” इति । ‘अस्मिन्’ दृश्यमाने ‘महति अर्णवे’ (महासमुद्रसदृशे) प्रौढे ‘अन्तरिक्षे’ ; ‘अधि’-श्रित्य वर्त्तमाना ‘भवाः’ (रुद्रमूर्त्तिविशेषाः) ये सन्ति ; ‘तेषां सहस्रयोजने’ इत्युत्तरार्द्धे द्वितीयादिषु नवमान्तासु ऋक्तुं अनुषज्यते, तदनुषङ्गद्योतनायैव दशम्यामृचि पुनः पठितम् ।

अथ तृतीयांमाह,—“नीलग्रीवाः श्रितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः<sup>(३)</sup>” इति । ग्रीवायामेकस्मिन् प्रदेशे नीलवर्णा ‘नीलग्रीवाः’ । प्रदेशान्तरे श्वेतवर्णाः ‘श्रितिकण्ठाः’ । कीदृशाः ?—‘शर्वाः’ (रुद्र-मूर्त्तिविशेषाः) । ‘अधः’ ‘क्षमाचराः’ (भूमेरुधस्तात् पातालेषु सञ्चरन्ति) । तेषामित्यादि पूर्ववत् ।

अथ चतुर्थीमाह,—“नीलग्रीवाः श्रितिकण्ठा दिवः रुद्रा उपश्रिताः<sup>(४)</sup>” इति । ‘दिवम्’ ‘उपश्रिताः’ (स्वर्गे वर्त्तमानाः) ।

“अथ पञ्चमीमाह,—“ये वृक्षेषु ‘सप्तिञ्चरा’ नीलगीवा वि-  
ल्लोहिताः<sup>(५)</sup>” इति । यथा लोकेष्ववस्थिता रुद्राः, तथा ‘वृक्षेषु’  
अवस्थिताः । तेषु केचित् ‘सप्तिञ्चराः’ (श्वयवत्, वालदणवत् पिञ्चर-  
वर्णाः), ‘नीलगीवाः’ (केचित् ग्रीवादेशे नीलवर्णोपेताः), अपरे पुनः  
‘विल्लोहिताः’ (विशेषेण रक्तवर्णाः), ईदृशा ये सन्ति । तेषामित्यादि ।

अथ षष्ठीमाह,—“ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः<sup>(६)</sup>”  
इति । भूतशब्देन अन्तर्हितशरीराः सन्तो मनुष्योपद्रवकारिणो गण-  
विशेषा उच्यन्ते, तेषाम् ‘अधिपतयः’ ‘ये’ (रुद्राः), तेषु केचित्  
‘विशिखासः’ (मुण्डितमूर्द्धानः), अपरे ‘कपर्दिनः’ (जटाजूटबन्धनो-  
पेताः) । तेषामित्यादि ।

अथ सप्तमीमाह,—“ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिवतो  
जनान्<sup>(७)</sup>” इति । ‘ये’ (रुद्राः) ‘अन्नेषु’ भुज्यमानेषु गूढत्वेनावस्थिताः  
सन्तो ‘जनान्’ ‘विविध्यन्ति’ (विशेषेण धातुवैषम्यादिना वाग्धन्ते) । तथा  
‘पात्रेषु’ (पातश्रेषु क्षीरोदकादिषु) गूढत्वेनावस्थिताः ‘पिवतः’ ‘जनान्’  
‘विविध्यन्ति’ । तेषामित्यादि ।

अथाष्टमीमाह,—“ये पथां पथिरक्षय ऐलहृदा यव्युधः<sup>(८)</sup>”  
इति । ‘ये’ रुद्राः ‘पथिरक्षयः’ (लौकिकवैदिकमार्गाणां रक्षकाः) ।  
नात्र केषाञ्चिदेव मार्गाणां किन्तु सर्वेषां ‘पथां’ ते च रक्षकाः ।  
‘ऐलहृदाः’—(इडं ‘अन्नं, तस्य समूह ऐडं, ऐडमेवैलं, तद्विभ्रतीति  
ऐलहृतः, ऐलहृत एव ‘ऐलहृदाः’) अन्नप्रदानेन पोषका इत्यर्थः ।  
ते ‘यव्युधः’ (यौति मिश्रीभवति विरोधं करीतीति युः शत्रुः युभिः  
शत्रुभिः सह युध्यन्तीति ‘यव्युधः’ ?) असदमिष्टनिवारका इत्यर्थः ।  
तेषामित्यादि ।

• अथ नवमीमाह,—“ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः<sup>(८)</sup>” इति । ‘ये’ रुद्राः ‘तीर्थानि’ (काशीप्रभागादीनि) रक्षितुं ‘प्रचरन्ति’ । कीदृशा रुद्राः ?—‘सृकावन्तः’ (सृका क्षुरिकाः<sup>\*</sup> हस्ते प्रियमाणा तीक्ष्णया, आयुधविशेषः) तद्युक्ताः केचित् । परे तु ‘निषङ्गिणः’ (खड्गयुक्ताः) । तेषामित्यादि ।

अथ दशमीमाह,—“ये एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वि तस्थिरे । तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि<sup>(१०)</sup>” इति । ‘ये’ रुद्राः ‘एतावन्तश्च’ (‘सहस्राणि सहस्रशः’ इत्याद्युग्विध्यावन्त उक्तास्तावन्तोऽपि) ‘भूयांसश्च’ (इतोऽप्यधिका अन्ये बहवोऽपि) ‘दिशः’ ‘वि’-‘तस्थिरे’ (मर्वा दिशः प्रविश्य स्थिताः) । तेषामित्यादि पूर्ववत् ।

इत्थं दशमसंख्याका चतुर् उक्ताः । अथ त्रीणि यजूंषि उच्यन्ते,—“नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे ये दिवि येषामन्नं वातो वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्द्ध्वस्तेभ्यो नमस्ते नो मृडयन्तु ते, यं दिशो यस्य नो द्वेष्टि तं वो जम्भे दधामि<sup>(११-१२)</sup>” इति । तत्र पृथिव्यादिलोकभेदेनोद्दिष्टभेदाद्दिग्भेदाच्च यजुस्तथं द्रष्टव्यं । तदा एवं पाठः सम्पद्यते,—‘नमो रुद्रेभ्यः’ इत्युपक्रम्य ‘ये पृथिव्यां’ ‘येषामन्नम्’ ‘इषवः’ इत्याद्यो मन्त्रः । ‘ये अन्तरिक्षे’ ‘येषां’ ‘वातः’ ‘इषवः’ इति द्वितीयो मन्त्रः । ‘ये दिवि’ ‘येषां’ ‘वर्षमिषवः’ इति तृतीयो मन्त्रः । ‘तेभ्यः’ ‘दश प्राचीः’ इति सर्वत्र समानं । ‘ये’ रुद्राः ‘पृथिव्यां’ वर्त्तन्ते, तेष्वपि रुद्रेषु येषां रुद्रविशेषाणाम् ‘अन्नम्’ एव ‘इषवः’ (वाणाः),—

\* क्षुरिका इति का० ४० पृ० पाठः ।

अपथ्यान्मभक्षणे प्रवर्त्य वा अन्नार्थं चौर्यं कारयित्वा वा यान्  
 हिंसन्ति, तान् प्रति हिंसकानां रुद्राणाम् अन्नमेवेष्टवः, 'तेभ्यः'  
 ऋथियां स्थितेभ्योऽन्नवाणेभ्यश्च रुद्रेभ्यो 'नमः' । तथा 'ये' रुद्राः  
 'अन्तरिक्षे' वर्त्तन्ते, तेषामपि मध्ये 'येषां' 'वातः' 'इषवः' (तीव्रेण  
 वायुना रोगानुत्पाद्य हिंसन्ति) 'तेभ्यः' अन्तरिक्षवर्त्तिभ्यो वातेभ्यश्च  
 रुद्रेभ्यः 'नमः' अस्तु । तथा 'ये' रुद्राः, 'दिवि' वर्त्तन्ते, तेष्वापि येषां  
 रुद्रविशेषाणां 'वर्षम्' एव 'इषवः' (अतिवृश्चनावृष्टिभ्यां प्राणिनो  
 हिंसन्ति), 'तेभ्यः' (दिविस्थितेभ्यो वर्षर्तुभ्यश्च रुद्रेभ्यः) 'नमः' अस्तु ।  
 कीदृशो नमस्कारः ? इति, स एव विशेयते । 'दश प्राचीः',—  
 प्राङ्मुखेनाञ्जलिकरणे दशाङ्गुल्यः प्रागग्रा भवन्ति । एवं दक्षिणादिषु  
 जङ्घान्तेषु योज्यं । ईदृशैरञ्जलिविशेषैः 'तेभ्यः' (रुद्रेभ्यः) 'नमः'  
 अस्तु । 'ते' च रुद्राः 'नः' (अस्मान्) 'मृडयन्तु' (सुखयन्तु) । रुद्राः  
 सन्तः 'यं' (वैरिणं) तूष्णीमवस्थितमपि 'दिशः', 'यश्च' वैरी 'नः'  
 (अस्मान्) तूष्णीमवस्थितानपि 'देष्टि', 'तम्' (उभयविधं वैरिणं) हे  
 रुद्राः, 'वः' (युष्माकं) 'जम्भे' (विदारितास्ये) 'दधामि' (स्थापयामि) ।

तमिममेकादशानुवाक्यात्मकं रुद्राध्यायं विनियुक्ते,—“रुद्रो वा  
 एष यदग्निः स एतर्हि जातो यर्हि सर्वस्वितः स यथा वत्सो जातः  
 स्नानं प्रेक्षत्येवं वा एष एतर्हि भागधेयं प्रेक्षति तस्मै यदाहुतिं न  
 जुहुयादध्वर्युश्च यजमानश्च ध्यायेच्छतरुद्रीयं जुहोति भागधेयेनैवैनं  
 श्रमयति नार्त्तिमार्च्छत्यध्वर्युर्न यजमानः” (५।४।३अ ) इति ।  
 यस्मिन् काले चीयमानः 'अग्निः' अशेषर्चित्तिनिष्पादनेन 'सर्वस्वितः'  
 भवति, तस्मिन् काले अयमग्निरुत्पन्नो भवति, सोऽयमुत्पन्नोऽग्निरिव

‘रुद्रः’ इत्युच्यते,—‘देवैः स्वकीयवामवस्वदाने सति रोदनात् प्राणिनां सुरोदनहेतुद्रुखस्य द्रावणादां अग्निरेव रुद्रः ; ‘यथा’ लोके ‘जातः’ ‘वत्सः’ तदानीमेव ‘स्नानं’ प्राप्तुमिच्छति, एवमेव ‘एष’ एतस्मिंश्चित्-सम्पूर्णकाले समुत्पन्नो रुद्रनामकोऽग्निः स्वकीयं भागं दृच्छति ; तस्मात् अग्नये कस्याश्चिदाज्जतेरहोमे ‘यजमानम्’ ‘अध्वर्युञ्च’ भक्षयितुं ‘ध्यायेत्’ अग्निः, अंतस्तत्परिहाराय ‘शतरुद्रीयं’\* जुहुयात् । शत-मित्यपरिमितत्वं लक्ष्यते, अपरिमिता रुद्रा यस्मिन्नध्याये प्रति-पाद्यन्ते, सोऽध्यायः शतरुद्रीयः, तेन होमे सति स्वकीयभागेन रुद्रस्य तुष्टत्वादध्वर्युयजमानौ न म्रियेते ।

अथ होमद्रव्यं विधत्ते,—“यद्ग्राम्याणां पशूनां । पयसा जुहुयाद् ग्राम्यान्, पशून् शुचाऽर्पयेद्यदारण्यानामारण्यान् जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्गवीधुकयवाग्वा वा न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान्” (५।४।३अ०) इति । ‘शुचा अर्पयेत्’ (मन्तापेन रोगेण योजयेत्) । ‘जर्त्तिलाः’ (आरण्यतिलाः) । ‘गवीधुंकाः’ (आरण्यगोधूमाः) ।

पक्षान्तरं विधत्ते,—“अथो खल्वाज्जरनाज्जतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्चेत्यज्जरीरेण जुहोत्याग्नेयी वा एषा यदजाज्जत्यैव जुहोति न ग्राम्यन् पशून् हिनस्ति नारण्यान्” (५।४।३अ०) इति । अदनीयं यद्रव्यं तदेव आज्जतियोग्यं,—‘यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः’ इति न्यायात् । जर्त्तिला गवीधुकाश्च मनुष्यैर्नोद्यन्ते, तस्मान्नाज्जतियोग्या इति ‘आज्जः’, (पूर्वपक्षोपन्यासादूर्द्ध्वमाज्जः) । तस्मादुभयं परित्यज्य



अजाचीरेण\* जुहुयात् । अजान्योरुभयोः प्रजापतिमुखजन्त्वेन  
साम्यात् इयमजा आग्नेयी यजने आहुतियोग्यैव । अतस्तत्चीरद्रव्येण  
जुहोति, याम्यारण्यपयसोः स्वीकारात् तेऽपि पञ्चो न हिंस्यन्ते ।

होमसाधनभूतां जुहुमपवदितुं साधनान्तरं विधत्ते,—“अङ्गिरसः  
सुवर्गं लोकं यन्तोऽजायां घर्मं आमिञ्चन् सा शोचन्ती पर्णं परा-  
जिहीत सोऽर्कोऽभवत् तदर्कस्यार्कत्वमर्कपर्णेन जुहोति सयोनित्वाय”  
(५।४।३अ०) इति । प्रवर्गकाले महावीरे सन्त्य-घृतं चीरसहितं घर्मः,  
तं ‘घर्मं’ प्रयाणव्यया ‘अङ्गिरसः’ प्रमादात् ‘अजायां’ प्रकर्षेणासिञ्चन् ।  
‘सा’ ‘शोचन्ती’ (सापि अजा तेन उष्णघृतेन तप्यमाना) पर्णसदृशं स्वकीयं  
रोमसङ्घं भूमावपातयत् । स च रोमसङ्घातो, ‘अर्कः’ प्रसिद्धार्करूपेण  
प्रकूटः । अर्चनीयेन पूज्येन प्रवर्गघृतेन तथाविधेन अजारोमसङ्घातेन  
चोत्पन्नत्वादस्य स्थावरस्य अर्कनाम सम्पन्नं । तेन ‘अर्कपर्णेन’ होमे  
सति पर्णचीरयोरुभयोरप्यनन्यकार्यत्वात् समानयोनित्वं सम्पाद्यते ।

होमकाले कश्चिद्विशेषं विधत्ते,—“उदङ् तिष्ठन् जुहोत्येषा वै  
रुद्रस्य दिक् स्वायामेव दिशि रुद्रं निरवदयते चरमायामिष्टकायां  
जुहोत्यन्तत एव रुद्रं निरवदयते” (५।४।३अ०) इति । अन्यप्रदेश-  
वर्त्तिनी चरमेष्टका, सा च सूत्रकारेण दर्शिता,—‘उत्तरस्य ऋक्षस्य  
उत्तरापरस्याः स्रक्तां विकर्णाः स्वयमावृणायाम्’ इति । अन्य-  
देशगतं होमेन क्रूरमिमं ‘रुद्रम्’ ‘अन्तत एव’ निःसारयति ।

रुद्राध्याये होमसाधनं मन्त्रविभागं विधत्ते,—“त्रेधा विभक्तं  
जुहोति त्रय इमे लोका इमानेव लोकान्त्समावदीर्यान् करोति”

(५।४।३अ०) इति । तत्र ऋधाविभाग एवं करणीयः,—“नमस्ते रुद्र” इत्यारभ्य “सभापतिभ्यश्च वो नमः” इत्युक्तः प्रथमो भागः । “नमो अश्वेभ्यः” इत्यारभ्य “अवार्याय च” इत्युक्तो द्वितीयो भागः । “नमः प्रतरणाय च” इत्यारभ्य “य एतावन्तश्च” इति चत्वारः सहितः तृतीयो भागः । ..

त्रिविधाऽऽतिषु क्रमेण जौनदग्नादिदेशेषु सुगधारणं हस्ताभिनयेन विधत्ते,—“इयति अग्रे जुहोति अथ इयति अथ इयति चय इमे लोका एभ्य एवैनं लोकेभ्यः श्रमयति” (५।४।३अ०) इति ।

नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यामित्यादियजुस्त्रयसाध्यं होमं विधत्ते,—“तिष्ठ उत्तरा आहुतीर्जुहोति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा षटव षटुभिरेवैनं श्रमयति” (५।४।३अ०) इति ।

पूर्वोत्तरपक्षभङ्गा अनुपरिक्रम्य होमं विधत्ते,—“यदनुपरिक्रामं जुहुयदन्तरवचारिणं रुद्रं कुर्यादथो खल्वाहुः कस्यां वा अहं दिशि रुद्रः कस्यां वेत्यनुपरिक्राममेव होतव्यमपरिवर्गमेवैनं श्रमयति” (५।४।३अ०) इति । ‘अनुपरिक्रामं’ (अनुक्रमेण परितो भ्रमणं कृत्वा) यदि ‘जुहुयात्’, तदानीं तं ‘रुद्रं’ ‘अन्तरवचारिणम्’ (अग्निचेचस्व मध्ये प्रविश्य चरन्तं) कुर्यात् । स च प्रविष्टः क्रूरत्वात् उपद्रवं करोत्येव । तस्मात् परिभ्रमणं न कर्त्तव्यमिति पूर्वः पक्षः । अथोशब्दः सिद्धान्तोपक्रमार्थः,—‘अभिज्ञांस्त्वेवम्’ ‘आहुः’ । खलु-अह\* शब्द उपन्यस्तपक्षनिराकरणद्योतनार्थः,—यदुक्तं पूर्वपक्षिणा, तत्र

\* खलु अभिज्ञास्त्वेवमाहुः । खलु-अह-शब्द इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

भवतीत्यर्थः । अयं 'रुद्रः' सर्वत्र सञ्चरन् कदा 'कस्यां' 'दिशि' वर्त्तते, कस्यां वा न वर्त्तत इति को ज्ञातुं समर्थः, अतो रुद्रमन्त्रेषुम् अनुक्रमेण परिभ्रमणं कृत्वैव होतव्यं । तथा सति परितो यत्र-कापि स्थितं रुद्रं अवर्जयित्वैव शान्तं करोति । शान्तत्वादेव अन्तः प्रविश्य यः,\* रुद्रः सन् अन्तः सञ्चरन् न उपद्रवं करोतीत्यर्थः ।

“नमो रुद्रेभ्यः” इत्यादिमन्त्राणां यजमानवाचनं विधत्ते,—“एता वै देवताः सुवर्गा या उत्तमास्ता यजमानं वाचयति ताभिरेवैनं सुवर्गं लोकं गमयति” (५।४।३अ०) इति । एतैर्यजुर्भिः प्रतिपाद्या या देवताः सन्ति, ताः स्वर्गहेतवः । अत एवोत्तमाः (उत्कृष्टाः), चरममन्त्रप्रतिपाद्यत्वाद्वा उत्तमत्वं । ता अध्वर्युयजमानं वाचयेत्, तत्प्रतिपादकानि यजूंषि पाठयेदित्यर्थः । तथा सति ताभिरेव देवताभिरेनं यजमानं स्वर्गं प्रापयति ।

अर्कपर्णस्य परित्यागदेशं विधत्ते,—“यं द्विष्यात् तस्य सञ्चरे पशूनां न्यस्येद् यः प्रथमः पशुगभितिष्ठति स अर्चिर्माच्छति” (५।४।३अ०) इति । ‘यं’ पुरुषं यजमानः ‘द्विष्यात्’, ‘तस्य’ ‘पशूनां’ ‘सञ्चरे’ प्रदेशे तदर्कपर्णं परित्यजेत् । तत् त्यक्तं पर्णं यः पशुः प्रथमः इतरेभ्यः पशुभ्यः पूर्वः सन् अभिक्रम्य तिष्ठति, स म्रियेत, ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

प्रश्ने तु पञ्चमे प्रोक्तः श्रौतरुद्रीयहोमकः ।

सभापृतिभ्य इत्यन्त एको मन्त्रः प्रकीर्तितः ॥

अवार्यायेत्यन्त एकस्तन्मसीत्यन्त उत्तरः ।

‘नमो इन्द्रिभ्यः’ इत्येष पृथिव्यादिविभेदतः ॥

त्रेधा भिन्नस्ततो हीमे षण्मन्वा इह कीर्त्तिताः ॥

अथ मीमांसा,—दशमाध्यायस्याष्टमपादे (४ अ०) चिन्तितम् ।

जर्त्तिलोक्तैस्तुर्धा किं विकल्पोऽथ पयःश्रुतिः ? ।

विकल्पः पूर्ववत्, मैत्रं वाक्यैक्यात् पयसा सह ॥

: . अग्नौ श्रूयते,—“जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा, न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यानथो खल्वाज्जरनाज्जतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकांश्चेत्यजचीरेण जुहोत्याग्नेयी वा एषा यदजा आहुत्यैव जुहोति” (५।४।३ अ०) इति । ‘जर्त्तिलाः’ आरण्यतिलाः । ‘गवीधुकाः’ आरण्य-गोधूमाः । तयोर्लभयोर्विकल्पः श्रौत एव । ‘अनाहुतिः’ इति पूर्वयोः पक्षयोर्दूषितत्वात् होमाभावस्तृतीयः पक्षः । न चात्र जर्त्तिलगवीधुकयो-अनाहुतित्ववचनेन पर्युदासः सम्भवति, आहुतिपदान्वितस्य नञ्पदस्य जर्त्तिलगवीधुकपदान्वयायोगात्, पंथोविधिस्तुर्थः पक्षः । एतेषां परस्परविरुद्धानां चतुर्णां गत्यन्तराभावेन षोडशीग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः । इति प्राप्ते ब्रूमः,—पयोविधिना सह जर्त्तिलादेरेकवाक्यत्वेनार्थ-वादत्वं युक्तं,—ग्राम्यारण्यपशून् हिंसाराहित्येन प्रशस्तयोरपि जर्त्तिल-गवीधुकयोरग्निहोमं प्रति आहुतित्वं नास्ति, पयसस्तु तदस्ति ; इत्थं महाभागं पयं इति, तस्मादर्थवादः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं विनाशयन् ।

पुंमर्थान्शतुरो देयादिद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टव्यम्-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीरबुक्क-  
भूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-  
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे पञ्चमः प्रपाठकः  
सम्पूर्णः ॥०॥

॥०॥ ॐ तत्सत् ॥०॥

## अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः ।

अ॒श्मन्मूर्जं पर्वते शि॒श्रियाणां वाते प॒र्जन्ये वरुणस्य  
शु॒ष्मे । अ॒ज्ञा ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽधिस॒मृतां तां  
न इष॒मूर्जं धत्त मरुतः स॒रराणाः<sup>(१)</sup> । अ॒श्म॒स्ते  
क्षु॒द्रमुं ते शु॒गृच्छतु यं द्वि॒ष्मः<sup>(२)</sup> । स॒मुद्रस्य त्वाऽवाक-  
या॒ग्ने परि॒व्ययाम॑सि । पा॒व॒क्रो अ॒स्मभ्यः॑ शि॒वो भव॑<sup>(३)</sup> ।  
हि॒मस्य॑ त्वा ज॒रायु॒णाग्ने परि॒व्ययाम॑सि । पा॒व॒क्रो  
अ॒स्मभ्यः॑ शि॒वो भव॑<sup>(४)</sup> उप॑ ॥ १ ॥

ज॒मन्मुप॑ वेत॒सेऽव॑त्तरन्दी॒ष्टा । अ॒ग्ने पि॒त्तम॑पा॒म-  
सि<sup>(५)</sup> । स॒ण्डूकि॑ ताभि॒राग॑हि॒ सेम॑नो॒ यज्ञं । पा॒व॒क-  
व॒र्णेः शि॒वं ह॒धि<sup>(६)</sup> । पा॒व॒क आ चि॑तय॒न्त्या कृ॒पा ।  
क्षाम॑न् रु॒च उ॒षसो॑ न भा॒नुना॑<sup>(७)</sup> । तूर्ध॑न॒ याम॑न्नेत-  
शस्य॒ न् र॒ण आ यो घृ॑णे । न त॑तृ॒षाणो अ॒जरः॑<sup>(८)</sup> ।

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिहया । आ  
देवान् ॥ २ ॥

वक्षि यक्षि च<sup>(९)</sup> । स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाः  
इहा वह । उप यज्ञः हविश्च नः<sup>(१०)</sup> । अपामिदं न्यय-  
नः समुद्रस्य निवेशनं । अन्यं ते अस्मत्तपन्तु हेतयः  
पावको अस्मभ्यः शिवो भव<sup>(११)</sup> । नमस्ते हरसे  
शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे । अन्यं ते अस्मत्तपन्तु  
हेतयः । पावको अस्मभ्यः शिवो भव<sup>(१२)</sup> । नृषदे वट् ॥

॥ ३ ॥

असुषदे वट् वनसदे वट् वर्हिषदे वट् सुवर्षिदे  
वट्<sup>(१३)</sup> । ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाः संवत्स-  
रोणमुप भागमासते । अहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन्  
स्वयं जुहुध्वं मधुनो घृतस्य<sup>(१४)</sup> । ये देवा देवेष्वधि  
देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य । येभ्यो नते  
पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि  
सुषु<sup>(१५)</sup> । प्राणदाः ॥ ४ ॥

अपानदा व्यानदाश्चक्षुर्दा वर्चोदा वरिवोदाः ।  
अन्यं ते अस्मत्तपन्तु हेतयः । पावको अस्मभ्यः शिवो  
भव<sup>(१६)</sup> । अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यः सदिशं न्यचिणं ।  
अग्निर्नो वःसते रयिं<sup>(१७)</sup> । सैनानीकेन सुषिदन्

अस्म यष्टा देवाः, आयजिष्ठः स्वस्ति<sup>(१८)</sup> । अदभ्यो  
गोपा उत नः परस्पां अग्ने द्युमदुत रेवद्दीहि<sup>(१९)</sup> ॥  
॥ ५ ॥

उप । दवान् । वट् । प्राणदाः । चतुश्चत्वारिंशच्च ।  
॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

॥१॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।  
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥  
प्रपाठके पञ्चमे हि चित्सम्पूर्णनन्तरं ।  
वर्णितो रुद्रहोमोऽथ षष्ठे वाच्याऽग्निसंस्कृतिः ॥  
परिषेचनमारभ्य संस्कारा धे चिकीर्षिताः ।  
ते पञ्चस्वनुवाकेषु प्रोक्ताः शेषोऽश्वमेधगः ॥

तत्र प्रथमानुवाके परिषेचनविकर्षणद्वयेऽभिधीयन्ते । कल्पः,  
'उदकुम्भमादायाध्वर्युरग्नन्नूर्जमिति चिः प्रदक्षिणमग्निं परिषिञ्चन्  
पर्वेति' इति । पाठस्तु,—“अग्नन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणां व्रते पर्जन्ये  
वरुणस्त्वं शुभे । अग्न्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽधिसम्भृतां तां न



इषमूर्कं धत्त मरुतः सःरराणाः<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘मरुतः’, ‘संरराणाः’ (सम्यग्दानशीलाः) द्यूयम् अग्न्यादिगताम् ‘जर्ज’ (बलहेतुम्) ‘इषम्’ (अन्नं) ‘नः’ (अस्माभ्यं) ‘धत्त’ (सम्पादयत) । कीदृशमिषं ? ‘अग्निम्’ (पाषाणे), ‘पर्वते’ (मेरुविन्ध्यहिमवदादौ), ‘वाते’ (प्रचण्डवायौ), ‘पर्जन्ये’ (वर्षणक्षमे प्रौढे मेघे), ‘वरुणस्य’ शुभ्रे (वरुणसम्बन्धिनि बले) च ‘शिश्रियाणाम्’ (आश्रिताम्), ‘जर्ज’ (सारभृतां), तथा ‘अद्भ्यः’ (जलेभ्यः), ‘ओषधीभ्यः’ (ग्रीह्यवादिभ्यः), ‘वनस्पतिभ्यः’ (उदुम्बरादिभ्यः), सकाशात् ‘अधिसभृतां’ (अधिकत्वेन सम्यक् सम्पादितां) । यदन्नम् अग्नादिध्वाश्रित्य सारत्वेनावतिष्ठते, यच्च जलादिभ्यः सम्पाद्यते, यदपि अस्माकं बलहेतुः, तथाविधमन्नं प्रयच्छ ।

तमेतं मन्त्रं विनियुङ्क्ते,—“अग्निमूर्जमिति परिषिञ्चति मार्जय-  
त्येवैनमथो तर्पयत्येव स एनं तप्तोऽनुध्वन्नशोचन्नमुष्मिन्लोक उपतिष्ठते”  
(५।४।४ अ०) इति । ‘एनं’ अग्निं ‘मार्जयति’ (शुद्धं करोति), अपि  
च ‘तर्पयति’, ‘स’ ‘तप्तः’ अग्निः स्वर्गलोके क्षुत्पीडारहितः सन् ‘एनं’  
(यजमानं) सेवते ।

एतद्वेदनं प्रशंसति,—“दृष्यति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद” (५।४।  
४ अ०) इति ।

मन्त्रस्य चतुर्थपादे ‘जर्ज’ ‘मरुतः’ इति पदद्वयस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“तां न इषमूर्कं धत्त मरुतः सःरराणा इत्याह्वानं वा जर्ज् अन्नं मरुतोऽन्नमेवावरुन्ते” (५।४।४ अ०) इति । ‘जर्ज्’ (बलहेतुः), ‘अन्नमेव’; ‘मरुतः’ अपि अन्नसम्पादकत्वात् ‘अन्नं’, अत उभयोः पठनादन्नं प्राप्नोति ।

• कल्पः, ‘अग्नेः स्तो जुदमुं ते शुगृच्छत्विति त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति’ इति । पाठस्तु,—“अग्नेः स्तो जुदमुं ते शुगृच्छतु यं द्विषः (१)” इति । हे ‘अग्ने’ (इष्टकाभिर्दृढं निष्पादितत्वात् पाषाणसदृश) अग्ने, यन्तु ‘ते’ ‘जुत्’ (त्वदीया जुत्पीडा) या च ‘ते’ ‘शुक्’ (त्वदीयः सन्तापः), तदुभयमपि ‘यं’ वैरिणं ‘द्विषः’, ‘अमुं’ द्वेयम् ‘च्छतु’ (प्राप्नोतु) ।

अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्नेः स्तो जुदमुं ते शुगृच्छतु यं द्विष इत्याह यमेव द्वेष्टि तमस्य जुधा च शुचा चार्पयति” (५।४।४ अ०) इति ।

परिषेचनकतले प्रदक्षिणावृत्तिं विधत्ते,—“त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति त्रिवृत्ता अग्निर्थावानेवाग्निस्तस्य शुचः श्रमयति” (५।४।४ अ०) इति । अग्नेराहवनीयादिरूपेण त्रिगुणत्वम् ।

परिषेचनरहितामप्रदक्षिणावृत्तिं\* विधत्ते,—“त्रिः पुनः पर्येति षट् सम्पद्यन्ते षुद्धा चतव चतुभिरेवास्य शुचः श्रमयति” (५।४।४ अ०) इति । पूर्वेण प्रदक्षिणचयेण सह षट्सङ्ख्यासम्पत्तिः ।

• कल्पः, ‘अवाकां वेतसशाखां मण्डूकञ्च दीर्घवशे प्रबध्य समुद्रस्य त्वाऽवाकयेति सप्तभिरष्टाभिर्वाग्निं विकर्षति’ इति । तच्च प्रथमामाह,—“समुद्रस्य त्वा अवाकयाग्ने परिव्ययामसि । पावको अस्माभ्यः शिवो भव (१)” इति । अवाका शैवालं । हे ‘अग्ने’, त्वां ‘समुद्रस्य’ ‘अवाकया’ (समुद्रसम्पत्तिना शैलेन†) ‘परिव्ययामसि’ (परितः संवृणोमि) उपरि-

\* परिषेचनरहिताम् प्रदक्षिणावृत्तिमिति पाठो भवितुं युक्तः ।

† शैवालेन इति पाठो भवितुं युक्तः ।

भागे सर्वत्र विकर्षामीत्यर्थः । तच्च 'अस्मभ्यम्' (अस्मदर्थं) 'पावकः' (शोधकः) 'शिवः' (शान्तः) च 'भव' ।

अथ द्वितीयामाह,—“हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परिव्ययामसि । पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव<sup>(४)</sup>” इति । हे 'अग्ने', त्वां 'हिमस्य' (शैत्यस्य), 'जरायुणा' (जरायुक्द्रुत्युत्तिष्ठानीयेन शैवालेन) । शेषं पूर्ववत् ।

अथ तृतीयामाह,—“उप उमन्नुप वेतसेऽवत्तरन्नदीष्वा । अग्ने पित्तमपामसि<sup>(५)</sup>” इति । हे 'अग्ने', 'उमा' पृथिवी, तस्याम् 'उप'-गतो वर्त्तसे । तथा 'वेतसे' (वज्जुलके) 'उप'-गतो वर्त्तसे । तथा 'नदीष्वा' (नदीजलपि\*) 'अवत्तरन्' (अतिशयेन रत्नकत्वं) यथा भवति, तथा उपगतो वर्त्तसे । तथा त्वम् 'अपां' 'पित्तम्' 'असि' (तेजोऽसि) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं । पावकवर्णꣳ शिवं हृधि<sup>(६)</sup>” इति । हे 'मण्डूकि' (मण्डूकजातीये), 'ताभिः' (समनन्तरोक्ताभिः ऋग्भिः) सह 'आगहि' (आगच्छ) । 'सा' त्वम् 'इमं' (अनुष्ठीयमानं) 'नः' (अस्मदीयं) 'यज्ञं' 'पावकवर्णम्' (अग्निस्मानतेजस्कं) 'शिवं' (फलप्रदत्वेन शान्तं) 'हृधि' (कुरु) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“पावक आ चितयन्त्या कृपा । क्षामन् रुहसे उषसो न भानुना<sup>(७)</sup>” इति । हे मण्डूकि, 'पावके' (अस्मिन्नग्नौ) विषयभृते सति 'चितयन्त्या' (चिन्तयन्त्या) 'कृपा' (कृपया) सामर्थ्येन युक्ता सती 'आ' (दहागच्छ) । त्वयि आगतयां सत्यां अयमग्निः 'क्षामन्' (क्षामयन्)

\* 'नदीजलेष्वपि' इति पाठो भविष्युं युक्तः ।

(चाञ्चिः पृथिव्यां) 'रुच्ये' (दीप्तिमान्) । तत्र दृष्टान्तः,—‘उपसंः न भानुना’ (उपःकालसम्बन्धिना प्रकाशेन यथा पदार्था दीप्यन्ते तद्वत्) ।

अथ षष्ठीमाह,—“तूर्वन्न धामन्नेतश्च नू रण आ यो घृणे । न तदषाणे अजरः<sup>(८)</sup>” इति । ‘यः’ अग्निः, ‘एतश्च’ (गमनकुञ्जलस्य अश्वस्य) ‘यामन्’ (नियामकः) ‘रणे’ (युद्धे) ‘तूर्वन्न’ (परवलानि हिंसन्निव) ‘आ’-‘घृणे’ ‘नु’ (सर्वतो दीप्यते खलु), चोऽग्निः ‘अजरः’ (जरारहितः) ‘तदषाणः’ ‘न’ (दृष्टायुक्तो न) भवति । यथा लोके ग्रीष्मगमनस्वभाषम् अश्वं वामहस्तगतेन खलीनेन दृढं नियम्य रणे प्रवर्तमानः पुरुषः परवलानि हिंसन् न त्वरते, एवमयमग्निः प्रज्वलति, न कदाचित् जीर्यति, नाप्यसौ दृष्टायुक्तः, किन्तु दृढ इत्यर्थः ।

अथ सप्तमीमाह,—“अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया । आ देवान् वक्षि यक्षि च<sup>(९)</sup>” इति । हे ‘पावक’ (शोधक), ‘देव’ (द्योतनात्मक), ‘अग्ने’, ‘रोचिषा’ (दीप्तिमत्या) ‘मन्द्रया’ (सन्तान्या) ‘जिह्वया’ (वाचा) ‘देवान्’ ‘आ’-‘वक्षि’ (आवह), ‘यक्षि’ (यज) ।

अथाष्टमीमाह,—“स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाः इहावह । उप यज्ञः हविषं नः<sup>(१०)</sup>” इति । हे ‘पावक’ (शोधक), ‘दीदिवः’ (दीप्यमान), ‘अग्ने’, ‘नः’ (अस्मदर्थं) ‘देवान्’ ‘इह’ (कर्माणि) ‘आवह’, अस्माकम् ईशं ‘यज्ञं’ ‘हविषं’ ‘उप’ (देवसम्भीषे) प्रापय ।

एतैरष्टभिर्मन्त्रैः साध्यं विकर्षणं विधत्ते,—“अपां वा एतत् पुष्पं यदेतस्योऽपाः शरोऽवका वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति आपो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचः शमयेति” (५।४।४अ०) इति ।

योऽयं 'वेतसः', योऽयम् 'अपां' पुष्यस्थानीयः, अप्सु जायमानत्वात् ।  
 यास्य 'अवकाः' (शैवालाभिधाः) ता 'अपां शरः' (सारं\* दध्ना मण्डमिव) ।  
 तस्मात् एताभ्यामग्निं विकर्षेत्,—चितेरुपरि नानादिक्षु विविधमेतद्भयम्  
 आकर्षेदित्यर्थः) । 'आपो' दाहनिवारकत्वात् 'शान्ताः', अप्सम्बन्धिना  
 द्रव्यद्वयेन विकर्षणे सति 'शान्ताभिः' ऋग्भिः 'एव' 'अस्य' अग्नेः 'शुचं'  
 'शमयति' ।

पूर्वोक्तद्रव्यद्वयेन सह मण्डूकस्यापि कर्षणशोधकत्वं विधत्ते,—  
 "यो वा अग्निं चितं प्रथमः पशुरधिक्रामतीश्वरो वै तः शुचा  
 प्रदहे मण्डूकेन विकर्षत्येष वै पशूनामनुपजीवनीयो न वा एष  
 ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्येषु तमेव शुचाऽर्पयति" (५।४।४ अ०) इति ।  
 गोमहिषाजादीनां मध्ये 'यः' 'पशुः' इमम् इष्टकाभिः 'चितम्'  
 'अग्निं' प्रथमम् अधिरुह्य पादेन आक्रामति, 'तं' पशुं सन्तापेन प्रदग्धुम्  
 अयमग्निः प्रभुर्भवति । तस्मात् पश्चन्तरेण विकर्षणं न कुर्यात्, किन्तु  
 'मण्डूकेन' कुर्यात् । मण्डूकस्य यागयोग्येषु 'ग्राम्येषु' 'नारण्येषु' च  
 पशुषु अनन्तर्भावालोकेऽपि गोमहिषादिवदुपयोगादर्शनाच्च केनाप्युप-  
 जीव्यो न भवति । अतस्तेन विकर्षणे तमेव मण्डूकं सन्तापेन  
 योजयति ।

तस्मिन् विकर्षणे "समुद्रस्य त्वा" इत्यादीन् मन्त्रान् विनियुक्ते,—  
 "अष्टाभिर्विकर्षत्यष्टार्चरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानेवाग्निस्तस्य शुचः  
 शमयति" (५।४।४ अ०) इति ।

• सामान्यतो विहितान् मन्त्रान् विशेषतो विधत्ते,—“पावक-  
वतीभिरन्नं वै पावकोऽग्नेनैवास्त्र शुचं ग्रमयति”(५।४।४अ०) इति ।  
‘पावकः अस्त्रभ्यं शिवो भव’ इत्येवं पावकशब्दो यासु चक्षु विद्यते,  
तां पावकवत्य इत्यर्थः; ताभिः विकर्षतीत्यनुवर्त्तते । पावकस्याग्नेरन्न-  
वचनहेतुत्वादस्त्रत्वम् ।

कल्पः, ‘अपामिदं न्ययनं, नमस्ते हरसे शोचिषा इति द्वाभ्या-  
मग्निमधिरोहति’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“अपामिदं न्ययनं  
समुद्रस्य निवेशनं । अन्यं ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावको अस्त्रभ्यं  
शिवो भव<sup>(१९)</sup>” इति । ‘इदं’ चित्याग्निस्थानं ‘अपां’ ‘न्ययनं’  
(नियमेन प्राप्तिस्थानं), यागद्वारापि आपः प्राप्यन्ते । अत एव अपां  
बज्रलत्वात् ‘समुद्रस्य’ ‘निवेशनं’ (गृहस्थानीयं) । तद्रूप हे अग्ने,  
त्वदीया ‘हेतयः’ अस्मत्तः ‘अन्यं’ विरोधिनि पुरुषं ‘तपन्तु’ (क्लेशयन्तु) ।  
‘अस्त्रभ्यं’ (अस्त्रदर्थं) ‘पावकः’ (शुद्धः) ‘शिवः’ (शान्तः) च ‘भव’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्रर्चिषे ।  
अन्यं ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावको अस्त्रभ्यं शिवो भव<sup>(१९)</sup>” इति ।  
हे अग्ने, ‘ते’ (तव) ‘हरसे’ (रसानां हन्ते), ‘शोचिषे’ (शोषणहेतवे)  
तेजसे ‘नमः’ ‘अस्तु’ । किञ्च ‘ते’ (तव) ‘अर्चिषे’ (पदार्थान् प्रकाश-  
यिषे तेजसे) ‘नमः’ ‘अस्तु’ । अन्यमित्यादिपूर्ववत् ।

एतन्मन्त्राध्यात् अधिरोहणात् पूर्वमुषानत्प्रतिमोचनं विधत्ते,—  
“नृत्युर्वा एष यदग्निर्ब्रह्मण एतद्रूपं यत् कृष्णाजिनं कृष्णो उपा-  
नहन्मुपसृज्यते ब्रह्मणैव नृत्योरन्तर्धत्ते” (५।४।४अ०) इति । अग्ने-  
र्दाहकत्वान्मृत्युत्वं प्रसिद्धं, ‘कृष्णाजिनं’ तु ‘ब्रह्मणः’ (वेदस्य) ‘रूपं’; अत

एव दीक्षाप्रकरणे समाप्तायते, “एकस्मात्ते वै देवेभ्यो यज्ञायातिष्ठमाने कृष्णो रूपं कृत्वापक्रम्यातिष्ठताम्” (६।१।३अ०) इति । कृष्णाजिनेन निर्मिते ‘उपानहौ’ ‘कार्ष्णी’, तयोः प्रतिमोके सति वेदेनैव ‘मृत्युः’ अन्तर्हितो भवति ।

उपानद्वयस्य प्रतिमोकाप्रतिमोकयोर्दोषसङ्गावात् एकस्या एव प्रतिमोकं विधत्ते,—“अन्तर्हृत्योर्धनेऽन्तराद्यादित्याङ्गरन्यामुपमुञ्चते ऽन्यान् न अन्तरेव मृत्योर्धनेऽवास्नाद्यष्ट हन्ते” (५।४।४अ०) इति । उभयोरपि अप्रतिमोक्ततया मृत्युबाधः; प्रतिमोकेन मृत्योरन्तर्धानं,—मृत्युरुपशान्यति । अस्ति त्वन्यो दोषः, यथा मृत्योरन्तर्धानं, एषमस्नाद्यादपि अन्तर्हितो भवति इत्येवमभिज्ञा आहुः; अतस्तत्परिहारार्थकाम् उपानदं उपमुञ्चते, इतरां नोपमुञ्चेत् । तथा सति उपमोकेन मृत्योरन्तर्धानं भवति, अनपमोकेन च अस्नाद्यं प्राप्नोति ।

उपानदुपमोकादूर्द्धं यत् चितेरधिरोहणं, तदङ्गभूते द्वितीयेऽस्मिन् मन्त्रे प्रथमार्द्धस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“नमस्ते हरसे शोचिष इत्याह नमस्कृत्य हि वसीयाऽसमुपचरन्ति” (५।४।४अ०) इति । लोके हि योऽतिशयेन वसुमान् भवति, तं मृत्या आदौ ‘नमस्कृत्य’, पश्चाद् ‘उपचरन्ति’; ततोऽग्रेरप्यत्र नमस्कारो युक्तः ।

तृतीयपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अन्यं ते अस्मात् तपन्नु हेतय इत्याह यमेव द्वेष्टि-तमस्य शुचार्पयति” (५।४।५अ०) इति । ‘तं’ (द्वेष्टम्) ‘अस्य’ (अग्नेः) सन्तापेन योजयति ।

चतुर्थपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“पावको अस्मभ्यः शिवो भवेत्याहान्नं वै पावकोऽस्ममेवावहन्ते” (५।४।४अ०) इति ।

• अपामिदं न्यमित्यादिमन्त्रसङ्ख्याविशिष्टम्\* अधिरोहणं विधत्ते,—  
“दाभ्यामधिकामति प्रतिष्ठित्यै” (५।४।४ अ०) इति ।

सामान्येन विनियुक्तौ मन्त्रौ पुनर्विशेषाकारेण विनियुक्ते,—  
“अपस्यवतीभ्यां ज्ञान्यै” (५।४।४ अ०) इति । “अपामिदम्” इत्येवम्  
अपञ्चदो ययोर्होस्ते अपस्यवत्यौ, ताभ्यामधिरोहणे सति अग्नि-  
तापस्य ज्ञानिर्भवति । • •

कल्पः, ‘नृषदे वडिति पञ्चभिरुत्तरवेदिवदग्निं स्वयमादृशां वा  
व्याघार्य’ इति । पाठस्तु,—“नृषदे वट् अपुषदे वट् वनसदे वट्  
बर्हिषदे वट् सुर्वविदे वट्<sup>(१९)</sup>” इति । नृषु (मनुष्येषु) जाठराग्निरूपेण  
सीदतीति ‘नृषत्’, तस्मै ‘वट्’ (हविर्दत्त) । वाङ्वरूपेणासु सीदतीति  
‘अपुषत्’ । दावाग्निरूपेण वने सीदतीति ‘वनसत्’ । आहवनीयादिरूपेण  
बर्हिषि यज्ञे सीदतीति ‘बर्हिसत्’ । आदित्यरूपेण सुवर्गं विन्दते,  
लभते, इति ‘सुर्वित्’ ।

एतान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“नृषदे वडिति व्याघारयति पञ्क्त्या-  
ज्जत्या यज्ञमुखमारभते” (५।४।५ अ०) इति । पञ्चसङ्ख्योपेतया  
आज्जत्या यज्ञे मुख्यमङ्गं उपक्रान्तवान् भवति ।

अथ दक्षिणमंसमुत्तरां ओणिमित्यादिकं (?) वक्त्रात्वं विधत्ते,—  
“अन्नण्या व्याघारयति, तस्मादक्षण्या पञ्चोऽङ्गानि प्रहरन्ति प्रति-  
ष्ठित्यै” (५।४।५ अ०) इति । • •

मन्त्रगतं वट्कृद्दं प्रशंसति,—“यद्वषट्कुर्याद् यातयामस्य वषट्-  
कारः स्याद् यन्न वषट्कुर्याद्रक्षां सि यज्ञं हन्युर्वडित्याह परोक्षमेव

\* न्यमित्यादिमन्त्रसङ्ख्याविशिष्टमिति पाठो भवितुं युक्तः ।



वषट्करोति नास्य यातयामा वषट्कारो भवति न यज्ञः रक्षाऽपि  
 घ्नन्ति” (५।४।५ अ०) इति । एतच्च वाक्यं,—“सन्ते वायुर्मातरिश्वा दधातु”  
 (४।१।४ अ०) इति मन्त्रे, “तस्मै च देवि वषट्सु तुभ्यम्” इत्यस्य  
 व्याख्यानरूपत्वं (?) ब्राह्मणेन (५।१।५ अ०) उदाहृत्य सम्यग्विदृतम् ।

कल्पः, ‘ये देवा देवानामिति दाभ्यामनु परिचारं दध्ना मधु-  
 मिश्रेण दर्भग्रमुष्टिनाग्निं व्यवोक्षति’ इति । तत्र प्रथमामृतचभाह,—  
 “ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानां संवत्सरीणमुप भागमासते ।  
 अज्जतादो हविषो यज्ञे अस्मिन् स्वयं जुहुध्वं मधुनो घृतस्य<sup>(१४)</sup>”  
 इति । द्विविधा देवा हविर्भुजः,—इन्द्रवरुणादयः शरीरनिर्वाहकाः,  
 प्राणात्मकाः प्राणापानादयश्च, दीव्यतीति व्युत्पत्तेरुभयत्रापि सम्भवः;  
 उभयेऽप्येते यज्ञियाः, तत्रेन्द्रादयो ‘देवाः’ यज्ञेन पूज्यत्वाद् यज्ञियाः,  
 प्राणादयस्तु यज्ञेन पूजकत्वाद् यज्ञियाः । एवं सति ‘यज्ञियानाम्’  
 इन्द्रादीनां ‘देवानां’ सम्बन्धिनः प्राणरूपा ‘ये’ यज्ञियानां\*  
 ‘संवत्सरीणं’ (संवत्सरेण साध्यं) चित्याग्निं ‘भागं’ (भजनीयम्) ‘उप’-  
 ‘आसते’ (सेवन्ते) । प्राणाद्या ‘अज्जतादः’,—ज्जतं स्वाहाकारे समर्पितम्  
 अदन्तीति ज्जताद इन्द्रादयः, तद्विपरीतत्वात् प्राणा ‘अज्जतादः’ ।  
 तथाविधा हे प्राणाः, ‘अस्मिन्’ ‘यज्ञे’ ‘हविषः’ (अस्माभिर्हव्यमानस्य)  
 मधुरस्यां भागं ‘जुहुध्वं’,—मदीयेन स्वाहाकारसमर्पणेन विना ‘स्वयम्’  
 एव स्वीकुरुत ।

\* अत्र ‘यज्ञियाः’ ते इति किं वा ‘यज्ञियाः’ इति पाठो भवितुं  
 युक्तः ।

† अत्र ‘मधुनो घृतस्य’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

• अथ द्वितीयामाह,—“ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः  
पुर एतारो अस्व । येभ्यो नैर्जे पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न  
पृथिव्या अधि क्षुषु<sup>(१५)</sup>” इति । ‘ये’ प्राणा ‘देवेषु’ (इन्द्रादिषु)  
अपि ‘अधि’ (अधिष्ठातृत्वेन) ‘देवत्वमायन्’ (प्राप्ताः) प्राणैरेवाधिष्ठिता  
एवेन्द्रादिविग्रहा व्यवहरन्तीत्यर्थः । किञ्च ‘ये’ प्राणाः ‘अस्य’ ‘ब्रह्मणः’  
(चीयमानस्याग्नेः, परिवृढस्य) ‘पुरः’ ‘एतारः’ (पुरतो गन्तारः) निर्वाहका  
इत्यर्थः । न खलु प्राणैर्विना चीयमानोऽग्निर्निवोढुं शक्यते । किञ्च  
‘येभ्यः’ ‘सृते’ (यान् विना) ‘किञ्चन’ ‘धाम’ विशां ‘न पवते’ (न  
शुद्धं भवति, ‘ते’ (प्राणरूपा देवाः) ‘दिवो न’ (दिव्यपि न)  
तिष्ठन्ति । ‘पृथिव्यां न’ (भूमावपि न) तिष्ठन्ति, किन्तु ‘क्षुषु’  
(पर्वतसानुसदृशेषु) शरीरगतचक्षुरादिगोलकेषु) आश्रित्य वर्त्तन्ते ।

एतस्मिन्मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“ऊतादो वा अन्ये देवाः अऊतादोऽन्ये  
• तानग्निचिदेवोभयान् प्रीणाति ये देवा देवानामिति दध्ना मधु-  
मिश्रेणावोक्षति, ऊतादस्यैव देवान् अऊतादस्य यजमानः प्रीणाति,  
ते यजमानं प्रीणन्ति, दध्नैव ऊतादः प्रीणाति मधुनाऽऊतादो, ग्राम्यं  
वा एतदन्नं यद्दधि, आरण्यं मधु, यद्दध्ना मधुसिश्रेणावोक्षत्युभयस्याव-  
रुध्यैः” (५।४।५ अ०) इति । ‘ऊतादः’ इन्द्रादयः, ‘अऊतादः’ प्राणाः,  
‘तान्’ ‘उभयान्’ अपि ‘देवान्’ अथम् ‘अग्निचित्’ प्रीणयितुमर्हन्ति,  
अतः ‘मधुमिश्रेण’ ‘दध्ना’ अवोक्षणं कुर्यात् । • तेन चोभये प्रीताः  
सन्नो यजमानमपि प्रीणयन्ति । तत्रापि इन्द्रादीनां दध्ना प्रीतिः,  
प्राणानां ‘मधुना’ प्रीतिः । किञ्च दध्नो ग्राम्यत्वात् मधुनश्चाण्डत्वाद्,  
उभाभ्याम् अवोक्षणे सति उभयमपि सम्पादितं भवति ।

‘अबोक्षणसाधनं प्रौढदर्भमुष्टिं विभक्त्ये,—“गुमुष्टिनाऽबोक्षति प्राजापत्यो वै गुमुष्टिः संयोनित्वाय” (५।४।५अ०) इति । गुहः खूलो दर्भमुष्टिः ‘गुमुष्टिः’, तस्य प्रजापतिवत् प्रौढत्वात् प्राजापत्यत्वम्, अतस्तेनाबोक्षणं ‘संयोनित्वाय’ भवति । अग्निरपि प्रजापतिनोत्पादितत्वात् ‘प्राजापत्यः’ ।

तेन समानयोनित्वं मन्त्रद्वित्वं प्रशंसति,—“दाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।४।५अ०) इति ।

अबोक्षणकाले परितो भ्रमणं विधत्ते,—“अनुपरिचारमबोक्षति अपरिवर्गमेवैनान् प्रीणाति” (५।४।५अ०) इति । ‘अनुपरिचारम्’ (अनुक्रमेण परितस्परित्वा) ‘अपरिवर्गम्’ ‘एव’ (अन्यवयवेषु कस्यापि अवर्जनमकृत्यैव) ‘एनान्’ (अन्यवयवान्) ‘प्रीणाति ।

कल्पः, ‘प्राणदा अपानदा इति प्रत्यवरोह्य’ इति । पाठस्तु,—“प्राणदा अपानदा व्यानदाश्चक्षुर्दा वर्चोदा वरिवोदाः॥ अन्यं ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यः शिवो भव<sup>(१९)</sup>” इति । यजमानाय प्राणं ददातीति ‘प्राणदाः’, प्राणं सुखिरं करोतीत्यर्थः । एवमुत्तरचापि । वर्चो बलं । वरिवः प्रजा । अन्नमित्यादि पूर्ववत् ।

प्राणादिदानप्रसक्तिपूर्वकं मन्त्रं व्याचष्टे,—“वि वा एष प्राणैः प्रजया पशुभिर्हृष्यते योऽग्निं चित्त्वन्नधिकामति प्राणदा अपानदा इत्याह प्राणानेवात्मन्वत्ते वर्चोदा वरिवोदा इत्याह प्रजा वै वर्चः पशवो वरिवः प्रजासेव पशूनात्मन्वत्ते” (५।४।५अ०) इति । यो यजमानोऽग्निचयनकालेऽग्निमधिरोहति, एष प्राणादिभिर्वियुज्यते, अतः प्राणादिदानं प्रार्थनीयमिति मन्त्रः प्रवर्त्तते । तत्र पूर्वभागेन प्राणादीन्

स्वात्मनि सुस्थितान् करोति । उत्तरभागेन ब्रह्मवाचिना वर्षःशब्देन पुत्रपौत्रादिरूपा प्रजा उपलक्षिताः, तासु हि सतीषु व्यवहर्तुं प्रबलत्वात् । पूजावाचिना वरिवःशब्देन पञ्च उपलक्षिताः, तेषु रक्षु क्षीरादिसम्पत्त्या पूज्यो भवति ।

कल्पः, 'अग्निस्तिग्मेनेति द्वाभ्यामग्नयेऽनीकवते एकामाहुतिः ऊला' इति । तत्र प्रथमामाह,—“अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यःसह विश्वं न्यत्रिणं । अग्निर्नो वःसते रयिं (१०)” इति । अयं चीयमानः 'अग्निः' 'तिग्मेन शोचिषा' (तीक्ष्णया ज्वालाया), 'न्यत्रिणं' (राक्षसादि) 'विश्वं' (सर्वं) विरोधिन् 'नि'-‘वंसत्' (नियमयतु), विनाशयत्वित्यर्थः । 'अत्रम्' अदनशीलं बाधकमनिष्टं, तदस्यास्तीति 'अचिः', तं विनाशयतु । किञ्च अयम् 'अग्निः' 'नः' (अस्मदर्थं) 'रयिं' (धनं) 'वंसते' (वसितुं सम्भाजयितुम् इच्छतु) ।

अथ द्वितीयामाह,—“सैनानीकेन सुविदत्रो अस्मे यष्टा देवाः आयजिष्ठः स्वस्ति । अदब्धो गोपा उत नः परस्या अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि (५)” इति । हे 'अग्ने', 'स' त्वं 'द्युमत्' (दीप्यमानं) 'उत' (अपि च) 'रेवत्' (धनयुक्तः) गृहक्षेत्रादिकं 'दिदीहि' (प्रकाशय) । कीदृशस्त्वं ?—‘एनानीकेन' 'सुविदत्रः' (अनेन ज्वालासमूहेन सुष्ठु वेदिता), 'अस्मे' 'देवान्' 'यष्टा' (अस्मदर्थं देवानुद्दिश्य याग-निष्पादकः) । 'स्वस्ति' (विघ्नराहित्यं) 'यंय' स्थान् तथा 'आयजिष्ठः'

\* अत्र 'न्यत्रिणं' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अत्र 'अचि' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ वज्रधनयुक्तम् इति का० ४० पुं० पाठः ।

(अतिशयेन कृत्स्नयागसमाप्तकारी), 'अदभ्यः' '(केनाप्यहिंसितः),  
'गोपाः' (मन्त्रस्य गोप्ता), 'उत' (अपि च) 'नः' (अस्माकं) 'परस्याः'  
(अतिशयेन पालयिता) ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

षष्ठे पञ्चानुवाकाः स्युरग्निशेषस्ततः परे ।  
चत्वारो ह्यश्वमेधार्था अग्नेति परिषिञ्चति ॥  
अश्वंस्ते प्रतिपर्येति, समुद्रेत्यग्निमष्टभिः ।  
विकर्षदित्यपां द्वाभ्यामारोहति चितिं, नृषत् ॥  
व्याघारः पञ्चभिः\*, 'ये दे' द्वाभ्यामग्निमवोक्षति ।  
प्राणदा अवरुह्याग्निस्तिग्मेनेत्याहुतिद्वयम् ॥  
प्रथमे त्वनुवाकेऽस्मिन् मन्त्रा द्वाविंशतिरीताः (?) ।

यथ मीमांसा,—नवमाध्यायस्य प्रथमपादे (८अ०) चिन्तितम्,—

“विकर्षप्रोक्षणे कार्ये प्रतीष्टकमुतैकधा ।

आद्योऽवयव्यसत्त्वेन मैवं भूदेशसत्वतः ॥

‘दृष्टकाभिरग्निं चिनुते’ इति श्रूयते, तच्चेदमान्नायते,—‘मण्डूकेन  
अग्निं विकर्षति । वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षति ।  
हिरण्यशकलसहस्रेणाग्निं प्रोक्षति’ इति । शाखाया मण्डूकं बद्धा तेन  
विकर्षतीत्यर्थः । ते च विकर्षणप्रोक्षणे प्रतीष्टकं कर्त्तव्ये । कुतः ? ।  
चिताभ्य इष्टकाभ्यः पृथग् अग्निशब्दार्थस्य कस्यचिदवयविद्रव्यस्याभावाद्  
इति चेत् । मैवं,—उपहिताभिरिष्टिकाभिः संयुक्तस्य प्रदेशस्यावयवि-

\* ‘नृषदे वट्’ इत्यत्र (५७३ पृ० ८ प०) वङ्गता मञ्च मन्त्रा बोध्याः ।

द्रव्यत्वात्, तस्य चान्वाधारत्वेनाग्निशब्दार्थत्वम् । तस्मादग्रेरेकत्वात्  
सकृदेव विकर्षणप्रोक्षणे कुर्यात् ॥

• ६।ते सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता निषसाद  
पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः परमच्छदे  
वर आविवेश<sup>(१)</sup> । विश्वकर्मा मनसा यदिहाया धाता  
विधाता परमेत सन्दृक् । तेषामिष्टानि समिषा  
मदन्ति यत्र सप्तर्षीन् पर एकमाहुः<sup>(२)</sup> । यो नः पिता  
जनिता ये विधाता यो नः सतो अभ्या सज्जजान ॥ १ ॥

• यो देवानां नामधा एका एव तः संप्रश्नं भुवना  
यन्यन्था<sup>(३)</sup> । त आ यजन्त द्रविणः समस्मा चक्षयः  
पूर्वं जरितारो न भूना । अस्मर्त्ता स्मर्त्ता रजसो वि-  
माने ये भूतानि समकृण्वन्निमानि<sup>(४)</sup> । न तं विदाय  
य इदं जज्ञानान्यद् युष्माकमन्तरं भुवाति । नीहारेण  
प्रावृता जल्पया चासुतप उक्थशासञ्चरन्ति<sup>(५)</sup> । परो  
दिवा पर एना ॥ २ ॥

पृथिव्या परो देवेभिरसुरगुहा यत् । कः स्वर्गभे

प्रथमं दध्र आपो यच्च देवाः सजगच्छन्त विश्वे<sup>(१)</sup> ।  
 तमिज्जर्भं प्रथमं दध्र आपो यच्च देवाः समगच्छन्त  
 विश्वे । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्निदं विश्वं  
 भुवनमधि श्रितं<sup>(२)</sup> । विश्वकर्मा ह्यजनिष्ठ देव आदि-  
 जन्धर्वो अभवद्द्वितीयः । तृतीयः पिता जनिताष-  
 धीनां ॥ ३ ॥

अपां गर्भं व्यदधात् पुरुचा<sup>(३)</sup> । चक्षुषः पिता  
 मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नन्माने । यदेदन्ता  
 अदहन्त पूर्वं आदिद्यावापृथिवी अप्रथेतां<sup>(४)</sup> ।  
 विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वत-  
 स्पात् । सं बाहुभ्यां नमति संपतचैद्यावापृथिवी जन-  
 यन् देव एकः<sup>(५)</sup> । किंस्विदासीदधिष्ठानभारम्भं  
 कतमत्स्वित् किमासीत् । यदी भूमिं जनयन् ॥ ४ ॥

विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः<sup>(६)</sup> ।  
 किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी  
 निष्ठतक्षुः । मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्य-  
 तिष्ठद् भुवनानि धारयन्<sup>(७)</sup> । या ते धामानि पर-  
 माणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा । शिक्षा  
 सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तनुवं जुषास्व<sup>(८)</sup> ।  
 वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये ॥ ५ ॥

मनीयुजं वाजे । अद्या हुवेम । स नो नेदिष्या  
 हवनानि जाषते विश्वं भूरवसे साधकर्म<sup>(१)</sup> । विश्व-  
 कर्मण हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व तनुवं जुषाणः ।  
 मघ्नं त्वन्ये अभितः सपत्ना इक्ष्माकं मघवा सूरि-  
 रस्तु<sup>(२)</sup> । विश्वकर्मनू हविषां वर्द्धनेन चातारमिन्द्र-  
 मकृणोरवध्यं । तस्मै विश्वः समनमन्त पूर्वोरियमुग्रो  
 विहव्यो यथासत्<sup>(३)</sup> । समुद्राय वयुनाय सिन्धूनां  
 पतये नमः । नदीनां सर्वासां पिबे जुहुता विश्व-  
 कर्मणे विश्वाहामर्त्यः हविः<sup>(४)</sup> ॥ ६ ॥

जज्ञान । एना । आषधीनां । भूमिं जनयन् ।  
 जतये । नमः । नव च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
 द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

प्रथमेऽनुवाके परिषेचनादिकमुक्तं । अथ द्वितीयेऽनुवाके सूक्ता-  
 भ्यां होमौ उच्येते । कल्पः, 'षोडशगृहीतेन स्तुचं पूरयित्वा वैश्व-  
 कर्मणानि जुहोति । य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वन्नुषः पिता  
 मनसा हि धीर इति नानासूक्ताभ्यां द्वौ आहुता । यं कामयेत  
 चिरं पाप्मानो निर्मुच्येत्येकैकं तस्येत्युक्तम्' इति । तत्र प्रथमसूक्ते  
 प्रथमाहुतंमाह,—“य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वन्नुषिर्होता निषसाद  
 पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः परमच्छदो वर आ-



विवेक<sup>(१)</sup>” इति । ‘यः’ विश्वकर्मा परमेश्वरः, ‘इमां विश्वा भुवनानि जुह्वत’ (प्रलये पृथिव्यादीन् इमान् सर्वान् लोकान् स्वात्मन्याहुति-  
प्रक्षेपवत् संहरन्), ‘ऋषिः’ (अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः), ‘होता’ (संसार-  
होमकर्त्ता), ‘नः’ (अस्माक) ‘पिता’ (जनकः), ‘निषाद’ (स्वयं  
स्थितवान्), प्रलयकाले प्राप्ते सति सर्वान् लोकान् संहृत्य अस्माकमपि  
संहर्त्ता, पुनः सृष्टा च सन् सर्वज्ञो यः परमेश्वरः स्वयमेक एवासीत् ।  
अत एव सर्वा अथुपनिषद् एवमाहुः, “आत्मा वा इदमेक एवाग्र  
आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्” (ऐत० १ ख०) । “सदेव सोम्येदमग्र  
आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्” (का० ६ अ० २ ख०) इत्याद्याः । ‘स’  
(तादृक्) परमेश्वरः ‘आशिषा’ (बहुस्यां प्रजायेयेत्येवंरूपया पुनः-  
सिद्धयया) ‘द्रविणमिच्छमानः’ (धनोपलक्षितं जगद्भोगमपेक्षमाणः)  
‘परमच्छदः’ (परमं स्वकीयमेवाद्वितीयं पारमार्थरूपमावृण्वन्) ‘वरे’  
(स्वेन सृष्टे शरीरमथर्वर्त्तिनि पुण्डरीकस्थाने) ‘आविवेश’ (जीवरूपे\*  
प्रविष्टः) । एतच्च सर्वमुपनिषद्भिः (तैत्ति० ६ अ०) आन्नातं,—  
“सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतपयत । स तपस्तप्त्वा ।  
इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च । तत् सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत्”  
इति । एवमन्या अथुपनिषद् उदाहार्याः ।

अथ द्वितीयामाह,—“विश्वकर्मा मनसा यद्विहाया धाता  
विधाता परमेत संदृक् । तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यच्च सप्तर्षीन्  
पर एकमाहुः<sup>(२)</sup>” इति । विश्वविषयाणि कर्माणि सृष्टिस्थिति-  
संहाररूपाणि यस्यासौ ‘विश्वकर्मा’, तस्य च तेषु कर्मसु सत्यत्वादय

\* जीवरूपेण इति पाठो भवितुं युक्तः ।

एव. साधनं, सत्यसङ्कल्पनात्.। 'यत्' (यस्मात्) अयं 'मनसा' (सत्यसङ्कल्पमात्रेण) 'विश्वकर्मा', तस्मात् 'धाता', 'विधाता', 'विहाया' इति चेद्यते,—'धाता' उत्पादकः; 'विधाता' पोषकः; विशेषेण च हाति परित्यजतीति 'विहायाः' संहर्त्तैत्यर्थः । 'उत' (अपि च) अत एव 'परमा' (परमः सर्वेभ्य उक्तः) । सम्यक् पश्यतीति 'संहृक्' (सर्वज्ञ इत्यर्थः) । 'यत्र' (यस्मिन्) 'परे' (परस्मिन्) ईश्वरे 'सप्तर्षिन्' 'एकमाहुः',—य एते मरीचचिप्रमुखाः सप्तर्षयो विविधा दृश्यन्ते, ते सर्वे. सृष्टेः प्राक् परस्मिन्नेकीभूता इति वेदान्तपारगा आहुः । स च परमेश्वरः, 'तेषां' (सप्तर्षिप्रभृतीनाम्) 'दृष्टानि' (अपेक्षितानि) स्थानानि 'दृषा' (स्वेच्छामात्रेण) सम्पादयतीति, तेन च ते महर्षयो ह्यन्ति.।

अथ तृतीयामाह,—“यो नः पिता जनिता यो विधाता यो नः सतो अभ्या सज्जजान । यो देवानां नामधा एक एव तः सम्प्रभु भुवना यन्त्यन्या<sup>(१)</sup>” इति । 'यः' विश्वकर्मा 'नः' (अस्माकं) 'पिता' (पालयिता) न केवलं पालकः, उत्पादकोऽपि । किमनेनास्माकम् उत्पादक इति सङ्कोचेन, 'यः' 'विधाता' (सर्वस्य जगतः उत्पादकः), 'यः'—विश्वकर्मा 'नः' (अस्माकम्) उत्पन्नानां 'सत्' वर्त्तमानमिदं भोग्यजातं 'सतो' 'जजान' “सदेव सोम्य” इति श्रुत्युक्तात् स्वस्वरूपात् उत्पादयामांसः । 'यः' च विश्वकर्मा 'देवानां' 'नामधाः' (स्वयमेव सर्वदेवरूपेणाविर्भूय इन्द्रमित्रादिदेवतानामानि धारयति । अत एव अन्यत्रास्मात्,—“इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो

गर्हन्तान् । एकं सदिप्रा बद्ध्वा वदन्त्यग्निं यमं मातरिन्धानमाहुः”  
 (ऋग० १ म० १६ ४ सू०) इति । अतः एव बद्ध्वा देवानां नामानि  
 धारयन्नपि वस्तुतः स्वयम् एक एव । ‘तं’ विश्वकर्माणं पूरमेश्वरं  
 ‘अन्या’ “भुवना’ (तस्माद् अन्यानि सृष्टानि सर्वाणि भुवनानि)  
 ‘सम्प्रभ्रं’ यथा भवति तथा ‘यन्ति’ (प्रलयकाले एकत्वं प्राप्नुवन्ति),  
 एकीभावयुक्ते प्रलये क ईश्वरः कानि भुवनानीति एवं प्रभ्रं सम्प्र-  
 धारणं प्रवर्त्तते विभागाभावेन\* अन्यनभिज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

अथ चतुर्थीमाह,—“त आ यजन्त द्रविण् समस्मा ऋषयः  
 पूर्वे जरितारो न भूना । असृर्त्ता सृर्त्ता रजसो विमाने ये भूतानि  
 समष्टाण्विमानि(†)” इति । पूर्वोदाहृतेन विश्वकर्मणा प्रथममुत्पा-  
 दिता ‘ये’ सृष्टारः, ‘इमानि’ ‘भूतानि’ (सर्वानेतान् प्राणिनः)  
 ‘समष्टाण्वन्’ (सम्यगुत्पादितवन्तः) । ‘ते’ ‘पूर्वे’ सृष्टारः ‘असृ’ (सृष्ट्या  
 जगते) ‘द्रविणं’ (धनरूपं भोग्यजातं) ‘सम्’-‘आयजन्ह’ (सम्यक्  
 सम्यादितवन्तः) । कीदृशाः ते? ‘ऋषयः’ (अतीन्द्रियद्रष्टारः) सर्वज्ञा  
 इत्यर्थः । ‘भूना’ ‘जरितारो न’ (भूत्वा स्वकीयेन महत्त्वेन कदाचित्  
 अपि जीर्णा न भवन्ति) । कीदृशानि भूतानि? ‘असृर्त्ता’ (असृभिः  
 प्राणैरीरितानि प्राणयुक्तानीत्यर्थः) । तथा ‘रजसो’ ‘विमाने’ ‘सृर्त्ता’  
 (रञ्जनात्मकस्वभोगस्य विशेषेण प्रमितौ स्वस्वकर्मभिः सुष्ठु प्रेरितानि) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“न तं विदाथ य इदं जलानान्यद्युष्माक-  
 मन्तरं भवति ।” नीहारेण प्रावृता जलस्था चासुहृष उवद्यज्ञास-

\* ‘विभागाभावेन’ इति पाठो न सम्यक् ।

† ‘सृष्टा’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

‡ ‘भूमा’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

चरन्ति<sup>(\*)</sup>” इति । ‘यः’ विश्वकर्मा ‘इदं’ ‘जजान’ (उत्पादितवान्) ‘तं’ विश्वकर्माणं ‘न’ ‘विदीथ’ (तेन सृष्टा हि जीवाः, यूयं न जानीथ) । इवदन्तोऽहं यज्ञदन्तोऽहमित्येवं सर्वेऽपि वयमात्मानं विश्वकर्माणं जानीम इति यद्युच्येत, तदसत्, न हि अहंप्रत्ययगम्यं जीवरूपं विश्वकर्मेणः परमेश्वरस्य, किन्तु ‘युष्माकं’ अहंप्रत्ययगम्यादतिरिक्तं सर्ववेदान्तवेद्यम् ईश्वरतत्त्वं ‘भवाति’ (विद्यते) । तथापि, जीवरूपवत् कुतो न जानीमः ? इति चेत्, ‘नीहारेण’ ‘प्रावृताः’ (भवन्तो नीहार-सदृशेनाज्ञानेनावृतत्वात् न जानन्ति), यथा नीहारो नात्यन्तममद्\* दृष्टेरावरकत्वात्, नाप्यत्यन्तंसन् काष्ठपाषाणादिरूपान्तरेण सम्वदुम् अयोग्यत्वात्; एवमज्ञानमपि नात्यन्तमसत् ईश्वरतत्त्वावरकत्वात्, नापि सत् बाधमात्रनिवर्तत्वात् । ईदृशेन अनिर्वचनीयेन अज्ञानेन भवन्तः सर्वेऽपि जीवाः ‘प्रावृताः’ न केवलं तत्त्वां, किन्तु ‘जल्प्या’ ‘च’ (देवोऽहं • मनुष्योऽहं ममेदं चेन्नमित्याद्यनृतजल्पनपराश्च) । किञ्च ‘असुदृपः’ (असुपु दृष्यन्तीति असुदृपः), -केनापि प्रकारेण प्राणान् पोषयित्वा • तावतैव दृष्यन्ति भवन्तः, न तु परमेश्वरतत्त्वं विचारयितुं प्रवर्तन्ते, न केवलमिह लोके भोगमात्रदृष्टिः, किन्तु ‘उक्थशासः’ (परंलोकेऽपि भोगं सम्पादयितुं नानाविधेषु यज्ञेषु उक्थानि शस्त्राणि शंसन्तीति उक्थशासः), तादृशा भूत्वा भवन्तः ‘चरन्ति’ (ऐहिकामुश्रिकभोगे सर्वदां प्रवर्तन्ते), तस्मादज्ञानमित्या-ज्ञानपराधीनानां भवतां नास्ति तत्त्वज्ञानमित्यर्थः ।

\* सात्यन्तमसन् इति पाठो भवितुं युक्तः ।

+ अप्य ‘न जानन्त’ इत्येवंरूपं कश्चिदंशः पातत इव प्रतिभाति

अथ षष्ठीमाह,—“परो दिवा परः एना पृथिव्या परो देवेभि-  
रसुरैर्गुहा यत् । कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्ना आपो यत्र देवाः समगच्छन्त  
विश्वे<sup>(१)</sup>” इति । ‘यत्’ दैत्यगतत्वं ‘गुहा’ (हृदयपुण्डरीके) गूढं  
‘दिवा’ ‘परः’ (द्युलोकादपि दूरे तिष्ठति), ‘एना पृथिव्या परः’ (अस्याः  
पृथिव्या अपि दूरे तिष्ठति), ‘देवेभिरसुरैः’ ‘परः’ (देवेभ्योऽसुरेभ्यश्च  
दूरे तिष्ठति), मकारान्तः परःशब्दो दूरवाची । दूरत्वं नाम विलक्षणत्वं,  
सर्वजगद्विलक्षणत्वात् गुरुशास्त्रमुखैर्ज्ञायत इत्यर्थः । किञ्च ‘यत्र’ (यस्मिन्)  
गर्भे ‘विश्वे’ (सर्वे) अपि ‘देवाः’ ‘समगच्छन्त’ (मङ्गताः, समूह्य  
वर्तन्ते), तं ‘कंस्विद्गर्भं’ ‘आपः’ ‘प्रथमं’ ‘दध्ने’, अङ्गिः पूर्वं धृते गर्भे  
देवमनुष्यादयः सर्वे प्राणिनो वर्तन्ते,—इत्येवं शास्त्रप्रामादित्तिः । सोऽपि  
गर्भः क इति न ज्ञायते; यदा तूलोऽप्ययं जगदाधारे न ज्ञातः,  
तदा अत्यन्तसूक्ष्मत्वं\* न ज्ञायते इति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ।

अथ सप्तमीमाह,—“तमिद्गर्भं प्रथमं दध्ना आपो यत्र देवाः  
समगच्छन्त विश्वे । अजस्य नाभावव्येकमर्पितं यस्मिन्निदं विश्वं भुवन-  
मधि अतम्<sup>(२)</sup>” इति । इदानीं गुरुशास्त्रानुशासनोपेक्षेण पुरुषेषु  
विद्यमानस्तुतिः अत्रयाऽभिधीयते । यस्मिन् ब्रह्माण्डगर्भे ‘विश्वे’ ‘देवाः’  
‘समगच्छन्त’, ‘तमित्’ (तमेव) ‘गर्भं’ ‘आपः’ ‘प्रथमं’ ‘दध्ने’ (धृतवत्यः) ।  
तद्धारणप्रकार एव स्पष्टीक्रियते,—‘अजस्य’ (जन्मरहितस्य) परमेश्वरतत्त्वस्य,  
‘नामौ’ (नाभिस्थानीये स्वरूपमध्ये), ‘एकं’ (किञ्चिद्) बीजम् ‘अधि-  
‘अर्पितं’ (अधिकत्वेन स्थापितं); ‘यस्मिन्निदं’ ‘विश्वं’ (सर्वम्) अपि  
‘भुवनम्’ ‘अधि-अतम्’ (अधिकत्वेन स्थापितं), तद्विजमर्पितम्;—

\* अत्यन्तसूक्ष्मत्वं इति पाठो भवितुं युक्तः ।

“अप एव ससर्जादौ तासु वीजमवासृजत् ॥

तदण्डमभवद्वैभं कैऽटिस्त्वैर्यसमप्रभम्” । (मनु० १।८-९)

इति ।

अथाष्टमीमाह,—‘विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट दवा आदिद्वन्धर्वो अभवद् द्वितीयः । तृतीयः पिता जनिताषधीनारुपां गर्भं व्यदधात् पुरुचा<sup>(८)</sup>’ इति । ब्रह्माण्डमध्यगतानामुत्पत्तिरुच्यते । अण्डमध्ये प्रथमं ‘विश्व-कर्मा’ (देवतिर्यगादिविश्वभेदवर्त्ता) सत्यलोकवासी चतुर्मुखो देवः ‘अजनिष्ट’ (उत्पन्नः) । ‘आदित्’ (अनन्तरमेव) तदपेक्षया ‘द्वितीयः’ ‘गन्धर्वः’ ‘अभवत्’ (उत्पन्नः) । तत ऊर्द्धम् ‘आषधीनां’ (पालकः) ‘पिता’, ‘जनिता’ (य. उत्पादकः) सोमः पूर्वाक्तदयापेक्षया ‘तृतीयः’ ‘अभवत्’ । तदेवम् ‘अपां’ ‘गर्भं’ (ब्रह्माण्डं) परमेश्वरः ‘पुरुचा’ ‘व्यदधात्’ (वज्रधा व्यक्तं कृतवान्) । इत्येकं सूक्तं समाप्तम् ।

अथ द्वितीयसूक्ते प्रथमासृजमाह,—“चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नन्माने । यदेदन्ता अददृहन्त पूर्वं आदित् द्यावापृथिवीं अप्रयेताम्<sup>(१)</sup>” इति । ‘चक्षुषः’ (चक्षुःगदेः प्राण-समुदायस्य) ‘पिता’ (उत्पादकः), ‘धीरः’ (धैर्यवान्), ‘मनसा’ (स्नेच्छया) ‘घृतं’ (घृतवत्) प्राणिनामुपभोगमाधनभृते ‘एने’ (द्यावापृथिव्यौ) परस्परानुकुल्येन ‘नन्नमाने’ (नमनोपेने) ‘अजनत्’ (उत्पादितवान्) । ‘यदेत्’ (यदैव) ‘पूर्वं’ (प्रथमाः) ‘अन्तां’ (अननयुक्ताः, शिष्टावन्तः) चतुरादिप्राणा ‘अददृहन्त’ (दृढा अभवन्), ‘आदित्’ (अनन्तरमेव) ‘द्यावापृथिवी अप्रयेतां’ (द्यावापृथिव्यौ विस्मृतौ अभूताम्) ।

अथ द्वितीयामाह,—“विश्वतश्चक्षुरत विश्वतोमुखो विश्वतो-

हस्तं उत विश्वतस्यात् । सं बाहुभ्यां नमति सम्यतत्रैद्यावापृथिवी-  
जनयन् देव एकः<sup>(१)</sup>” इति । चक्षुरादिप्राणानां द्यावापृथिव्यो-  
श्चात्पत्तेरुद्धं विश्वरूपधरः परमेश्वर एवं भासते (१) । किमिति ? ।  
तदुच्यते,—‘विश्वतः’ (सर्वतः) चक्षूषि यस्यासौ ‘विश्वतश्चक्षुः’, परमेश्वरस्य  
सर्वप्राण्यात्मकत्वात्, यस्य प्राणिनो ये चक्षुषी, ते तदुपाधिकस्य  
परमेश्वरस्यैवेति सर्वत्रास्य चक्षूषि सम्पद्यन्ते । एवं मुखहस्तपादेष्वपि  
योजनीयं । स तादृश ‘एकः’ ‘देवः’ ‘द्यावापृथिवी’ ‘जनयन्’  
‘बाहुभ्यां’ (बाहुस्थानीयाभ्यां) धर्माधर्माभ्यां निमित्तकारणाभ्यां ‘सं’-  
‘नमति’ (जगत् सर्वं सम्यक् नतं स्वाधीनं करोति) । तथा ‘पतत्रैः’  
(पतनशीलैः) अग्नितैः पञ्चभूतैः उपादानकारणैः ‘सं’-‘नमति’ (जगत्  
स्वाधीनं करोति) ।

अथ तृतीयमाह,—“किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्किं  
किमासीत् । यदी भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामैर्माणिक्यहिना  
विश्वचक्षाः<sup>(२)</sup>” इति । लोके हि घटं चिकीर्षुः कुलालो गृहादिकं  
किञ्चित् स्थानमधिष्ठाय मृद्व्येण चक्रादिरूपैरुपकरणमाधनैर्घटं  
निष्पादयति, ईश्वरस्य निरपेक्षत्वात्, सर्वमत्र आक्षिप्यते,—द्यावापृथिव्यो-  
रुत्पादनवेलायामीश्वरस्य ‘अधिष्ठानं’ (निवासस्थानं) ‘किंस्विदासीत्’  
(किं नामाभूत्) ? न किञ्चिदित्यर्थः । तथा ‘आरम्भणं’ ‘कतमत्किं’  
(किमासीत्, आरभ्यते अनेनेत्यारम्भणमुपादानकारणं, तदपि कतमत्  
भवेत्) ? न हि द्यावापृथिव्यौ जनयितुं समर्थं किञ्चिदुपादानं सम्भ-  
वति । तथा दण्डचक्रादिवन्निमित्तमपि ‘किमासीत्’ ? न, किञ्चित्  
सम्भवतीत्यर्थः । ‘विश्वचक्षाः’ (सर्वद्रष्टा) ‘विश्वकर्मा’ ‘यदी’ (यस्मिन्

काले) 'भूमिं' (भूलोकं) 'जनयन्' वर्त्तते, तस्मिन् काले हि 'महिना' (महिम्ना) एवं सीधनान्तरं विनैव, विशेषेण 'द्यामौर्णोत्' (सृष्ट्या द्यावापृथिव्यौ आच्छादितवान्), अचिन्त्यशक्तिरयं परमेश्वरः ।

अथ चतुर्थीमाह,—“किंस्विद्वन क उ स वृत्त आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्ठतनुः । मनीषिणो मनसा पृच्छतेद् यददध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्<sup>(४)</sup>” इति ॥ लोके हि प्रौढं प्रासादं निर्ममाणः कस्मिंस्त्रित् प्रौढे वने कञ्चिन्महान्तं वृत्तं कृत्वा तत्तणादिना काष्ठैः प्रासादमुच्चैस्तरं सम्पादयति, इह तु परमेश्वरप्रेरित जगत् सृष्टिः, 'यतः' (यस्मात्) वनात् यं वृत्तमादाय 'द्यावापृथिवी' 'निष्ठतनुः' (तत्तणेन द्यावापृथिव्यौ निष्पादितवान्), तत् 'वनं' 'किंस्त्रित्' नाम स्यात् ? न किञ्चित् तादृशं सम्भवति । तथा 'क उ स वृत्तः' (तादृशः स प्रौढवृत्तोऽपि कः) स्यात् ? न किञ्चित् सम्भवतीति । हे 'मनीषिणः' (विद्वान्) 'मनसा' स्वकीयेन विचिन्त्य 'पृच्छतेत्' (इदं सर्वं पृच्छतैव) । किञ्च ईश्वरः 'भुवनानि' 'धारयन्' 'यददध्यतिष्ठत्' (यत् स्थानमधिष्ठितवान्) 'तत्' अपि सर्वथा पृच्छत । एतस्य प्रश्नस्य सर्वस्याप्युत्तरं ब्राह्मणग्रन्थे सूक्तप्रपाठके (२।८।१।६) . “ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृत्त आसीत्” इत्येतस्यामृचि आस्तातं ; स्वरूपव्यातिगिक्तवस्त्वादिनिरपेक्षत्वमेवास्योत्तरस्याभिप्रायः । अतोऽत्रापि किंस्विद्वनमित्यादि आक्षेपपरत्वेनैव योजितं । पृच्छतेदित्यस्याप्ययंमभिप्रायः,—भवद्भिः पृष्ठेऽपि निरपेक्षत्वमेवाभिज्ञा वदिष्यन्तीति ।

अथ पञ्चमीमाह,—“या ते धामानि परमाणि याऽवमा या मध्यमा विश्वकर्मवृतेमा । शिवा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं



यजस्व तनुवं जुषाणः<sup>(५)</sup>” इति । हे ‘विश्वकर्मन्’, ‘ते’ (त्वदीयानि) ‘परमाणि’ यानि ‘धामानि’ उल्लिष्टानि सन्ति, यानि मध्यमानि श्ववमानि च ‘धामानि’ (स्थानानि) सन्ति, तानि इमानि, सर्वाणि स्थानानि ‘सखिभ्यः’ (सखिभ्यः प्रियेभ्यः) ‘हविषि’ (हविःप्रदाननिमित्तं) ‘शिक्ष’ (उपदिश) । हे ‘स्वधावः’ (स्वधोपलक्षितहविर्लक्षणाश्ववन्), ‘विश्वकर्मन्’ ‘तनुवं’ ‘जुषाणः’ (यजमानशरीरं सेवमानः) ‘स्वयं’ ‘यजस्व’,\* त्वदगुह्यमन्तरेण को वान्यो यष्टुं शक्त इत्यर्थः ।

अथ षष्ठीमाह,—“वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोयुजं वाजे अद्या ऊवेम । स नो नेदिष्ठा हवनानि जोषते विश्वश्रभूरवसे माधुकर्मा<sup>(६)</sup>” इति । ‘विश्वकर्माणं’ परमेश्वरं ‘अद्य’ (अस्मिन् दिने) ‘वाजे’ (अन्ने) निमित्तभूते सति ‘ऊतये’ (भक्षणाय) ‘ऊवेम’ (आह्वयाम) । कीदृशं विश्वकर्माणं ? ‘वाचस्पतिं’ (मन्त्ररूपाया वाचः पालकं), कर्मणि अग्नन्मनसो योजयितारं । ‘स’ विश्वकर्मा ‘नः’ (अस्मदीयानि) नेदिष्ठानि अत्यन्तममीपवर्त्तीनि ‘हवनानि’ (हवींषि आह्वानानि वा) ‘जोषते’ (सेवते) । किमर्थं ? ‘अवसे’ (अस्मान् अर्वितुं रक्षितुं) । कीदृशः सः ? ‘विश्वश्रभूः’ (सर्वस्मिन् जगति रुखस्य भावयिता), ‘माधुकर्मा’ (अस्मदनुकूलव्यापारवान्) ।

अथ सप्तमीमाह,—“विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व तनुवं जुषाणः । मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना दूहाग्नाकं मधना ररि-रस्तु<sup>(७)</sup>” इति । हे ‘विश्वकर्मन्’, अस्मदीयेन ‘हविषा’ ‘वावृधानः’

(अत्वनन्तं वर्द्धमानः) 'तनुं जुषाणः' (शरीरं स्वीकुर्वाणः) 'स्वयं यजस्व' ।  
 अस्मत्तः 'अन्ये' 'सपत्नाः' 'ईह' कर्मणि 'मुह्यन्तु' (भ्रान्ता भवन्तु) ।  
 'अस्माकं' तु 'मघवा' (अन्नयुक्तः) 'हरिः' (विद्वान्) पुत्रः 'अस्तु' ।

अथाष्टमीमाह,—“विश्वकर्मन् हविषा वर्द्धनेन चातारमिन्द्रम-  
 क्णोरवधं । तस्मै विशः समनमन्त पूर्विरियमुगे विह्व्यो यथा-  
 सत्<sup>(८)</sup>” इति । हे 'विश्वकर्मन्', अस्मादीयेन 'हविषा वर्द्धनेन'  
 युक्तस्त्वं इमं यजमानं 'चातारम्' (अन्येषां रक्षकम्) 'इन्द्र' (परमै-  
 श्वर्ययुक्तम्) 'अवधं' (केनापि हिसितुमशक्यम्) 'अक्णोः' (कुरु) ।  
 'तस्मै' (यजमानाय) 'पूर्वीः' 'विशः' (वृद्ध्या त्रित्यमाणाः प्रजाः)  
 'समनमन्त' (सम्यङ् गताः एतदधीना भवन्तु) । 'अयं' (यजमानः)  
 'उयः' (तीव्रशक्तिः सन्) केनाप्यपरिभूतः 'विह्व्यः' (विविधयागयोग्यः)  
 'यथाऽसत्' (यथा भवति), तथा कुरु ।

कल्पः, • 'यद्येनमुदकेऽभिविन्देदुदकाञ्जलिमादाय समुद्राय वयु-  
 नायेत्यप्सु जुहुयादित्ययज्जमंयुतः कल्पः' इति । पाठस्तु,—“समुद्राय  
 वयुनाय सिन्धूनां पतये नमः । नदीनां सर्वासां पित्रे जुहुता  
 विश्वकर्मणे विश्वाहाऽमर्त्यः हविः<sup>(९)</sup>” इति । यो विश्वकर्मा  
 समुद्ररूपेणावतीर्णः, तस्मै 'समुद्राय' 'नमः' अस्तु । कीदृशाय 'वयुनाय'  
 (कान्ताय), 'सिन्धूनां' 'पतये' (स्यन्दमानानां हन्त्रे), समुद्राकारेण  
 वर्त्ता, विश्वकर्माकारेण 'सर्वासां' 'नदीनां' • 'पिता' (उत्पादकः) ;  
 तादृशाय 'विश्वकर्मणे' हे ऋत्विग्यजमानाः, 'विश्वाहा' (सर्वाणि  
 अहानि) निरन्तरमित्यर्थः • 'अमर्त्यम्' (अविनश्यरं) 'हविः' 'जुहुत' ।

अग्निस्तिग्मेनेति मन्त्रद्वयेन 'य इमा विश्वा' इति सूक्तद्वयेन च

साध्यं होमं विधातुं प्रस्तौति,—“इन्द्रो-वृत्रमहन् तं वृत्रो हतः षोडशभिर्भोगैरग्निनात् स एतामग्नयेऽनीकवत् आजतिमपश्यत् ताम् अजुहोत् तस्याग्निरेनीकवान्त्वेन भागधेयेन प्रीतः षोडशधा वृत्रस्य भोगानप्यदहद्दैत्यैश्चकर्मणेन पाप्मनो निरमुच्यत यदग्नयेऽनीकवते आजतिं जुहोति, अग्निरेवास्यानीकवान्त्वेन भागधेयेन प्रीतः पाप्मानमपि दहति वैश्वकर्मणेन पाप्मनो निर्मुच्यते” (५।४।५ अ०) इति । ‘इन्द्रः’ यदा ‘वृत्रं’ वज्रेण प्रहृतवांस्तदा वज्रप्रहतः स वृत्र आमुर्मायया सहसा षोडश सर्पाकाराणि शरीराणि स्वीचकार, स्वीदृत्य च भोग-शब्दाभिधेयैस्तैः सर्पाकारशरीरैः ‘तम्’ इन्द्रं हस्तपादाद्यवयवेषु बद्ध्वा ‘अग्निनात्’ (बभञ्च) । तदानीमिन्द्रः प्रतीकारं विचार्य अनीकेन (सैन्येन) युक्ताय ‘अग्नये’ ‘एताम्’ ‘अग्निस्तिग्मेन’ इतिमन्त्रद्वयसाध्यामाजतिं दृष्ट्वा ऊतवान् । ततः सोऽग्निः ‘अनीकवान्’ तप्तो वृत्रस्य षोडश सर्पाकाराणि शरीराणि अदहत् । तत ऊर्ध्वमिन्द्रो ‘य इमा विश्वा’ इतिसृक्तद्वयसाध्येन वैश्वकर्मणहोमेन वृत्रबधजन्यपाप्मनो निर्मुक्तः ।

इदानीं तदुभयं विधत्ते,—“यदग्नयेऽनीकवत् आजतिं जुहो-त्यग्निरेवास्य अनीकवान्त्वेन भागधेयेन प्रीतः पाप्मानमपि दहति वैश्वकर्मणेन पाप्मनो निर्मुच्यते” (५।४।५ अ०) इति । रोगाद्विरूप-दृष्टबधहेतोः पापस्य अनीकवत्याज्यत्वा\* दाहः; पारलौकिकात् नरकहेतोः पापाद् वैश्वकर्मणहोमेन निर्मोक्तः ।

तत्रेहं विचिन्त्यते,—किमयं वैश्वकर्मणहोमः प्रति-मन्त्रं दृश्यक्

\* ‘पापस्थानीयकवत्याज्यत्वा’ इति सर्वत्र पाठो न सत्यक

कार्यः, किं वा 'सूक्तद्वयं संहोषार्यं सहदनुष्ठेयः, अहोस्वित् एकैकं सूक्तमुच्चार्य अनुष्ठेयः ? इति । तत्राद्यं पक्षद्वयं शास्त्रान्तरगतत्वेनाङ्गी-  
कराति,—“यं कामयेत चिरं पाप्मनो निर्मुच्येतेति एकैकं तस्य जुहुयात्, चिरमेव पाप्मनो निर्मुच्यते ; यं कामयेत ताजक् पाप्मनो निर्मुच्येतेति सर्वाणि तस्यानुद्रुत्य जुहुयात्, ताजगेव पाप्मनो निर्मुच्यते ; अथो खलु नानैव सूक्ताभ्यां जुहोति, नानैव सूक्तयोर्वीर्यं दधात्यथो प्रतिष्ठितौ” (५।४।५अ०) इति । ‘एकैकं’ मन्त्रहोमेन शनैः पापनिर्मेको भवति, सर्वसूक्तहोमेन तु तदानीमेव पापनिर्मेकः, पृथक्सूक्तद्वयेऽपि सामर्थ्यं पृथक् सम्पादितं भवति । अपि च सूक्तद्वित्वं यजमानस्य प्रतिष्ठायै सम्पद्यते, तस्मादयमेव पक्षः श्रेयानित्यर्थः ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

‘य इमा’ ‘सन्नुषो’ दाभ्यां सूक्ताभ्यामाहुतिद्वयम् ।

समुद्रेति जले होमो मन्त्राः सप्तदशेरिताः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

उदेनमुत्तरां नयाम्ने घृतेनाहुत । रायस्योषेण  
सःसृज प्रजया च धनेन च<sup>(१)</sup> । इन्द्रेमं प्रतरां कृधि  
सजातानामसहशी । समेनं वर्चसा सृज देवेभ्यो  
भागधा असत्<sup>(२)</sup> । यस्य कुर्मो हविगृहे तमग्ने वर्धया  
त्वं । तस्मै देवा अधिब्रवन्नयच्च ब्रह्मणस्पतिः<sup>(३)</sup> ।  
उदु त्वा विश्वे देवाः ॥ १ ॥

अग्ने भरन्तु चितिभिः\* । स नो भव शिवतमः सु-  
प्रतीको विभावसुः<sup>(४)</sup> । पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवी-  
रपामन्ति दुर्मन्ति बाधमानाः । रायस्योषे यज्ञपतिमा  
भजन्तीः<sup>(५)</sup> । रायस्योषे अधि यज्ञो अस्थात् समिद्धे  
अग्नावधि मामहानः । उक्थपच ईद्वो गृभीतस्तप्तं घर्मं  
परिगृह्णा यजन्त<sup>(६)</sup> । ऊर्जा यद्यज्ञमशमन्त देवा दैव्याय  
धर्चे जौष्ट्रे । देवश्रीः श्रीमणाः शतपथाः ॥ २ ॥

परिगृह्य देवा यज्ञमायन्<sup>(७)</sup> । सूर्यरश्मिर्हिरिकेशः  
पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाः अजस्रं । तस्य पूषा  
प्रसवं याति देवः सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः<sup>(८)</sup> ।  
देवा देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्य वीतः शमिचे शमिता  
यजध्वै । तुरीयो यज्ञो यच हव्यमेति ततः पावका  
आशिषो नो जुषन्तां<sup>(९)</sup> । विमान एष दिवो मध्य

आस्ते आपग्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षं । स विश्वाची-  
रभि ॥ ३ ॥

चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुं<sup>(१०)</sup> । उक्षा  
समुद्रो अरुणः सुपर्ण पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।  
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसः  
पात्यन्तौ<sup>(११)</sup> । इन्द्रं विश्वा अवीरुधन् समुद्रव्यचस-  
गिरः । रथीतमः रथीनां वाजानां सत्यंति पतिं<sup>(१२)</sup> ।  
सुमह्ययज्ञो देवाः आ च वक्ष्यक्षदग्निर्देवो देवाः  
आ च वक्षत्<sup>(१३)</sup> । वाजस्य ॥ ४ ॥

मा प्रसवेनोद्ग्राभेणोदग्रभीत् । अथासपत्नाः  
इन्द्रो मे निग्राभेणाधराः अकः<sup>(१४)</sup> । उद्ग्राभञ्च  
निग्राभञ्च ब्रह्म देवा अवीरुधन् । अथासपत्ना-  
निन्द्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यतां<sup>(१५)</sup> ॥ ५ ॥

विश्वे देवाः । शतपयाः । अभि । वाजस्य । षड्-  
विंशतिश्च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
तृतीयोऽनुवाकः ॥ \* ॥

द्वितीये वैश्वकर्मण्येहोमो विहितः ; अथ तृतीयोऽग्निप्रणयनमुच्यते ।  
कल्पः, उदेनमुत्तरां नयेति तिसृभिरौदुम्बरीः समिधो घृतोषिता-

स्तिष्ठ आधाय पशुबन्धवदग्निं प्रणयति' इति । तच्च प्रथमामाह—  
 “उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत । गायस्योषेण सष्टज प्रजया च  
 धनेन च<sup>(१)</sup>” इति । ‘घृतेन’ द्रव्येण ‘आहुत’ (सर्वतो ह्ययमानं)  
 हे ‘अग्ने’, ‘एन’ (यजमानम्) ‘उत्तराम्’ (अत्युत्कृष्टमैश्वर्यं) प्रति  
 ‘उत्’-‘नय’ (उत्कर्षेण प्रापय), ग्रीष्मं प्रापयेत्यर्थः । उत्कृष्टमैश्वर्यमेव  
 प्रपञ्चयते,—‘गायस्योषेन’ (धनसमृद्ध्या) ‘सष्टज’ (संयोजय) । तथा  
 ‘प्रजया’ पुत्रपौत्रादिरूपया, ‘धनेन’ गवाश्वादिरूपेण संयुज ।

अथ द्वितीयामाह,—“इन्द्रेमं प्रतरां हृदि सजातानामसदृशी ।  
 समेनं वर्चसा यज देवेभ्यो भागधा असत्<sup>(२)</sup>” इति । हे ‘इन्द्र’  
 (परमैश्वर्ययुक्त) अग्ने, ‘इमं’ (यजमानं) ‘प्रतरां’ ‘हृदि’ (अतिशयेन प्रकृतं  
 कुरु) । तदेव प्रकृतत्वं विश्वदीक्रियते,—‘सजातानां’ (सहेतात्पन्नानां  
 ज्ञातीनां) ‘वशी’ ‘अमत्’ (नियमनसमर्थो भवतु) । किञ्च ‘एनं’  
 ‘वर्चसा’ (बलेन) ‘सं’-‘युज’ । अयं यजमानः, ‘देवेभ्यः’ ‘भागधा’  
 ‘असत्’ (यज्ञेषु भागप्रदो भवतु) ।

अथ तृतीयामाह,—“यस्य कुर्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्द्धया-त्वं ।  
 तस्मै देवा अधिब्रवन्नयञ्च ब्रह्मणस्पतिः<sup>(३)</sup>” इति । वयमृत्विजः,  
 ‘यस्य’ (यजमानस्य) ‘गृहे’ ‘हविः’ ‘कुर्मः,’ हे ‘अग्ने,’ ‘त्वं’ ‘तं’ (यजमानं)  
 ‘वर्द्धय’ । ‘देवाः’ च ‘तस्मै’ (यजमानाय) ‘अधिब्रवन्’ (‘अयं  
 यजमानः सर्वेभ्योऽधिकः’ इति ब्रुवन्तु) । ‘अयञ्च’ (यजमानः)  
 ‘ब्रह्मणस्पतिः’ (वैदिकस्य कर्मणः पालको भवतु) ।

तानेतान् मन्त्रान् विनियुक्ते,—“उदेनमुत्तरां नयेति संमिध  
 आदधाति यथा जनं यतेऽवसं करोति तादृगेव तत्” (५।५।६ अ०)

इति । ‘यथा’ लोके दूरदेशे । ग्रामान्तरवर्त्तिनं प्रति ‘यते’ (गच्छन्ते) पुरुषाय ‘अवसं’ (मार्गरक्षाकरं पाथेयं सम्पादयति), तत् समिदाधानं प्रणेत्यमाणाग्रये ‘तादृगेव’ भवति ।

समित्सङ्ख्यां विधत्ते,—“तिस्र आदधाति त्रितृदा अग्निर्थावानेव अग्निस्रस्त्रै भागधेयं करोति” (५।४।६अ०) इति । आहवनीयादिभेदेन त्रिगुणत्वम् । . . .

समिद्वयं विधत्ते,—“त्रौदुम्बरीर्भवन्त्यूर्वा उदुम्बर ऊर्जमेवास्मा अपि दधाति” (५।४।६अ०) इति ।

कल्पः, ‘उदु त्वा विश्वे देवा इत्युख्यमुद्यम्य’ इति । पाठस्तु,—“उदु त्वा विश्वे देवाः अग्ने भरन्तु चितिभिः । स नो भव शिवतमः सुप्रतीको विभावंसुः<sup>(४)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘विश्वे’ (सर्वे) अपि ‘देवाः’ प्राणरूपाः ‘चितिभिः’ (उद्यमनकुशलाभिरिन्द्रियवृत्तिभिः), ‘उदु’ (ऊर्जमेव), ‘त्वां’ ‘भरन्तु’ (धारयन्तु) । ‘स’ त्वं ‘नः’ (अस्माकं) ‘शिवतमः’ (शान्ततमः), ‘सुप्रतीकः’ (सुमुखः), ‘विभावसुः’ (प्रभविता वासयिता च) ‘भव’ ।

अस्य मन्त्रस्य प्रथमपादे वैश्वदेवशब्दार्थं दर्शयति,—“उदु त्वा विश्वे देवा इत्याह प्राणा वै विश्वे देवाः प्राणैरेवैनमुद्यच्छक्ते” (५।४।६अ०) इति । दीव्यन्ति स्वस्वकार्येषु व्यवहरन्तीति ‘देवाः’ ‘प्राणाः’ । . . .

द्वितीयपादे अग्न्यादिशब्दान् परित्यज्य चितिशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्ने भरन्तु चितिभिरित्याह यस्मा एवैनं चिताय उद्यच्छक्ते तेनैवैनं समर्द्धयति” (५।४।६अ०) इति । चितिशब्देन



चित्तमाचगतेन\* 'चिन्म' (अभिप्रेतकार्यं) सूच्यते, तथा सति स्वस्मै कार्याय इदमुद्यमनं तेनैव कार्येण एवमग्निं समृद्धं करोति ।

कल्पः, 'पञ्च दिशो दैवीरिति पञ्चभिर्हरत्याग्नीध्रात्' इति । तत्र प्रथमामाह,—“पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः । रायस्योषे यज्ञपतिमा भजन्ति<sup>(५)</sup>” इति । इमाः प्राच्यादयः 'पञ्च दिशः' 'दैवीः' (इन्द्रयमादीनां सम्बन्धिन्यः) 'देवीः' (स्वयमपि देवतारूपाः) 'अमतिं' (अस्मदीयां प्रज्ञां) 'दुर्मतिं' (दुष्टां पापविषयां बुद्धिं) च 'अप'—'बाधमानाः' (त्रिनाशयन्त्यः) 'रायस्योषे' (धनसमृद्धौ) 'यज्ञपतिं' (यजमानम्) 'आ' (समन्तात्) सेवमाना इमं 'यज्ञं' 'अवन्तु' (रक्षन्तु) ।

अथ द्वितीयामाह,—“रायस्योषे अधि यज्ञो अस्यात् समिद्धे अग्नावधि मामहानः । उक्थपत्र ईदो गृभीतस्तप्तं धर्मं परिगृह्णा यजन्त<sup>(६)</sup>” इति । अयं 'यज्ञः' 'रायस्योषे' (धनसमृद्धौ) 'अधि' 'अस्यात्' (अधिकमवस्थितः सन् सर्वदा धनपुष्टिं ददातु इत्यर्थः) । कीदृशो यज्ञः?—'समिद्धे' (सम्यक् प्रज्वलितेऽग्नौ) 'अधि मामहानः' (अधिकं पुनः पुनः पूज्यमानः) । 'उक्थपत्रः',—'उक्थानि' (शस्त्राणि) 'पत्रं' (वाहनं) यस्य, असौ उक्थपत्रः । 'ईदो' स्तुत्यः, 'गृभीतः' (हृत्विग्यजमानैः परिगृहीतः) । ते च 'तप्तं' (प्रज्वलितं) 'धर्मम्' (अग्निं) 'परिगृह्ण' 'आ'—'यजन्त' (यजन्ति) ।

अथ तृतीयामाह,—“जर्जा यद् यज्ञमश्नन्त देवा दैव्याय धर्मे

\* 'चित्तिमन्त्रगतेन' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† अत्र 'भजन्तीः' (सेवमानाः) इति पाठो भवितुं युक्तः ।

जोषे । 'देवश्रीः श्रीमणाः शतपथाः परिगृह्य देवा यज्ञमायन्<sup>(७)</sup>' इति । 'देवाः' (दीव्यन्तो ब्रह्मरन्तः) अत्विग्यजमाना धात्रादिविशेषणैर्विशेषितपथ अग्नये 'यज्ञ' (यस्मिन् काले) 'जर्जा' (हविःस्वरूपेणाग्नेन) 'यज्ञम् अगमन्त' (शान्तं तुष्टिहेतुम् अकुर्वन्त), कीदृशायाग्नये ?— 'दैव्याय' (देवानां हिताय), 'धर्त्रे' (यागद्वारा जगतो धारयित्रे), 'जोषे' (अस्माभिर्दीयमानस्य हविषः सेवित्रे); तस्मिन् कालेऽयमग्निरीदृशो भवति, कीदृशः ? तदुच्यते ?— 'देवश्रीः',—देवानेव अयति हविर्वहनेनेति देवश्रीः, 'श्रीमणाः',—अयते सेवते इति श्रीयजमानस्तस्मिन्ननुग्रहरूपं मनो यस्यासौ श्रीमणाः, 'शतपथाः',—शतसङ्ख्याकानि पथःप्रभृतीनि हवींषि यस्यासौ शतपथाः । तादृशमग्निं 'परिगृह्य' 'देवा' अत्विग्-यजमानाः इमं 'यज्ञ' 'आयन्' (प्राप्नुवन्ति, अनुतिष्ठन्तीत्यर्थः) ।

अथ स्वतुर्थीमाह,—“सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयात् अजस्रं । तस्य पूषा प्रसवं याति देवः सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः<sup>(८)</sup>” इति । दारिद्र्यं हरतीति हरिर्हरिण्यं, हरिण्यवर्णाः केशस्थानीयाः शिखा यस्यासौ 'हरिकेशः' अग्निः, स च 'सूर्यरश्मिः' भूत्वा 'सद्भिना' (प्राणिनां तत्तद्भवहारेषु प्रेरकः) 'ज्योतिः' (मण्डलरूपः) सन् पूर्वस्थां दिशि 'अजस्रं' (प्रतिदिनम्) 'उदयात्' (उदेति); यस्मिन्नुदये सति 'पूषा' (पोषकः) सः 'देवः' 'तस्य' 'प्रसवं' (जगतः प्रेरणं) 'याति' (प्राप्नोति) । कीदृशो देवः ?—'गोपाः' (रक्षकः), क्वं कुर्वन् ? 'विश्वा' 'भुवनानि' (सर्वान् लोकान्) 'पश्यन्' (अवलोकयन्) ।

\* 'सम्पश्यन्' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ पञ्चमीमाह,—“देवा देवेभ्यो-अध्वर्यन्तो अस्थु वीतः शमित्रे शमिता यजथै । तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति ततः पावका आशिषो नो जुषन्ताम्<sup>(६)</sup>” इति । पशुबन्धरूपो यज्ञश्चतुर्भागः, तत्र उपाकरणान्तः प्रथमः, उपाकृतस्य शमित्रदेशे स्थितिर्दितीयः, यागार्थं यत् संस्कारं करोति स तृतीयः, हविःप्रदानान्तश्चतुर्थः । तदिदं भागचतुष्टयं क्रमेणात्राभिधीयते । ‘देवाः’ (सृत्विश्रजमानाः) ‘देवेभ्यः’ (हविः स्वीकर्तव्यः), ‘अध्वर्यन्तो’ (यागं कर्तुमिच्छन्तो) ‘अस्थु’ (तिष्ठन्ति, उपाकरणान्तमनुतिष्ठन्तीत्यर्थः) । तत ऊर्द्धं ‘शमित्रे’ ‘वीतं’ (शमित्र-देशे प्रापितं) पशुरूपं हविर्भवति । तत ऊर्द्धं ‘शमिता’ ‘यजथै’ (यागार्थं संस्करोति), स तृतीयः । उपरितनश्चतुर्थो यज्ञभागः, ‘यत्र’ (यस्मिन्) भागचतुष्टयोपेते यज्ञे ‘हव्यमेति’ (देवता हविः प्राप्नोति) । ‘ततः’ (तस्मात्) भागचतुष्टयोपेताद् यज्ञात् ‘पावकाः’ (आहवनीयादयोऽग्नयः) ‘नः’ (अस्मदीयाः) ‘आशिषः’ (अपेक्षितान् फलविशेषान्) ‘जुषन्तां’ (सम्पादयन्त्वित्यर्थः) ।

एषु मन्त्रेषु प्रथममन्त्रे प्रथमपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरित्याह दिशो ह्येषोऽनुप्रच्यवते” (५।४। ६ अ०) इति । ‘एषः’ यजमानः प्राच्याद्याः पञ्च दिशोऽनुक्रमेण यज्ञरक्षार्थं प्रेरयति ।

द्वितीयपादस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना इत्याह रक्षसामपहृत्य” (५।४। ६ अ०) इति । अमतेर्दुर्मतेश्च रक्षोभिः सम्पादितत्वात् तद्बाधेन रक्षांस्तेव अपहृतानि भवन्ति ।

तृतीयपादे रायस्योषश्चन्द्रेण विवक्षितार्थं दर्शयति,—“रायस्योषे

यज्ञपतिमाभजन्तीरित्याह पञ्चवो वै रायस्योषः पशून्मेवावरुन्धे”  
(५।४।६ अ०) इति ।

‘उडु त्वा विश्वे देवाः’ इत्यनेनोद्यमनमन्त्रेण सहितमुत्तरमन्त्र-  
पञ्चकं विनियुक्ते,—“मड्भिर्हरति षड्वा चतव चतुभिरेवैनं हरति”  
(५।४।६ अ०) इति ।

‘रायस्योषे अधिं यज्ञः’, ‘ऊर्जा यद्यज्ञम्’ इति मन्त्रद्वयं विशेषतः  
प्रशंसति,—“द्वे परिगृह्यवती भवतो रक्षसामपहत्यै” (५।४।६ अ०)  
इति । ‘परिगृह्यायजन्त’, ‘परिगृह्य देवा यज्ञमायन्’ इत्येवं  
परिगृह्यशब्दे ‘ययोर्द्धचोस्ते परिगृह्यवत्यौ । परिगृह्यः पृथक्-  
स्त्रीकारः, तेन यज्ञं विनाशयितुमसमर्थानि रक्षांसि स्वयमेवापहन्यन्ते ।

षट्षु मन्त्रेषु पञ्चममन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“सूर्यरश्मि-  
र्हरिकेशः पुरस्तादित्याह प्रसृत्यै” (५।४।६ अ०) इति । ‘पूषा प्रसवं  
याति’ इति तत्राभिधानादयं मन्त्रः प्रसृत्यै सम्पद्यते ।

षष्ठमन्त्रस्य चतुर्थपादे पावकशब्दतात्पर्यं दर्शयति,—“ततः  
पावका आग्निषो नो जुषन्तामित्याहान्नं वै पावकोऽन्नमेवावरुन्धे”  
(५।४।६ अ०) इति । अग्निवाचकः पावकशब्दस्तेन पच्यमानमन्नम्  
उपसृज्यते ।

कल्पः, ‘विमान एष दिवो मध्ये आस्त इति द्वाभ्यामाग्नीध्रे-  
ऽश्मानं निधाय’ इति । तत्र प्रथमायाह,—“विमान एष दिवो मध्ये  
आस्त आ पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षं । स विश्वाचीरभिं कृष्टे धृतासी-  
रन्तराः पूर्वमपरं च केतुम्<sup>(१)</sup>” इति । ‘एषः’ अश्मा ‘विमानः’ (विविधं  
जगन्निर्भिमाणः) सन् ‘दिवो मध्ये आस्तो’ (आग्नीध्रस्थानीयस्याकाशस्य

मध्ये तिष्ठति) । कीदृशोऽग्ना ? 'रोदसी' (धावापृथिवौ) 'अन्तरिक्षं'  
च 'आ'-पप्रिवान्' (सर्वतः पूरितवान्) । यद्यप्ययमग्ना न किञ्चित्  
जगन्निर्मिमीते, नापि लोकत्रयमापूर्य तिष्ठति, तथपि परमेश्वरगुणैरस्य  
स्त्रयमानत्वात् न कोऽपि विरोधः । 'सं' (तथा स्त्रयमानः) 'विश्वाचीः'  
(विश्वव्यापिनीः) दिशः 'अभि'-चष्टे' (सर्वतः प्रकाशयति) । तथा  
'घृताचीः' (घृतप्राप्तिहेतुभूताः) धेनूः 'अभि'-चष्टे' । तथा 'अन्तरा'  
(ब्रह्माण्डस्य) 'पूर्वमपरं' 'च' 'केतुम्' (उदयास्तमयाभ्यां पूर्वापरदिशो-  
श्चिह्नभूतं सूर्यम्) 'अभि'-चष्टे' ।

अथ द्वितीयामाह,—“उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं  
पितुरा विवेश । मध्ये दिवो निहितः पृश्निरग्ना विचक्रमे रजसः  
पात्यन्तौ<sup>(११)</sup>” इति । अयम् 'अग्ना' 'उक्षा' (मेघः), यागद्वारेण  
फलाभिवर्षक इत्यर्थः; 'समुद्रः' (वज्रफलप्रदत्वात् समुद्रसदृशः);  
'अरुणः' (पूर्वमन्त्रे सर्वप्रकाशकत्वेनोपचरितत्वात् सूर्यसदृशः); 'सुपर्णः'  
(स्वर्गं प्रत्युद्गमनहेतुत्वात् पक्षिसदृशः) । तथाविधः 'अग्ना' 'पितुः'  
(पालकस्य) पूर्वदिग्वर्तिन आहवनीयस्य 'योनिं' (कारणभूतम्) आग्नीध्रम्  
'आ-विवेश' (प्रविष्टवान्) । 'येषां दीक्षितानामाहवनीय उदायेत्  
(आग्नीधादुद्धरेत्)' इत्याहवनीययोनित्वमाग्नीध्रस्यान्यत्रास्मात् । 'अयं  
'पृश्निः' (श्वेतवर्णः) 'अग्ना' 'दिवः' 'मध्ये' 'निहितः' सन् 'रजसः'  
(रज्ज्वनीयस्य जगतः) 'अन्तौ' (उत्पत्तिप्रलयरूपं कोटिद्वयं) 'पाति'  
(परमेश्वररूपेण पालयति) ।

कल्पः, 'इन्द्रं विश्वा अवीरुधन्निति पतस्रभिरापुच्छद्गत्वा' इति ।  
तत्र प्रथमामाह,—“इन्द्रं विश्वा अवीरुधन् समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतम५

रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्<sup>(१९)</sup>” इति । ‘विश्वा’ ‘गिरः’ (सर्वा स्तुतयः) ‘इन्द्र’ (परमैश्वर्योपेतम्) अग्निं ‘अवीरुधन्’ (वर्द्धितवत्यः) । कीदृशमिन्द्रं?—‘समुद्रव्यचसं’ (समुद्रवज्रापिनि); ‘रथीतमं’ रथ एषाम् अंसीतिव्युत्पत्त्या रथिशब्देन राजामात्यादय उच्यन्ते, तेषां मध्ये अतिशयेन रथी रथीतमः, तं ; ‘वाजानां’ ‘पतिम्’ (अन्नानां पालकं); तथा ‘सत्पतिं’ (सन्मार्गवर्त्मियंजमानानां पालकम्) ।

अथ द्वितीयामाह,—‘सुखहृदयं देवाः आ च वत्सदग्निर्देवो देवाः आ च वत्स<sup>(१९)</sup>” इति । ‘सुखस्य’ (प्रजापत्यरूपस्य सुखस्य) आकाशात् संप्राप्तयिता; ‘यज्ञः’ ‘च’ ‘देवान्’ ‘आ’-‘वत्सत्’ (आवहतु) । ‘यत्सदग्निः’ ‘च’ (पूर्वोक्ताग्निरपि) ‘देवान्’ ‘आ’-‘वत्सत्’ (आह्वयतु) ।

अथ तृतीयामाह,—‘वाजस्य मा प्रसवेनोद्ग्राभेणोदयभीत् । अथा सपत्न्या इन्द्रो मे निग्राभेणाधराः अक्रः<sup>(१९)</sup>” इति । ‘इन्द्रः’ (परमैश्वर्ययुक्तः) अग्निः ‘वाजस्य’ (अन्नस्य) प्रसूतिनिमित्तेन ‘उद्ग्राभेण’ (उद्गृहणसामर्थ्येन) मां यजमानं ‘उदयभीत्’ (उत्कर्षं प्रापितवान्) । ‘अथ’ (अनन्तरं) ‘इन्द्रः’ (परमैश्वर्ययुक्तः) अयमग्निः ‘निग्राभेण’ (निग्रह-सामर्थ्येन) ‘मे’ ‘सपत्न्यान्’ ‘अधरान्’ ‘अक्रः’ (निगृहीतान् करोतु) ।

अथ चतुर्थीमाह,—‘उद्ग्राभञ्च निग्राभञ्च ब्रह्म देवा अवीरुधन् । अथासपत्न्यानिद्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यताम्<sup>(१९)</sup>” इति । ‘देवाः’ सर्वे ‘ब्रह्म’ (परिवृढाः) ‘उद्ग्राभं’ (अस्मदीयमुत्कर्षं) ‘निग्राभं’ ‘च’ (वैरिणो निकर्षञ्च) ‘अवीरुधन्’ (वर्द्धितवन्तः) । ‘अथ’ (अनन्तरं) ‘इन्द्राग्नीः’ ‘विषूचीनान्’ (सर्वतः पलायमानान्) ‘मे’ ‘सपत्न्यान्’ (वैरिणः) ‘व्यस्यतां’ (विनाशयताम्) ॥

अथ विनियोगसङ्ग्रहः ।

‘उत्’ त्रिभिः समिधो दध्यात् उदुर्वीद्यच्छतेऽनलम् ।

पञ्चेति पञ्चभिर्हत्वा ‘वि’द्वाभ्यामश्मनः स्थितिः ॥ ”

‘इन्द्र’ चतुर्भिरापुष्काङ्गच्छेत्, पञ्चदशेरिताः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥ ० ॥

आशुः शिशानो वृषभो न युधो घनाघनः श्लोभण-  
श्वर्षणीनां । सङ्गन्द्नेनाऽनिमिष एकवीरः शतः सेना  
अजयत् साकमिन्द्रः<sup>(१)</sup> । सङ्गन्द्नेनानिमिषेण जिष्णुना  
युत्कारेण दुश्श्ववनेन धृष्णुना । तदिन्द्रेण जयत् तत्  
संहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्ट्या<sup>(२)</sup> । स इषुहस्तैः  
स निषङ्गिभिर्वशी सः स्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन । सः-  
सृष्टजित् सोमपा बाहुशर्द्धीर्द्धधन्वा प्रतिहिताभिर-  
स्ता<sup>(३)</sup> । वृहस्पते परिदीय ॥ १ ॥

रथेन रक्षोहामिवाः अपबाधमातः । प्र-  
भञ्जन्त्सेना प्रमृणो युधा जयन्त्समाकमेध्वविता रथा-  
नां<sup>(४)</sup> । गोचभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमजम प्रमृणन्त-  
मोजसा । इमः सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रः सखायो-

ऽनु संश्रभध्वं<sup>(५)</sup> । बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सह  
स्वान् वाजो सहमानं उग्रः । अभि वीरो अभि सत्त्वा  
सुहोजा जैत्रिमिन्द्ररथमा तिष्ठ गोवित्<sup>(६)</sup> । अभि गोचाणि  
सहसा गाहमानोऽदायः ॥ २ ॥

वीरः शतमन्युरिन्द्रः दुश्श्रवणः पृतनाषाडयुध्यो-  
ऽस्माकं सेना अवतु प्रयुत्सु<sup>(७)</sup> । इन्द्र आसानेता वृह-  
स्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः देवसेनानामभि-  
भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्ने<sup>(८)</sup> । इन्द्रस्य  
वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुताः शङ्ख उग्रं ।  
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुद-  
स्थात्<sup>(९)</sup> । अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या  
इषवस्ता जयन्तु ॥ ३ ॥

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्वस्मानु देवा अवता  
ह्वेषु<sup>(१०)</sup> । उर्द्ध्वय मघवन्नायुधान्युत्सवनां मामकानां  
महाशसि । उद्वृचहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रयानां  
जयतामेतु घोषः<sup>(११)</sup> । उपप्रेत जयता नरः स्थिरा वः  
सन्तु ब्राह्मवः । इन्द्रो वः शर्म यच्छत्वनाधृष्या यथा-  
ऽसथ<sup>(१२)</sup> । अवस्तृष्टा परा पतं शरव्ये ब्रह्म सशिता  
गच्छामिन्नान् प्र ॥ ४ ॥

विशमैषां कञ्चनोच्छिषः<sup>(१३)</sup> । मर्माणि ते वर्मभि-



म्हादयामि सोमत्वा राजावृतेनाभिवंस्तां । उरो-  
वरीयो वरिवस्ते अस्तु जयन्त त्वामनुमदन्तु देवाः<sup>(१४)</sup> ।  
यच्च वाणाः सम्पतन्ति कुमारं विशिखा इव । इन्द्रो  
नस्तच्च वृत्रहा विश्वाहा शर्म यच्छतु<sup>(१५)</sup> ॥ ५ ॥

दीय । दायः । जयन्तु । अमित्रान् प्र । चत्वारिंशच्च  
॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
चतुर्थोऽनुवाकः ॥ \* ॥

ततोयेऽग्निप्रणयनमुक्तम् ; अथाप्रतिरथसूक्तमुच्यते । कल्पः, 'आशुः  
शिश्नान इति दक्षिणतो ब्रह्मा दशर्चेनाश्वेति, मैत्रावरुणः प्रतिप्रस्थातौ'  
इति । तत्र प्रथमामाह,—“आशुः शिश्नानो वृषभो न युभो घना-  
घनः क्षोभणश्चर्षणीनां । सङ्क्रन्दनेऽग्निमिष एकवीरः शतं सेन  
अजयत् साकमिन्द्रः<sup>(१)</sup>” इति । अयम् 'इन्द्रः' (परमैश्वर्योपेतः) 'शतं'  
'सेनाः' (शतसङ्ख्याकाः परकीया सेनाः) 'साकम्' (एकप्रयत्नेन)  
'अजयत्' । कीदृशः इन्द्रः ? 'आशुः' (शीघ्रकारी); 'शिश्नानः' (तीक्ष्णः),  
अत्युग्र इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः, 'वृषभो न युभः' (यथा वृषभो  
वृषभान्तरेण योद्धुमुत्सहते तददयमपि); 'घनाघनः' (अतिशयेन  
शत्रूणां हिंसकः, धातकः); 'चर्षणीनां' (परसेनागतमनुश्याणां) 'क्षोभणः'\*

\* 'क्षोभकः' इति सर्वत्र पाठो न सम्यक्

(सोभहेतुः); 'सङ्क्रन्दनः' (समीचीनं क्रन्दनं परंभयहेतुर्ध्वनिर्यस्य, स सङ्क्रन्दनः); 'अनिमिषः' (कदाचिदपि निमेषं न करोति), अत्यन्तसावधान इत्यर्थः । \*परानपेक्षेण स्वयं एक एव जेतुं समर्थः, शूरः ।

अथ द्वितीयामाह,—“सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्श्रवणेन धृष्णुना । तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृक्षा<sup>(१)</sup>” इति । 'युधः' (युद्धार्थिनः) हे 'नरः' (मनुष्याः), 'इन्द्रेण' अनुगृहीताः सन्तः 'तत्' (परबलं) 'जयत' (वशीकुरुत); वशीकृत्य च 'तत्' 'सहध्वं' (अभिभवत) विनाशयतेत्यर्थः । कीदृशेन 'इन्द्रेण'? 'सङ्क्रन्दनेन,' 'अनिमिषेण' (पूर्ववद्वाक्येयम्); 'जिष्णुना' (जयशीलेन); 'युत्कारेण' (युद्धकारिणा); 'दुश्श्रवणेन' (द्यावयितुं दुःश्रवणेन); 'धृष्णुना' (भीतिरहितेन); 'इषुहस्तेन' (वाणाद्यायुधोपेतेन); 'वृक्षा' (कामवर्षकेण) ।

अथ तृतीयामाह,—“स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सः स्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन । सः स्रष्टजित् सोमपा बाहुशर्द्धा ऊर्ध्वधन्वा प्रतिहि-  
ताभिरस्ता<sup>(१)</sup>” इति । इषवो येषां हस्तेषु ते इषुहस्ताः, तैः साकं 'स' (इन्द्रः) 'वशी' (परबलं स्ववशं करोति), 'निषङ्गिभिः' (खड्गहस्तैः) साकं 'सः' (इन्द्रो) 'वशी', स्वकीयैर्धानुष्कैः खड्गहस्तैश्चोपेतत्वात् परसैन्यं वशीकरोतीत्यर्थः । यदा परसैन्यगतैर्धानुष्कैः खड्गहस्तैश्च सहितं तद् वशीकरोति । 'स' 'इन्द्रः' 'युधः' (योद्धा) सन् 'गणेन' (परकीयभटसमूहेन) 'संश्रष्टा' (सहसा गत्वा सज्यं) मिश्रितो भवति),

मिश्रीभूय च ये खेन संसृष्टास्तान् सर्वान् जयतीति 'संसृष्टजित्' ।  
 \*यजमानानां यागेषु सोमं पिबति; अत एव 'भाऊशर्द्धी'  
 (बाऊबलोपेतः); 'ऊर्द्धधन्वा' (निरन्तरमुद्यतधनुष्कः) । 'प्रतिहिताभिः'  
 (तेन धनुषा प्रेरिताभिः) इषुभिः 'अस्ता' (क्षेप्ता), विनाशयतीत्यर्थः ।

अथ चतुर्थीमाह,—“बृहस्पते परिदीय । रथेन रक्षोहामित्राः  
 अपबाधमानः । प्रभञ्जत्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्स्माकमेधि अविता  
 रथानाम्<sup>(४)</sup>” इति । 'बृहत्' वाक्, तस्याः पालको बृहस्पतिरिन्द्रः ;  
 अत एव शाखान्तरे समान्नातम्, 'वाग्वै बृहत्तस्या एष पतिस्त्वाद्  
 बृहस्पतिरेष' इति । व्याकरणकर्तृत्वमिन्द्रस्य वाक्पतित्वं । तच्चान्यत्र  
 आन्नातम्, 'ते देवा इन्द्रमश्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति' इति ।  
 तथाविध हे इन्द्र, त्वं 'रथेन' 'परिदीय' (सर्वतो गच्छ) । कीदृश  
 इन्द्रः ?—'रक्षोहा' (रक्षसां हन्ता); 'अमित्रान्' (शत्रून्) 'अपबाधमानः'  
 (यथाऽपयन्ति तथा बाधमानः); 'सेनाः' परकीयाः "प्रभञ्जन्"  
 (प्रकर्षेण भग्नाः कुर्वन्); 'प्रमृणः' (प्रकर्षेण हिंसकः); 'युधा' (युद्धेन)  
 'जयन्' (सर्वत्र विजयमानः); 'अस्माकम्' (अस्मादीयानां) 'रथानां'  
 'अविता' 'एधि' (रक्षको भव) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“गोचभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म  
 प्रमृणन्तमोजसा । इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायोऽनु  
 सूरभध्वम्<sup>(५)</sup>” इति । हे 'सजाताः' (समानजन्मानः अस्मादीया  
 ज्ञातयः), यूयम् 'इमं' 'इन्द्रं' 'अनु-वीरयध्वं',—अयमिन्द्रः पुरतः वीरः  
 (शूरः) अभवत्, पश्चाद् यूयं शूरा भवत । हे 'सखायः'; 'इन्द्रम्'

\* अत्र 'सोमया' इति पाठः पतित इव प्रतिभाति ।

अनुसंभवं,—इन्द्र\* पुरते युद्धं सम्यगाभरतां, पश्चाद्भवन्त आरभन्ता ।  
 कीदृशमिन्द्र?—‘गोत्रमिद्रं’ (‘गोत्रान् पर्वतान् भिनन्ति तदीयपक्षा-  
 म्बिन्दन्तीति गोत्रमित्, तं), गां भूमिं विन्दते लभते इति गोवित्,  
 तं ‘गोविदं’, वज्रो बाहौ यस्य स ‘वज्रबाहुः’, तं, ‘अज्म’ ‘जयन्तं’  
 (भूमिराहित्यं अत्रूणां यथा भवति, तथा विजयमानं), ‘ओजसा’  
 (बलेन) ‘प्रमृणन्तं’ (प्रकर्षणे हिंसन्तम्) ।

अथ षष्ठीमाह,—“बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी  
 सहसान् उग्रः । अभिवीरो अभिसत्त्वा सहेजा जैत्रमिन्द्र रथमा  
 तिष्ठ गोवित्<sup>(१)</sup>” । हे ‘इन्द्र’, त्वं ‘जैत्रं’ (जयनशीलं) ‘रथम् आ तिष्ठ’  
 (आरोह) । कीदृशस्त्वं ? (बलं परकीयसामर्थ्यं विजानातीति) ‘बल-  
 विज्ञायः’, ‘स्थविरः’ (पुरातनः), ‘प्रवीरः’ (शूरैष्वप्यतिशूरः),  
 ‘सहस्वान्’ (बलवान्), ‘वाजी’ (अन्नवान्), ‘सहमानः’ (परेषाम् अभि-  
 भविता), ‘उग्रः’ (युद्धेषु क्रूरः), (अभितो वीरा शूरभटा यस्यासौ)  
 ‘अभिवीरः’, (अभितः सत्त्वानः परिचारका यस्यासौ) ‘अभिसत्त्वा’,  
 (सहसो, बलाज्जातः) ‘सहेजाः’, बलाधिक इत्यर्थः ; (गां भूमिं  
 विन्दते, लभते इति) ‘गोवित्’ ।

अथ सप्तमीमाह,—“अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदायः  
 वीरः शतमन्युरिन्द्रः । दुश्शवनः पृतनस्वाडयुधोऽस्माकं सेना अवतु  
 प्र युत्सु<sup>(२)</sup>” इति । अथम् ‘इन्द्रः’ ‘प्र युत्सु’ (प्रकृष्टेषु युद्धेषु)  
 ‘अस्माकं’ ‘सेनाः’ ‘अवतु’ । कीदृशः इन्द्रः ? ‘अभि’ (सर्वतोऽव-  
 स्थितान्नि) ‘गोत्राणि’ (युद्धक्षेत्राणि) ‘सहसा’ (शीघ्रं) ‘गाहमानः’

\* ‘इन्द्रः’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

(प्रविशन्), 'अदायः' (दायारहितः\*), 'गीरः' (शूरः), 'शतमन्युः' (विविधकोधयुक्तः), 'दुश्यवनः' (ध्यावयितुं दुःशक्यः), 'पृतनाषाट्' (परकीयसेनानामभिभविता), 'अयुध्यः' (केनापि योद्धुमशक्यः) ।

अथाष्टमीमाह,—“इन्द्र आसां नेता वृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः । देवसेनानामभिभञ्जनीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वये(८)” इति । याः सेना अस्मदनुग्रहार्थं गच्छन्ति 'आसां' 'इन्द्रः' 'नेता' भवतु । यः 'वृहस्पतिः', या च 'दक्षिणा' देवी, यश्च 'यज्ञः', यश्च 'सोमः', एतेषामेकैकः पुरतो गच्छतु । यास्यैतत्सम्बन्धिन्यो देवसेनाः परबलमभिभञ्जयन्त्यो जयन्ती, तासाम् 'अये' 'मरुतः' 'यस्तु' ।

अथ नवमीमाह,—“इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुताः शर्द्धं उग्रं । महामनसां भुवनचवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्(९)” इति । 'वृष्णः' (कामाभिवर्षिणः), 'इन्द्रस्य', 'राज्ञः' (राज्यं कुर्वतः), 'वरुणस्य' 'शर्द्धः' (बलम्) 'उग्रं' (युद्धेषु अतितीव्रं), 'महामनसां' (युद्धे स्थिरचित्तानां), 'भुवनचवानां' (शत्रून् भुवनेभ्यश्चरावयितुं समर्थानां), 'जयतां', 'देवानां' 'घोष'—ध्वनिं 'उदस्थात्' (सर्वत उत्थितोऽभूत्) ।

अथ दशमीमाह,—“अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मानु देवा अक्ता हवेषु(१०)” इति । 'युद्धार्थं' परसैन्येषु सम्यक् प्राप्तेषु सत्सु 'अस्माकम्'

\* एवंमेव सर्वत्र पाठः । दायरहितः इति पाठो भवितुं युक्तः ।

† 'जयन्त्ये' इति 'जयन्ति' इति वा पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ 'घोषो ध्वनि' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‘इन्द्रः’ रक्षिता भवत्विति शेषः । तदानीम् ‘अस्माकं’ ‘या’ ‘इषंवः’ अस्मदीयैर्मुक्ताः, ‘ता जयन्तु’ (परसैन्यानि विध्यन्तु); ‘अस्माकं’ ये ‘वीराः’ (भटाः), ते ‘उत्तरे’ ‘भवन्तु’ (परकीयभटेभ्य अधिका भवन्तु); ‘देवाः’ ‘हवेषु’ (युद्धेषु) ‘अस्मान्’ एव ‘अवत’ (अवन्तु रक्षन्तु\*) । इत्थं दशैवम् अप्रतिरथसूक्तं समाप्तम् । •

अथ तत्रैव विकल्पिताः षड्च उच्यन्ते । तत्र प्रथमामाह,—  
 “उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सवनां मामकानां महांसि । उद्धृचहन्  
 वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतामेतु घोषः<sup>(११)</sup>” इति । हे  
 ‘मघवन्’ (इन्द्र), ‘आयुधानि’ अस्मदीयानि ‘उद्धर्षय’ (परकीयेभ्य  
 उक्तृष्टानि कृत्वा अस्मान् हर्षय), ‘मामकानां’ (मदीयानां) ‘सवनां’  
 (प्राणिनां) ‘महांसि’ (तेजांसि) ‘उत्’-कृष्टानि कृत्वा तान् हर्षय । हे  
 ‘वृचहन्’, ‘वाजिनाम्’ अस्मदीयानाम् (अश्वानां) ‘वाजिनानि’ (शीघ्र-  
 गमनानि) ‘उत्’-कृष्टानि कृत्वा हर्षय । ‘जयतां’ (विजयं प्राप्नुवतां)  
 ‘रथानाम्’ अस्मदीयानां ‘घोषः’ (महान् ध्वनिः) ‘उत्’-‘एतु’  
 (उज्जच्छतु) ।

अथ द्वितीयामाह,—“उप प्रेत जयतां नरः स्थिरा वः सन्तु  
 बाहवः । इन्द्रो वः शर्म यच्छत्वनाष्टव्या यथाऽमथ<sup>(१२)</sup>” इति ।  
 हे ‘नरः’ (अस्मदीयाः पुरुषाः), ‘उप प्रेत’ (परसैन्यसमीपे प्रकर्षेण  
 गच्छत) । तैतः ‘जयतां’ (विजयं प्राप्नुवतां) ‘वः’ (युष्माकं) ‘बाहवः’  
 स्वकीयायुधैः प्रहरणेषु ‘स्थिराः’ ‘सन्तु’ । ‘यथा’ यूयम् ‘अनाष्टव्याः’

\* (अवतु रक्षतु) इति पाठो न सम्भक् ।

‘असथ’ (केनाप्यतिरस्कृत्या भवथ), तद्याज्यम् ‘इन्द्रः’ ‘वः’ (युष्माकं) ‘शर्म’ ‘यच्छतु’ (ददातु) ।

अथ तृतीयामाह,—“अवसृष्टा परा पत शरथे ब्रह्मसंज्ञिता गच्छामिचान् प्र विश्व मैषां कञ्चनोच्छिषः<sup>(१९)</sup>” इति । हिंसका हेतिः शरथा, हे शरथे, ब्रह्मणा ‘संज्ञिता’ (तीक्ष्णीकृता) त्वं ‘अवसृष्टा’ (अस्माभिर्मुक्ता) सती ‘परा’-‘पत’ (सहस्र परमैव्ये पतिता भव), पतित्वा च ‘अमिचान्’ ‘गच्छ’ (प्राप्नुहि), प्राप्य च ‘प्र-विश’ (एतेषां शरीरमध्ये प्रवेशं कुरु), प्रविश्य च ‘एषां’ मध्ये ‘कञ्चन’ पुरुषं मा ‘उच्छिषः’ (अवशिष्टं मा कुरु) सर्वानपि जहीत्यर्थः ।

अथ चतुर्थीमाह,—“मर्माणि ते वर्मभिश्चादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनाभि वस्त्रां । उरोर्वरीग्रो वरिवस्ते अस्तु जयन्तं त्वामनु मदन्तु देवाः<sup>(१५)</sup>” इति । हे यजमान, ‘ते’ (तव) ‘मर्माणि’ ‘वर्मभिः’ (कवचैः) ‘चादयामि’, ‘सोमः’ ‘राजा’ त्वां ‘अमृतेन’ (मरण-निवारकेण) केनापि कवचविशेषेण ‘अभि वस्त्रां’ (अभित आच्छादयतु), ‘ते’ (तव) ‘वरिवः’ (धनं) ‘उरोर्वरीयः’ ‘अस्तु’ (अदीयात्<sup>(?)</sup>) अधिकादयत्यन्तमधिकमस्तु । ‘जयन्तं’ (विजयं प्राप्नुवन्तं) ‘त्वां’ ‘अनुमदन्तु’ (अनुकूला भूत्वा हृष्यन्तु) ।

अथ पञ्चमीमाह,—“यच वाणाः सम्यतन्ति कुमारा विशिखा इव । इन्द्रो नस्तच वृचद्वा विश्वाहा शर्म यच्छतु<sup>(१५)</sup>” इति । ‘यच’ (यस्मिन्) युद्धे ‘वाणाः’ परैर्मुक्ताः ‘सम्यतन्ति’ (इतश्चेतश्च सम्भूय पतन्ति), तच्च दृष्टान्तः,—‘कुमारीः विशिखा इव’ (मुण्डितशिरस्का\* विशीर्ण-

\* अथ ‘यथा मुण्डितशिरस्काः’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

केना वा अत्यन्तबालाश्लपलाः सन्त इतश्चेतश्च गच्छन्ति तदन्तं ।  
 'तत्र' युद्धे अयम् 'इन्द्रः' 'विश्राहा' (परकीयसर्वप्राणिघाती), 'वृषहा'  
 (विशेषतो वैरिघाती) सन् 'नः' (अस्मभ्यं) 'शर्म' 'यच्छतु' ।

“आहुः शिशान् इत्येतत् सूक्तं विनियुक्ते,—“देवासुराः संयन्ता  
 आसन् ते देवा एतदप्रतिरथमपश्यन् तेन वै ते अपत्यसुरानजयन्  
 तदप्रतिरथस्याप्रतिरथत्वं यदप्रतिरथं द्वितीयो होतान्वाहाप्रत्येव तेन  
 यजमानो भ्रातृव्यान् जयत्यथो अनभिजितमेवाभिजयति” (५।४।  
 ६.अ०) इति । यदा देवाश्च असुराश्च युद्धाय उद्यतास्तदानीं 'देवाः'  
 विजयप्रदत्वेन अप्रतिरथाख्यमेतत् सूक्तम् 'अपश्यन्'; 'तेन' एव देवा  
 निवार्य\* लौकिको 'यजमानः' सर्वान् 'भ्रातृव्यान्' प्रतिकूलराक्षित्यं  
 यथा भवति तथैव 'जयति' । अपि च पूर्वम् 'अनभिजितम्' अपि  
 धनं देशविशेषं वा सर्वथा 'अभिजयति' एव ।

सूक्तमन्त्रसङ्ख्यां विधत्ते,—“दशर्चं भवति दशाक्षरा विराड् वि-  
 राजा इमौ लोकौ विधृतावनयोर्लोकयोर्विधृत्या अथो दशाक्षरा  
 विराडन्नं विराड् विराज्येवान्नाद्ये प्रतितिष्ठति” (५।४।६.अ०) इति ।  
 अस्मिन्ननुवाके समान्नातानाम् 'उद्धर्षय' इत्यादिपञ्चानां विकल्पार्थत्वात्  
 सूक्तगता ऋचो दशैव सम्पद्यन्ते । विराट्कन्दसो दशाक्षरत्वात् तस्य  
 कन्दसः सामर्थ्येनैव लोकयोर्विधृतत्वात् तयोर्विधृत्यर्थमिदं दशर्चं  
 सूक्तं सम्पद्यते । अपि च दशाक्षरस्य विराट्कन्दसोऽनष्टेतुत्वेन  
 अन्नत्वादशसङ्ख्याद्वारा तस्मिन् अन्नाद्ये प्रतितिष्ठति\* ।

\* 'असुरान् अजयन्'—इत्यादिरूपः कश्चित् पाठोऽत्र पतित इव  
 प्रतिभाति ।



अथ पूर्वाणुवाकेतक-‘विमान’-इत्यादिमन्त्रद्वयसाध्यमग्निभावं विधत्ते,—“असदिव वा अन्तरिक्षं अन्तरिक्षमिवाग्नीध्रमाग्नीध्रेऽग्निमानं निदधाति सत्त्वाय” (५।४।६ अ०) इति । भूमिवन्मूर्त्तस्वरूपाभावात् इदमन्तरिक्षम् अविद्यमानसदृशं भवति, अन्तरिक्षसदृशं चाग्नीध्रं, हविर्धानश्चक्रलशरग्रहसादनादीनामभावेन शून्यत्वप्रतिभानात्, अतः शून्यत्वनिवारणेन च सुसङ्गावाय तत्रापि कश्चित् ‘अग्निमानं’ निदधात् ।

मन्त्रद्वित्वं प्रशंसति,—“द्वाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।४।६ अ०) इति ।

प्रथममन्त्रे विमानश्चदतात्पर्यं दर्शयति,—“विमान एष दिवो मध्ये आसत इत्याह व्यैतया मिमीते” (५।४।६ अ०) इति । ‘एतया’ च्चत्वा पूर्वं शून्यम् आग्नीध्रं वस्तुविशिष्टं यथा भवति तथा ‘मिमीते’ ‘एव’ (प्रमितं करोत्येव) ।

द्वितीयमन्त्रे पृश्निश्चदतात्पर्यं दर्शयति,—“मध्ये दिवो निहितः पृश्निरग्नेत्याहान्नं वै पृश्नि अन्नमेवावर्त्तन्ते” (५।४।६ अ०) इति । पक्वं शाल्यस्त्रं श्वेतं भवति, अतः “श्वेतेनाग्निना तादृशमन्नं प्राप्नोति ।

‘इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्’ इत्यादिमन्त्रचतुष्टयसाध्यं गमनं विधत्ते,—“चतस्रभिरापुच्छादेति चत्वारि कन्दाऽसि कन्दोभिरेव” (५।४।६ अ०) इति । आग्नीध्रान्निर्गत्य पुच्छपर्यन्तमेतैर्मनैर्गच्छेत् । गायत्र्यादीनां मुख्यच्छन्दसां चतुष्टयात् मन्त्रसङ्ख्यायाः, कन्दोभिरेत युक्तः सन् गतवान् भवति ।

प्रथममन्त्रस्य प्रथमपादे अवीवृधन्निति पदस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्नित्याह वृद्धिमेवोपावर्त्तते” (५।४।६ अ०) इति ।

• तत्रैव चतुर्थपादे वज्रशब्दतात्पर्यं दर्शयति,—“वाजानां सत्यं पतिमित्याहानं वै वाजोऽन्नमेवावस्ते” (५।४।६ अ०) इति ।

• द्वितीयमन्त्रे सुन्नशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“सुन्नह्यन्नो देवाः आ च वचदित्याह प्रजा वै पशवः सुन्नं प्रजामेव परूनात्मन्धत्ते” (५।४।६ अ०) इति ।

• त्रिसिन्नेव मन्त्रे उत्तरभागस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“यत्तदग्निर्देवो देवाः आ च वचदित्याह स्वगाकृत्यै” (५।४।६ अ०) इति । ‘देवान् आ च वचत्’ इत्युक्त्वा तान् देवान् स्वगतान् स्वाधीनान् करोति ।

• तृतीयमन्त्रगतयोरुद्गाभनियामशब्दयोस्तात्पर्यं दर्शयति,—“वाजस्य मा प्रसवेनोद्गाभेणोदग्रभीदित्याह अमौ वा आदित्य उद्यन्तुद्गाभ एष निन्नोचन्निगामो ब्रह्मणैवात्मानमुद्गृह्णाति ब्रह्मणा भ्रातृव्यं निगृह्णाति” (५।४।६ अ०) इति । ऊर्द्धग्रहणवाचिना उद्गाभशब्देन उद्गृह्णन् निगामशब्देन अधो गच्छन् असावादित्यो लक्ष्यते, अतस्तदुभयप्रतिपादकेन मन्त्रेण स्वात्मानम् ‘उद्गृह्णाति’, (उत्कर्षं प्रापयति,) स्वभ्रातृव्यं ‘निगृह्णाति’ (नियतं प्रापयति) ॥

अत्र विनियोगसङ्ग्रहः ।

अग्रुरित्यप्रतिरथं होतान्वाह दशर्चकं ।

उद्धर्षति विकल्पार्था मन्त्राः पञ्चदशेरिताः ॥ इति ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥

प्राचीमनु॑ प्रदि॒शं॑ प्रेहि॑ वि॒द्वान्मेरे॑मे पुरो॑ अग्नि-  
 र्भवे॒ह । विश्वा॑ आशा॒ दीद्या॑नो॒ वि भा॒ह्मजं॑ नो धेहि॑  
 द्विपदे॑ चतु॒ष्पदे॑<sup>(१)</sup> । क्रम॑ध्वम॒ग्निना॑ नाक॒मुख्यः॑ हस्तेषु  
 विभ्र॑तः । दिवः॑ पृ॒ष्ठः सुव॑र्ग॒त्वा मि॒श्रा दे॒वेभिरा॑ध्वं<sup>(२)</sup> ।  
 पृथि॒व्या अ॒हमुद॑न्तरि॒क्ष्मां रु॒हम॑न्तरि॒क्षा दि॒वमा॑रु॒हं ।  
 दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात्सु॑व॒र्ज्योति॑रगां ॥ १ ॥

अ॒हं<sup>(३)</sup> सु॒व॒र्यन्तो॑ नापेक्षन्त॒ आ द्याः॑ रो॒हन्ति॑ रोद॑सी ।  
 य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑ धार॒ः सुवि॑द्वाः॒ सो वि ते॑ निरे<sup>(४)</sup> ।  
 अ॒ग्ने प्रेहि॑ प्रथ॒मे दे॒वय॑तां चक्षु॒र्दे॒वाना॑मु॒त म॒र्त्यानां॑ ।  
 इ॒यक्ष॑माणा भृ॒गुभिः॑ स॒जोषाः॑ सु॒व॒र्यन्तु॑ यज॑मानाः  
 स्व॒स्ति<sup>(५)</sup> । नक्तो॑षासा॒ सम॑नसा॒ विरू॑पे धा॒पये॑त॒  
 शिशु॑मेकः॒ समी॑ची द्यावा क्षा॒मा रु॒क्मो अ॒न्तर्वि॑ भा॒ति  
 दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयं द्रवि॒णोदाः॑<sup>(६)</sup> । अ॒ग्ने सह॑साक्ष ॥ २ ॥

श॒तम॑र्द्धं॒ ज्य॒तं ते॑ प्रा॒णाः स॒हस्र॑मपा॒नाः । त्वः॑ सा॒-  
 ह॒स्रस्य॑ रा॒य ई॒शिधे॑ तस्मै॒ ते वि॑धेम॒ वाजा॑य॒ स्याहा॑<sup>(७)</sup> ।  
 सु॒प॒र्णोऽसि॑ ग॒रु॒त्मान् पृथि॒व्याः सो॑द पृ॒ष्ठे पृथि॒व्याः  
 सो॑द<sup>(८)</sup> भा॒सान्तरि॑क्ष्मा पृ॒ण ज्योति॑षा दि॒वमु॑त्त॒र्भां न॒  
 तेज॑सा दि॒शु ऋ॒हः॑ ह<sup>(९)</sup> । अ॒जु॒ह्वानः॑ सु॒प्रती॑कः पुर-  
 ता॒द॒ग्ने स्वां॑ योनि॒मा सो॑द सा॒ध्म्य अ॒स्मिन्स॒धस्थे॑  
 अ॒धुत्तर॑स्मिन् वि॒श्वे दे॒वाः ॥ ३ ॥

यजमानश्च सीदत्<sup>(१०)</sup> । प्रेङ्क्षो अग्नि दीदिहि पुरो  
 नेऽजस्रया सूर्या यविंष्ठ । त्वाः शश्वन्त उप यन्ति  
 वाजाः<sup>(११)</sup> । विधेम ते परमे जन्मन्मने विधेम स्तोमैः  
 रवरे सधस्ये । यस्माद्योनेरुदारिण्या यजे तं प्र त्वे  
 हवीःषि जुहुरे समिद्धे<sup>(१२)</sup> । ताः सवितुर्वरेण्यस्य  
 चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्यां । यामस्य कण्वो  
 अदुहत् प्रपीनाः सहस्रधारां ॥ ४ ॥

पर्यसा मंहो गां<sup>(१३)</sup> । सप्त ते अग्ने समिधः सप्त  
 जिह्वाः सप्तर्षयः सप्त धाम प्रियाणि सप्त होत्राः सप्तधा  
 त्वा यजन्ति सप्त योनीरा पृणस्व घृतेन<sup>(१४)</sup> । ईदङ्  
 चान्यादङ् चैतादङ् च प्रतिदङ् च मितश्च समि-  
 तश्च सभराः<sup>(१५)</sup> । शुक्लज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्य-  
 ज्योतिश्च ज्योतिष्माश्च सत्यश्चर्तपाश्चात्यः<sup>(१६)</sup> ह्यः ॥ ५ ॥

कृतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्चान्यमित्रश्च  
 दूरे अमित्रश्च गुणः<sup>(१७)</sup> कृतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च  
 धृता च विधृता च विधारयः<sup>(१८)</sup> । ईदक्षास एतादक्षास  
 ऊषु णः सदक्षासः प्रतिसदक्षास एतन<sup>(१९)</sup> । मितासश्च  
 समितासश्च न जनये सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन्निन्द्र  
 दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्तमानः<sup>(२०)</sup> ; यथेन्द्र दैवीर्विशो



• अथ द्वितीयामाह,—“क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यः हस्तेषु विभ्रतः ।  
दिवः पृष्ठः सुवर्गत्वा मित्रा देवेभिराध्वम्<sup>(१)</sup>” इति । हे ऋषि-  
यजमानाः, ‘नाकं’ (स्वर्गसाधनम्), ‘उख्यं’ (उखायां पूर्वं सन्पादितम्),  
अग्निं ‘हस्तेषु’ ‘विभ्रतः’ (धास्यन्तः) तेन ‘अग्निना’ सह ‘क्रमध्वं’  
(अग्निरूपरि पादान् विक्षिपत) । बतो ‘दिवः पृष्ठम्’ (आकाशस्थोपरि  
वर्तमानं) ‘सुवर्गत्वा’ (स्वर्गलोकं प्राप्य) ‘देवेभिः’ ‘मित्राः’ (देवै-  
रेकीभूताः) ‘आध्वं’ (उपविशत) ।

• अथ तृतीयामाह,—“पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्  
दिवमारुहं । दिवो नाकस्य पृष्ठात् सुवर्ज्यातिरगमहम्<sup>(२)</sup>” इति ।  
‘अहं’ यजमानः ‘पृथिव्या’ उद्गत एतत् ‘अन्तरिक्षम्’ ‘आरुहं’  
(आरुढोऽस्मि) । तस्मादेव ‘अन्तरिक्षात्’ उद्गतो ‘दिवम्’ ‘आरुहं’  
(द्युलोकमारुढोऽस्मि) । ‘दिवः’ द्युलोकसम्बन्धी ‘नाको’ दुःखरहितो  
यः प्रदेशः, तस्य, ‘पृष्ठात्’ (उपरिष्ठात्) स्वर्गलोकवासि ज्योतिर्मण्डल-  
मादित्यरूपम् ‘अगां’ (प्राप्तोऽस्मि, यद्वा प्राप्स्यामि) ।

• अथ चतुर्थामाह,—“सुवर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्याः रोहन्ति  
रोदसी । यज्ञं ये विश्रतो धारः सुविदाः सो वि तेनिरे<sup>(३)</sup>”  
इति । ‘ये’ यजमानाः ‘सुविदांसः’ (सुष्टु कर्मानुष्ठानप्रकारं जानन्तः)  
‘विश्रतो धारं’ (सर्वस्य जगतो धारणहेतुं) यं अग्निं ‘वि तेनिरे’  
(विस्तरेणानुतिष्ठन्ति), ते यजमानां ‘द्यां’ (अन्तरिक्षम्) ‘आ-  
‘रोहन्ति’ तथा ‘रोदसी’ (द्यावापृथिव्यौ) आरोहन्ति, ततः  
‘सुवर्यन्तः’ (स्वर्गवासमादित्यमण्डलं प्राप्नुवन्तः), तदग्निस्थानान्यत्  
किमपि स्थानं ‘नापेक्षन्ते’ ।

अथ पञ्चमीमाह,—“अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चतुर्देवानामुत मर्यानां । इयत्तमाणा भृगुभिः सजोषाः सुवर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति<sup>(५)</sup>” इति । देवान् आत्मन इच्छन्तो देवयन्तो यजमानाः, तेषामुपकाराय, हे ‘अग्ने’ त्वं ‘प्रथमः’ ‘प्रेहि’ (पुरतो गच्छ), यतस्त्वं ‘देवानां’ मनुष्याणाञ्च चतुस्थानीयः । लोके हि गच्छतः पुरुषस्य दृष्टिः पुरतो याति । ‘इयत्तमाणा’ (यष्टुमिच्छन्तः) ‘यजमानाः’ ‘भृगुभिः’ ‘सजोषाः’ (अनुष्ठानपरैर्भृगुनामकैर्मुनिभिः समानप्रियाः) सन्तः, क्षमा यथा भवति तथा ‘सुवर्यन्तु’ ।

तत्र प्रथममन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानित्याह देवलोकमेवैतयोपावर्त्तते” (५।४।७अ०) इति । देवलोकमेवाद्विश्य अनया च्छचा प्रवृत्तो भवति ।

द्वितीयमन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“क्रमध्वमग्निना नाकमित्याहेमानेवैतया लोकान् क्रमते” (५।४।७अ०) इति । ‘इमानेव’ ‘लोकान्’ उद्दिश्य अनया च्छचा पादविन्यासं करोति ।

तृतीयमन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति पृथिव्या अहमुदन्तारेक्षमारोहमित्याहेमानेवैतया लोकान्त्समारोहति” (५।४।७अ०) इति । ‘इमानेव’ ‘लोकान्’ उद्दिश्य अनया च्छचा सम्यगारोहति ।

चतुर्थमन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“सुवर्यन्तो नापेक्षन्त इत्याह सुवर्गमेवैतया लोकमेति” (५।४।७अ०) इति । स्वर्गप्राप्तिप्रतिपादकशब्दस्यात्र सङ्गावात्तदृचा स्वर्गप्राप्तिः ।

पञ्चममन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतामित्याहोभयेष्वेवैतया देवमनुष्येषु चतुर्दधाति” (५।४।७अ०) इति ।

उभयचक्षुःप्रतिपादकस्य शब्दस्याच सङ्गावाच्च तथा चक्षुः उभयचक्षुःस्थापनम् ।

मन्त्रान् विनियुङ्क्ते—पञ्चभिरधिक्रामति पाङ्क्तो यज्ञो यावानेव यज्ञस्येन सह सुवर्गे लोकमेति”-(५।४।७अ०) इति ।

कल्पः, ‘नक्तोषासाग्ने सहस्राक्षेति द्वाभ्यां संहिताभ्यां दध्नः पूर्णा-मौदुम्बरीः स्वयमाह्वयायां जुहोति’ इति । तत्र प्रथमामाह,— ‘नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकः समीची । द्यावा क्षामा हक्को अन्तर्वि भाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः<sup>(१)</sup>’ इति । नक्तञ्चोषाश्च ‘नक्तोषासा’ (रात्रिदिवसावित्यर्थः), ‘समनसा’ (परस्परमैकमत्ययुक्ते), ‘विरूपे’ (रात्रिः कृष्णा, दिवसश्च शुक्ल इति विलक्षणरूपे), ‘समीची’ (अनुकूले) सत्यौ ‘एकं’ ‘शिशुः’ अग्निरूपं ‘धापयेते’ (यजमानकर्तृकमग्निधारणं सम्पादयतः) । ‘द्यावा’ (द्युलोके), ‘क्षामा’ (क्षितौ), ‘अन्तः’ (तदुभयमध्यवर्तिनि अन्तरिक्षे) ‘हक्काः’ (रोचमानः) अयमग्निः ‘विभाति’ (विशेषेण प्रकाशते) । दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति ‘देवाः’ (प्राणाः); ते च ‘द्रविणोदाः’ (यागद्वारेण धनरूपं फलं प्रयच्छन्ति) । तादृशा यजमानस्य प्राणा अग्निमेतं ‘धारयन्’ (धृतवन्तः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“अग्ने सहस्राक्षं शतमूर्द्धञ्जितं ते प्राणाः सहस्रमपानोः । त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे; तस्यै ते विधेम वाजाय स्वाहा<sup>(२)</sup>” इति । शतसहस्रशब्दयोः अपरिमिताभिप्रायेण\*, ‘विश्वतश्चक्षुः’

\* अपरिमितत्वाभिप्रायेण इति पाठो भवितुं युक्तः



—इत्यादिमन्त्रोक्तमूर्तिरूपत्वेनायमग्निरथ स्तुयते । तस्मादक्षिमूर्द्धप्राणा-  
पानाः हे 'अग्ने', तव बहवः । तथा 'त्वं' 'साहस्रस्य' (बह्वसहस्रसमूह-  
परिमितस्य) 'रायः' (धनस्य) 'ईश्विषे' (प्रभुर्भवसि) । 'तस्मै' 'ते'  
(तादृशाय तुभ्यं) 'वाजाय' (अश्वसिद्धयर्थं) 'विधेम' (परिचरेम) ।  
'हविषे' 'स्वाहा' (इदं हविः स्वाहुतमस्य) ।

तत्र प्रथममन्त्रं विनियुक्ते,—“नक्तोषाधेति पुरोऽनुवाक्यामन्वाह  
प्रत्यै” (५।४।७अ०) इति । पुरोभवः प्रदानमन्त्रः पूर्वमनुक्रमेणो-  
च्यते इति पुरोऽनुवाक्या । 'प्रत्यै' उत्तरेण मन्त्रेण हविःप्रदानाय  
आदौ तान् ब्रूयात्, 'पुरोऽनुवाक्यामनूच याजया जुहोति'  
इत्यन्यत्राभिहितत्वात् ।

द्वितीयमन्त्रस्य वैराजरूपप्रापकत्वं दर्शयति,—“अग्ने सहस्राक्षे-  
त्याह साहस्रः प्रजापतिः प्रजापतेराष्ट्रै” (५।४।७अ०) इति ।  
सहस्रसङ्ख्याकचतुरादिसम्बन्धो विश्वरूपधरस्य विराण्मूर्तेः सम्भवति,  
नान्यस्य, अतोऽयं मन्त्रः प्रजापतिप्राप्तये भवति ।

अस्य मन्त्रस्य चतुर्थपादे वाजशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“तस्मै  
ते विधेम वाजाय स्वाहेत्याह अन्नं वै वाजोऽन्नमेवावहन्धे” (५।  
४।७अ०) इति ।

एतन्मन्त्रसाध्यं होमं विधत्ते,—“दध्नः पूर्णामौदुम्बरीं स्वय-  
मादृषायां जुहोत्यूर्ध्वं हविर्जुक् उदुम्बरोऽसौ स्वयमादृषाऽमुष्यामेवोर्जं  
दधाति तस्मादमुतोऽर्वाचीमूर्जमुप जीवामः” (५।४।७अ०) इति ।  
जुह्वसदृशी काचित् शुक् औदुम्बरी । दधुदुम्बरयोरन्नरूपत्वात्  
स्वयमादृषायाश्च स्वर्गरूपत्वात्, तस्याश्च तद्धोमेन स्वर्ग एवाहं

स्थापयति । यस्मात् स्वर्गे ऊर्कं अवस्थिता 'तस्मादमुतो' द्युलोकात्  
'अर्वाची' (वृष्टिरूपेणाधः पतन्तीम्) 'ऊर्जम्' (अन्नं) वयम् 'उप  
जीवामः' ।

• कल्पः, 'सुपर्णे' गरुत्मानिति तिसृभिः स्वयमावृत्तायामग्निं  
प्रतिष्ठाप्य इति । तत्र प्रथमामाह—“सुपर्णेऽसि गरुत्मान् पृथिव्याऽ  
सीद पृष्ठे पृथिव्याः सीद<sup>(६)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वं 'सुपर्णः' (पक्ष्या-  
कारः), 'गरुत्मान्' (गरुडसमानः) 'असि' ; अतोऽस्यां चितिरूपायां  
'पृथिव्यां' 'सीद' (उपविश) । तत्रापि तस्याः 'पृष्ठे' उपविश ।

अथ द्वितीयामाह,—“भासान्तरिक्षमा पृण ज्योतिषा दिवम्  
उत्तमान तेजसा दिश उदृह<sup>(७)</sup>” इति । 'भासा' (स्वकीयेन प्रकाशेन)  
'अन्तरिक्षम्' 'आ पृण' (सर्वतः पूरय) । 'ज्योतिषा' (स्वकीयेन सामर्थ्येन)  
'दिवं' (द्युलोकां) 'उत्तमान' (ऊर्द्धस्तम्भितां) कुरु । तथा, 'तेजसा'  
(स्वकीयेन सामर्थ्येन) 'दिशः' (प्राच्यादिकाः) 'उदृह' (उत्त्वर्षेण  
दृढीकुरु) ।

• अथ तृतीयामाह,—“आजुङ्गानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वां  
द्योनिमा सीद साध्या । अस्मिन् सधस्ये अद्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा  
यजम्नस्य सीदत<sup>(१०)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वम् 'आजुङ्गानः' (आभि-  
मुख्येन ऋयमानः), 'सुप्रतीकः' (सुमुखः) सन् 'पुरस्तात्' (पूर्वस्यां  
दिशि) 'साध्या' (साध्वीं समीचीनां) "स्वां" 'द्योनिं' (स्वकीयं स्थानं)  
'आ सीद' (आगत्य प्राप्नुहि) । हे 'विश्वे' 'देवाः', यूयं 'यजमानस्य'  
'अस्मिन्' (पुरोवर्त्तिनि) 'सधस्ये' (अग्निना सह स्थातुं योग्ये) 'अद्यु-'  
'त्तरस्मिन्' (अधिकमुत्कृष्टस्थाने) 'सीदत' (उपविशत) ।

एतान्मन्त्रान् विनियुक्ते,—“तिसृभिः स्नादयति त्रिवृद्वै अग्नि-  
र्थावानेवाग्निसं प्रतिष्ठां गमयति” (५।३।७अ०) इति ।

कल्पः, ‘प्रेङ्क्षे अग्ने दीदिहि पुरो नः इति औदुम्बरीः समिध-  
मादधाति’ इति । पाठस्तु,—“प्रेङ्क्षे अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया  
सूर्या यविष्ठ । त्वं शश्वन्त उप यन्ति वाजाः<sup>(११)</sup>” इति । हे  
‘अग्ने’, ‘प्रेङ्क्षुः’ (पूर्वमपि प्रकर्षेण दीप्तः) ‘त्वं’ ‘पुरो’ ‘नः’ (अस्माकं  
पुरोदेशे) ‘अजस्रया’ (निरन्तरवर्त्तिन्या) ‘सूर्या’ (सूर्यसमानया  
ज्वालया) ‘दीदिहि’ (पुनरपि दीप्यस्व) । ज्वलन्ती लोहमयी म्यूणा  
‘सूर्मी’ । हे ‘यविष्ठ’ (युवतम) अग्ने, त्वां ‘शश्वन्तः’ निरन्तरभाविनः  
‘वाजाः’ (अन्नानि) ‘उप यन्ति’ (सामीप्येन प्राप्नुवन्ति) ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—प्रेङ्क्षे अग्ने दीदिहि पुरो न इत्यौदुम्बरी-  
मादधाति एषा वै सूर्मी कर्णकावती एतया ह स्र वै देवा असुराणां  
शततर्हाः स्तृः हन्ति यदेतया समिधमादधाति वज्रमेवैतच्छतघ्नीं  
यजमानो भ्रातृव्याय प्रहरति स्तृत्या अच्छम्बद्वारम्” (५।४।७अ०)  
इति । ज्वलन्ती लोहमयी म्यूणा ‘सूर्मी’, सा च ‘कर्णकावती’ (छिद्रक्ती,  
अन्तरपि ज्वलन्तीत्यर्थः), तत्समाना इयम् चक्षुः । एकेनैव प्रहारेण  
शतसङ्ख्यानं मारयन्तः शूराः ‘शततर्हाः’, ‘असुराणां’ मध्ये तादृशान्  
एतया चक्षा ‘देवाः’ हिंसन्ति । अनया समिधाधाने ‘शतघ्नीम्’ एनाम्  
चक्षुः ‘वज्रं’ कृत्वा वैरिणं ‘प्रहरति’ । ‘अच्छम्बद्वारं’ (स्वस्यां विनाशः)  
यथा न भवति तथेत्यर्थः ।

कल्पः, ‘विधेम ते परमे जन्मन्त्र इति वैकङ्कतो समिधमा-  
दधाति-इत्यनुवर्त्तते’ इति । पाठस्तु,—विधेम ते परमे जन्मन्त्रे विधेम

स्तोमैरचरे सधस्यै । यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुञ्जरे  
 समिद्धे (११) इति । हे 'अग्ने', 'ते' (तव) 'परमे' जन्मनि 'विधेम'  
 (वयं ज्ञानेन परिचरेम) । 'सधस्ये' (अस्माभिः सह स्थातुं योग्ये)  
 'अचरे' (निरुद्धे भूलोकवर्त्तिनि, जन्मनि) 'स्तोमैः' (स्तोत्रैः) 'विधेम'  
 (परिचरेम) । 'यस्माद्योनेः' (दृष्टकचितिरूपात् स्थानात्) 'उदारिथ'  
 (त्वमुद्धतः आविर्भूतोऽस्मि) ; 'तं' (योनिं) 'यजे' (पूजयामि) ।  
 'समिद्धे' (मन्यक्प्रज्वलिते) त्वयि 'हवींषि' 'प्र'-जुञ्जरे (स्रत्विजः  
 प्रकर्षेण जुहति) ।

एतन्मन्त्रं विनियुक्ते,—“विधेम ते परमे जन्मन्नग्न इति वैकङ्कती-  
 मादधाति भा एवाव हस्ये” (५।४।७अ०) इति । अग्नेर्भाषो  
 विकङ्कते प्रविष्टत्वात् तदीयसमिधो 'भाः' प्राप्यन्ते ।

कल्पः, 'तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामिति शमीमयीम्' इति ।  
 पाठस्तु,—“तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामा अहं वृणे सुमतिं  
 विश्वजन्तां । यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां पयसा मर्क्षं  
 गांस्” (११) इति । पुरा कदाचित् कण्वाख्यो महर्षिः 'अस्य' (अग्नेः)  
 'र्या' सुमतिम् (अनुग्रहकारिणीं बुद्धिम्) 'अदुहत्' (दुग्धवान्) ।  
 तच्च दृष्टान्तः,—‘प्रपीनां’ (प्रभूतः पीनस्तनसङ्घो यस्याः सा प्रपीना,  
 तां), सहस्रसङ्ख्याकाः चारधारा यस्याः सा सहस्रधारा, तां, 'मर्क्षं'  
 'पयसा' (क्षीरेण सम्पूर्णं) 'गां' (धेनु) यथा लौकिका दुहन्ति,  
 तद्वदयमग्नेः सुमतेः उपदर्शितबुद्धेः स्वाभोष्टं फलं प्राप्तवान् ।  
 'वरेण्यस्य' (सर्वैर्वरणीयस्य) 'सवितुः' (प्रेरकस्य) अग्नेः 'समन्विनी'  
 'ता' (कल्पेन दुग्धां) 'सुमतिम्' 'अहम्' 'आ'-वृणे (सर्वतः

प्रार्थये) । कीदृशीं सुमतिं ?—‘चिचां’, स्वापेक्षितवज्रविधफलप्रदान-  
समर्थीमित्यर्थः । विश्वं अन्यमुत्पाद्यं इत्याः सा विश्वजन्या तां,  
जगदुत्पादनसमर्थामित्यर्थः ।

तमेतं मन्त्रं विनियुक्ते,—‘तां सवितुर्वरेण्यस्य चिचामिति  
ब्रमीमयीं शान्त्यै’ (५।४।७अ०) इति । शान्त्याः ब्रमनहेतुत्वा-  
च्छान्त्यर्थत्वं युक्तम् ।

मन्त्रस्य पूर्वार्द्धे ‘सवितुस्तां सुमतिमा अहं वृणे’ इत्यस्य तात्पर्यं  
दर्शयति,—‘अग्निर्वा ह वै अग्नितं दुहेऽग्निचिदा अग्निं दुहे तां  
सवितुर्वरेण्यस्य चिचामित्याहैष वै अग्नेर्दोहः’ (५।४।७अ०) इति ।  
द्विविधो मन्त्रदोहः सम्भवति,—अग्निकर्तृको यजमानकर्त्तृक एको दोहः,  
यथा, अग्निर्हि यजमाने सम्भावितं हविः स्तुत्यादिरूपं दोग्धि ।  
तथा यजमानकर्त्तृकोऽग्निकर्त्तृको द्वितीयो दोहः,—यजमानो ह्यग्नौ  
सम्भावितं स्वापेक्षितं फलं दोग्धि । तच्च सवितुः सुमतिमिति वचनेन  
अग्निकर्त्तृको दोहो विवक्षितः ।

द्वितीयार्द्धे कण्वोदाहरणस्य तात्पर्यं दर्शयति,—तमस्य कण्वः एव  
आयसोऽवेत्तेन ह सैनं स दुहे” (५।४।७अ०) इति । अग्नेः  
सम्बन्धिनं ‘तं’ फलस्वीकाररूपं दोहं कण्वाख्यः ‘एवं’ महर्षिः पूर्वमेव  
ज्ञातवान्, स च ‘कण्वः’ आयसोऽपत्यं ‘आयसः’, अतोऽस्मिन्नुत्तरार्द्धे  
पठिते सति ‘तेन’ कण्वमुनिरेव\* एतमग्निं स यजमानो दुग्धवान्  
भवति ।

• इतन्मन्त्रविशिष्टं समिदाधानं प्रव्रजति,—“यदेतथा समिधं  
आदधात्यग्निचिदेव तदग्निं दुहे” (५।४।७अ०) इति ।

• कल्पः, ‘दादध्यादहीतेन सुचं पूरयित्वा सप्त ते अग्ने समिधः  
सप्तं जिह्वा इति सप्तवत्या पूर्णं ऊतिं जुहोति’ इति । पाठस्तु,—  
“सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तर्षयः सप्त धाम प्रियाणि ।  
सप्त हेन्वाः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरा वृणस्व घृतेन<sup>(१७)</sup>” इति ।  
हे ‘अग्ने’, तव ‘समिधः’ सप्तसंख्याकाः,—अश्वत्योदुम्बरपलाशशमी-  
विकङ्कताग्निहतवृक्षपुष्करपर्णरूपाः । अत एव सूत्रकार आधान-  
प्रकरणे सप्त समन्वयकान् अनुक्रम्य ‘इति वानस्यत्याः’ इत्युपसंज्ञहार ।  
व्यमलारूपा जिह्वाश्च सप्त । तथा चाथर्वणिका आमनन्ति,—  
‘काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूमवर्णा ।  
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः’ इति ।

• ऋषयो मन्त्राः, ते च यथोक्तममितसम्पादनार्थाः सप्तसंख्याकाः,—  
‘अग्ने रूपां कृत्वा यदंशत्ये तिष्ठ<sup>(१८)</sup>’ इत्यादयः समावाताः ।  
‘प्रियाणि’ ‘धाम’ (स्थानानि) आश्वनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निसम्भावसथ्य-  
प्राजहिताग्नीध्रीयाख्यानि सोमयागे वज्रिधार्काणि सप्तसंख्याकानि ।  
‘हेन्वाः’ होतृप्रमुखा वषट्कर्त्तारः,—होता, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छुषी,  
योता, नेष्टा, अग्नीध्रः, अश्वावाकश्चेति सप्तसंख्याकाः । तां यजमानाः  
‘सप्तधा’—‘यजन्ति’,—अग्निष्टोमः, अथ्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी  
अतिरात्रः, अग्नोर्यामः, वाजपेयश्चेति सप्तप्रकाराः । तादृशत्वं ‘सप्त  
योनीः’, आश्वनीयादिस्थानानि ‘घृतेन’ सर्वतः पूरय ।

• अथ मन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“सप्त ते अग्ने समिधः सप्त

जिह्वा इत्याह सप्तैवास्य साप्तानि प्रीणाति” (५।४।७अ०) इति । सप्तसंज्ञोपेतं द्रव्यस्वरूपं साप्तं । तानि च ‘साप्तानि’ पुनः सप्त-  
संज्ञाकानि । समित्सप्तकमेकं, जिह्वासप्तकं द्वितीयं, ऋषिसप्तकं  
तृतीयं, धामसप्तकं चतुर्थं, होतृसप्तकं पञ्चमं, यजमानप्रकारभेदे  
षष्ठं, पूरणीययोनिसप्तकमेकं । अग्नेः सम्बन्धीनि साप्तानि  
समिदादिसप्तकानि यानि सन्ति तानि भाप्तानि\* प्रीणयत्येव ।

एतन्मन्त्रमार्थं होमं विधत्ते,—“पूर्णाया जुहोति पूर्णं इव हि  
प्रजापतिः प्रजापतेराप्त्यै न्यूनया जुहोति न्यूनाद्धि प्रजापतिः प्रजा  
असृजत प्रजानां सृष्ट्यै” (५।४।७अ०) इति । दादशगृहीतेनाज्येन  
पूर्णा या जुहः, तथा जुहुयात् । प्रजापतेः प्राप्तसर्वकामत्वात् पूर्णत्वं,  
अतस्तत्पूर्तिः ‘प्रजापतेः’ प्राप्ते भवति । मुख्यकल्पत्वेन पूर्णत्वं विधाय  
अनुकल्पत्वेन न्यूनत्वमप्यङ्गीक्रियते । ‘न्यूनात्’ ‘अल्पात्’ वीजात्  
‘प्रजापतिः’ प्रौढानि शरीराणि ‘असृजत’ । अतः ‘प्रजानां’ ‘सृष्ट्यै’  
न्यूनत्वमङ्गीक्रियते, किमु वक्तव्यं पूर्णत्वमित्यभिप्रायः ।

होमकाले ध्यानं विधत्ते,—“अग्निर्देवेभ्यो निलाहृत स दिशोऽनु  
प्राविशज्जुह्वन्नसा दिशो ध्यायेद्दिग्भ्य एवैनमव रुन्धे” (५।४।७अ०)  
इति ।

एनं दिशु प्रविष्टमग्निं, पूर्वमनुष्ठितां दध्याज्जतिम्, इदानीमनुष्ठीय-  
मानामाज्याज्जतिञ्च मिलित्वा प्रशंसति,—“दध्ना पुरस्ताज्जुहोत्याज्येन  
उपरिष्ठान्तेजसैवासौ इन्द्रियञ्च समीची दधाति” (५।४।७अ०)

इति । 'अग्निस्थापनात् पूर्वं दधिहोमः, उपरिष्ठादाज्यहोमः । तच्चाज्यं तेजोरूपं, दधि च इन्द्रियरूपं,—'तेजो वा आज्यं, इन्द्रियं वै दधि' इति श्रुत्यन्तरात् । अतो यजमानार्थमुभयमपि सम्यक् सम्पादितं भवति ।

कल्पः, 'उपा५ऽऽमारुतान् सर्वङ्गतान् जुहोति ईदृङ् चान्यादृङ् चेति सप्तभिर्गणैरासीनो हस्तेन गणेन गणमनुद्रुत्य मारुतान् जुहोति, मध्येऽरण्येऽनुवाक्येन गणेन जुहोतीत्येके, मारुतैः सर्वतो वैश्वानरं परिचिनोतीत्येके, स्वतवा५श्च, अप्रघासी च, सान्तपनश्च, गृहमेधी च, क्रोड़ी च, साकी च, ऊर्जिषी चेत्येष षष्ठ आन्नातः, मितासश्च सम्मितासश्च न इति सर्वत्रानुषजति' इति । पाठस्तु,—“ईदृङ् च, अन्यादृङ् च, एतादृङ् च, प्रतिदृङ् च, मितश्च, सम्मितश्च, सभराः । षुक्ज्योतिश्च, चिचज्योतिश्च, सत्यज्योतिश्च, ज्योतिष्मा५श्च । सत्यश्च, ऋतपश्च, अत्य५हाः । ऋतजिच्च, सत्यजिच्च, सेनजिच्च, सुषेणश्च, अन्यमिचश्च, दूरे-अमिचश्च, गणः । ऋतश्च, सत्यश्च, ध्रुवश्च, धरुणश्च, धर्ता च, विधर्ता च, विधारयः । ईदृक्षासः एतादृक्षासः, ऊ षु णः, सदृक्षासः, प्रतिसदृक्षासः एतन् । मितासश्च सम्मितासश्च न ऊतये सभरघो मरुतो यज्ञे अस्मिन्निन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानः, यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मान एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु<sup>(१५-२१)</sup>” इति । अत्र हि मरुता गणाः पञ्च आन्नाताः,—‘ईदृङ्’ इत्यादीनि सप्त नामानि तैरभिधेयानां, मरुतामेको गणः । चकाराः परस्परसमुच्चयार्थाः । तथा षुक्ज्योतिरित्यादीनि सप्त नामानि तैरभिधेयानां मरुतां गणो



द्वितीयः । अतजिदित्यादिगणस्तृतीयः । अतस्येत्यादिसंतुर्थः । ईदृशास इत्यादीनि चत्वारि नामधेयानि सोऽयं पञ्चमो गणः । हे गणपञ्चकस्या 'मरुतः', एतेन समुच्चयेन वर्त्तन्ते\*, युयं सर्वे समुचित्य सुहु 'नः' (अस्मान्) अति आगच्छत । 'मितासश्च' (गणचतुष्टयेन सप्तसङ्ख्याया प्रमिताः), 'सन्मितासश्च' (पञ्चमगणे चतुःसङ्ख्याया सङ्क्षिप्त्य प्रमिताः), 'ऊतयि' 'नः' (अस्माकं रक्षणाय) 'सभरसः' (भरेणादरेण वर्त्तन्ते इति सभरसः), तादृशा हे 'मरुतः', 'अस्मिन्' 'यज्ञे' 'एतन्' (आगच्छत) । 'दैवीर्विशः' (देवसमन्धिन्यः प्रजारूपाः) एते 'मरुतः' 'इन्द्र' 'अनुवर्त्मानः' । इन्द्रस्वामिन-मनुसृत्य, तदनुसारेण यथा वर्त्तन्ते 'मरुतः', 'एवं' दैव्यो मानुष्यश्च सर्वाः प्रजाः 'इमं' 'यजमानं' अनुसृत्य वर्त्तमाना 'भवन्तु' । एतैर्मन्त्रैः साध्या मारुतहोमा उपरि विधास्यन्ते ।

एतेभ्यो मारुतपुरोडाशेभ्यः पुरा निर्वपणीयं वैश्वानरस्मादौ विधत्ते,—“द्वादशकपालो वैश्वानरो भवति द्वादश मासाः संवत्सरो-ऽग्निर्वैश्वानरः साक्षादेव वैश्वानरमवरुन्धे” (५।४।७अ०) इति ।

उख्याग्नेः संवत्सरधारणेन अग्नेः संवत्सररूपत्वं सोदकप्राप्तान् प्रयाजानूयाजान् अपवदति,—“यत्प्रयाजानूयाजान् कुर्याद्विकृतिः सा यज्ञस्य दर्विहोमं करोति यज्ञस्य प्रतिष्ठित्यै” (५।४।७अ०) इति । विशेषेण कर्तिर्नामो विकृतिः तत्परिहाराय अन्यच्च प्रयाजा-नूयाजान् अल्लवा यथा दर्विहोमं कुर्वन्ति । तद्वदचापि दर्विहोमं

प्रयजानूयाजादिरहितं 'कुर्यात्', ततो विकसोरभावात् यज्ञः प्रतिष्ठितो भवति ।

वैश्वानरपुरोडाशहोमसमनन्तरमेव मारुतपुरोडाशहोमं विधत्ते,—  
“रांश्च वैश्वानरो विष्मरुतो वैश्वानरः ऊत्वा मारुतान् जुहोति राष्ट्र  
एव विष्मनु बध्नाति” (५।४।७अ०) इति । राष्ट्रस्थानीयस्य वैश्वानरस्य  
पूर्वभवितात् पश्चाद्वाहीयप्रजास्थानीयमारुतहोमेन राष्ट्रे प्रजां  
योजितवान् भवति ।

मारुतहोमे मन्दध्वनिं विधत्ते,—“उच्चैर्वैश्वानरस्य आ आवयति  
उपांश्च मारुतान् जुहोति तस्माद्राष्ट्रं विष्मति वदति” (५।४।७अ०)  
इति । उच्चध्वनितमाश्रावणे चोदकप्राप्तं । यस्माद्राष्ट्रस्थानीये वैश्वानरे  
उच्चैः ध्वनिः, प्रजास्थानीये मारुते उपांश्चूत्वं, 'तस्मात्' लोकेऽपि  
प्रजाम् अतिक्रम्य 'राष्ट्रं' एवाधिकं सर्वो जनो वक्ति, सति हि राष्ट्रे  
प्रजावामन्वेषणम् ।

अथ मारुतपुरोडाशान् प्रशंसति,—“मारुता भवन्ति मरुतो वै  
देवानां । विशः, देवविश्वेनैवास्मै मनुष्यविश्वमवरुन्धे” (५।४।७अ०)  
इति । दैव्येन प्रजासमूहेन यजमानाय मानुषं प्रजासमूहं  
सम्पादयति ।

पुरोडाशानां सङ्ख्यां विधत्ते,—“सप्त भवन्ति सप्त गणा वै मरुतो  
गणश्च एव विश्वमव रुन्धे” (५।४।७अ०) इति । अत्रत्येषु मन्त्रेष्वप्युक्ताः  
पञ्च गणाः, आरण्यकाण्डे समाख्यातो 'धुनिश्च ध्वान्तश्च' इत्यपरो  
गणः, सूक्तोक्तः 'सतवान्' इत्यादिरेकः ;—अतः सप्तसङ्ख्याभिश्च  
सप्तविधगुणरूपां प्रजां प्राप्नोति ।

होमकाले मन्त्रोच्चारणे कश्चिद्विशेषं विधत्ते,—“गणेन गणमनु  
द्रुत्य जुहोति, विश्वमेवास्मै अनुवर्त्मानं करोति” (५।४।७अ०)  
इति । यदा प्रथमगणेन जुत्वा द्वितीयगणेन जुहोति, तदानीं  
प्रथमगणमुच्चार्य पश्चाद् द्वितीयगणेन जुहोति । तथा द्वितीयगण-  
मुच्चार्य तृतीयगणेन जुहुयात् । एवं सति सर्वां प्रजाम् ‘अस्मै’  
यजमानाय अनुकूलत्वेन वर्त्तमानां ‘करोति’ ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

प्राचीति पञ्चभिः साग्निरारोहेन्निर्भितां चितिम् ।  
पूर्णामौदुम्बरीं दध्ना जुहोत्येते क्रतौ तदा ॥  
याज्यानुवाक्ये नक्तोति, सुपर्णेऽस्यादिभिस्त्रिभिः ।  
स्वयमादृषकायान्तु मुख्याग्निं स्थापयेत्ततः ॥  
प्रेद्ध, ओदुम्बरीं दध्नादिधे, वैकङ्कतीं तथा ।  
शमीमयीति तां सेति, एप्ताज्यं ह्वयते सुचा ॥  
मारुतेषु तु यागेषु प्रोक्ताः पञ्च मरुद्गणाः ।  
ईदृङ् चेत्यादयः, शेषो मितामश्च समीरितः ॥  
अनुवाके पञ्चमेऽस्मिन्नक्ता एकोनविंशतिः ॥

इति सायनाचार्य्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ‘कृष्णयजुः’-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

• जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्दमी याति समदो-  
मुपस्थे । अनाविद्धयां तनुवा जयात्वः स त्वा वर्मणो  
महिम्ना पिपर्तुः<sup>(१)</sup> । धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम  
धन्वना तीव्राः समदो जयेम । धनुः शर्वारपकामं  
कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम<sup>(२)</sup> । ब्रूयन्ती  
वेदां गनीगन्ति कर्णं प्रियः सखायं परिषस्वजाना ।  
योषेव शिङ्गे वितताधिधन्वन् ॥ १ ॥

ज्या इयं समने पारयन्ती<sup>(३)</sup> । ते आचरन्ती  
समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे । अप शत्रून्  
विध्यताः संविदाने आर्त्ता इमे विस्फुरन्ती अमि-  
चान्<sup>(४)</sup> । बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्वा कृणोति  
• समनावगत्य । इषुधिः सङ्गाः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे  
जिनङ्गो जयति प्रसूतः<sup>(५)</sup> । रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः  
पुरो यच्च यच्च कामयते सुषारथिः । अभीशूनां  
महिम्नान् ॥ २ ॥

पुनायत् मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः<sup>(६)</sup> । तीव्रान्  
घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वा  
जयन्तः । अवक्रामन्तः प्रपदैरमिचान् क्षिणन्ति शत्रून्  
रत्नय व्ययन्तः<sup>(७)</sup> । रथवाहनः हविरस्य नोम यथा-  
यध निहितमस्य वर्म । तचारथमुप श्रमः सदेम

विश्वाहा वयः सुमनस्यमानः<sup>(८)</sup> । स्वादुषः सद्ः  
 पितरौ वयोधाः कृच्छ्रेऽश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।  
 चित्रसेना इषुबला अमृधाः सतोवीरा उरवो  
 व्रातसाहाः<sup>(९)</sup> । ब्राह्मणासः ॥ ३ ॥

पितरः सोम्यासः शिवेनो द्यावापृथिवी अनेहसा ।  
 पूषा नः पातु दुरिताद्वतावृधो रक्षा माकिर्नो अध-  
 शः स ईशत<sup>(१०)</sup> । सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः  
 सन्नद्धा पतति प्रसूता । यत्रा नरः सच्च वि च द्रवन्ति  
 तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यः सन्<sup>(११)</sup> । ऋजीते परि वृद्धि-  
 नोऽश्मा भवतु नस्तनूः सोमो अधि ब्रवीतु नो दितिः॥  
 ॥ ४ ॥

शर्म यच्छतु<sup>(१२)</sup> । आ जह्वन्ति सान्वेषां जघनाः  
 उपजिघ्रते । अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चो-  
 दय<sup>(१३)</sup> । अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेति  
 परि वाधमानः । हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्  
 पुमान् पुमांसः परि पातु विश्वतः<sup>(१४)</sup> । वनस्पते  
 वीरज्जो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुजीरः ।  
 गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु  
 जेत्वानि<sup>(१५)</sup> । दिवः पृथिव्याः परि ॥ ५ ॥

आज उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पर्यामृतः सद्ः । अपा-

मोञ्जमानं परि गोभिर्गृह्यतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथ  
यज<sup>(११)</sup> । इन्द्रस्य वज्रा मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो  
वरुणस्य नाभिः । सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव-  
रथ प्रति हव्या गृभाय<sup>(१२)</sup> । उपश्वासय पृथिवीमुत्त-  
मां पुरुषा ते मनुतां विष्टितं जगत् स दुन्दुभे सज्ज-  
रिन्द्रेण देवैर्दृरात् ॥ ६ ॥

दवीयो अपसेध शत्रून्<sup>(१३)</sup> । आक्रन्दय बलमोजो  
न आधा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः । अपप्रोथ  
दुन्दुभे दुक्षुनाः इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वोडयस्वा<sup>(१४)</sup> ।  
आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमहुन्दुभिर्वावदीति । स-  
मश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जय-  
न्तु<sup>(१५)</sup> ॥ ७ ॥

धन्वन् । महिमानं । ब्राह्मणासः । दितिः । पृथि-  
व्याः परि । दूरात् । एकचत्वारिंशच्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
षष्ठोऽनुवाकः ॥\* ॥

पञ्चमेऽनुवाके चित्पारोक्ष्यादयो मारुतहोमान्ताः अङ्गविशेषा  
उक्ताः । अथ षष्ठेऽश्वमेधकर्तुः रथमञ्जीकरणभावीनि कवच-

स्त्रीकारादीनि अङ्गानि उच्यन्ते । तस्य चाग्निप्रकरणे\* सम्बन्धा-  
भावात् इति उक्त्याश्चमेधप्रकरणे सम्बन्धो द्रष्टव्यः । अथयनार्थमेव  
नेत्रसमन्तं मन्त्रपाठः । कल्पः, 'जीमूतस्येति कवचमधूहते' इति ।  
पाठस्तु,—“जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यदमी याति समदामुपस्ये ।  
अनाविद्धया तनुवा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तुः<sup>(१)</sup>”  
इति । 'यत्' (यदा) 'वर्मी' (कवचयुक्तो राजा) 'समदां' (शत्रूणां)  
'उपस्ये' (समी)पे 'याति', अनेन सह मात्सर्येण माद्यन्तीति समदः  
शत्रवः, तदा 'जीमूतस्य' (मेघस्य) 'प्रतीकं' सुखम्, इव 'भवति',—  
सैन्यद्वयं युद्धार्थं यदा मिलति, तदानीं, वर्षितुं यतस्तत आगताः  
प्रौढा मेघा यथा अन्तरिक्षं सर्वमावृण्वन्ति, एवं भूमिं सर्वां  
व्याप्तं भवतीत्यर्थः । तस्मिन् काले हे राजन्, 'अनाविद्धया'  
(परकीयप्रहारहितया) 'तनुवा' (स्वशरीरेण) युक्तो भूत्वा विजयं  
प्राप्नुहि । 'वर्मणः' (कवच) तादृशः 'महिमा' त्वां - 'पिपर्तु'  
(पालयतु) ।

कल्पः, 'धन्वना गा इति धनुः' इति । पाठस्तु,—“धन्वना गा  
धन्वना आजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम । धनुः  
शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम<sup>(१)</sup>” इति ।  
वयं 'धन्वना' धनुषा 'गाः' 'जयेम' (परकीयगवादीन् आहरेम) ।  
तथा 'धन्वना' 'आजिं' (युद्धं) 'जयेम' । तथा 'धन्वना' (धनुषा)  
'तीव्राः' (शूरभटोपेताः), 'समदः' (मदसहिताः परसेनाः) 'जयेम' ।  
इदं 'धनुः' 'शत्रोः' (अस्मदीयवैरिणः) 'अपकामं' कृणोतु

\* 'प्रकारेण' इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

(कामेभ्योऽपनयः,—अपकामः तं करोतु) । किं वज्रना 'सर्वाः' अपि 'प्रदिशः' (उल्लष्टान् सर्वदिग्वर्त्तिञ्चनून्) 'जयेम' ।

कल्पः, 'वक्ष्यन्ती वेति ज्यामभिमृशति' इति । पाठस्तु,—“वक्ष्यन्ती इवेत् आगनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना । योषेव शिङ्गे वितताधिधन्वं ज्या इयं समने पारयन्ती<sup>(१)</sup>” इति । 'इयं' 'ज्या' (धनुषि) आरोपिता मौर्वी) 'वक्ष्यन्ती' 'इव' (किञ्चिद्रहस्यं वाक्यं वदिष्यन्तीव\*) 'कर्णं' 'गनीगन्ति' (कर्णममीपमागच्छति) । तच्च दृष्टान्तः,—“प्रियं सखायं 'परिषस्वजाना' (प्रीतियुक्तं सखिसमानं विश्रम्भस्वहारयोग्यं भर्त्तारमालिङ्गन्ती) 'योषेव' 'शिङ्गे' (अव्यक्तशब्दं करोति),—सा यथा स्वकीयं योगक्षेमं जनैः कथयति, तद्वदियमपि ज्या शब्दयतीत्यर्थः । कीदृशी ज्या?,—‘अधिधन्वन्’ (धनुष उपरि) ‘वितता’ (विशेषेण प्रसारिता), ‘समने’ (युद्धे) ‘पारयन्ती’ (युद्धसमाप्तिं गमयन्ती) ।

... कल्पः, 'ते आचरन्तीति धनोरात्री सम्मृशति' इति । पाठस्तु,—“ते आचरन्तो समना इव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे । अप श्चनून् विध्यतां संविदाने आत्री इमे विस्फुरन्ती अमिचान्<sup>(५)</sup>” इति । 'ते' धनुषः कोट्यौ 'विस्फुरन्ती' विस्फुरन्त्यौ पुनः पुनः अवर्त्तमाने सत्यौ 'संविदाने' (परस्परमैकमत्यं गते) 'अमिचान' (अत्यन्तविरोधिनः) 'अप'—‘विध्यतां’ । कीदृशे कोट्यौ? समने

\* 'वदिष्यन्तीव' इति सर्वत्र पाठो मे सम्यक् ।

† अत्र 'ज्या'-'गनीगन्ति' इति पाठो भवितुं युक्तः ।



(युद्धे) 'योषा' 'इव' 'आचरन्ता' तदन्धधुरशब्देन हितं बोधयत्यौ ।  
पुनः कीदृशे?—'उपस्थे' 'विभृतां' 'माता' 'पुत्रम्' 'इव',—  
तद्वद्वितकारिण्यौ ।

कल्पः, 'बङ्गीनां पिता बङ्गरस्य पुत्र इति पृष्ठे इषुधिं निनस्वति'  
इति । पाठस्तु,—“बङ्गीनां पिता बङ्गरस्य पुत्रश्चिश्वा कृणोति  
समना अवगत्य । इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति  
प्रसृतः<sup>(५)</sup>” इति । अयम् 'इषुधिः' (वाणाधारः) 'समना अवगत्य'  
(समने युद्धे प्राप्य) 'चिश्वा कृणोति' (वाणा आकर्षणवेलायाम् अव्यक्तं  
ध्वनिं करोति) तस्यानुकरणं चिश्वेति । कीदृशः इषुधिः?—'बङ्गीनां'  
इषूणां पालकः । अतः पवास्य पितृस्थानीयस्य पुत्रस्थानीय इषुसङ्घो  
बङ्गविधः, सोऽयम् 'इषुधिः' 'पृष्ठे' 'निनद्धः' (नितरां बद्धः) 'प्रसृतः,  
(धानुष्केण प्रेरितः) वाणाकर्षणे 'सङ्काः' (सम्यक् प्राप्ताः) 'सर्वा' अपि  
'पृतनाः' 'जयति' ।

कल्पः, 'रथे तिष्ठन्नयति वाजिन इति सारथिमभिमन्त्रयते' इति ।  
पाठस्तु,—“रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते  
सुषारथिः । अभीष्टूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति  
रश्मयः<sup>(५)</sup>” इति । 'सुषारथिः' (सुशिक्षितोऽयं सारथिः) स्वयं 'रथे'  
'तिष्ठन्' 'यत्र यत्र' 'कामयते' गन्तुं, तत्र तत्र 'पुरः' (पुरस्तात्)  
'वाजिनः' 'नयति' (प्रेरयति) । हे ऋत्विग्यजमानाः, 'अभीष्टूनां'  
(अश्वधारणहेतुर्ना) रश्मीनां 'महिमानं' 'पनायत' (वाचा स्तुतिं  
कुर्वत) । 'अत एव स्तुतिप्रकार उच्यते,—'रश्मयः' एते (प्रयहाः)  
सारथेः 'मनः' 'अनु'—स्तुत्य 'पश्चात्' 'यच्छन्ति' (नियता भवन्ति),—

सारथ्येयथा मनोवृत्तिः पुरस्तात् प्रवर्त्तते, तेनैव प्रकारेण पश्चाद्  
अश्वानां नियमनं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

कल्पः, 'तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाण्य इत्यश्वान्' इति ।  
पाठस्तु,—“तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाण्योऽश्वा रथेभिः सह  
वाजयन्तः । अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रून् रनपव्ययन्तः<sup>(७)</sup>”  
एते 'अश्वाः' 'तीव्रान्' अत्युच्चं घोषान् कुर्वते,—हेषाशब्दान् कुर्वन्ति ।  
कीदृशा 'अश्वाः' ?,—‘वृषपाण्यः’,—सेचनवाचिना वृषशब्देन शक्ति-  
रूपलक्ष्यते, पाणिशब्दः पादलक्षकः, गन्तुं शक्ताः पादा येषामश्वानां, ते  
‘वृषपाण्यः’ । ‘रथेभिः’ ‘सह वाजयन्तः’ (रथैः सह ग्रीधं गच्छन्तः),  
‘प्रपदैः’ (पादाग्रैः खुरैः) ‘अमित्रान्’ ‘अवक्रामन्तः’ । तादृशा ‘अश्वाः’  
‘अनपव्ययन्तः’ (प्रत्यापत्तिमकुर्वन्त) भीतिरहिता इत्यर्थः । ‘शत्रून्’  
‘क्षिणन्ति’ (हिंसन्ति) ।

कल्पः, ‘रथवाहनं हविरस्य नामेति रथवाहने रथमत्याधाय’  
इति । यद्यपीदं अत्याधानं रथस्य प्रत्याधानादूर्द्धभावी, तथापि  
अध्ययनसम्प्रदायादयं मन्त्रोऽत्र पठितः । पाठस्तु,—“रथवाहनं  
हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म । तत्रारथमुप शग्मं सदेम  
विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः<sup>(८)</sup>” इति । ‘यत्र’ (यस्मिन् तल्पे  
शकटे) ‘अस्य’ (यजमानस्य) ‘आयुधं’ (धनुरादिकं) ‘वर्म’ (कवचं)  
चेत्येवमादिकं ‘निहितं’, ‘यस्य’ (शकटस्य) ‘रथवाहनम्’ इति नामधेयं  
(प्रत्यागत्य रथोऽस्मिन् शकटे स्थाप्यते इति तच्छकटं, ‘रथवानं’)  
तस्य अविर्वदुपकारकत्वाद्बुविष्टं, ‘तत्र’ रथवाहने शकटे ‘विश्वाहा’  
सर्वेष्वपि, दिनेषु ‘सुमनस्यमानाः’ (सौमनस्यं प्राप्ताः) ‘वयं’

‘शग्म’ (सुखगमनहेतु) ‘रथम्’ ‘उप’-‘भदेग’ (उपेत्य स्थापयाम) ।

कल्पः, ‘स्वादुषूंसदः पितरो वयोधा इति तिसृभिः पितृ-  
मुपतिष्ठते’ इति । तत्र प्रथमामाह,—“स्वादुषूंसदः पितरो वयोधाः  
हृच्छ्रेयितः शक्तीवन्तो गभीराः । चित्रसेना इषुबला अमृधाः सतो-  
वीरा उरवो व्रातसाहाः<sup>(९)</sup>” इति । ये ‘पितरः’ अस्मदीयाः सन्ति  
ते एतैर्विशेषणैर्विणिष्टाः ; तानि एतानि विशेषणानि उच्यन्ते ।  
‘स्वादुषूंसदः’ (अस्मत्समर्पिते स्वादुनि अन्ने सम्यक् सीदन्ति तेन  
हृप्ता इत्यर्थः) । ‘वयोधाः’ (अस्मदीयवयसः आयुषः स्थापयितारः) ।  
‘हृच्छ्रे’ व्यसने प्राप्ते सति रक्षार्थं ‘अथ’ प्राणिभिः सेव्यन्त इति  
‘हृच्छ्रेयितः’ । ‘शक्तीवन्तः’ (शक्तियुताः), ‘गभीराः’ (अगाधबुद्धयः),  
‘चित्राः’ (विविधा) हस्त्यश्वादिरूपा ‘सेना’ येषां ते ‘चित्रसेनाः’,  
इषुभिर्योद्धुमतिप्रबलाः, ‘अमृधाः’ (परैर्योद्धुमशक्याः), सन् विद्यमानो  
लोके प्रसिद्धो यः शूराः, तस्माद्यप्यतिशूराः, ‘सतोवीराः’ ; ‘उरवः’  
(विस्तीर्णाः धनसेनादिसमृद्धाः), व्रातं परकीयभटसङ्घं सहन्ते  
अभिभवन्तीति ‘व्रातसाहाः’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो  
द्यावापृथिवी अनेहसा । पुषा नः पातुं दुरितादृतावृधौ रक्षा  
माकिर्नो अघशूंस ईशत<sup>(१०)</sup>” इति । ये अस्मदीयाः ‘पितरः’ ते  
‘ब्राह्मणासः’ (ब्रह्म वेदः, तदर्थपरा ब्राह्मणाः), अत एवास्मासु  
‘सोम्यासः’ (सोम्याः अनुग्रहतत्परा इत्यर्थः) । यथैते ‘पितरः’,  
तथा ‘द्यावापृथिवी’ उभे अपि ‘अनेहसा’ (अनेहसि सर्वस्मिन्नपि  
काले) ‘नः’ (अस्मान्) प्रति ‘शिवे’ (ज्ञाने) अनुग्रहपरे भर्तामिति

तथा 'द्यावापृथिवी' उभे अपि 'अनेहसा' (अनेहसि सर्वस्मिन्नपि काले) 'नः' (अस्मान्). प्रति 'शिवे' (शान्ते) अनुग्रहपरे भवतामिति शेषः । तथा 'च्युतावृधः' (यज्ञस्य वर्द्धयिता), 'पूषा' (पोषको) देवः, 'नः' (अस्मान्) 'दुरितात्' 'पातु' । हे पितृसमूह 'रक्ष' (अस्मान् पालय); 'मः' (अस्माकं) 'अघशंसः' (पापशंसनपराः, निन्दकाः) 'माकिः' 'ईश्वर' (निन्दितुं समर्था मा भवत) ।

अथ तृतीयामाह,—“सुपर्ण वस्ते मृगो अस्याः दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता । यत्रा नरः सञ्च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्<sup>(११)</sup>” इति । पितृसम्बन्धिनी येयमिषुः प्रशस्यते 'अस्याः' (इषोः) 'सुपर्ण' (पृष्ठेऽवस्थितं शोभनं पतन्तं भागं) 'वस्ते' (आच्छादयति) । अथ 'अस्याः' इषोः 'दन्तः' (शन्यं) मृगदन्तवत् तीक्ष्णं । येयमिषुः 'गोभिः' (गोसम्बन्धिभिः) 'सन्नद्धा' (दृढं बद्धा), तादृशेयम् इषुः 'प्रसूता' (पितृभिः प्रेरिता सती) 'पतति' (सहसा गच्छति) । कुत्र ? इति,—तदुच्यते, 'नरः' (पुरुषाः, योद्धारः) 'यच' (यस्मिन्) परसैन्ये 'सञ्च वि च द्रवन्ति',—प्रथमं उत्सुकाः सन्तः प्राप्नुवन्ति, पञ्चाङ्गीताः सन्तः पलायन्ते च । 'तच' इयमिषुः 'पतति' इति पूर्वचान्वयः । तादृशः पितृणां 'इषवः' 'अस्मभ्यं' 'शर्म' (सुखं) 'यंसन्' (यच्छन्) ।

अथ कल्पः, 'च्युतीते परि वृद्धिं न इत्यात्मानं प्रत्यभिमुख्य' इति । पाठस्तु,—“च्युतीते परि वृद्धिं नोऽग्रा भवतुं गस्तनूः । सोमो अधि इधीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु<sup>(१२)</sup>” इति । च्युतीतीशब्द\*

\* अत्र च्युतीतिशब्द इति पाठो भवितुं युक्तः ।

इषुवाची । हे 'अज्जीते' अस्मान् 'परि-वृद्धि' (परितो वर्जितान् कुरु) । 'नः' (अस्माकं) 'तनूः' 'अस्मा भवतु' (पाषाणवत् दृढीभवतु) । 'सोमो' 'नः' (अस्मान्) 'अधि-ब्रवीतु' (अधिका एते मात्या इति कथयतु) । 'अदितिः' 'शर्म यच्छतु' (सुखं यच्छतु) ।

कल्पः, 'आ जङ्घन्तीत्यश्वाजिनीमादाय' इति । पाठस्तु,—“आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाः उप जिघ्रते । अश्वाजिनि प्रचेतसः अश्वान्त्समत्सु चोदय<sup>(१९)</sup>” इति । कशाधारिणः सारथयः 'एषाम्' अश्वानां 'सानु' (पर्वतसानुमदृशं पार्श्वम्) 'आ जङ्घन्ति' (सर्वतस्ताडयन्ति) । तथा पृष्ठभागान् 'उपजिघ्रते' (उपेत्य ताडयन्ति) । तथाविधताडन-हेतुभूते हे 'अश्वाजिनि' (अश्वप्रेरके कशे), 'प्रचेतसः' (ताडनेन प्रकृष्टगमने चित्तयुक्तान्) 'समत्सु' (युद्धेषु) 'चोदय' (प्रेरय) ।

कल्पः, 'अहिरिव भोगैरिति हस्तप्लमभिमन्त्रयते' इति । पाठस्तु,—“अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परि बाधमानः । हस्तप्लो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः<sup>(२०)</sup>” इति । धानुष्कैर्वामहस्तः केनचिद्रूपेण चर्मविशेषेण वेष्ट्यते । तत्रायं दृष्टान्तः,—‘अहिरिव भोगैः’, यथा सर्पः स्वकीयशरीरवेष्टनैः पुरुषस्य हस्तं पादे वा वेष्टयति, तथायं चर्मविशेषः पुरुषस्य 'बाहुं' 'पर्येति' (परितो व्याप्नोति) । किं कुर्वन् ?—‘ज्यायाः’ आकर्णमाकृष्य सहसा मुक्ता वा 'हेतिः', तां 'परि बाधमानः' (परितो निवारयन्); ज्यायाः प्रहारश्चर्मण्येव फलति न तु बाहौ, हस्ते स्थित्वा ज्याघाते हन्यमानः चर्मविशेषो 'हस्तप्लः'; सोऽस्मान् 'विश्वतः' (सर्वस्मात्) उपद्रवात् 'पातु' । तच्च दृष्टान्तः,—‘विश्वा वयुनानि' 'विद्वान्' (सर्वान् मार्गान्) 'अभि-

जानानः) 'पुमान्' 'पुमांसम्' (अन्यं पुरुषं) यथा पालयति तददिति शेषः ।

कल्पः, 'वनस्यते वीङ्मज्जो हि भूया इति पञ्चभीरथम्' इति । तत्र प्रथमामाह,—“वनस्यते वीङ्मज्जो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वाम्याता ते जयतु जेतानि<sup>(१५)</sup>” इति । हे 'वनस्यते' (वनस्यतिनिष्पन्नरथ), 'वीङ्मज्जः' (दृढाङ्गः) एव 'भूयाः' । कीदृशस्त्वम्?—‘अस्मत्सखा’ (अस्मासु सखित्वस्त्वर्थः); ‘प्रतरणः’ (प्रकृष्टगमनसाधनभूतः); ‘सुवीरः’ (शोभनैर्वैरिरूपेतः); ‘गोभिः सन्नद्धो असि’ (गवादिचर्मरज्जुभिः सम्यग्बद्धोऽसि); ‘वीडयस्व’ (अत्यन्तं दृढो भव) । ‘ते’ (तव) ‘आम्याता’ ‘जेतानि’ (जेतव्यानि) परसैन्यानि ‘जयतु’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“दिवः पृथिव्याः परि ओज उद्धृतं वनस्यतिभ्यः पर्याभृतं सहः । अपामोज्ज्वानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज<sup>(१६)</sup>” इति । हे यजमान, त्वं ‘रथं’ इमं ‘हविषा’ (बलिकर्मणा) ‘यज’ (पूजय) । कीदृशं रथं?—‘दिवः पृथिव्याः परि ओज उद्धृतं’ (द्युलोकाद्भूलोकाच्च सर्वतो बलमानीय सम्पादितं); तथा ‘वनस्यतिभ्यः’ अपि परितः ‘सहः’ (बलम्) आनीय ‘आभृतं’ (सम्पादितं); तथा ‘अपामोज्ज्वानं’ (अपाम्वद्धम् ओज आनीय निष्पादितं); ‘गोभिः’ (गवादिविकारैर्नावभिश्चर्ममय-रज्जुभिश्च परितः ‘आवृतं’ ‘इन्द्रस्य’ ‘वज्रम्’ इव ‘दृढीभूतम्’ ।

तृतीयामाह,—“इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः । सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथं प्रति हव्या

गृभाय<sup>(१०)</sup>” इति । यथा ‘इन्द्रस्य वज्रः’ अत्यन्तबृहः, यथा च ‘मरुताम्’ ‘अनीकं’ (सैन्यं) बज्रभिर्भटैरुपेतं, यथा ‘मित्रस्य गर्भो’ अत्यन्तं सुरक्षितः, यथा ‘वरुणस्य नाभिः’ केनापि तिरस्कृतुमशक्यः, तथा-विधैर्गुणैरुपेतं हे ‘देवरथ’, ‘नः’ (अस्मदीयाम्) ‘इमां’ ‘हव्यदातिं’ (हविर्दानं) ‘जुषाणः’ ‘हव्या’ (अस्मदहत्तानि हव्यानि) ‘प्रति’ ‘गृभाय’ (प्रत्येकं गृहाण) ।

चतुर्थीमाह,—“उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुचा ते मनुतां विष्टितं जगत् । स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूरात् दवीयो अप सेध शन्नून्<sup>(१८)</sup>” इति । रथसमीपवर्त्ती दुन्दुभिरप्येवंमहिमा, किमुत रथ इति विवक्षया दुन्दुभिः प्रशस्यते । हे ‘दुन्दुभे’, ‘पृथिवीम्’ ‘उप’—‘श्वासय’ (त्वदीयेन शब्देन पूरय) । ‘उत’ (अपि च) ‘द्यां’ (द्युलोकमपि) ‘उप-श्वासय’ । ‘पुरुचा’ (पुरुषु, द्युलोकभूलोकादि-स्थानेषु) ‘विष्टितं’ (विशेषेण स्थितं) सर्वं ‘जगत्’ ‘ते’ (तव) शब्दं ‘मनुतां’ (जानातु) । ‘स’ त्वं ‘इन्द्रेण’ अन्यैः ‘देवैः’ च ‘सजुः’ (समानप्रीतिः सन्) ‘शन्नून्’ अस्मदीयान्, ‘दूरात् दवीयः’ (दूरादपि अत्यन्तदूरदेशं प्रति) ‘अप-सेध’ (अपसारय) ।

पञ्चमीमाह,—“आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा नि हृमिहि दुरिता बाधमानः । अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत् इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीड्यस्व<sup>(१९)</sup>” इति । हे ‘दुन्दुभे’, परबलं (परंकीयसैन्यं) प्रति ‘आ-क्रन्दय’ (आक्रोशं कुरु),—अमुं जहि अमुं प्रहर—इति अत्यन्तभीतिहेतुं शब्दं कुरु । ‘नः’ (अस्माकं) ‘ओजः’ ‘बलं’ ‘आ धाः’ (आ धेहि, सम्यक् सम्पादय) । ‘दुरिता’ ‘बाधमानः’

(अस्मदीयानि दुरितानि विनाशयन्) . 'नि ण्निहि' (गर्जनसमानम् अस्मदुत्साहहेतुं शब्दं कुरु) । 'दुच्छुनां' (दुष्टचित्तान् पुरुषान्) 'इतः' अस्मात् 'अप प्रोथ' (अपसारय) । त्वं 'इन्द्रस्व' 'सुष्टिरसि' (वज्रधारकमुष्टिसमानोऽसि) ; अतः 'वीडयस्व' (दृढीभव) । ईदृशैः दुन्दुभिध्वनिभिः सहितोऽयं रथः प्रवर्त्तत इति तात्पर्यार्थः ।

कल्पः, 'आ अमूरजेति' दुन्दुभीः सः ह्लादयन्ति' इति । पाठस्तु,—  
: "आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमदुन्दुभिर्वावदीति । समश्चपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु<sup>(१०)</sup>" इति । हे 'इन्द्र', 'इमाः'\* परकीयाः सेनाः समन्तात् 'अज' (प्रेरय, पलायिताः कुरु) । 'इमाः' अस्मदीयाः सेनाः 'प्रत्यावर्त्तय' (अक्षताः सत्यो यथा प्रत्यावृता भवन्ति तथा कुरु) । अयं 'दुन्दुभिः' 'केतुमत्' (ज्ञानवत्) अस्मदीयो जयो यथा सर्वज्ञायते, तथा 'वावदीति' (भृशं ध्वनिं करोति) । 'अश्चपर्णाः' अश्चपर्त्राः, अश्चवाहनयुक्ता इत्यर्थः, तादृशा 'नः' 'नरः' (अस्मदीयाः पुरुषाः) 'सं'-'चरन्ति' (सम्यग्विश्रमणेन चरन्तु) । 'अस्माकं' सम्बन्धिनो ये 'रथिनः' (मुख्यपुरुषाः) ते 'जयन्तु' ।

. अत्र विनियोगसंग्रहः,—

अथाश्वमेधे जीमूत, कवचं प्रतिमुञ्चति ।

'धन्वना, धनुरादत्ते वक्ष्यन्ती; ज्यामभिसृशेत् ॥

ते, संसृशेद्भुङ्कोत्यौ बह्वीतीषुधिवन्धनम् ।

रथेति सारथिं, तीव्रानुशानयभिमन्त्रयेत् ॥

\* अत्र 'अमः' इति पाठो भवितुं युक्तः ।



रथ, काले रथः स्थाप्यो भजेत् खलुदुत्रयात्पितृन् ।

अज्यात्मानमभिसृष्ट्य ह्या जष्टेत्याहरेत्कशाम् ॥

इत्सं मन्त्रयते ऽहीति, रथन्तु 'वन'-पञ्चभिः ।

दुन्दुभिं वादयेदामूरत्र मन्त्रास्तु विंशतिः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

यदक्कन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा  
पुरीषात् । श्येनस्य पश्चा हरिणस्य बाह्व उपस्तुत्यं  
महिं जातं ते अर्वन्<sup>(१)</sup> । यमेन दत्तं चित एनमायु-  
नगिन्द्र एणं प्रथमो अर्ध्यातिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य  
रश्नामगृभ्णात् सूर्यादश्वं वसवो निरतष्ट<sup>(२)</sup> । अग्निं  
यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि चितो गुह्येन व्रतेन ।  
असि सोमेन स मया विष्टुक्तः ॥ १ ॥

आहुस्ते चीणि दिवि बन्धनानि<sup>(३)</sup> । चीणि त  
आहुदिवि बन्धनानि चीण्यसु चीण्यन्तः समुद्रे । उतेव  
मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यचा त आहुः परमं जनिचं<sup>(४)</sup> ।  
इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानाः सनितु-  
र्निधाना । अचा ते भद्रा रश्ना अपश्यमृतस्य या

अभिरक्षन्ति गोपः<sup>(५)</sup> । आत्मानं ते मनसाराद-  
जानामत्रो दिवा ॥ २ ॥

.. पतयन्तं पतङ्गं शिरो अपश्यं पृथिभिः सुगेभि-  
ररेणुभिर्जेहमानं पतञ्चि<sup>(६)</sup> । अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं  
जिगीषमाणमिष आ पदेगैः । यदा ते मर्तो अनु  
भोगमानडादद्वसिष्ठं ओषधीरजीगः<sup>(७)</sup> । अनु त्वा  
रथो अनु मर्यो अर्वन्ननु गावोऽनु भगः कनीनां ।  
अनु ब्रातासस्तव सखमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ॥  
॥ ३ ॥

ते<sup>(८)</sup> हिरण्यशृङ्गेयुः अस्य पादा मनोजवा  
अवर इन्द्र आसीत् । देवा इदस्य हविरद्य मायन् यो  
अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत्<sup>(९)</sup> । इमान्तासः सिलिक-  
मभ्यमासः सः शूरणासो दिव्यासो अत्याः । इसा  
इव अणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्जमुमश्वाः<sup>(१०)</sup> ।  
तव शरीरं पतयिष्यन्तव चित्तं वात इव ध्रुजीमान् ।  
तव शृङ्गाणि विष्टिता पुरुचारण्येषु जभुराणा-  
चरन्ति<sup>(११)</sup> । उप ॥ ४ ॥

प्रागाच्छसनं वाज्यवा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः ।  
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात् कवयो  
यन्ति रेभाः<sup>(१२)</sup> । उप प्रागात् परमं यत् सधस्थमर्वाः

अच्छा पितरं मातरञ्च । अथा देवान् जुष्टतमो हि  
गम्या अथा शास्ते दाशुषे वीर्यीणि<sup>(१)</sup> ॥ ५ ॥

विष्टुक्तः । दिवा । वीर्यम् । उप । एकान्नचत्वा-  
रिः शब्दः ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
सप्तमोऽनुवाकः ॥ \* ॥

षष्ठे कवचादिसन्नाहोऽभिहितः । अथ सप्तमाद्यनुवाकत्रये होमो-  
ऽभिधीयते । कल्पः, 'यदक्रन्दः प्रथमं जायमान इत्येतेस्त्रिभिरनुवाकैः  
षट्त्रिंशतमश्चक्षोमीयान् जुहोति' इति । तत्र सप्तमोऽनुवाके  
प्रथमानुचमाह,—“आक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत् वा  
पुरीषात् । श्येनस्य पत्न्या हरिणस्य बाह्व उपस्तुत्यं महि जातं ते  
अर्वन्<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अर्वन्', 'यत्' (यस्मात्) कारणात् 'जायमानः'  
(उत्पद्यमान एव) 'प्रथमं' (आदौ) 'आक्रन्दः' (क्रन्दितवानसि),—  
अहो अग्न्यादीनामह साधनमिति महान्तं शब्दमकरोः, तस्मात् 'ते'  
(तव) 'जातं' 'महि' (महत्) । अत एव 'उपस्तुत्यं' (समीचीनमिति  
सर्वैरपि स्तोतव्यम्) आसीत् । जायमानमेव विशदीक्रियते,—‘समुद्रात्’  
'उद्यन्' (समुद्रेपलक्षितात् उदकादुत्पद्यमानः),—‘असु योनिर्वा अश्वः’  
इति श्रुतेः । 'उत वा' 'पुरीषात्' (अथ वा लौकिकदृष्ट्या पुरीषात्  
पुंस्त्वशक्तिसम्पन्नान्महतोऽश्वादुत्पद्यमानः) । जन्मनः 'उपस्तुत्यत्वेन

दृष्टान्तद्वयमुच्यते,—‘श्वेनस्य० पक्षाः, हरिणस्य० बाह्वः’; इवशब्दोऽत्र  
अन्धाहर्त्तव्यः,—यथा श्वेनाख्यस्य पक्षिणः पक्षौ शीघ्रोत्पतनहेतुत्वात्  
सर्वैरुपसृत्यौ; यथा वा ‘हरिणस्य बाह्वः’ (पादौ) शीघ्रगमनहेतुत्वात्  
उपसृत्यौ, तद्वदित्यर्थः ।

अथ द्वितीयामाह,—“यमेन दत्तं चित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो  
अध्यतिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य रश्मनामगृभ्णात् सूर्यादश्च वसवो निरतष्ट<sup>(१)</sup>”  
इति । अत्र यमोऽग्निः, ‘अग्निर्वाव यमः’ इति श्रुत्यन्तरात् । त्रिषु  
लोकेषु चायते विस्तार्यते इति ‘चितः’ वायुः । ‘यमेन’ (अग्निना)  
‘दत्तम्’ ‘एनम्’ ‘अश्च’ ‘चितः’ (वायुः) ‘आयुनक्’ (रथे योजितवान्) ।  
ततः ‘इन्द्रः’ ‘प्रथमः’ (सर्वेषु देवेषु मध्ये प्रथमं प्रवृत्तः) सन् ‘एनम्’  
‘अश्चम्’ ‘अध्यतिष्ठत्’ (अधिष्ठितवान्), योगक्षेमं सम्पादयितुमभिमानं  
कृतवानित्यर्थः । ‘गन्धर्वः’ कश्चित् ‘अस्य’ (अश्चस्य) ‘रश्मनां’ (बन्धन-  
हेतुं रज्जुम्) ‘अगृभ्णात्’ (स्वीकृतवान्) । हे ‘वसवः’, यूयं ‘सूर्यात्’  
(आदित्यात्) इमम् ‘अश्च’ ‘निरतष्ट’ (निःशेषेण प्रकाशितवन्तः) ।  
यस्य अश्चस्य अग्निरानेता, वायुर्योजयिता, इन्द्रोऽभिमन्ता,\* गन्धर्वो  
रज्जुगृहीता, सूर्यप्रकाशेन वसवः प्रकाशयितारः; तादृशोऽयमश्च  
इति सूच्यते ।

अथ तृतीयामाह,—“असि यमो अस्यादित्यो अर्ववसि चितो  
गुह्येन व्रतेन । असि यमेन समया विहृक् आहुस्ते त्रीणि दिवि  
बन्धनानि<sup>(१)</sup>” इति । हे ‘अर्वन्’ (अश्च), त्वं यमाभिधाग्निः ‘असि’ ।

\* ‘इन्द्रो हि मन्ता’ इति कश्चित् पाठः ।

तथा 'आदित्यः' 'असि' । तथा 'चितः' (वायुः) 'असि' । पूर्वोक्तप्रकारेण वाय्वादित्ययोरनुगृहीतत्वात् तद्रूपत्वं । तथा 'गुह्येन' 'व्रतेन' (गोप्येन अश्वमेधाख्येन कर्मणा) तत्रत्येन 'सोमेन' च 'समया' (समये प्राप्तकाले) 'विपृक्तः' (विशेषेण युक्तः) 'असि' । ईदृशस्य 'ते' (तव) द्युलोके 'बन्धनानि' (बन्धनसाधनानि) दामानि 'त्रीणि' इत्येवमभिज्ञा 'आहुः' । वणिजो हि शक्त्याधिक्येन अत्युद्यमश्वं विक्रेतुं ग्रामान्तरे नयन्तः त्रिभिर्दामभिर्बध्नन्ति । दक्षिणवामपार्श्वयोर्दामद्वयमुभौ पुरुषौ गृहीतः । यदा दक्षिणभागवर्त्तिनं द्रष्टुमुद्युङ्क्ते तदा वामभागवर्त्ती तमाकर्षति; तं चेत् द्रष्टुमुद्युङ्क्ते तदानीमितर आकर्षति । यदा सहसा पुरतः पलायनं वारयितुं गले बद्धमेकं दाम गृहीत्वा पृष्ठतः कश्चिदाकर्षति, तदिदं बन्धनत्रयं । यदा शास्त्रसिद्धं किञ्चित् कारणत्रयं द्रष्टव्यं । तदनेन बन्धनत्रयेणाधिकशक्तिरश्व इति स्तुतो भवति ।

अथ चतुर्थीमाह,—“त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तःसमुद्रे । उतेव मे वरुणश्छन्त्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्<sup>(१)</sup>” इति । यथा द्युलोके तव उच्चैःश्वरोरूपस्य बन्धनत्रयमभिज्ञा 'आहुः'; तथैव 'अप्सु' 'समुद्रे' च । यथा वा, वा० प्रेये, 'अप्सवन्तरमृतम्' इति मन्त्रेणाश्वान् अप्सु स्नापयन्ति, तथापि पूर्वोक्तरीत्या बन्धनत्रयमपेक्षितं । तथा समुद्रमध्ये स्थितायाः वड़वायाः बन्धनत्रयमित्येवमभिज्ञा 'आहुः' । 'उत' (अपि च), हे 'अर्वन्' (अश्व) 'ते' (तव) 'यत्र' (यस्मिन् पिद्वीर्थे) 'परमं' 'जनित्रं' (उत्तमं जन्म)—इत्येवंलक्षणमभिज्ञा 'आहुः' । तत्पिद्वीर्थं त्वमेव, वरुणः

‘अभिर्वन्धनेन’ नवारणायै भूत्वा ‘मे’ (मम) ‘हन्ति’ ‘इव’ (कथयसि इव) ।  
 अयमर्थः,—अश्वस्य पितृपक्षभागितात् मातरि स्वत्यायामपि संत्यां  
 प्रौढस्येदं दृश्येत, तस्य पिता प्रौढः पितेति उत्प्रेक्षितुं शक्य इति ।

पञ्चमीमाह,—“इमा ते वाजिन्वमार्जनानीमा शफानाः  
 सनितुर्निधाना । अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभि रक्षन्ति  
 गोपः<sup>(५)</sup>” इति । ‘हे धर्मजिन्’, ‘ते’ (तव) ‘इमा’ (एतानि दृश्य-  
 : मानानि) ‘अवमार्जनानि’ शरीरशोधनसाधनानि, लोहमयानि;  
 (यैर्लोहकार्यैः प्रातःकालादौ अश्वस्य पांश्चाद्यपनयनाय शरीरं मृज्यते,  
 घर्षणेन शोध्यते, तानि ‘अवमार्जनानि’); तथा ‘शफानां’ (रतुराणां)  
 ‘सनितुः’ (दातुः पाषाणवज्रले मार्गे प्रक्षेप्यः\*) तव शफभेदनपरिहा-  
 रार्थम् ‘इमा’ ‘निधाना’ (एतानि लोहमयानि आवरणविशेषरूपाणि,  
 निधीयन्ते शफेष्विति निधानानि; राजानो हि महार्हाणां प्रौढानाम्  
 अश्वानां लोहमयैः साधनैः प्रतिदिनं कण्डूरपनयन्ति, शफेषु च  
 लोहपत्राणि कीलयन्ति । किञ्च ‘ते’ (तव) ‘भद्राः’ (सुवर्णादि-  
 खचितत्वेन, कल्याणरूपाः) ‘रशनाः’ खलीनलोहकक्ष्याः पुच्छपत्रा  
 ‘अत्र’ (अस्मिन्नेव देशे स्थापिताः), अहमपि, ‘अपश्य’ । कीदृशस्य तव ?—  
 ‘सृतस्य’ (सत्यस्य) वज्रमूल्यार्हस्येत्यर्थः । कीदृशो रशनाः ?—इति  
 ता विश्लेष्यन्ते, ‘याः’ ‘रशनाः’ ‘गोपाः’ (पृष्ठदेशव्यथादिपरिहारेणाश्वं  
 गोपायन्त्यः) ‘अभि रक्षन्ति’ (उपरि आंरूढं पुरुषमभितः पतनादिभ्यः  
 पालयन्ति) ।

अथ षष्ठीमाह,—“आत्मानं ते मनसा आरादजानाम् अवा दिवा”

\* ‘प्रेक्षेयः’ इति सर्वत्र पाठः । प्रक्षेपः इति तु भवितुं यत्तः ।

पतयन्तं पतङ्गं । शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि<sup>(१)</sup>” इति । हे अश्व, तव ‘आत्मानं’ (स्वरूपम्) ‘आरात्’ (समीप एव) ‘मनसा’ ‘अजानां’ (अभिज्ञानवान् अस्मि) । कीदृशम् आत्मानं? ‘अवः’ (रक्षकं), शीघ्रगामी हि अश्वः परसैन्यभङ्गनेन स्वामिनं रक्षति । तथा ‘दिवा पतयन्तं’ (आकाशेन धावन्तं), त्वदीय-धावनवेलायां वेगातिशयेन भूमेराक्रमणं केनापि द्रष्टुं न शक्यते इत्यर्थः । यस्मादाकाशगामी, तस्मादेव च ‘पतङ्गं’ (पक्षिसदृशं) । तथा त्वदीयं ‘शिरः’ अपि अहम् ‘अपश्यं’ । कीदृशं शिरः?—‘सुगेभिः’ (गन्तुं शक्यैः) ‘अरेणुभिः’ (धूलिरहितैः), ‘पथिभिः’ (आकाशमार्गैः) ‘जेहमानं’ (शीघ्रगतियुक्तं); अत एव ‘पतत्रि’ (पक्षिसदृशं);—यदा हि अयमश्वः प्रायेण भूमिस्पर्शनं विना आकाशमार्गेण धावति तदानीं पाषाणरहितत्वादयं मार्गः सुगमः । भूमिस्पर्शबाहुल्याभावात् धूलिरहितश्च । तथाविधमार्गेण धावतोऽश्वस्य उपरिवर्त्ति ‘शिरः’ सुखेन द्रष्टुं शक्यते, उन्नतदेशवर्त्तित्वात् धूल्यावरणाभावाच्चेति । ईदृशवेगवानश्व इति स्तुतिः ।

अथ सप्तमीमाह,—“अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिव आ पदे गोः । यदा ते मर्तो अनु भोगमानडादिद्यसिष्ठ औषधी-रजीगः<sup>(२)</sup>” इति । हे अश्व, ‘यदा’ (यस्मिन् काले) ‘ते’ ‘भोगं’ (घृतशुद्धादिभक्षणरूपम्) ‘अनु’ ‘मर्तः’ (मनुष्यः) परिचारकः ‘आनद’ (‘भोगं प्राप्तवान्’), प्रोदेषु राजगृहादिषु अश्वघासार्थं दत्तैर्मुद्गघृतादिभिः परिचारका अपि जीवन्तीति प्रसिद्धम् । ‘आदित्’ (ईदृश-वृत्तान्तादनन्तरमेव), ‘यसिष्ठः’ (अतिशयेन यस्मितुकामः) त्वम्

‘ओषधीः’ (चणकाद्याः) ‘अजदीगः’ (प्रापितोऽसि) । ‘अत्र’ (अस्मिन्नवसरे) ‘ते’ ‘रूपम्’ ‘उत्तमं’ (सर्वोत्कृष्टमिति) ‘अपश्यम्’ (अहं निश्चितवानस्मि) । कीदृशस्य तव ? ‘इषः’ (अन्नानि) ‘आ’ (समन्तात्) ‘पदे’ (प्राप्तुं) ‘गोः’ (गच्छतः) । कीदृशं रूपं ?—‘जिगीषमाणं’ (जितुमिच्छायुक्तम्) । अयमर्थः, प्रौढराजगृहे तदीय-‘भोगम्’ अनु अश्ववारा नीचाः सर्वेऽपि ‘सम्यग्’ भुञ्जते, तच्च राजप्रज्ञया केनाप्यनिवारितः\* सन् चणकादि-  
 चेत्त्रेषु स्वेच्छया गच्छसि । अस्मिन्नवसरे तन्मुखेन सर्वाणि अन्नानि प्राप्तुं शक्यन्ते, विजयस्य भविष्यतीत्येवं तदीयमहिमानं निश्चित-  
 वानस्मीति ।

अथाष्टमीमाह,—“अनु त्वा रथो अनु मर्या अर्वन्नु गावोऽनु भगः कनीनां । अनु प्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते(८)” इति । हे ‘अर्वन्’, त्वाम् ‘अनु’ ‘रथः’ प्रवर्तते, न हि त्वया विना रथो गन्तुं शक्तः । ‘मर्याः’ (मर्त्यः) अश्ववारस्त्वाम् ‘अनु’-जीवति । तच्च पूर्वमेवोक्तं । ‘गावः’ अपि त्वाम् ‘अनु’-जीवन्ति, बालस्य तव स्त्रीरनवनीताद्यर्थं, प्रवृद्धस्य तव घृतार्थञ्च गाः पोषयन्ति । ‘कनीनां’ (केन्युनां बालानां दासीनां) ‘भगः’ (सौभाग्यं) त्वाम् ‘अनु’-सम्पद्यते । अश्वशालापरिचारार्थं हि ता अन्नवंस्तदानेन तत्सामिनः पोषयन्ति । ‘प्रातासः’ (प्राताः सेनारूपाः मनुष्यसङ्घाः) ‘तव’ ‘सख्यम्’ ‘अनु’ तदीयं सीद्ध्यम् ‘अनु’ (पश्चात्) ‘इयुः’ (जयं प्राप्नुवन्ति) । ‘देवाः’ (प्राजापत्यादयः) ‘ते’ ‘वीर्यं’ (तदीयं सामर्थ्यं) ‘अनु’



उपलक्ष्य 'ममिरे' (स्वकीयहविण्येन प्रमितवन्तः) । ईदृशोऽयं अथ इति स्तुतिः ।

अथ नवमीमाह,—“हिरण्यगृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत् । देवा इदस्य हविरद्यमायन् यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत्<sup>(९)</sup>” इति । अयमश्वः ‘हिरण्यगृङ्गः’ (हिरण्यसमानवर्णः, गृङ्गस्थानीयो मूर्द्धप्रदेशो यस्यासौ हिरण्यगृङ्गः) हिरण्यङ्कित इत्यर्थः । ‘अयो’ (लोहवदत्यन्तदृढः) । ‘अस्य’ (अश्वस्य) ‘पादाः’ ‘मनोजवाः’ (मनोवृत्तिसदृशेन वेगातिशयेन युक्ताः) । एतेन अश्वेन, उच्चैःश्रवसा ‘इन्द्रः’ अपि ‘अवरः’ (निष्ठ एव) ‘आसीत्’; ‘देवाः’ ‘इत्’ (सर्वे हि देवाः) स्वयम् ‘अस्य’ (अश्वस्य) सम्बन्धि ‘हविरद्यं’ (हविर्भक्षणम्) ‘आयन्’ (प्राप्नुवन्तः) । एतदीयमेव हविस्तु योग्यमिति निश्चितवन्तः । ‘प्रथमः’ (आद्यः) ‘यः’ (प्रजापतिः) ‘अर्वन्तं’ (एनम् अश्वम्) ‘अध्यतिष्ठत्’ (अधिष्ठितवान्) स्वकीयत्वेन स्वीकृतवान्, सोऽपि एतदीयमेव हविरद्यमिति निश्चितवान् ।

अथ दशमीमाह,—“ईर्मन्तासः सिलिकमध्यमासः संपूरणासो दिव्यासो अत्याः । ह२सा इव अणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्म-मश्याः<sup>(१०)</sup>” इति । सर्वेऽप्यस्या एवंविधाः । कीदृशाः?—इति तदुच्यते,—गलभागो जघनभागश्च अश्वस्यान्तौ, तौ ‘ईर्मौ’ प्रसृतौ उन्नतौ येषां ते ‘ईर्मन्तासः’ । ‘सिलिकः’ (सङ्कुचित), निम्नं मध्ये पृष्ठभागे येषां ते ‘सिलिकमध्यमासः’, यत्र मनुष्या आरोहन्ति स देशो निम्नः, न तु गजस्येव पृष्ठभाग उन्नतः । ‘संपूरणासः’ (युद्धे जयहेतुत्वेन सम्यक् पूराः) । ‘दिव्यासः’ (ग्रामगमनादिव्यवहारनिष्पादकाः) । ‘अत्याः’

(सप्ततगमनशीलाः) । ते च 'हंसा' 'इव' 'अेणिशः' (सङ्गः) 'यतन्ते',—  
यथा हंसाः पङ्क्तिबद्धाः सङ्घीभूय आकाशे यतन्ते गच्छन्ति, एवमंश्वा  
अपि बहवः संहता युद्धाय प्रयतन्ते । 'यत्' (यस्मात् कारणात्) 'अंश्वाः'  
'दिव्यं' (क्रीडाविजिगीषाद्यर्थ) 'अज्मं' (गमनं) 'आक्षिपुः'  
(व्याप्तवन्तः), तस्मादंश्वाजातिमात्रस्यैवं प्रशस्तत्वात् सः क्रतुनिष्पादकः  
'प्रकृतोऽयः' प्रशस्त इति किमु वक्तव्यः ।

अथैकादशीमाह,—“तत्र शरीरं पतयिष्यु अर्वन्तव चित्तं वात इव  
ध्रुजीमान् । तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुचरण्येषु जर्भुराणा चरन्ति<sup>(११)</sup>”  
इति । हे 'अर्वन्', 'तव' 'शरीरं' 'पतयिष्यु' (पतनशीलं) शीघ्र-  
गमनशीलमित्यर्थः । 'तव' 'चित्तं' 'वात इव' (वातसदृशश्च) । वायुः  
कीदृशः ?—'ध्रुजीमान्' (अत्यन्तगतिमान्) । 'तव' 'शृङ्गाणि' (शृङ्ग-  
स्थानीयानि) उपरि प्रक्षिप्तानि आयुधानि 'विष्ठिता' (विशेषेण तत्र  
स्थितानि सादितानि । अश्वस्योपरि कचिदिषुधिः कचित् खड्ग इत्येवं  
बहूनि आयुधानि प्राप्यन्ते, तानि च पुरुषु (बहुषु) 'अरण्येषु' ग्रामेभ्यो  
'बहिर्भूतेषु' दुर्गप्रदेशेषु परसैन्यानि अतिशयेन भरमाणानि 'चरन्ति'  
(प्रवर्तन्ते) ।

द्वादशीमाह,—“उप प्रागाच्छंसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा  
दीध्यानः । अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात् कवयो यन्ति  
रेभाः<sup>(१२)</sup>” इति । 'वाजी' (क्रतुद्वारां अनुचरेतुः) 'अर्वा' (अयमश्वः)  
'शंसनं' (अस्मिन् क्रतौ विश्रमनस्थानं) प्रति 'उप' 'प्रागात्' (समीपं  
प्राप्तवान्) । किं कुर्वन् ?—'देवद्रीचा' 'मनसा' 'दीध्यानः' देवान्  
अश्नुति प्राप्नोतीति देवद्रुहः, तादृशेन निरन्तरं देवविषयेण मनसा

धामं कुर्वन्, 'अजः' (प्रजापतिः), 'पुरः' 'नीयते' (अस्मादस्मात् पूर्वम् ऋत्विग्भिर्नीयते), प्रजापतिः पुरतो गच्छत ऋत्विजो ध्यायन्ती-  
त्यर्थः । यदा ह्यग एव 'अजः', स हि अश्वस्य पुरो नीयते । 'अस्य'  
(अश्वस्य) 'नाभिः' (नाभ्युपलक्षितं शरीरं) प्रजापतिम् 'अनु' 'नीयते' ।  
अस्य अश्वस्य 'पश्चात्' (पृष्ठभागे) 'क्वयः' (विद्वांस ऋत्विजः) 'रेभाः'  
'यन्ति' (स्तुतिं कुर्वाणा गच्छन्ति) ।

त्रयोदशीमाह,—“उप प्रागात् परमं यत् सधस्थमर्वाः अश्वा  
पितरं मातरश्च । अद्या देवान् जुष्टतमो हि गम्या अथा शास्ते  
दाशुषे वार्याणि<sup>(१९)</sup>” इति । 'अर्वान्' (शीघ्रगमनवान्, अयमश्वः),  
'परमम्' (उत्कृष्टं) 'यत्' 'सधस्थं' (शमितभिः सह स्थातुं योग्यं, यत्  
स्थानमस्ति तत् 'उप' 'प्रागात्' (तत्समीपं प्राप्तवान्) । किमर्थं—  
'पितरं' 'मातरश्च' अपि प्राप्तुं,—स्वर्गे दिव्यो यः पिता या च माता  
दिव्या, तावुभौ प्राप्तुं, देवताजन्मनो स्वस्य स्वर्ग इत्यर्थः । 'हे अश्व'  
'अद्य' (अस्मिन्दिने) 'जुष्टतमः' (अतिशयेन अतिप्रीतः सन्) 'देवान्'  
'गम्याः' (प्राप्नुहि) । 'अथ' (अनन्तरं) 'दाशुषे' (हविर्दत्तवते)  
यजमानाय 'वार्याणि' (वरणीयानि फलानि) अयम् ऋत्विक्सह  
'आशास्ते' (प्रार्थयति) ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टव्यम्—  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥०॥

• मां नो मित्रो बरुणो अयमायुरिन्द्रं कृभुक्षा मरुतः  
परिख्यन् । यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तैः प्रवक्ष्यामो  
विदथे वीर्याणि<sup>(१)</sup> । यन्निर्णिजा रेकणसा प्रावृतस्य  
रातिं यभीतां मुखतो नयन्ति । सुप्राङ् अजो मेम्यद्  
विश्वरूप इन्द्रापूर्णाः प्रियमर्प्येति पायः<sup>(२)</sup> । एष  
छागः पुरो अश्वेन वाजिनो पूर्णो भागो नीयते  
विश्वदेव्यः । अभिप्रियं यत् पुरोडाशमर्वता त्वष्टेत् ॥  
॥ १ ॥

• एनः सौश्रवसाय जिन्वन्ति<sup>(३)</sup> । यद्द्विष्यन्मृतुशो  
देवयानं चिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति । अत्रा पूर्णाः  
प्रथमो भाग इति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्त्रजः<sup>(४)</sup> ।  
होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शःस्ता  
ः सुविप्रः । तेन यज्ञेन स्वरं कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ  
युणध्वं<sup>(५)</sup> । यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चपालं ये अश्व-  
यूपयु तक्षति । ये चार्वाते पंचनः सम्भरन्त्युतो ॥  
॥ २ ॥

तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु<sup>(६)</sup> । उप प्रागात् सुमन्त्रे-  
धायि मन्त्रं देवानामाशः उपवीतपुष्टः । अन्वेनं  
विप्रा कृषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चक्रमा सुबन्धु<sup>(७)</sup> ।  
यद्वाजिनो दामं सदानमर्वतो या शीर्षण्या रशना

रज्जुरस्य । यद्वा घास्य प्रमृतमास्ये तृणः सर्वा तां ते  
अपि देवेष्वस्तु<sup>(८)</sup> । यदश्वस्य क्रविषः ॥ ३ ॥

मक्षिकाश्च यद्वा स्वरौ स्वधितौ रित्तमस्ति । दृष्टस्त-  
योः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा तां ते अपि देवेष्वस्तु<sup>(९)</sup> ।  
यद्वधमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो  
अस्ति । सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तु मेधः शृतपाकं  
पचन्तु<sup>(१०)</sup> । यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं  
निहतस्यावधावति । मा तद्भूम्यामा श्रिषन्; मा तृणेषु  
देवेभ्यस्तदुशङ्क्षो रातमस्तु<sup>(११)</sup> ॥ ४ ॥

इत् । उतो । क्रविषः । श्रिषन् । सप्त च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
अष्टमोऽनुवाकः ॥ \* ॥

सप्तमोऽनुवाकेऽश्वस्तोमीयमन्त्राः केचिदुक्ताः । अश्वस्य स्तोत्रमश्व-  
स्तोमः, तत्प्रतिपादका अश्वस्तोमीयाः । अथाष्टमे त एवान्ये केचिद्  
उच्यन्ते । अनुवाकभेदस्तु, साम्प्रदायिकः, अयज्ञसंयुक्तेषु प्रयोगेषु  
गन्तव्यभेदार्थो वा । तत्राष्टमे प्रथमानुचमाह,—“मा नो मित्रो  
वरुणो अर्यभायुरिन्द्र चक्षुषा मरुतः परिख्यन् । यद्वाजिनो देव-  
जातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदधे वीर्याणि<sup>(१)</sup>” इति । मित्रादयः

प्रसिद्धाः । एति सर्वदा गच्छतीति 'आयुः' \* । 'ऋभवो देवाः क्षीयन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति 'ऋभुनाः' (प्रजापतिः) । 'मरुतः' देवान्तराणि, ते सर्वेऽपि 'नः' (अस्मान्) 'मा' 'परिख्यन्' (मा निन्दयन्तु) । 'यत्' (यस्मात्) 'वाजिनः' (यागद्वारा अन्नसाधनस्य) 'देवजातस्य' (देवार्थ-सुत्पन्नस्य) 'सन्नेः' (अश्वस्य) 'वीर्यणि' (सामर्थ्यानि) 'विदथे' (अस्मिन् यज्ञे) 'प्रवक्ष्यामः' 'वयं' (प्रकर्षेण कथयिष्यामः) । तस्मादस्मिन्निन्दा न युक्तेत्यर्थः ।

अथ द्वितीयामाह,—“यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति । सुप्राङ् अजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः<sup>(१)</sup>” इति । 'निर्णिजा' (प्रोक्षणादिहृतया शुद्ध्या), 'रेक्णसा' (सुवर्णरजतादिमणिरूपेण धनेन) 'प्रावृतस्य' (प्रकर्षेण सर्वतो वेष्टितस्य); अश्वमेधे हि 'चत्वार ऋत्विजः समुक्षन्ति' इति (प्रोक्षन्तीति) प्रोक्षणं, 'हिरण्यया वाचा' इत्यादिना सुवर्णादिमणि-भिरलङ्कारस्याभिधीयते । अतस्तथाविधस्य सम्बन्धिनीं 'गृभीतां' (हस्ते स्वीकृतां) 'रातिं' (हविषो दानं) 'मुखतः' (अग्रे) 'यत्' (यदा) 'मेयन्ति' (ऋत्विजः सम्पादयन्ति), तदानीम् 'अजः' (गतिमान् अश्वः) 'सुप्राङ्' (सुष्ठु प्रकृष्टान् देवान् प्राप्नुवन्) 'मेम्यत्' (मेम्यदिति हेष्वाश्वज्दानुकरणं) । 'विश्वरूपः' (नानारूपः) सन् 'इन्द्रापूष्णोः' (इन्द्रपूषंप्रभृतीनां देवानां) 'प्रियं' 'पांथः' 'अप्येति' (प्रीतिकरमन्नभागं प्राप्नोति) ।

\* . आयुर्वायुः इत्येवंरूपः कश्चित् पाठो भवितुं युक्तः ।

अथ तृतीयामाह,—“एष ऋगः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेवः । अभिप्रियं यद् पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेन सौअवसाय जिन्वति<sup>(१)</sup>” इति । ‘वाजिना’ (अन्नसाधनेन) ‘अश्वेन’ सह यः कश्चित् अजः ‘पुरो’ ‘नीयते’ (तस्मादश्वात् पूर्वभागे) । कीदृशोऽजः ?—‘पूष्णो भागः’ (पूषदेवताया भागस्वरूपः); ‘विश्वदेवः’ (विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितः); ‘अभिप्रियं’ (सर्वतः प्रीतिकरं, पुरोडाशवत् स्वादुभूतम्) ‘एनम्’ (अजं) ‘अर्वता’ (अश्वेन सह) ‘त्वष्टे’ (त्वष्टैव) ‘सौअवसाय’ (श्रूयते सर्वैरपि जनैः प्रीतिपूर्वकमिति श्रवोऽन्नं, सुष्ठु अवः सुअवस्तस्य भावः सौअवसः तस्मै, सम्यक्शोभनभावाय) ‘यत्’ (यस्मात् कारणात्) ‘जिन्वति’ (प्रीणयति), तस्मादयमजः ‘पुरो’ ‘नीयते’ । अश्वमेधप्रकरणे ‘पौष्णमन्वञ्चम्’ इत्येवं पूषदेवताकमजं विधास्यति, स पूर्वा नेतव्यः; तद्विषयोऽयं मन्त्रः । अनेन न्यायेन पूर्वमन्त्रोऽप्यजविषयो योजयितव्यः, अश्वमेधप्रकरणे, ‘ऐन्द्रापौष्णमुपरिष्ठात्’ इति व्यासक्तदेवताकस्य अजस्य विहितत्वान्मन्त्रे च तस्मिन्नजशब्दस्य, ‘मेम्यत्’ इतियोग्यशब्दानुकरणस्य च श्रूयमाणत्वात् ।

अथ चतुर्थीमाह,—“यद्भुविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मासुषाः पर्यंश्च नयन्ति । अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः<sup>(२)</sup>” इति । ‘यत्’ (यत्र) ‘मानुषाः’ (ऋत्विजः) ‘अश्वं’ ‘त्रिः’ ‘परि’—‘नयन्ति’ (त्रिवारं प्रदक्षिणं कुर्वन्ति) । कीदृशमश्वं ?—‘हविष्यं’ (हविषो योग्यं), ‘चतुशो’ ‘देवयानं’ (चतावृतौ देवान् गच्छन्तं); ‘अत्र’ (अस्मिन् देशे) ‘अजः’ ‘प्रथमः’ ‘एति’ । कीदृशो-

ऽजः ?—‘पूष्णः’ ‘भागः’ । ‘किं कुर्वन्?’—‘देवेभ्यः’ ‘यज्ञं’ ‘प्रति-  
वेदयन्’ (हे देवाः, यज्ञः प्रवर्त्तते इत्येवं देवेभ्यो ज्ञापयन्) ।

पञ्चमीमाह,—“होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो यावयाभ उत  
शंस्ता सुविप्रः । तेन यज्ञेन स्वरङ्गतेन खिष्टेन वक्षणा आपृणध्वम्<sup>(५)</sup>”  
इति । यो यस्मिन् यज्ञे ‘होताः’ विद्यते, यश्च ‘अध्वर्युः’, ‘आवयाः’  
(‘आ’-समन्ताद् वेति गृच्छति तत्रतत्रानुष्ठानाय शीघ्रं प्रवर्त्तते  
इति ‘आवयाः’), योऽपि ‘अग्निमिन्धः’ (अग्नेर्दोषकः अग्नीध्रः), यस्तु  
‘यावयाभः’ (यावस्तुतः), ‘उत’ (अपि च) ‘शंस्ता’ (यः प्रशस्ता), यश्च  
‘सुविप्रः’ (प्रस्तोता), एते सर्वेऽपि ‘स्वरङ्गतेन’ (सुष्ठु अलङ्कृतेन,  
अपेक्षितद्रव्यैः सम्पूर्णैनेत्यर्थः) ‘खिष्टेन’ (सुष्ठु अनुष्ठितेन) ‘यज्ञेन’  
(अश्वमेधेन) ‘वक्षणाः’ (फलवाहिनीर्घृतकूल्याः) ‘आपृणध्वं’,—हे  
होत्रादयः यूयं सर्वेऽपि आपूरयध्वं ।

अथ षष्ठीमाह,—“यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्व-  
यूपाय तक्षति । ये चर्विते पचन् सभरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्न  
इन्वतु<sup>(६)</sup>” इति । ‘ये’ ‘यूपव्रस्का’ (यज्ञार्थं यूपं व्रश्चन्ति), ‘उत’ (अपि  
च) ‘ये यूपवाहाः’ (किन्नं यूपं यज्ञभूमौ वहन्ति), ‘ये’ऽप्यन्ये अश्व-  
यूपार्थं ‘चषालं’ (यूपकटकं) ‘तक्षति’ (तक्षणेन संस्कुर्वन्ति); ‘उतो’  
(अपि च) ‘ये’ऽप्यन्ये पुरुषाः ‘अर्वते’ (अर्वार्थं) ‘पचन्’ (पाकसाधन-  
काष्ठं) ‘सभरन्ति’ (सम्पादयन्ति), ‘तेषां’ सर्वेषां ‘अभिगूर्त्तिः’  
(सङ्कल्पः) ‘नः’ (अस्मान्) ‘इन्वतु’ (प्रीणयतु) ।

अथ सप्तमीमाह,—“उप प्रागात् सुमन्त्रेऽधायि मन्त्र देवानामाशा  
उपवीतपृष्ठः । अन्वेनं विप्रा चक्षयो मदन्ति देवानां पुष्टे चक्षमा



सुबन्धुम्<sup>(७)</sup>” इति । सुष्ठु मदहेतुरतिर्हर्षकारणं फलं ‘सुमत्’, तदज्ञान्  
 ‘उप प्रागात्’ (समीपे प्राप्नोति) ‘मन्म’ (मननीयं फलं) ‘मे’  
 (मदर्थम्) ‘अधाधि’ (देवैः सम्पादितं) । ‘उपवीतपृष्ठः’ (कमनीयपृष्ठो-  
 ऽयमश्वः) ‘देवानामाशाः’ (देवैराशासनीयानि) हवींषि उप प्रागाः  
 देवहविष्टं प्राप्नोतीत्यर्थः । ‘अधयः’ ‘विप्राः’ (अभिज्ञातार चत्विजः)  
 ‘एनम्’ (अश्वम्) ‘अनु’ ‘मदन्ति’ (अनुकूलैः स्तोत्रैर्हर्षयन्तु); ‘देवानां’  
 ‘पुष्टे’ (पुष्ट्यर्थं) ‘सुबन्धु’ ‘चकम्’ (एनमश्वं बन्धुवदत्यन्तप्रियं चकम्) ।

अथाष्टमीमाह,—“यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षणा  
 रशना रज्जुरस्य । यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये त्वणः सर्वा ता ते अपि  
 देवेष्वस्तु<sup>(८)</sup>” इति । ‘वाजिनः’ (अश्वस्य) ‘यत्’ ‘दाम’ (गलबन्धनं),  
 यच्च ‘सन्दानं’ (पृष्ठपादे बन्धनसाधनं दाम, पादसन्दानादि), अश्व  
 गले बद्धा अपि पुनः पृष्ठपादे रज्ज्वन्तरेण वध्यन्ते । ‘या’ च ‘अर्वतः’  
 (अश्वस्य) ‘शीर्षणा’ ‘रशना’ (शिरसि सम्बद्धा रज्जुः), स्यादप्यन्या  
 पुष्कलग्ना ‘अस्य’ (अश्वस्य) ‘रज्जुः’; ‘यद्वा’ (यदपि) ‘आस्ये’ (मुखे)  
 ‘प्रभृतं’ (क्षिप्तं) ‘त्वणं’ ‘सर्वा ता’ (तत्सर्वमपि) ‘देवेषु’ ‘अपि’ प्राप्तं  
 ‘अस्य’ ‘ते’ (तव) यजमानस्य ‘अस्तु’ (विद्यतां), यथेह लोके  
 सर्वसाधनसम्पूर्णेऽश्वस्तवास्ति, तदत् परलोकेऽप्यस्त्वित्यर्थः ।

अथ नवमीमाह,—“यदश्वस्य क्रविषो मत्तिकाश्च यद्वा स्वरौ  
 स्वधितौ रिप्तमस्ति । यद्वास्तयोः शमितुर्यन्त्रखेषु सर्वा ता ते अपि  
 देवेष्वस्तु<sup>(९)</sup>” इति । ‘अस्य’ (अश्वस्य) ‘क्रविषः’ (क्रव्यं) ‘यत्’ (मांसं),  
 ‘मत्तिका’ ‘आश’ (भक्षितवती), ‘यद्वा’ (यच्च) रक्तं ‘स्वरौ’ (अञ्जनार्थं  
 शकले) ‘स्वधितौ’ (वेदनहेतौ) शस्त्रे च ‘रिप्तं’ (ईषक्षिप्तं) अस्ति,

‘यत्’ अपि ‘शमितुः’ ‘हस्तयोः’ लिप्तं, यच्च तर्दीयेषु ‘नखेषु’ लिप्तं, हे अंश्च ‘ते’ (त्वदीयं) ‘सर्वा तां’ (तत्सर्वं) ‘देवेषु’ अपि ‘अस्तु’ (देवेभ्येव ऊतं भवद्भु) । यथा पूर्वमन्त्रे नियोजनकालीना गलशिरःपादादिबन्ध-  
नरञ्जवो देवेषु समर्पिताः, एवमत्र मांसलेष्टोऽपि देवेषु समर्प्यते ।

अथ दशमीमाह,—“यद्वृषसुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति । सुहृता तच्छमितारः कृण्वन्त मेधः शृतपाकं पचन्तु<sup>(१०)</sup>” इति । ‘उदरस्य’ मध्ये ‘यत्’ ‘जवधं’ (अर्द्धं जीर्णं पक्वं शकृदादि) गन्धरूपेण वायुना सह आगच्छति, ‘यः’ ‘आमस्य’ (अपक्वस्य) ‘क्रविषः’ (मांसस्य) ‘गन्धः’ दुःसहः ‘अस्ति’, तत्सर्वं ‘सुहृता’ (सुहृतां) यथा भवति तथा ‘शमितारः’ ‘कृण्वन्तु’ । ‘उत’ (अपि च) ‘मेधं’ (यज्ञयोग्यं) ‘शृतपाकं’ (अपाकविपाकौ परित्यज्य सम्यक् पक्वं यथा भवति तथा ‘पचन्तु’ ।

अथैकादशीमाह,—“यन्ने गात्रादग्निना पच्यमानादग्निं शूलं निहतस्यावधावति । मा तद्भूम्यामां शिषन्मा त्वणेषु देवेभ्यस्तदुशङ्घो रातेमस्तु<sup>(११)</sup>” इति । हे अश्व, ‘अग्निना’ ‘पच्यमानात्’ ‘ते’ (तव) ‘गोचात्’ (शरीरावयवसकाशात्) ‘यत्’ अल्पम् ‘अवधावति’ (अशृतं सङ्गमौ पतति), ‘निहतस्य’ (नितरां हन्यमानस्य) तव ‘अग्निं शूलं’ (शूले सक्तं) यद्यदङ्गम् ‘अवधावति’ ‘तत्’ (अङ्गं) भूम्यामपि ‘मा शिषन्तु’ (स्निष्टं लग्नं मा भूत्) किन्तु ‘उशङ्घाः’ (कामयमानेभ्यः) ‘देवेभ्यः’ ‘रातं’ (दत्तम्) ‘अस्तु’ ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहितांशे चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥०॥

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं स ईमाहुः सुरभि-  
 निर्हरेति ये चार्वातो मांसमिक्षामुपासत उतो तेषां  
 अभिगूर्त्तिर्न इन्वतु<sup>(१)</sup> । यन्नीक्षणं मांसस्य च न्या पुखाया  
 या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि । ऊष्ण्यापिधाना  
 चरूणामङ्गाः सूनाः परि भूषन्त्यश्वं<sup>(२)</sup> । निक्रमणं नि-  
 षदनं विवर्त्तनं यच्च पञ्चीशमर्वतः । यच्च पपौ यच्च  
 घासिं ॥ १ ॥

जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु<sup>(३)</sup> । मा त्वाग्नि-  
 ध्वनयिद्धूमगन्धिर्मोखा आजन्त्यभि विक्तु जग्निः । इष्टं  
 वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः । प्रति गृभ्णन्त्य-  
 श्वं<sup>(४)</sup> । यदश्वा य वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिर-  
 ण्यान्यस्मै । सन्दानमर्वन्तं पञ्चीशं प्रिया देवेषा  
 यामयन्ति<sup>(५)</sup> । यत्ते सादे महसा श्रूकतस्य पाष्णिंया  
 वा कशया ॥ २ ॥

वा तुतोद सुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते  
 ब्रह्मणा हृदयामि<sup>(६)</sup> । चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धो-  
 र्दङ्कीरश्वस्य स्वधितिः समेति । अच्छिद्रा गात्रा वयुना  
 कृणोत परुष्यरुनुद्युष्टां वि शस्त<sup>(७)</sup> । एकस्त्वष्टुरश्वस्या  
 विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथर्तुः । या ते  
 गात्राणामृतुया कृणोमि ता तां पिण्डानां प्रमुहे-  
 म्यग्नौ<sup>(८)</sup> । मा त्वा तपत् ॥ ३ ॥

• प्रिय आत्माऽपि यन्तं मा स्वधितिस्तनुष आ ति-  
ष्ठिपत्ते । मा ते युधुरविशस्तातिहाय छिद्रा गांजा-  
ग्यसिना मिथु कः<sup>(९)</sup> । न वा उवेतन् म्रियसे न  
रिध्यसि देवाः । इदैषि पृथिभिः सुगेभिः हरी ते युञ्जा  
पृषती अभूतामुपास्थाद्वांजी धुरि रासभस्य<sup>(१०)</sup> । सु-  
गव्यं नो वाजी स्वश्वयं पुंसः पुत्राः उत विश्वापुषः  
रयिं । अनागास्त्वन्नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो  
वनताः हविष्मान्<sup>(११)</sup> ॥ ४ ॥

घ्रासिं । कश्या । तपत् । रयिं । नव च ॥ ६ ॥

इति तैतिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके  
नवमोऽनुवाकः ॥०॥

अश्वन् । य इमा । उदैन् । आशुः शिशानः । प्राचो ।  
जीमूतस्य । यदक्रन्दः । मां नो मित्रः । ये वाजिनः ।  
नव ॥ ६ ॥

अश्वन्<sup>(१-१)</sup> । मनोयुजं<sup>(२-१)</sup> । प्राचीमनु<sup>(५-१)</sup> । शमी  
यच्छतु<sup>(६-१)</sup> । तेषामभिगूर्तिः<sup>(७-१)</sup> । षट्चत्वारिंशत्\* ॥  
॥ ४६ ॥

समाप्तः षष्ठः प्रपाठकः ॥०॥

॥०॥ हरिः ओम् ॥०॥

प्रथमे ५ । द्वितीये ६ । तृतीये ७ । चतुर्थे ५ । पञ्चमे ६ । षष्ठे ७ ।  
सप्तमे ५ । अष्टमे ७ । नवमे ७ । समष्टिः ४६ ॥

अष्टमेऽनुवाके पूर्वानुवाकवदशस्तोमीयाः केचिन्मन्त्रा उक्ताः ।  
 अथ नवमेऽवशिष्टा अश्वस्तोत्रमन्त्रा उच्यन्ते । तत्र प्रथमाष्टकमाह,—  
 “ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाजः सुरभिर्निर्हरेति । यं  
 चार्वतो मांसमिच्छामुपासत उतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इत्थत्<sup>(१)</sup>” इति ।  
 ‘ये’ (पुरुषाः) ‘वाजिनम्’ (एतमश्व) ‘पक्वं’ (पाकं प्राप्तं) ‘परिपश्यन्ति’  
 (परित आगत्य आदरेण पश्यन्ति) ; ‘ये’ ‘ई’ (येऽप्यन्ये) ‘सुरभिः’  
 (सुगन्धोऽयमश्वः) अस्मान्निष्कृत्याल्पमाहरेति ‘आजः’ ; ‘उतो’ (अपि  
 च) ‘ये च’ अन्ये ‘अर्वतः’ (अश्वस्य सम्बन्धिनां) ‘मांसमिच्छाम्’ ‘उपासते’  
 (प्रार्थयन्ते) ; ‘तेषां’ सर्वेषाम् ‘अभिगूर्त्तिः’ (सङ्कल्पः) ‘इत्थत्’ (प्राप्नोतु),  
 अस्माकं श्रेयसे भवत्वित्यर्थः ।

अथ द्वितीयामाह,—“यन्नीक्षणं मांसस्य च न्या उखाया या पात्राणि  
 यूष्ण आसेचनानि । जम्भण्यापि धाना चरूणामङ्गाः सूनाः परि  
 भूषण्यश्वम्<sup>(२)</sup>” इति । मांसं पच्यते यस्यामुखायां सा ‘मांसीक्ष्णी’  
 तस्या ‘उखाया’ ‘नीक्षणं’ (नितरामीक्षणम्, आदरेण दर्शनं) ‘यत्’  
 अस्ति, यानि च ‘पात्राणि’ ‘यूष्णो’ (रसस्य) ‘आसेचनानि’ (सर्वतः  
 सेचकाधारभूतानि), ‘चरूणाः’ (मांसादीनां) ‘अपि’ ‘धाना’ (आ-  
 च्छादनपात्राणि), ‘जम्भण्या’ (जम्भरक्षणार्थानि) यानि सन्ति, ‘अङ्गाः’  
 (मांसलेनाङ्गेनाङ्किताः), ‘सूनाः’ (स्वधितिचेतसश्चाखाद्याः) याः सन्ति,  
 तानि सर्वाणि ‘अश्वं’ ‘परि’—भूषयन्ति,—अश्वस्य यत् कार्यं तदेव  
 कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अथ तृतीयामाह,—“निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पञ्चीश-  
मर्वतः । यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेभ्यस्तु(१)”  
इति । ‘निक्रमणम्’ (अश्वस्य पादप्रक्षेपस्थानं), ‘निषदनं’ (निवास-  
स्थानं) च ‘यत्’ अस्ति; ‘वत्’ अपि ‘अर्वतः’ (अश्वस्य) ‘पञ्चीशं’  
(पादबन्धनस्थानं, पादलुण्णरजो वा) अस्ति, ‘यत्’ अपि उदकं ‘पपौ’,  
‘यच्च’ ‘घासिं’ (वृणादिकं) ‘जघास’ (भक्षितवान्), ‘ते’ (त्वदीयां)  
‘सर्वा ता’ (तत्सर्वं) ‘देवेषु’ ‘अपि’ ‘अस्तु’ (देवेभ्येव समर्पितं  
भवतु) ।

चतुर्थीमाह,—“मा त्वाग्निध्वनयिद्धूमगन्धिर्माखा भ्राजन्यभि-  
विक्तं जघ्निः । इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्ण-  
न्यश्वम्(२)” इति । हे अश्व, त्वां ‘धूमगन्धिः’ (धूमगन्धापादकः)  
‘अग्निः’ ‘मा’ ‘ध्वनयित्’ (पाकशब्दोपेतं\* मा करोतु);—काष्ठविशेष-  
युक्तेन केनचिदग्निना पकम् ओदनादिकं धूमगन्धोपेतं भवति, तथा  
दुष्पाकेन कुशब्दं यथा भवति तथा पच्यते, तदुभयमत्र मा भूदि-  
त्यर्थः । किञ्च, ‘भ्राजन्ती’ ‘उखा’ (सम्यक् तप्ता खाली) ‘मा’ ‘अभि’  
‘विकृ’ (अतिपाकेनाभितो विक्तं विदग्धं मा करोतु) । त्वं तु ‘जघ्निः’  
(आघ्राणयोग्यः, सुगन्धः) भवेति शेषः । ‘इष्टं’ (अत्यन्तेच्छाविषयं),  
‘वीतं’ (कान्तं रमणीयपाकं) ‘अभिगूर्त्तं’ (देवयोग्यमस्त्विति यजमानैः  
सङ्कल्पितं), ‘वषट्कृतं’ (वषट्कारेण\* प्रदत्तम्), ‘अश्वं’ देवाः ‘प्रति-  
गृभ्णन्ति’ (स्वीकुर्वन्तु) ।

---

“पाकं शब्दोपेतं” इति सर्वत्र पाठो न संभ्यक् ।

अथ पञ्चमीमाह,—“यदश्वाय कस उपसृण्वध्यावासं द्य  
हिरण्यन्यस्मै । सन्दानमर्वन्तं पङ्चीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति<sup>(१)</sup>”  
इति । इत्यमानस्य अश्वस्य अधस्तादस्त्रमुपरिष्ठाञ्च किञ्चिदस्त्रं प्र-  
सारयन्ति, तदच वासःशब्देनाधीवासशब्देनोच्यते\* ‘यत्’ ‘वासः’ अश्वार्थं  
‘उपसृणन्ति’ (अधः सम्प्रसारयन्ति), यच्च ‘अधिवासम्’ उपरि  
आच्छादयन्ति, यानि चान्यानि हिरण्यमयादीनि ‘अस्मै’ (अश्वार्थं)  
सम्पादितानि, ‘अर्वन्तं’ (अर्वतोऽश्वस्य) यत् ‘सन्दानं’ (बन्धनसाधनं  
दाम), यच्च ‘पङ्चीशं’ (पादबन्धनस्थानगता रज्जुः) तानि सर्वाणि  
‘देवेषु’ प्रियाणि भूत्वा ‘आ’—‘यामयन्ति’ (सर्वतः प्रसारयन्तु) ।

अथ षष्ठीमाह,—यत्ते सादे महसा शूङ्गतस्य पार्ष्णिथा वा  
कश्या वा तुतोद । सुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा  
सूदयामि<sup>(१)</sup>” इति । हे अश्व, तव ‘सादे’ (गमने) ‘शूङ्गतस्य’  
(शूङ्कारो ध्वन्यनुकरणं, प्रौढस्याश्वस्य शीघ्रगमने शूङ्कारो आबते,  
तद्युक्तस्य†) शीघ्रगमनाय उपर्यारूढः ‘पार्ष्णिथा’ (स्वकीयया पादपृष्ठ-  
भागेन) हस्तपृष्ठतया ‘कश्या’ ‘वा’ ‘तुतोद’ (यथा चकार) । ‘ते’  
(त्वदीयं) ‘सर्वा’ ‘ता’ (तत्सर्वं) ‘ब्रह्मणा’ (मन्त्रेण) ‘सूदयामि’ (जुहोमि) ।  
तत्र दृष्टान्तः,—‘अध्वरेषु’ हविःसम्बन्धीनि तानि सर्वाणि आज्याहि-  
विशेषरूपाणि ‘सुचेव’ (यथा सुचा आज्यं जुहति तद्वत्) ।

सप्तमीमाह,—“चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वक्त्रोरश्वस्य स्वधितिः

\* “वासःशब्देन अधीवासः । शब्देनोच्यते” इत्येवं सर्वत्र पाठः । अतो-  
ऽनुमिनोमि सर्व्वाण्येवास्मदधिगतानि युक्तकानि एकादर्शमूलकानीति ।

† अत्र ‘महसा’ इत्यस्य व्याख्या पतितेव लक्ष्यते ।

समेति । अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परस्पररनुद्युथा विशस्त<sup>(७)</sup>”  
इति । ‘वाजिनः’ (अन्नसीधनस्य) ‘देवबन्धाः’ (देवप्रियस्य), देवार्थं  
बन्धमानस्य) ‘अश्वस्य’ सम्बन्धिनीः ‘वंक्रीः’ (वक्राणि, पार्श्वद्वयगतानि  
अस्थीनि) एकैकस्मिन् पार्श्वे सप्तदशेत्येवं—चतुस्त्रिंशत्सङ्ख्याकाः; अन्यस्य  
तु पञ्चोः षड्विंशतिरेव । अतः सावधाना ‘स्वधितिः’ अश्वं ‘समेति’  
(सङ्गच्छतां); यथा अस्थिलेशोऽपि हविषि न मिलति, तथा वियुन-  
क्तीत्यर्थः । हे शमितारः, ‘गात्रा’ (हृदयाद्यङ्गानि) ‘अच्छिद्रा’  
‘वयुना’ (छिद्ररहितानि प्रज्ञातानि) यथा भवन्ति, तथा ‘कृणोत’  
(कुरुत) । तत्र चायमुपायः,—‘परस्पररनुद्युथ्य’ (तत्पर्वानुक्रमेण  
तत् ईदृशमिति कथमपि ज्ञात्वा) ‘विशस्त’ (विशसनं कुरुत) ।

अष्टमीमाह,—“एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवत-  
स्तथा अर्तुः । या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां  
प्रजुहोम्यग्नौ<sup>(८)</sup>” इति । ‘त्वष्टुः’ (दीप्तिमतः) ‘अश्वस्य’ ऋतूपलक्षित-  
कालीन ‘एकः’ ‘विशस्ता’ (हंसिता) । तथा ‘द्वा’ ‘यन्तारा’ (विशसन-  
काले यथा इतस्ततो न चलति, तथा नियामकौ द्वौ) । अत  
इकान्यत्र आस्तात्,—‘अग्निगुह्यापापस्य उभौ देवानां शमितारौ’  
इति । हे अश्वं, ‘ते’ (तव) ‘गात्राणां’ (यान्यङ्गानि) ‘अतुथा’  
(ऋतूपलक्षिते तत्तत्काले) ‘कृणोमि’ (उच्छिन्नद्वा), ‘पिण्डानां’  
(मांसपिण्डानां मध्ये) ‘ता’ ‘ता’ (तानि तानि अङ्गानि) ‘प्रजुहोमि’  
‘अग्नौ’ (प्रकर्षेण जुहोमि) ।

तृवमीमाह,—“मा ता तपत् प्रिय आत्माऽपियन्तं मा  
स्वाधमिस्तनव आ तिष्ठिपत्ते । मा ते ऋधुरविशस्तातिहाय छिद्रा



गात्राण्यसिना मिथु कः<sup>(६)</sup>” इति । हे अश्व, ‘अपियन्तं’ (शरीरं  
विस्तृत्य देवान् गच्छन्तं) त्वां ‘प्रिय’ ‘आत्मा’ (प्रीतिहेतुर्वियहः)  
‘भा’ ‘तपत्’ (सन्तापं मा कार्षीत्) । तथा ‘स्वधितिः’ ‘ते’ ‘तनुवः’  
(गात्राणि) ‘मा’ ‘तिष्ठिपत्’ (मा स्थापयतु),—किमप्यङ्गमनवशेय सर्वं  
हिनत्त्वित्यर्थः । ‘अविशस्ता’ (विशसनकौशलरहितः, केवलं मांसदृष्ट्या-  
युक्तः) ‘अतिहाय’ (विशसनकौशलरहितप्रकारमपतिलङ्घ्य) ‘ते’ ‘गात्राणि’  
(तवाङ्गानि) ‘असिना’ (शस्त्रेण) ‘मिथु’ क्छिद्राणि ‘मा’ ‘कः’ (मा  
करोतु) ।

दशमीमाह,—“न वा उवेतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाः इदेषि  
पथिभिः सुगेभिः । हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्यादाजी धुरि  
रासभस्य<sup>(१०)</sup>” इति । शास्त्रानभिज्ञानां लौकिकानां दृष्ट्या त्वमेतत्  
प्रत्यक्षमेव म्रियसे शमितभिर्हिंस्यसे च ; शास्त्रदृष्ट्या तु ‘न वा  
उवेतन् म्रियसे’ (एतन्मरणमेव न भवति), ‘न’ ‘रिष्यसि’—(नापि  
शमितभिर्हिंस्यसे), किन्तु ‘सुगेभिः’ ‘पथिभिः’ (सुगममार्गैः) ‘देवान्’  
‘इदेषि’ (देवानेव प्राप्नोषि) । तत्र देवेषु मध्ये इन्द्रत्वं प्राप्तस्य ‘ते’  
‘हरी’ (हरिनामकावस्थौ) रथे युक्तौ ‘अभूतां’ (सर्वथा भविष्यतः) । एवं  
तथा मरुद्रूपं प्राप्तस्य ‘ते’ ‘पृषती’ चित्रवर्णे अश्वस्त्रियौ ‘युञ्जा’  
‘अभूतां’ (रथे युक्तौ भविष्यतः) । इदानीं ‘रासभस्य’ ‘धुरि’ वर्त्तमानस्य  
(गर्दभवद्गारवाहिनः) तव ‘वांजी’ ‘उपास्यात्’ (त्वां बोधुं कश्चित्  
प्रौढाश्वः प्राप्नो भविष्यति) ।

अथैकोदशीमाह,—“भुगव्यं नो वाजी स्वश्वियं पुःषः । पुत्राः  
उत विश्वापुषः रथिं । अनागास्त्वन्नो अदितिः कृणोतु, क्वचं नो

अश्वो वनतां हविशान्<sup>(११)</sup> इति । अयं 'वाजा', 'नः' (अस्माकं) 'सुगन्ध' (कल्याणगोसमूहः), 'स्वशिय' (कल्याणाश्वसमूहः), 'पुंसः' 'पुञ्चान्' (पुंसस्वस्वक्षणासम्पन्नपुञ्चान्), 'उत' (अपि च) 'विश्यापुषं' (विश्वं पोषयितुं) 'रयिं' (धनं) 'कृणोतु' (करोतु) । 'अदितिः' इयं भूमिः 'नः' (अस्माकं) 'अनागास्व' (अपराधराहित्यं) करोतु । 'हविशान्' (हविःस्वरूपेण निष्पन्नः) अयम् 'अश्वः' 'नः' (अस्माकं) 'क्षत्रं' (बलं) 'वनतां' (सम्पादयतु) । तदेवमेतेषु त्रिषु अनुवाकेषु अश्वस्तोत्रप्रतिपादकत्वेन अश्वस्तोमीया मन्त्राः पञ्चत्रिंशत् आम्नाताः, अवशिष्टास्तु पञ्चमकाण्डे समास्मास्यन्ते । तथा च सूत्रकार आह,— 'क्रमैरत्यक्रमीदित्येताः षट्त्रिंशीम्' इति ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

पञ्चत्रिंशदकन्दानुवाकेषु त्रिषु श्रुताः ।

अश्वस्तोमीयमन्त्रास्तैरिति षष्ठः समीरितः ॥

• अथ मीमांसा,—नवमाध्यायस्य चतुर्थपादे (२अधि०) चिन्तितम् ।

न चतुस्त्रिंशदित्येष निषेधो नियतो न वा ।

गिरा पदवदाद्यः स्यात् नैवकारहतत्वतः ॥

निषेधः प्राप्तिपूर्वोऽतः प्रापकोऽचानुमीयते ।

निषेधप्रापकाभ्याञ्च चतुस्त्रिंशद्विकल्प्यते ॥ •

अश्वमेधे त्रयः सक्नीयाः पञ्चत्रिंशत् श्रुताः,—'अश्वस्तूपरो' गोमृगस्ते प्राजापत्यौ' इति । तेष्वश्वस्य चतुस्त्रिंशदकयः, तथा च मन्त्रः

पथते,—‘चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वक्रीरश्वस्य स्वधितिः सनेति’ इति । वाजी गन्धर्ववाहको जातिविशेषः\* । अत एवान्यत्रास्मायते,—‘इत्यो देवानवहदर्वाऽसुरान् वाजी गन्धर्वानश्वो मनुष्यान्’ इति । देवबन्धुः देवानां प्रियः । स्वधितिश्चेदनेहेतुः शस्त्रमित्यर्थः । एवं सति अभिगुप्तैषे विशेषोऽयमास्मायते,—‘न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्’ इति । सोऽयं ‘चतुस्त्रिंशद्वाजिनः’ इत्यादिकाया ऋचः प्रतिषेधो गिरापदनिषेधवन्नित्यो न तु विकल्पितः, यथा ‘न गिरा गिरेति ब्रूयादैरं कृतोद्देश्यम्’ इत्यत्र गिरापदनिषेधपुरःसरं इरापदे विहिते सति निषिद्धस्य नित्यं निवृत्तिः, तथा चतुस्त्रिंशन्मन्त्रनिषेधपुरःसरं षड्विंशन्मन्त्रे विहिते सति नित्यं निवृत्तिर्निषेधस्येति चेत् । मैवं । ‘षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्’ इत्येवकारेण विधित्वप्रत्ययबाधात्, षड्विंशतिमन्त्रस्त्वावचोदकप्राप्तत्वाच्च विधेयः, तस्य चतुस्त्रिंशन्मन्त्रेण अपवादप्रसक्तौ\* ‘न चतुस्त्रिंशत्’ इत्यनेन अक्षपादकं मन्त्रं प्रतिषिध्य चोदकप्राप्तस्यानपोदितत्वेनां यथापूर्वमवस्थानमनूद्यत इत्येवमर्थं सूचयितुमेवकारः प्रयुक्तः । गिरापददृष्टान्तस्तु विषमः,—अप्राप्तत्वात् इरापदं तत्र विधीयते, तेन च विहितेन पाठप्राप्ते गिरापदे बाधिते स बाधो ‘न गिरा गिरा’ इति निषेधेनानूद्यते । अतो दृष्टान्ते निषेधानुवादः, दार्ष्टान्तिके विध्यनुवाद इति महद्वैषम्यं । ननु ‘विधिवाक्यस्य एवकारस्यानुवादत्वे सति ‘न चतुस्त्रिंशत्’ इत्येतस्मिन्निषेधे कृतं वाक्यतात्पर्यात् निषिद्धस्य नित्यनिवृत्तिसादव-

\* “चतुर्विंशन्मन्त्रेण” इति सर्वत्र पाठो न सम्भक् ।

† “चोदकप्राप्तत्वेन” इति का० इ० पु० पाठः ।

स्य स्यात् । मैवं । प्रापकस्यापि सङ्गावेन निषेधप्राप्तिभ्यां चतुस्तिंशन्मन्त्रस्य विकल्पितत्वात् ।

अथोच्यते—‘चतुस्तिंशद्वाजिन इत्ययं मन्त्रः केवलं स्वरूपेण पठितः, न त्वस्याग्निगुप्रैषवत् प्रापकं किञ्चिदस्ति’ इति, तत्र प्रापकवचनस्य कल्पनीयत्वात्, अन्यथा प्रसक्त्यभावेन प्रतिषेधानुपपत्तेः । तस्मात् प्रसञ्जकेनोपजीव्येवानुमितविधिना प्रत्यक्षनिषेधेन च समान-  
‘चतुस्तिंशत्’ इत्ययं मन्त्रोऽस्यस्याग्निगुप्रैषे विकल्प्यते ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीरबुद्ध-  
भूपांलसाम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-  
प्रकाशनामकतैत्तिरीययजुःसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठः प्रपाठकः  
सम्पूर्णः ॥ ० ॥

॥०॥ श्रीगणेशाय नमः ॥०॥

## अथ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके

प्रथमोऽनुवाकः । ॥

अग्नाविष्णू सजोषसेमा वर्द्धन्तु वां गिरः द्युन्मै-  
र्वाजैभिरागर्त<sup>(१)</sup> । वाजश्च मे प्रसवश्च मे पयतिश्च मे  
प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च  
मे आवश्च मे अतिश्च मे ज्योतिश्च मे सुवश्च मे प्राणश्च  
मेऽपानः ॥ १ ॥

च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तञ्च म आधीतञ्च मे  
वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे ओचञ्च मे दक्षश्च  
मे बलञ्च म ओजश्च मे सहश्च म आयुश्च मे जरा च  
म आत्मा च मे तनूश्च मे, शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि  
च मेऽस्थानि च मे परूःषि च मे शरीराणि च मे<sup>(२)</sup> ॥  
॥ २ ॥

अपानः । तनूश्च मे । अष्टादश च ॥ १ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
प्रथमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

यस्य निश्चितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्भसे तमहं वष्टे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

परिषेचनसुखास्तु संस्काराः षष्ठ ईरिताः ।

वसोर्धारादयः शिष्टाः प्रोच्यन्तेऽस्मिंस्तु सप्तमे ॥

कल्पः, 'अग्नाविष्णू सजोषसेति चतुर्गृहीतः ऊत्वा औदुम्बरीः सुचं, व्यायाममात्रां\* मृदाप्रदिग्धां पश्चादासेचनवतीं घृतस्य पूरयित्वा वाजस्य मे प्रसवस्य मे इति सन्ततां वसोर्धारां जुहोत्यामन्त्रसमापनात्' इति । अत्र हि एकादशभिरनुवाकैर्मन्त्रः समाप्यते । चतुर्गृहीत-होममन्त्रपाठस्तु,—“अग्नाविष्णू सजोषसेमा वर्द्धन्तु वां गिरः । द्युन्मैर्वाजेभिर्गातम्<sup>(१)</sup>” इति । हे 'अग्नाविष्णू', युवां 'सजोषसा' (समानप्रीती भवत) । 'वां' (युवथोः) 'इमा' 'गिरः' (स्तुतिरूपा वाचः) 'वर्द्धन्तु' (वृद्धिं प्राप्नुवन्तु) । युवामपि 'द्युन्मैः' (धनैः) 'वाजेभिः' (अन्त्रैश्च द्युनैः) 'आगतं' (दद्यागच्छतम्) ।

अथैकादशानुवाकात्मिको मन्त्र उच्यते । अनुवाकभेदस्त्वयज्ञसंयुक्ते 'कर्म्मणि धृथङ्मन्त्रत्वेनानुष्ठेयत्वादुपपद्यते । तत्र प्रथमानुवाकपाठस्तु,—“वाजस्य मे प्रसवस्य मे प्रयतिष्य मे प्राः निष्य मे धीतिष्य मे क्रतुष्य मे स्वरस्य मे श्लोकस्य मे आवस्य मे अतिष्य मे ज्योतिष्य मे सुवस्य मे प्राणस्य मेऽपानस्य मे व्यानस्य मेऽसुस्य मे चित्तस्य मे आधीतस्य मे वाक् च मे मनस्य मे चक्षुष्य मे ओचस्य मे दक्षस्य मे बलस्य मे

‘मात्री’ इति सर्वत्र पाठो न संशुक् ।

‘मन्त्रसमाप्यते’ इति सर्वत्र पाठो न समीचीनः ।

‘ओजस्य मे सहस्रं म आयुश्च मे जरा च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थानि च मे पङ्कषि च मे शरीराणि च मे<sup>(१)</sup>” इति । ‘वाजः’ अन्नं । ‘च’-शब्दो वक्ष्यमाण-द्रव्यापेक्षया समुच्चयार्थः । ‘मे’ (मम) कल्पतामितिपदं दशमानुवाकं वक्ष्यमाणं सर्वत्रानुषज्यते, सम्यद्यतामित्यर्थः । ‘प्रसवः’ अन्नस्याभ्यनु-ज्ञानं । ‘प्रयतिः’ शुद्धिः । ‘प्रसितिः’ बन्धनम् (अन्नविषयौत्सुक्यं) । ‘धीतिः’ अन्नधारणं । ‘क्रतुः’ अन्नहेतुर्यज्ञः । ‘स्वरः’ मन्त्रगत उदान्तादिः । ‘श्लोकः’ स्तुतिः । ‘आवः’ आवयितृत्वसामर्थ्यं । ‘श्रुतिः’ श्रवणसामर्थ्यं । ‘ज्योतिः’ प्रकाशः । ‘सुवः’ स्वर्गः । ‘प्राणापानव्यानाः वायुवृत्तिविशेषाः । ‘असुः’ तद्वृत्तिमान् वायुः । ‘चित्तं’ मनोजन्यं ज्ञानं । ‘आधीतं’ तेन ज्ञानेन सर्वदा विषयीकृतं द्रव्यं । वागादय-स्यत्वारः प्रसिद्धाः । ‘दक्षः’ ज्ञानेन्द्रियगतं कौशलं । ‘बलं’ कर्मेन्द्रिय-गतं सामर्थ्यं । ‘ओजः’ बलहेतुरष्टमधातुः । ‘सहः’ वैरिविषयभ-भविहृत्वं । ‘आयुः’ प्रसिद्धं । ‘जरा’ आयुषो बलीपलितादिपर्यन्तत्वं । ‘आत्मा’ शास्त्रप्रसिद्धः परमात्मा । ‘तनूः’ शोभनसन्निवेशं वपुः । ‘शर्म’ सुखं । ‘वर्म’ शरीररक्तकं कवचादि । ‘अङ्गानि’ सम्पूर्णा अवयवाः । ‘अस्थानि’ यथास्थानं स्थितान्यस्थानि । ‘पङ्कषि’ अङ्गुल्यादिपर्वाणि । ‘शरीराणि’ पूर्वमनुक्ताः शरीरावयवाः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके प्रथमोऽनुवाकः ॥०॥

ज्यैष्ठ्यञ्च म आधिपत्यञ्च से मन्युश्च मे भामश्च मे  
 ऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमौ च मे महिमा च मे वरिमा च  
 मे प्रथिमा च मे वर्षा च मे द्राघुया च मे वृद्धञ्च  
 मे वृद्धिश्च मे सत्यञ्च मे अद्वा च मे जगञ्च ॥ १ ॥

मे धनञ्च मे वशश्च मे त्विषिश्च मे क्रीडा च मे  
 मोदश्च मे जातञ्च मे जनिष्यमाणञ्च मे सूक्तञ्च मे  
 सुकृतञ्च मे वित्तञ्च मे वेद्यञ्च मे भूतञ्च मे भविष्यञ्च  
 मे सुगञ्च मे सुपथञ्च म ऋद्धञ्च म ऋद्धिः, च मे  
 क्लृप्तञ्च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे ॥ २ ॥

जगञ्च । ऋद्धिः । चतुर्दश च ॥ २ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
 द्वितीयेऽनुवाकः ॥ ० ॥

.. अथ द्वितीयमाह,—“ज्यैष्ठ्यञ्च म आधिपत्यञ्च मे मन्युश्च मे  
 भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमौ च मे महिमा च मे वरिमा च  
 मे प्रथिमा च मे वर्षा च मे द्राघुयां च मे वृद्धञ्च मे वृद्धिश्च मे  
 सत्यञ्च मे अद्वा च मे जगञ्च मे धनञ्च मे वशश्च मे त्विषिश्च  
 मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातञ्च मे जनिष्यमाणञ्च मे सूक्तञ्च मे  
 सुकृतञ्च मे वित्तञ्च मे वेद्यञ्च मे भूतञ्च मे भविष्यञ्च मे सुगञ्च मे ।



सुपथञ्च म ऋद्धञ्च म ऋद्धिञ्च मे कृप्तञ्च मे कृप्तिञ्च मे मतिञ्च मे  
 सुमतिञ्च मे" इति । 'ज्यैष्ठ्यं' प्रशस्ततमत्वं । 'आधिपत्यं' स्वामित्वं ।  
 'मन्यु-भाम'-शब्दौ क्रोधावान्तरविशेषवाचिनौ,—एको मानसः, अपरो  
 क्षमादिलिङ्गजन्यो वाह्यः । 'अमः' अप्रमेयत्वं, विरोधिभिरित्यतयां  
 परिच्छेत्तुमशक्यत्वं । 'अन्नः' शैत्यमधुर्योपेतमुदकं । 'जेमा' जय-  
 सामर्थ्यं । 'महिमा' महत्त्वं, जयसम्पादितधवादिसम्पत्तिः । 'वरिमा'  
 वरणीयत्वं, पूज्यत्वं । 'प्रथिमा' गृहचेत्त्रादिविस्तारः । 'वर्षा' पुत्र-  
 पौत्रादिशरीराणि । 'द्राघुया' पुत्रपौत्रादिविषयं । दीर्घत्वं, अविच्छिन्ना  
 सन्ततिरित्यर्थः । 'वृद्धं' प्रभूतमन्नं धनञ्च । 'वृद्धिः' विद्यादिगुणै-  
 र्वृत्तवर्धः । 'सत्यं' यथार्थभाषणं । 'अद्धा' परलोकोऽस्तीति बुद्धिः ।  
 'जगत्' जङ्गमाजङ्गमात्मकं । 'धनं' स्वर्णादि । 'वशः' सर्वस्वाधीनत्वं ।  
 'विषिः' शरीरकान्तिः । 'क्रीडा' अक्षयूतादिः । 'मोदः' तज्जन्मा  
 हर्षः । 'जातं' पूर्वसिद्धमपत्यं । 'जनिष्यमाणं' भविष्यदपत्यं । 'भूक्तम्'  
 ऋक्समूहः । 'सुहृतं' तज्जन्यमपूर्वं । 'वित्तं' पूर्वलब्धं । 'वेद्यं' इतः परं  
 लब्धव्यं द्रव्यजातं । 'भूतं' पूर्वसिद्धं चेत्त्रादि । 'भविष्यत्' सन्पत्यमात्रं ।  
 'सुगं' सुष्ठु गन्तव्यं, बन्धुजनयुक्तग्रामान्तरादि । 'सुपथं' चोरादिरहितो  
 मार्गः । 'ऋद्धं' वर्द्धितं धनादिकं । 'ऋद्धिः' अनुष्ठितकर्मफलं ।  
 'कृप्तं' समर्थं स्वकार्यत्तमं द्रव्यं । 'कृप्तिः' स्वकायसामर्थ्यं । 'मतिः'  
 पदार्थमात्रनिश्चयः । 'सुमतिः' दुर्घटराजकार्यनिश्चयः ॥

इति सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टव्यञ्चः—  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे षष्ठमप्रपाठके द्वितीयोऽनुवाकः ॥०॥

‘शञ्च मे मयञ्च मे प्रियञ्च मेऽनुकामञ्च मे कामञ्च  
मे सौमनसञ्च मे भद्रञ्च मे श्रेयञ्च मे वस्यञ्च मे  
यशञ्च मे भगञ्च मे द्रविणञ्च मे यन्ता च मे धर्ता च  
मे क्षेमञ्च मे धृतिञ्च मे विश्वञ्च ॥ १ ॥

मे महञ्च मे संविच्च मे ज्ञाञ्च मे ह्यञ्च मे प्रह्यञ्च  
मे सीरञ्च मे लयञ्च मे ऋतञ्च मेऽमृतञ्च मेऽयक्षञ्च  
मेऽनामयञ्च मे जीवातुञ्च मे दीर्घायुत्वञ्च मेऽनमिच्च  
मेऽभयञ्च मे सुगञ्च मे शयनं, च मे ह्यपा च मे  
सुदिनञ्च मे ॥ २ ॥

विश्वञ्च । शयनम् । अष्टौ च ॥ ३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

.. तृतीयमाह,—“शञ्च मे मयञ्च मे प्रियञ्च मेऽनुकामञ्च मे कामञ्च  
मे सौमनसञ्च मे भद्रञ्च मे श्रेयञ्च मे वस्यञ्च मे यशञ्च मे भगञ्च  
मे द्रविणञ्च मे यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमञ्च मे धृतिञ्च मे  
विश्वञ्च मे महञ्च मे संविच्च मे ज्ञाञ्च मे ह्यञ्च मे प्रह्यञ्च मे  
सीरञ्च मे लयञ्च मे ऋतञ्च मेऽमृतञ्च मेऽयक्षञ्च मेऽनामयञ्च मे  
जीवातुञ्च मे दीर्घायुत्वञ्च मेऽनमिच्च मेऽभयञ्च मे सुगञ्च मे शयनञ्च

मे सुषा च मे सुदिनञ्च मे" इति । 'शं'-शब्द ऐहिकसुखवाची ।  
 'मयः'-शब्द आमुष्मिकसुखवाची । 'द्विधं' प्रीतिकारणं वस्तु ।  
 'अनुकामः' अनुकूलत्वनिमित्तेन काम्यमानः पदार्थः । एतदुभयम्  
 ऐहिकमेव तारतम्योपेतं । 'कामः' आमुष्मिकः स्वर्गादिः । 'सौमनसः'  
 मनःस्वास्थ्यकरो बन्धुवर्गः । 'भद्रः' कल्याणं, इह लोके रमणीयं ।  
 'अथः' परलोकहितं । 'वस्यः' निवासहेतुर्गर्वादिः । 'यशः' कीर्तिः ।  
 'भगः' सौभाग्यं । 'द्रविणं' धनं । 'यन्ता' नियामक आचार्यादिः ।  
 'धर्त्ता' पोषकः पित्रादिः । 'जेमः' विद्यमानधनस्य रक्षणशक्तिः ।  
 'धृतिः' धैर्यम्, आपद्यपि निश्चलत्वं । 'विश्वं' सर्वजनानुकूल्यं । 'महः'  
 पूजा । 'सम्बित्' वेदशास्त्रादिविज्ञानं । 'ज्ञात्रं' ज्ञापयितृत्वसामर्थ्यं ।  
 'सूः' पुत्रादिप्रेरणसामर्थ्यं । 'प्रसूः' भृत्यादिप्रेरणसामर्थ्यं । 'सीरं'  
 लाङ्गलादिकृषिसाधनसम्पत्तिः । 'लयः' तत्प्रतिबन्धनिवृत्तिः । 'ऋतं'  
 यज्ञादिकर्म । 'अमृतं' तत्फलं । 'अयच्छं' राजयक्षादिप्रबलव्याधिरहित्यं ।  
 'अनामयत्' ज्वरादिशिरोव्याध्याद्यल्पव्याधिरहित्यं । 'जीवातुः'  
 जीवनकारणं व्याधिपरिहारार्थमौषधं । 'दीर्घायुत्वं' अपमृत्युराहित्यं ।  
 'अनमित्रं' वैरिराहित्यं । 'अभयं' भयराहित्यं । 'सुगं' शोभनगमनं,  
 सर्वैरङ्गीकृताचरणमित्यर्थः । 'शयनं' शय्योपधानादिसम्पत्तिः । 'सूषा'  
 स्नानसन्ध्यावन्दनादियुक्तः शोभनः प्रातःकालः । 'सुदिनं' यज्ञदाना-  
 ध्ययनादियुक्तं कृत्स्नञ्च दिनम् ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके तृतीयोऽनुवाकः ॥०॥

- जर्कं च मे स्तनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतञ्च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैवञ्च मे त्रैद्विद्यञ्च मे रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टञ्च मे पुष्टिश्च मे विभु च ॥ १ ॥

मे प्रभु च मे बहु च मे भूयश्च मे पूर्णञ्च मे पूर्ण-  
रञ्च मे क्षितिश्च मे कूयवाश्च मेऽन्नञ्च मेऽक्षुञ्च मे  
ब्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे  
मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे गोधूमाश्च मे मसुराः, च मे  
प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे ॥

॥ २ ॥

विभु च । मसुराः । चतुर्दश च ॥ ४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां, चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ० ॥

.. चतुर्थमाह,—“जर्कं च मे स्तनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे  
घृतञ्च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे  
जैवञ्च मे त्रैद्विद्यञ्च मे रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टञ्च मे पुष्टिश्च मे  
विभु च मे प्रभु च मे बहु च मे भूयश्च मे पूर्णञ्च मे पूर्णतरञ्च मे,  
क्षितिश्च मे कूयवाश्च मेऽन्नञ्च मेऽक्षुञ्च मे ब्रीहयश्च मे यवाश्च मे  
माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे गोधूमाश्च मे

मसुराश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे” इति । ‘ऊर्कः’ अन्नसामान्यं । ‘सुनृती’ प्रियोक्तिः । पयःप्रभृतयः अन्नविशेषाः । ‘पयः’ क्षीरं । ‘रसः’ तत्तत्तं सारं । मृतमधुनी प्रसिद्धे । ‘सग्धिः’ बन्धुभिः सह भोजनमित्यर्थः । तथा ‘सपीतिः’ सहपानं । दृषिदृष्टी अन्नहेतुत्वेन प्रसिद्धे । ‘जैत्रं’ जयशीलं सुक्षेत्र-मित्यर्थः । ‘भौद्धिद्यं’ उद्भिदां तरुगुल्मादीनामुत्पत्तिः । ‘रयिः’ सुवर्णं । ‘रायः’ मणिमुक्तादिः । ‘पुष्टं’ पूर्वाक्तमेव सुवर्णमतिसूक्ष्मं । ‘पुष्टिः’ शरीरपोषः । विभ्वादयोः क्षित्यन्ता धान्यविषया उत्तरोत्तरा-भिवृद्धयः सप्तापि तारतम्येन द्रष्टव्याः ; न केवलं प्रवृद्धान्येव धान्यानि किन्तु अन्यान्यपीत्युच्यते\* । ‘कूयवाः’ कुक्षितथवाः । ‘अन्नं’ प्रसिद्धं । ‘अचुत्’ अन्नसाध्यः क्षुत्परिहारः । ‘ग्रीहियवमाष-तिलमुद्गाः’ प्रसिद्धाः । ‘खल्वाः’ मुद्गेभ्योऽपि स्थूलबीजाः । ‘गोधूमाः’ प्रसिद्धाः । ‘मसुराः’ मुद्गवत्सूपहेतवः । ‘प्रियङ्गवः’ प्रसिद्धाः† । ‘अणवः’ सूक्ष्मशालयः । ‘श्यामाकाः’ ग्राम्यधान्यविशेषाः । ‘नीवाराः’ आरण्याः ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्यायजुः-संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके चतुर्थोऽनुवाकः ॥०॥

\* ‘इत्युच्यन्ते’ इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

† ‘प्रसिद्धः’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

१(५)  
- अग्ना च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च  
मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यश्च मेऽयश्च मे  
सीसश्च मे चपुश्च मे श्यामश्च मे लोहश्च मेऽग्निश्च म  
आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्यश्च ॥ १ ॥

मेऽकृष्टपच्यश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च  
यज्ञेन कल्पन्तां वित्तश्च मे वित्तश्च मे भूतश्च मे  
भृतिश्च मे वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च  
मेऽर्थश्च म एमश्च म इतिश्च मे गतिश्च मे ॥ २ ॥

कृष्टपच्यश्च । अष्टाचत्वारिंशच्च ॥ ५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

अथ पञ्चममाह,—“अग्ना च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे  
पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यश्च मेऽयश्च मे  
सीसश्च मे चपुश्च मे श्यामश्च मे लोहश्च मेऽग्निश्च म आपश्च मे  
वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्यश्च मे अकृष्टपच्यश्च मे ग्राम्याश्च मे  
पशव आरण्याश्च यज्ञेन कल्पन्तां वित्तश्च मे वित्तश्च मे भूतश्च मे  
भृतिश्च मे वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च  
म इतिश्च मे गतिश्च मे” इति । ‘अग्नादयः’ प्रसिद्धाः । ‘श्यामं’ कृष्णायसं ।  
‘लोहं’ कांस्यताम्रादि । ‘अग्न्यादयः’ प्रसिद्धाः । ग्राम्यारण्यपशवो

‘यज्ञेन’ निमित्तभूतेन ‘कल्पन्ता’ (समर्थ्या, भवन्तु) । पूर्वं ‘लब्धं’  
 ‘विन्नं’ । ‘विन्तिः’ भाविस्त्वाभः । ‘भूतम्’ ऐश्वर्यापेतं पुत्रादिकं ।  
 ‘भूतिः’ स्वकीयम् ऐश्वर्यादिकं । ‘वसु’ निवाससाधनं गवादिकं ।  
 ‘वसतिः’ निवासाधारो गृहादिः । ‘कर्म’ अग्निहोत्रादि\* । ‘शक्तिः’  
 तदनुष्ठानसामर्थ्यं । ‘अर्थः’ प्रयोजनविशेषः । ‘एमः’ एतत्त्वं प्राप्तव्यं  
 दुर्लभं । ‘इतिः’ अयत्नं दृष्टप्राप्त्युपायः । ‘गतिः’ दृष्टप्राप्तिः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके पञ्चमोऽनुवाकः ॥०॥

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता  
 च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषान् च म  
 इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे मित्रश्च म इन्द्रश्च  
 मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च ॥ १ ॥

म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे विष्णुश्च म  
 इन्द्रश्च मेऽश्विनौ च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च  
 मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे पृथिवी च म इन्द्रश्च  
 मेऽन्तरिक्षश्च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च मे, इन्द्रश्च मे दिशश्च

\* ‘अग्निहोत्रादिः’ इत्यादर्शपुस्तकपाठः ।

† सुखमिति इ० पू० पाठः । सुख्यमिति आदर्शपुस्तकपाठः

स इन्द्रश्च मे मूर्धा च म इन्द्रश्च मे प्रजापतिश्च म  
इन्द्रश्च मे ॥ २ ॥

त्वष्टा च । द्यौश्च मे । एकविंशतिश्च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ षष्ठानुवाकमाह,—“अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च  
मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म  
इन्द्रश्च मे वृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च  
म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे विष्णुश्च  
मे इन्द्रश्च मेऽश्विनौ च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च  
मे देवा इन्द्रश्च मे पृथिवी च म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षश्च म इन्द्रश्च मे  
द्यौश्च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे मूर्धा च म इन्द्रश्च मे  
प्रजापतिश्च म इन्द्रश्च मे” इति । अन्यादयः प्रसिद्धा देवताः ।  
तैः सर्वैः सह समभागोपेतत्वादिन्द्र एकैकया सह पथते । दिक्-  
शब्देन प्राच्याद्यास्तस उच्यन्ते । मूर्द्धशब्देन चोर्द्धा दिक् । सा च  
सुंख्यत्वाभिप्रायेण पृथङ्निर्दिष्टा ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माध्वीयु वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः ॥ ० ॥



अ०शु० मे र०ग्नि० मेऽदा०भ्य० मेऽधि०पति० स  
उपा०शु० मेऽन्तर्या०म० म ऐन्द्र०वा०य०व० मे मै०त्रा०वरु०ण०  
म आ०श्विन० मे प्र०तिप्र०स्थान० मे शु०क्र० मे म०न्यी च  
म आ०ग्र०य०ण० मे वै०श्व०दे०व० मे भ्रु०व० मे वै०श्वान०र० म  
च०तु०ग्र०हा० ॥ १ ॥

मेऽति०ग्रा०ह्या० म ऐन्द्रा०ग्र० मे वै०श्व०दे०व० मे  
म०रु०त्व०ती०या० मे मा०हेन्द्र० म आ०दि०त्य० मे सा०वि०त्र०  
मे सा०र०स्व०त० मे पौ०ष्ण० मे पा०त्नी०व०त० मे हारि०  
यो०ज०न० मे ॥ २ ॥

च०तु०ग्र०हा० । च०तु०स्त्रि०श०च ॥ ७ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अथ सप्तमीमाह,—“अ०शु० मे र०ग्नि० मेऽदा०भ्य० मेऽधि०  
पति० म उपा०शु० मेऽन्तर्या०म० म ऐन्द्र०वा०य०व० मे मै०त्रा०वरु०ण०  
म आ०श्विन० मे प्र०तिप्र०स्थान० मे शु०क्र० मे म०न्यी च म आ०ग्र०य०ण०  
मे वै०श्व०दे०व० मे भ्रु०व० मे वै०श्वान०र० म च०तु०ग्र०हा० मेऽति०ग्रा०ह्या०  
म ऐन्द्रा०ग्र० मे वै०श्व०दे०व० मे म०रु०त्व०ती०या० मे मा०हेन्द्र० मे  
आ०दि०त्य० मे सा०वि०त्र० मे सा०र०स्व०त० मे पौ०ष्ण० मे पा०त्नी०व०त०  
मे हारि०यो०ज०न० मे” इति । अ०श्व०ादयः सोमग्रहविशेषाः सोमग्रहणे

प्रसिद्धाः । अदाभ्याख्यस्यैव ग्रहस्य ग्रहादर्शनात् । गृह्यमाणत्वदर्शां  
 प्रथककृत्य रश्मिशब्देन निर्दिश्यते, रश्मीनान्तु तद्गृहणसाधनत्वात् ।  
 तथा च तद्गृहणमन्त्रः पठ्यते\*,—‘गुरुं ते शुक्रेण गृह्णाम्यङ्गो रूपेण  
 सूर्यस्य रश्मिभिः’ इति । अधिपतिशब्देन दधिग्रहो विवक्षितः, तस्य  
 च ज्येष्ठत्वादाधिपत्यं । अत एव श्रूयते,—‘ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणाम्’  
 इति । प्रतिप्रस्थानशब्देन द्विदेवत्यग्रहसहभावी सम्बन्धी प्रतिनिधि-  
 भावो ग्राह्यो विवक्षितः । ध्रुवाख्यस्यैव ग्रहस्यावनयनदशायां वैश्वानर-  
 सूक्तपाठात् तदवसन्नो वैश्वानरशब्देनोच्यते । आद्यो वैश्वदेवः प्रातः-  
 सवनगतः, उत्तरस्तृतीयसवनगतः सारस्वतग्रहोऽभिषेचनीयाख्यविक्रतौ  
 द्रष्टव्यः,—‘सारस्वतं ग्रहं गृह्णाति’ इति तच्चात्मनात् । एवं पूषोऽपि  
 विक्रतिगामी द्रष्टव्यः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
 संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके सप्तमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

इ॒ध्मश्च॑ मे॒ ब॒र्हिश्च॑ मे॒ वेदि॑श्च मे॒ धिष्णि॑याश्च मे॒  
 सुच॑श्च मे॒ चम॑साश्च मे॒ ग्रावा॑णश्च मे॒ स्वर॑वश्च मे॒  
 उप॑रुवाश्च मे॒ऽधि॒षव॑णे च मे॒ द्रोण॑कल॒णश्च॑ मे॒ वाय॑व्यानि॒

च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च म आग्नीध्रश्च मे  
हविर्धानश्च मे गृहाश्च, मे सदैश्च मे पुरोडाशाश्च  
मे पचताश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे ॥ १ ॥

गृहाश्च । षोडश च ॥ ८ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
अष्टमोऽनुवाकः ॥ \* ॥

अथाष्टममाह,—“इधश्च मे बर्हिश्च मे वेदिश्च रो धिष्ण्याश्च  
मे सुचश्च मे चमसाश्च मे गावाणश्च मे खरवश्च म उपरवाश्च मे  
अधिषवणे च मे द्रोणकलशश्च मे वायव्यानि च मे पूतभृच्च म  
आधवनीयश्च म आग्नीध्रश्च मे हविर्धानश्च मे गृहाश्च मे सदैश्च मे  
पुरोडाशाश्च मे पचताश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे” इति ।  
इध्मादीनि यज्ञाङ्गानि द्रव्याणि यज्ञप्रकरणे प्रसिद्धानि । ‘गृहाः’  
पक्षीशालादयः । ‘पचताः’ शमित्रादयः । ‘स्वगाकारः’ शंयुवाकः,  
तेन हि यथास्वं देवतानां हविर्गमनं क्रियते ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके अष्टमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मे-  
 अश्वमेधश्च मे पृथिवी च मे दितिश्च मेऽदितिश्च मे  
 द्यौश्च मे शक्ररीरज्जुलयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ता-  
 मृक् च मे साम च मे स्तोमश्च मे यजुश्च मे दीक्षा, च  
 मे तपश्च म ऋतुश्च मे व्रतश्च मेऽहोरात्रयोर्वृष्ट्या  
 बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पेताम् ॥ १ ॥

दीक्षा । अष्टादश च ॥ ६ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
 नवमेऽनुवाकः ॥ \* ॥

नवममाह,—“अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च  
 मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मे दितिश्च मेऽदितिश्च मे द्यौश्च मे  
 शक्ररीरज्जुलयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्तामृक् च मे साम च मे  
 स्तोमश्च मे यजुश्च मे दीक्षा च मे तपश्च मे ऋतुश्च मे व्रतश्च मे  
 अहोरात्रयोर्वृष्ट्या बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पेताम्” इति ।  
 अग्निस्वीयमानः । घर्मः प्रवर्णः । ‘इन्द्रायार्कवते पुरोडाशम्’ इति  
 विहितो यागेऽर्कः । ‘सौर्यं चरुम्’ इति विहितो यागः सौर्यः ।  
 ‘प्राणाय स्वाहा’ इति विहितो होमः प्राणः । अश्वमेधः प्रसिद्धः ।  
 पृथिव्यादेयो देवताविशेषाः । शक्ररीः शक्रार्थः । अज्जुलयः अज्जुलीवत्  
 विराट्पुरुषस्य अवयवस्य विशेषाः । दिशः प्राच्याद्याः । चक्षुष्यत्  
 विविक्षाऽपि । ताः सर्वाः ‘मे’ (मदीयेन) ‘यज्ञेन’ ‘कल्पन्ता’  
 (स्वस्त्व्यापारसमर्थाः भवन्तु) । ऋगादयो मन्त्रविशेषाः । स्तोमः

सामावृत्तिरूपं स्तोत्रं । दीक्षा यजमानसंस्कारः । तपः पापक्षयार्थम्  
अन्नग्रहादि । चतुर्थश्चाङ्गभूतः कालः । व्रतम् एकक्षणादि ।  
अहोरात्रयोः सम्बन्धिनी या वृष्टिः, तथा मदीयं सख्यं कल्पता-  
मिति शेषः । वृद्धयन्तरे सामनी, ते च मदीयेन 'यज्ञेन' 'कल्पेतां'  
(स्वस्य व्यवहारसमर्थं भवेताम्) ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णार्थजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥ ० ॥

गर्भाश्च मे वत्साश्च मे त्वयिश्च मे त्व्यवी च मे  
दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी  
च मे चिवत्सश्च मे चिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे  
तुर्याही च मे पष्ठवाच्च मे पष्ठौही च मे उक्षा च मे  
वशा च मे ऋषभश्च ॥ १ ॥

मे वेहच्च मेऽनङ्गांच मे धेनुश्च म आयुर्यज्ञेन  
कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामपानो यज्ञेन कल्पतां  
व्यानो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन  
फलपतां मनो यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतामात्मा  
यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पतां ॥ २ ॥

ऋषभश्च । चत्वारिंशच्च ॥ १० ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
दशमोऽनुवाकः ॥ \* ॥

अथ दशमानुवाकमाह,—“गर्भाश्च मे वत्साश्च मे अविश्च मे  
 अवी च मे दित्यवाद् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी  
 च मे चित्रवत्सश्च मे चित्रवत्सा च मे तुर्यवाद् च मे तुर्यौही च मे  
 षष्ठवाच्च मे षष्ठौही च मे उक्ता च मे वक्ता च मे ऋषभश्च मे  
 वेदश्च मेऽनङ्गान् च मे धेनुश्च मे आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन  
 कल्पतां अपानो यज्ञेन कल्पतां व्यानो यज्ञेन कल्पतां चतुर्यज्ञेन  
 कल्पतां ओचं यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां  
 आत्मा यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्” इति । गर्भा वत्साश्च  
 प्रसिद्धाः । सार्द्धवत्सरो\* वत्सरूपः पुङ्गवस्त्रियविः । तथाविधा गौः  
 त्रियवी । द्विसंवत्सर ऋषभो दित्यवाद् । तथाविधा गौर्दित्यौही ।  
 सार्द्धद्विसंवत्सर ऋषभः पञ्चाभिः† । तथाविधा गौः पञ्चावी ।  
 संवत्सरत्रयोपेत ऋषभस्त्रियवत्सः । तथाविधा गौस्त्रियवत्सा । सार्द्ध-  
 चित्रवत्स ऋषभस्तुर्यवाद् । तथाविधा गौस्तुर्यौही । चतुःसंवत्सर  
 ऋषभः षष्ठवाद्‡ । तथाविधा गौः षष्ठौही । सेचनसमर्थ ऋषभ  
 उक्ता । वन्ध्या गौर्वक्ता । उद्दण्डोऽप्यधिकवयस्क ऋषभः । गर्भघातिनी  
 गौर्वेद्वत् । शकटवाही गौरनङ्गान् । नवप्रसूतिका गौर्धेनुः ।  
 आयुरादयः प्रसिद्धाः । आत्मा शरीरं । उक्ता आयुरादयो मदीयेन  
 यज्ञेन कार्यन्तमा भवन्तु । यज्ञः क्षिप्यमाणोऽश्वमेधादिः, सोऽप्यनेन  
 यज्ञेन संकार्यन्तमो भवतु ॥

\* सार्द्धवत्सर इति पाठो भवितुं युक्तः । एवं “त्रियविः” इत्यत्र ‘अविश्च’  
 इति, ‘त्रियवी’ इत्यत्र च ‘अवी’ इति पाठो संहितानुसारेण भवितुं युक्तः ।

† एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘पञ्चावि’ इति तु भवितुं युक्तः ।

‡ ‘षष्ठवाद्’ इति सर्वत्र पाठो न सम्भवेत् ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टायजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥०॥

१२११)

एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे सप्त च मे नव च  
म एकादश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे सप्त-  
दश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च मे त्रयो-  
विंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे  
नवविंशतिश्च म एकत्रिंशच्च मे चयस्त्रिंशच्च ॥ १ ॥

मे चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे षोडश च  
मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे  
द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे  
चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे वाजश्च प्रसव-  
श्चाभिजश्च क्रतुश्च सुवश्च मूर्धा च व्यश्रियः, च आन्त्यायन-  
श्चान्त्यश्च भौवनश्च भुवनश्चाधिपतिश्च ॥ १ ॥

चयस्त्रिंशच्च । व्यश्रियश्च । एकादश च ॥ ११ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
एकादशोऽनुवाकः ॥ \* ॥

एकादशमाह,—एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे सप्त च मे  
नव च मे एकादश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे षोडश  
च मे नवदश च मे एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्च-

विंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च मे  
 चयस्त्रिंशच्च मे चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे षोडश च मे  
 विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे  
 षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च  
 मे वाजश्च प्रसवश्च अपिजश्च क्रतुश्च सुवश्च मूर्धा च व्यञ्जियश्च  
 'आनयारयनस्यान्यस्य भौवमश्च भुवनस्याधिपतिश्च" इति । एकादिशब्दाः  
 संख्यपूराः । वाजादयः सर्वे मम सन्त्विति शेषः । वाजोऽङ्गं । प्रसवः  
 तस्योत्पत्तिः । अपिजस्तस्यैव पुनःपुनरुत्पत्तिः । ऋतुः सङ्कल्पो  
 भोगादिविषयः, यागो वा । सुवस्तस्योत्पत्तौ हेतुरादित्यः । अथ वा  
 वाजादयः चैत्रादिमासानां नामविशेषाः, तदानीं ते सर्वे प्रीणन्त्विति  
 वाक्यशेषः । सकाराः परस्परसमुच्चयार्थाः, अनुक्तकालादिदेवता-  
 समुच्चयार्था वा ।

• यथोक्तैकादशानुवाकरूपमन्त्रसार्थं होमविशेषं विधत्ते,—“वसो-  
 धारां जुहोति वसोर्मे धाराऽसदिति वै एषा ह्रयते घृतस्य वै  
 • एनमेषा धाराऽमुष्मिन् लोके पिब्यमाना उपतिष्ठते” (५।४।८अ० ।  
 इति । वसोः (धनस्य) धारा (सान्त्वय) यथा आहुत्या लभ्यते सेवमा-  
 हुतिर्वसोर्धारा, तां जुहुयात् । तदेतदुक्तनिर्वचनं सूच्यते,—“वसोर्मे  
 • धाराऽसत्” इत्यादिना । यजमानो वसोर्धारां\* जुहोति स प्रथमं मम  
 धनस्य नैरन्त्यं भूयादित्येवं कामर्थं ते, ततस्तेन इदमाहुतिर्ह्रयते,  
 तेन होमेन एनं यजमानं स्वर्गलोके घृतस्य धारैः प्रीणयति,—सेवते ।  
 • त्वं इत्थं विधत्ते,—“आज्येन जुहोति तेजो वै आज्यं तेजो

वरामिति आदर्शादिपुस्तकस्थः पाठो न सम्यक् ।



वसोर्धारा तेजसा एवासौ तेजोऽवरुन्धे” (५।४।८अ०) इति । सुवर्णा-  
दिधनसमृद्धेरपि घृतवत् तेजोरूपत्वं प्रसिद्धम् ।

कामप्राप्तिहेतुत्वेनापि तामाहुतिं प्रशंसति,—“अथो कामा वै  
वसोर्धारा कामानेवावरुन्धे” (५।४।८अ०) इति ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सान्तत्यं विधत्ते,—“यं कामयेत प्राणान् अस्य  
अन्नाद्यं विच्छिन्द्यामिति विग्राहं तस्य जुहुयात्, प्राणानेव अस्य अन्नाद्यं  
विच्छिनन्ति; यं कामयेत प्राणान् अस्य अन्नाद्यः सन्तनुयादिति  
सन्ततां तस्य जुहुयात्, प्राणानेव अस्य अन्नाद्यः सन्तनोति” (५।४।  
८अ०) इति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘प्राणान्’ अन्नं च विच्छिन्द्याम्  
इत्येव द्विषन् अभ्यर्थुरेतं मन्त्रं मध्ये विगृह्य ‘जुहुयात्’ । यस्तु  
प्राणानामन्नस्य च सान्तत्यं कामयते, सोऽयं सन्ततामाहुतिं जुहुयात् ।

अथ “वाजश्च मे” इत्यादीनि “अन्नञ्च मेऽक्षुच मे” (४अ०)  
इत्यादिप्राक्तनानि\* चतुश्चत्वारिंशदधिकशतसंख्याकानि वाक्यानि ।  
तानि द्वादशसङ्ख्यारूपेण विभज्य प्रशंसति,—“द्वादशा द्वादशानि  
जुहोति द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरेणैवासौ अन्नमवरुन्धे”  
(५।४।८अ०) इति । द्वादशानां वाक्यानां समूहे द्वादशं । तानि च

\* एवमेव सर्वत्र पाठः । अत्र ‘इत्यादीनि प्राक्तनानि च’ इति पाठो  
भवितुं युक्तः । “वाजश्च मे” इति वाक्यं प्रथमेऽनुवाकेऽस्ति । अत्रेदं  
सम्भाव्यते—‘मे’ इति पदं प्रमादपतितं, ‘वाजश्च इत्यादीनि’ इत्येवात्र पाठः,  
“वाजश्च” इत्यादीनि तं द्वादश वाक्यानि अस्यैवानुवाकस्य शेषांशे सन्ति,  
तान्येवात्र अग्निप्रेतानि ।

† सर्वत्रैव भाष्ये द्वादश द्वादश इति द्विवक्तिरस्ति, परन्तु मूलसंहितोऽंशं  
तथाऽदर्शनात् भाष्ये एकस्यैव द्वादशशब्दस्य व्याख्यानाच्च द्विवक्तिरुपेक्षिता ।

द्वादशानि पुनर्द्वादशसंख्याकानि\* ; तथा, सति संतुष्टत्वारिंशदधिकशत-  
संख्यायाः संवत्सररूपत्वात् संवत्सरसाध्यमन्नं प्राप्नोति ।

अथ संतुर्थानुवाकगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“अन्नञ्च मेऽनुच  
मं इत्याह एतद्वै अन्नस्य रूपः रूपेणैवान्नमवरुन्धे” (५।४।८अ०)  
इति । “अन्नम्” इत्यादिभिर्विकीर्यत् प्रतिपाद्यं तत्सर्वमन्नस्य रूपं,  
क्षुद्रभाषस्यान्नसाध्यत्वत्, उपरितनानाञ्च ग्रीह्यादीनामन्नसाधनत्वात् ।

अथ पञ्चमानुवाकगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“अग्निश्च म आपश्च  
म इत्याह एषा वै अन्नस्य योनिः सयोनि एवान्नमवरुन्धे” (५।४।  
८अ०) इति । अग्नेः पाकहेतुत्वादन्नयोनित्वम् ; अपाञ्चौषधिजनक-  
त्वादन्नयोनित्वं । एतन्मन्त्रपाठेन कारणसहितमन्नं प्राप्नोति ।

अथ षष्ठानुवाकगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“अर्धेन्द्राणि जुहोति  
देवता एवावरुन्धे यत् सर्वेषामर्धमिन्द्रः प्रति तस्मादिन्द्रो देवतानां  
भूयिष्ठभाक्कम इन्द्रमुत्तरमाहेन्द्रियमेवास्मिन्नुपरिष्ठादधाति” (५।४।  
८अ०) इति । येषां वाक्यानामन्तेषु इन्द्रः पठ्यते, तानि ‘अर्धेन्द्राणि’,  
‘तेषु वाक्येषु’ अग्निषोमादीनां देवतानां पूर्वार्धेषु आस्नातत्वात् देवताः  
प्राप्नोति ! ‘यत्’ (यस्मात्) कारणात् ‘सर्वेषां’ वाक्यानां ‘प्रति’ ‘अर्धम्’  
‘इन्द्रः’ (प्रत्येकमुत्तरार्धे इन्द्रः) पठ्यते, ‘तस्मात्’ कारणात् अथम्  
‘इन्द्रः’ ‘भूयिष्ठभाक्कमः’,—भूयिष्ठं प्रभूतं हविर्भजतीति भूयिष्ठभाक्,  
अतिशयेन तादृशः । यस्माद्देद ‘इन्द्रम्’ अत्र उत्तरार्धे गतं प्राह,  
तस्मात् ‘अस्मिन्’ यजमानेऽपि ‘उपरिष्ठात्’ (पुरोभागे) चक्षुरादि,  
इन्द्रियं स्थापयति । . . .

\*“सं पुनर्द्वादशसंख्याकानि” इति सर्वत्र पाठो न सम्यगिव प्रतिभाति ।

सप्तमाष्टमयोरनुवाकयोरवस्थितानि वाक्यानि प्रशंसति,—“यज्ञ-  
युधानि जुहोति यज्ञो वै यज्ञायुधानि यज्ञमेवावरुन्धे । अथो एतद्वै  
यज्ञस्य रूपं रूपेणैव यज्ञमवरुन्धे” (५।४।८अ०) इति । अंशदा-  
भ्यादियद्वरूपाणि यज्ञसाधनानि साक्षाद्यज्ञनिष्पादकत्वाद्यज्ञस्वरूपाणि ।  
इध्मावर्द्धिरादिभिर्यज्ञः परम्परया निरूप्यते, न तु यदैरिव साक्षात्  
निष्पद्यते, तस्मात् तानि यज्ञस्य रूपं । एतैरन्तरङ्गैर्वहिरङ्गैश्च  
यज्ञायुधैर्यज्ञं प्राप्नोति ।

अग्निमस्य खगाकारस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अवमथस्य मे  
खगाकारस्य म इत्याह खगाकृत्यै” (५।४।८अ०) इति । स्वाधीनत्व-  
करणाद्येत्यर्थः ।

नवमेऽनुवाके पूर्वार्धगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“अग्निं मे धर्मं  
मे इत्याह एतद्वै ब्रह्मवर्चसस्य रूपं रूपेणैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे” (५।४।  
८अ०) इति । अन्यादिभिर्ब्राह्मणकर्मनिवृत्तैरेतेषां ब्रह्मवर्चसस्वरूपत्वम् ।

तस्मिन्नेव अनुवाके उत्तरार्धगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“ऋक्  
च मे साम च म इत्याह एतद्वै छन्दसा रूपं रूपेणैव छन्दांसि  
अवरुन्धे” (५।४।८अ०) इति । ऋगादि ‘छन्दसां’ (वेदानां)  
स्वरूपमित्येतत् प्रसिद्धम् ।

दशमेऽनुवाके पूर्वार्धगतानि प्रशंसति,—“गर्भांश्च मे वत्सांश्च म  
इत्याह एतद्वै पशूना रूपं रूपेणैव पशूनावरुन्धे” (५।४।८अ०)  
इति । गर्भवत्सादीनां पशुरूपत्वं प्रसिद्धम् ।

तस्मिन्निवानुवाके उत्तरार्धगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“कृष्यान्  
जुहोत्यकृतस्य कृत्यै” (५।४।८अ०) इति । ‘आयुर्धनेन कृष्यताम्’

इत्यादयो मन्वाः कक्षाः, पूर्वं यत् यत् वस्तु अकृतं (स्वस्वकार्यं नम न भवति), तस्य तस्य सामर्थ्याय अयं होमः ।

एकादशानुवाके पूर्वभागगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—“युग्मत् अयुजे जुहोति मिथुनत्वाय” (५।४।८अ०) इति । ‘चतस्रश्च मे’ ‘अष्टौ च मे’ इत्यादिकं समसंख्यारूपं युग्मं; ‘एका च मे’ ‘तिस्रश्च मे’ इत्यादिकं विषमसंख्यारूपमयुजं; राशिद्वयं स्त्रीपुरुषवत् परस्पर-विलक्षणत्वात् मिथुनत्वाय सम्पद्यते ।

राशिद्वयेऽप्युत्तरोत्तराधिकं प्रशंसति,—“उत्तरावती भवतोऽभि-  
क्रान्थैः” (५।४।८अ०) इति । एकस्मादुत्तरं जितं, तस्मादुत्तरं पञ्चत्वं ;  
तथा चतुष्टादुत्तरम् अष्टत्वं, तस्माच्चोत्तरं द्वादशत्वं । एवमुभयोः  
उत्तरोत्तरावत्वेन अभितो व्याप्तिर्भवति ।

युग्मायुग्मसंख्यावाचिनां शब्दानां तात्पर्यं दर्शयति,—“एका  
च मे तिस्रश्च म इत्याह देवच्छन्दसं वा एका च तिस्रश्च, मनुष्य-  
च्छन्दसं चतस्रश्च अष्टौ च देवच्छन्दसं चैव मनुष्यच्छन्दसश्च अव-  
हन्ते” (५।४।८अ०) इति । विषमसंख्यया देवानां प्रियाणि  
च्छन्दांसि निष्पाद्यन्ते, समसंख्यया तु मनुष्यप्रियाणि; अतस्तदुभयं  
प्राप्नोति ।

राशिद्वयेऽप्युत्तरोत्तरसंख्यावृद्धेरवधिं प्रशंसति,—“आ चयस्त्रिंशतो  
जुहोति चयस्त्रिंशद्वै देवता देवता एव अव हन्ते आ अष्टाचत्वारिंशतो  
जुहोति अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागताः पञ्चो जगत्या एव  
अस्मै पशून्वव हन्ते” (५।४।८अ०) इति ॥

अस्मिन् अनुवाके उत्तरभागगतानि वाक्यानि प्रशंसति,—

“वाजश्च\* प्रसवयेति द्वादशं जुहोति द्वादश तासाः संवत्सरः संवत्सरे  
एव प्रतितिष्ठति” (५।४।८ अ०) इति ॥”

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

अग्नाविष्णु वसोर्धाराभेकादशभिरादितः ।

अनुवाकैर्जुहोत्येतामाहुतिं सन्ततां घृतादिति ॥

अथ मीमांसा,—द्वादशाध्यायस्य तृतीयपदे (१० अ०) चिन्तितम्,—

“मन्त्रादौ किं वसोर्धारा मन्त्रान्ते वाच सन्ततेः ।

आद्यो होमेषु सन्तत्या द्वादशान्तेषु तद्भुतिः ॥

अग्नौ किञ्चित् कर्म विहितं,—‘सन्ततां वसोर्धारां जुहोति’ इति ।

तत्र सान्तत्यं निश्चिद्रत्नं, तच्च मन्त्रकर्मणोः सङ्गोपक्रमे सति  
उपपद्यते; तस्मान्मन्त्रादौ कर्मसन्निपातः । इति प्राप्ते ब्रूमः,—तस्मिन्  
वसोर्धाराख्ये कर्मणि ‘द्वादश द्वादशानि जुहोति’ इति श्रुतं, द्वादशभि-  
र्मन्त्रवाक्यैः सम्पाद्यम् एकमाहुतिस्वरूपं । तद्यथा,—“वाजश्च मे प्रसवश्च  
मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे खरश्च मे  
ह्योकश्च मे आवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे सुवश्च मे” इत्येति-  
द्वादशभिर्मन्त्रवाक्यैरेका आहुतिर्हीतव्या । एकादश उत्तराहुतयः  
‘प्राणश्च मेऽपानश्च मे’ इत्यादिभिर्निष्पाद्यन्तः । एतेषु च होमद्वादशकेषु†

\* सर्वेष्वेव संहितापुस्तकेषु “वाजश्च प्रसवश्च” इत्येव पाठोऽस्ति, ततश्च  
“वाजश्च मे प्रसवश्च” इति भाष्यपुस्तकस्यः पाठः समीचीन इव न  
प्रतिभातीति परित्यक्तः ।

† अत्र “प्रयतिश्च मे प्रयतिश्च मे” इति द्विः पाठः सर्वस्मिन्नेव  
भाष्यपुस्तके स्थितोऽपि संज्ञितायामदर्शनात् उपेक्षितः ।

‡ ईदृशा उत्तराहुतयः “प्राणश्च मेऽपानश्च मे” इत्यादिभिर्निष्पाद्याः ।  
ते च होमा द्वादश, तेषु इति आदर्शपुस्तकपाठः ।

मध्ये विलम्बाभावः साक्षात्, न तु मन्त्रकर्षणोः सहोपक्रमः । तस्मात् पूर्वव्याघेन मन्त्रान्ते कर्षणनिपातस्य नास्ति विघ्नः ॥”

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छण्ययजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः । वाजो  
नो विश्वेर्देवैर्धनसाताविहावतु<sup>(१)</sup> । विश्वे अद्य मरुतो  
विश्वं जतो विश्वे भवन्वग्रयः समिद्धाः । विश्वे नो  
देवा अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविण वाजो अस्मे<sup>(२)</sup> ।  
वाजस्य प्रसवं देवा रथैर्याता हिरण्ययैः । अग्निरिन्द्रे  
वृहस्पतिर्मरुतः सोमपीतये<sup>(३)</sup> । वाजे-वाजेऽवत वाजिनो  
नो धनेषु ॥ १ ॥

विप्रा अमृता कृतज्ञाः । अस्य मध्वः पिवत माद-  
यश्च तृप्ता यात पृथिभिर्देवयानैः<sup>(४)</sup> । वाजः पुरस्तादुत  
मध्यतो नो वाजो देवाः कृतुभिः कल्पयाति वाजस्य ।  
हि प्रसवोऽनन्वमीति विश्वाः आशा वाजपतिर्भवेयं<sup>(५)</sup> ।  
पयः पृथिव्यां पयः ओषधीषु पयो ह्रियन्नरिंक्षे पयो  
धां । पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मध्वं<sup>(६)</sup> । सम्मा सृजामि  
पयस्म घृतेन सम्मा सृजाम्यपः ॥ २ ॥

ओषधीभिः सोऽहं वाजः सन्नेयमग्ने<sup>(७)</sup> । नक्तोषासा  
 समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकः समीची द्यावा  
 क्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रवि-  
 णोदाः<sup>(८)</sup> । समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शंभूर्मयोभू-  
 रभि मा वाहि स्वाहा<sup>(९)</sup> मारुतोऽसि मरुतां गणः शंभू-  
 र्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा<sup>(१०)</sup> अवस्युरसि दुवस्वाञ्छंभू-  
 र्मयोभूरभि मा, वाहि स्वाहा<sup>(११)</sup> ॥ ३ ॥

धनेषु । अपः । दुवस्वाञ्छंभूर्मयोभूरभि मा । हे  
 च ॥ १२ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
 द्वादशेऽनुवाकः ॥ \* ॥

एतैरेकादशभिरनुवाकैर्वसोर्धाराहोम उक्तः । अथ द्वादशे वाज-  
 प्रसवीयहोम उच्यते । कल्पः, 'वाजप्रसवीयं जुहोति सप्त ग्राम्या ओषधयः'  
 सप्त आरण्याः पृथगन्नानि द्रवीकृत्यौदुम्बरेण सुवेण, वाजस्येभं प्रसवः  
 सधुव इति ग्राम्या जुत्वा आरण्यां\* जुहोति' इति । तत्र ग्राम्याणां मन्त्राः  
 प्रथमकाण्डे (७ प्र० ११ अ०) समान्नाताः । आरण्यानां मन्त्रा अत्राज्ञायन्ते ।  
 तच्चारणस्य वेणुध्यानस्य होमाय प्रथमानुचमाह,—“वाजो नः सप्त  
 प्रदिशः, चतस्रो वा परावतः । वाजो नो विश्वेदेवैर्धनसाताविहावतु<sup>(१)</sup>”

\* अत्र आरण्या इति पाठो भवितुं युक्तः ।

इति । प्राच्याद्यास्ततो दिशः, ऊर्द्धाधोमध्यमास्तिष्ठः,—एताः ‘सप्त’  
 ‘प्रदिशः’ (प्रकृष्टा दिशः) ‘वाजः’ (अन्नस्वरूपाः, अन्नप्रदाः) भवन्वित्यर्थः ।  
 तथा ‘परावतः’ (अत्यन्तदूरवर्त्तिन्यः) ‘सतस्रो वा’,—आग्नेय्याद्यास्तुः—  
 सङ्ख्याका विदिशो विदूरस्था इव अवभासन्ते ; तासु अस्माकमन्नप्रदा  
 भवन्तु । स ‘वाजः’ (अन्नम्) ‘इह’ (अस्मिन् देशे) ‘धनसातौ’ (धनप्रदेशे)  
 यज्ञे ‘विश्वेदेवैः’ प्रेरिता मन् ‘नः’ (अस्मान्) ‘अवतु’ (रक्षतु) ।

अथ श्यामाकधान्यस्य होमाय द्वितीयामृचमाह,—“विश्वे अद्य  
 मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः । विश्वे नो देवा  
 अवसा आ गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे<sup>(१)</sup>” इति । ‘अद्य’  
 (अस्मिन् दिने) ‘विश्वे’ (सर्वे) अपि ‘मरुतः’, तथा अन्ये ‘विश्वे’  
 (सर्वे) अपि देवाः ‘ऊती’ (रक्षणाय) ‘भवन्तु’ (प्रवर्त्तन्तां) । तथा  
 ‘विश्वे’ (सर्वे) अपि ‘अग्नयः’ ‘समिद्धाः’ (सम्यक् प्रज्वलिताः) भवन्तु ।  
 तथा ‘विश्वे’ (सर्वे) अपि ‘देवाः’ ‘नः’ (अस्माकम्) ‘अवसा’ (रक्षणेन)  
 विमित्तभूतेन ‘आ-गमन्तु’ (आगच्छन्तु) । तथा ‘विश्वं’ ‘द्रविणं’  
 (सर्वमपि धनं) ‘अस्मे’ ‘भवन्तु’\* (अस्मासु विद्यताम्) ।

अथ नीवारहोमाय तृतीयामृचमाह,—“वाजस्य प्रसवं देवा  
 रथैर्याता हिरण्यैः । अग्निरिन्द्रो बृहस्पतिर्मरुतः सोमपीतये<sup>(१)</sup>”  
 इति । ‘वाजस्य’ ‘प्रसवम्’ (अस्मादीयस्य अन्नस्य प्रेरणसम्पादनम्)  
 उद्दिश्य ‘अग्न्यादयस्तद्यो’ ‘देवाः’ ‘सोमपीतये’ (सोमपानार्थं)  
 ‘हिरण्यैः’ हिरण्यमयैः ‘रथैः’ (सुवर्णनिक्षिप्तैः ‘रथैः’) सह ‘यात’  
 (अग्निद्वयागभूमिं प्राप्नुवन्तः) ।



अथ अर्चिलहोमाय षतुर्थीमृचमाह,—“वाजे-वाजेऽवत वाजिने  
 नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः । अस्थ मध्वः पिवत मादयध्वं  
 तप्ता यात पथिभिर्देवयानैः<sup>(४)</sup>” इति । हे ‘वाजिनः’ (अन्नसम्पादकाः)  
 देवाः, ‘वाजे-वाजे’ (तत्तदन्ननिमित्तं) ‘धनेषु’ (धननिमित्तञ्च) ‘नः’  
 (अस्मान्) ‘अवत’ । ‘विप्राः’ (ब्राह्मणवच्छुद्धाः); ‘अमृताः’ (मरणरहिताः);  
 ऋतं सत्यं यज्ञं वा जानन्तीति ‘ऋतज्ञाः’; तादृशा हे देवाः, ‘अस्थ’  
 ‘मध्वः’ (इदं मधुरमन्नं) ‘पिवत’ (पानोपलक्षितं भोजनं कुरुत) ।  
 ततः ‘मादयध्वं’ (हृष्टा भवत) । ततः ‘तप्ताः’ सन्तः ‘देवयानैः’  
 ‘पथिभिः’\* (स्वं स्वं स्थानं प्राप्नुवत) ।

अथ गवीधुकहोमाय पञ्चमीमृचमाह,—“वाजः पुरस्तात् उत  
 मध्यतो नो वाजो देवाः ऋतुभिः कल्पयाति । वाजस्य हि  
 प्रसवोऽनन्नमीति विश्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्<sup>(५)</sup>” इति । ‘नः’  
 (अस्माकं) ‘पुरस्तात्’ (पूर्ववयसि), ‘उत’ ‘मध्यतो’ (मध्यमे वयसि),  
 ‘वाजः’ (अन्नं) भवत्विति शेषः । किञ्चायं ‘वाजः’ ‘ऋतुभिः’ (काल-  
 विशेषैः) ‘देवान्’ ‘कल्पयाति’ (तत्तत्काले यष्टव्यान् देवान् सम्पादयति) ।  
 सति हि अन्ने यष्टुं शक्यते । ‘हि’ (यस्मात्) ‘वाजस्य’ (अन्नस्य) ‘प्रसवः’  
 (प्रेरणं समृद्धिः) ‘विश्वा’ ‘आशाः’ (सर्वा अपि दिशः) ‘अनन्नमीति’  
 (अतिशयेन अन्नताः करोति), अन्नसमृद्धौ सत्यां सर्वदिग्वर्त्तिनः  
 प्राणिनः स्वाधीना भवन्ति, तस्मादहं ‘वाजपतिर्भवेयम्’ ।

अथ मर्कटजात्यहोमाय षष्ठीमृचमाह,—“पयः पृथिव्यां पय  
 ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धां । पयस्वतीः प्रदिशः सन्

\* अथ ‘यात’ इति पदं पतितमिव प्रतिभाति ।

मंक्षाम्<sup>(१)</sup>” इति । • वाजसमृद्धार्थं ‘पृथिव्यां’ ‘पथः’ (जलं) ‘धां’ (अहं स्थापयामि) । तथा ‘ओषधीषु’ अपि ‘पथो’ ‘धां’ । तथा ‘दिवि’ (द्युल्लोके) अपि ‘पथो’ ‘धां’ । ‘अन्तरिक्षे’ अपि ‘पथो धां’ । ‘प्रदिशः’ (प्रकृष्टाः सर्वा दिशः) ‘पथस्वतीः’ ‘सन्तु’ ‘मह्यं’ (मदर्थं जलवत्यो भवन्तु) ।

अथ गार्गुतहोमाय, कुलत्यहोमाय वा सप्तमीमृचमाह,—“सं मां सृजामि पथसा घृतेन सप्ता सृजाम्यप ओषधीभिः । सोऽहं वाजं सनेयमग्ने<sup>(२)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, तत्प्रसादात् मां अहं ‘पथसा’ (क्षीरेण) च ‘सं’-‘सृजामि’; तथा मां ‘घृतेन’ ‘सं’-‘सृजामि’ । ‘अपः’ ‘ओषधीभिः’ ‘सं’-‘सृजामि’ । क्षीरादिभिः संसृष्टः ‘सोऽहं’ ‘वाजम्’ (अन्नं) तद्वत्तं ‘सनेयं’ (लभेयं, अन्येभ्योऽहमद्याम्) ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यं होमं विधत्ते,—“अग्निर्देवेभ्योऽपाक्रामद्भागधेय-  
मिच्छमानसं देवा अब्रुवन्नुप न आवर्त्तस्व हव्यं नो वहेति सोऽब्रवीद्  
वरं वृणै मह्यमेव वाजप्रसवीयं जुहवन्निति तस्मादग्नये वाजप्रसवीयं  
जुह्वति यद्वाजप्रसवीयं जुहोति अग्निमेव तद्भागधेयेन समर्द्धयत्यथो  
• अभिषेक एवास्य सः” (५।४।८ अ०) इति । पूर्वं भागरहितोऽग्नि-  
र्भागमपेक्षमाणो देवेभ्योऽपरक्तः काप्यगमत् । स पुनर्देवैर्विर्वहनाय  
• आहूतः स्वभागत्वेन ‘वाजप्रसवीयं’ होमं वव्रे । तस्मात् सर्वे यजमाना  
‘अग्नये’ • ‘वाजप्रसवीयं’ ‘जुह्वति’ । अतोऽपि तद्वेत्तेन ‘अग्निमेव’  
स्वभागेन ‘समर्द्धयति’ । अपि च स होमः ‘अस्य’ (अग्नेः) अभिषेक-  
स्यादीयः, तस्मात् कर्त्तव्यः ।

अथ प्रथमकाण्डाक्तैः (७प्र०।१ अ०) “वाजस्येनं प्रसवः”

इत्यादिभिः सह अन्नत्यानां होममन्त्राणां सङ्ख्यां विधत्ते,—  
 “चतुर्दशभिर्जुहोति सप्त ग्राम्या ओषधयः” सप्त आरण्या उभयीषा-  
 मवरुधौ” (५।४।९ अ०) इति । तिल-माष-ग्रीहि-यव-प्रियंग्वणवो  
 गोधूमा इति सप्त ग्राम्याः । वेणुश्यामाकादय उदाहृता आरण्याः ।  
 उभयविधान्यसमृद्धये चतुर्दशभिर्होमः ।

एकैकेन मन्त्रेणैकैकस्य होमं विधत्ते,—“अन्नस्थान्नस्य जुहोत्यन्न-  
 स्थान्नस्यावरुधौ” (५।४।९ अ०) इति । असाङ्ग्येण तत्तदन्नप्राप्त्यर्थम्  
 ईदृशो होमः ।

चोदकप्राप्तां जुह्वं वाधितुं साधनान्तरं विधत्ते,—“औदुम्बरेण  
 सुवेण जुहोत्यूर्वा उदुम्बर ऊर्गन्नमूर्जेवास्मा ऊर्गमन्नमवरुधे” (५।  
 ४।९ अ०) इति । ऊर्कशब्दः स्वादुरसवाची । उदुम्बरान्नयोस्तथा-  
 विधरसोपेतत्वादूर्गपलम् ।

अत्र क्लृप्ततया धावनं निषेधति,—“अग्निर्वै देवानामभिषिक्तो-  
 ऽग्निचिन्मनुष्याणां तस्मादग्निचिद्वर्षति न धावेत्” (५।४।९ अ०) इति ।  
 ‘देवानां’ मध्ये यथा चीयमानोऽग्निरभिषिक्तस्तथा यजमानानां मध्ये  
 अग्निचिदभिषिक्तः । वृष्टिर्वाभिषेकस्वरूपात्,\* तस्माद्वर्षसमये धावनं  
 न कुर्यात् ।

प्रमादाद्भावने पुनरावृत्तिं विधत्ते,—“अवरुद्धं ह्यस्थान्नम् अन्नमिव  
 खलु वै वर्ष यद्भावेदन्नाद्याद्भावेदुपावर्त्ततान्नाद्यमेवाभ्युपावर्त्तते” (५।  
 ४।९ अ०) इति । ‘हि’ (यस्मात्) ‘अस्य’ (अग्निचितः) ‘अन्नं’

‘स्वरूपा’ इति पाठो भवितुं युक्तः

सर्वम् 'अवर्द्ध' (सम्पादिते), दृष्टिस्तत्रहेतुत्वात् 'अन्नम्' एव, अतो दृष्टिभोक्त्रपरिहाराय धावने सत्यं नाद्याय\* गच्छति । अति-  
ऽन्नप्राप्तये पुनरपि आवर्त्तते ।

कल्पः, 'नक्तोषायेति कृष्णायै श्वेतवत्सायै पयसा जुता' इति ।  
पाठस्तु,—“नक्तोषासां समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकः समीची ।  
द्यावाः क्षामा ह्यसौ अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः<sup>(८)</sup>”  
इति । नक्तं च उषासु 'नक्तोषासा' (रात्रिदिवसावित्यर्थः); 'समनसा'  
(परस्परमैकमत्ययुक्ते); 'विरूपे' (रात्रिः कृष्णा दिवसः शुक्ल इत्येवंविलक्षण-  
रूपे); 'समीची' (समीची, अनुकूले) सत्यौ 'एकं' 'शिशुम्' अग्निरूपं  
'धापयेते',—यजमानकर्तृकं कर्मानुष्ठानं सम्पादयतः । 'द्यावा' (द्युलोके),  
'क्षाम' (चितौ), 'अन्तः' (तदुभयमध्यवर्त्तिनि अन्तरिक्षे) 'वि-भाति'  
'ह्यसौ' (रात्रिमानोऽयमग्निर्विशेषेण प्रकाशते) । दीव्यन्ति व्यवहरन्ति इति  
'देवाः' प्राणाः, ते च 'द्रविणोदाः' (यागदारेणानुकूलं फलं प्रयच्छन्ति),  
तादृशा यजमानस्य प्राणा 'अग्निम्' एतं 'धारयन्' (धृतवन्तः) ।

• • एतन्मन्त्रेसाध्यं होमं विधत्ते,—“नक्तोषायेति कृष्णायै श्वेतवत्सायै  
पयसा जुहोत्यज्ञैवास्मै रात्रिं प्र दापयति रात्रिया अहः आहोरात्रे  
एवास्मै प्रत्ने काममन्त्राद्यं दुहाते” (५।४।८ अ०) इति । अयमध्वर्युः,  
'अस्मै' (यजमानाय) 'अज्ञा' वत्सरूपेण 'रात्रिं' धेनुसमां  
'प्र दापयति';—पयःसमं फलं रात्र्यां प्रत्नं करोति । तथैव रात्र्या  
वत्सरूपया धेनुसममहः 'प्र दापयति' । अन्योन्यदानायैव मन्त्रेऽस्मिन्

\* 'सति अज्ञाद्याय' इत्येवात्र पाठ इति सम्भावयामि ।

†. 'आवर्त्तते' इति पाठो भवितुं युक्तः ।

राश्रभनी सह निर्दिश्येते । ते चान्योनं दत्ते 'अस्मै'\* यजमानाय  
 अन्नाद्यरूपं कामं सम्पादयतः । यदुक्तं सूत्रकारेण,—'षड्भिः  
 पर्यायैर्द्वादश राश्रभतो जुहोति, ऋताषाडृतधामाग्निरिति पर्याय-  
 मनुदुत्य तस्मै स्वाहेति प्रथमामाहुतिं जुहोति, ताभ्यः स्वाहेत्युत्तराम्,  
 एवमितरान् पर्यायान् विभजति, 'भुवनस्य पत इति पर्यायाणां  
 सप्तमी आहुतीनां त्रयोदशी एतेन व्याख्याता, भुवनस्य पत इति  
 रथमुखे पञ्चाहुतीर्जुहोति दश वा' इति ।

तत्र ऋताषाडित्यादिमन्त्रसाध्यं होमं विधत्ते,—“राश्रभतो  
 जुहोति राश्रमेवावस्वन्धे” (५।४।८अ०) इति । राश्रभत्संज्ञका  
 “ऋताषाड्” इत्यादिमन्त्रास्तृतीयकाण्डे (४ प्र० अ०) समाख्याताः ।

अथ पर्यायसङ्ख्यां विधत्ते,—“षड्भिर्जुहोति षड्वै ऋतव ऋतुःस्वेव  
 प्रति तिष्ठति” (५।४।८अ०) इति ।

राश्रभत्वेवोपरितनाहुतिषु पञ्चसङ्ख्यापचं विधत्ते,—“भुवनस्य पत  
 इति रथमुखे पञ्चाहुतीर्जुहोति वज्रो वै रथो वज्रेणैव दिशोऽभि-  
 जयति” (५।४।८अ०) इति । ईषाद्यं रथमुखं । 'स्फ्यस्तृतीयः रथ-  
 स्तृतीयम्' इत्यत्र रथस्य वज्रत्वं स्पष्टमाश्चातम् ।

कल्पः, 'समुद्रोऽसि नभस्त्वानित्यञ्जलिना चीणि वातनामानि  
 जुहोति' इति । तेषु प्रथमामाहु,—“समुद्रोऽसि नभस्त्वानार्द्रदानुः  
 शंभूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा<sup>(६)</sup>” इति । हे वायो, देवानां त्वं  
 'समुद्रोऽसि' (समुद्रवद् वज्रलोऽसि<sup>(७)</sup>); 'नभस्वान्' (स्वप्नचाराय

\* “दत्तेऽस्मै” इति सप्तन्विपाठः सम्भव्यपुस्तकेषु स्थितोऽपि अत्राधुरिव  
 प्रतिभाति ।

† 'समुद्रवद् धनदोऽसि' इति आदर्शपुस्तकपाठः उत्तरभाष्यविरोधात्  
 (७९७ पृ० १६ पं०) न सम्यगिव प्रतिभाति ।

विस्तीर्णाकाशवान्); आर्द्रं (दृष्टिजलं) ददातीति 'आर्द्रदानुः'; शं (ऐहिकं सुखं) भावयतीति 'शंभूः'; मयः (आमुष्मिकं सुखं) भावयतीति 'मयोभूः'। तादृशस्त्वं माम् 'अभि' (मां प्रति) 'वाहि' (गच्छ), एवं सञ्चारेण शैत्यमापादयेत्यर्थः ।

अथ द्वितीयामाह,—“मारुतोऽसि मरुतां गणः शंभूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा<sup>(१७)</sup>” इति । योऽयं बह्वनां 'मरुतां' (वायुविशेषाणां) 'गणः' मारुतशब्दवाच्यः, तद्रूपस्त्वम् 'असि' । शेषं पूर्ववत् ।

अथ तृतीयामाह,—“अवस्युरसि दुवस्वाक्कंभूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा<sup>(१८)</sup>” इति । अवसं रक्षणं इच्छतीति 'अवस्युः'; 'दुवस्वान्' (परिचर्यापेतः); तादृशस्त्वम् 'असि' । शेषं पूर्ववत् ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यं हेमं विधत्ते,—“अग्निचित् ह वा अमुष्मिन् लोके वातोऽभि पवते वातनामानि जुहोति अभि एवैनममुष्मिन् लोके वातः पवते” (५।४।८ अ०) इति । स्वर्गलोके एतम् 'अग्निचितम्' अभिलक्ष्य शैत्य-मान्द्य-मौरभ्यगन्धयुक्तो वायुर्वाति । अतस्तस्मिद्धये 'समुद्रोऽसि' इत्यादि—'वातनामानि' जुहुयात् । तेन हेमेन वायुस्तथा 'पवते' एव ।

पाठप्राप्तं चित्रं प्रशंसति,—“त्रीणि जुहोति त्रय इमे लोका एभ्य एव लोकेभ्यो वातमवरुन्धे” (५।४।८ अ०) इति ।

भङ्गगतेन समुद्रशब्देन बाहुल्यसाम्यमुपजीव्य वातो लक्ष्यत इत्येतत्सर्वं दर्शयति,—“समुद्रोऽग्नि नभस्त्रांनित्याद्यैतद्वै वातस्य रूपं रूपेणैव वातमवरुन्धे” (५।४।८ अ०) इति ।

अत्र वातस्यैव हेतयद्रव्यत्वान्तद्योगं साधनं विधत्ते,—“अञ्जलिना

जुहोति न ह्येतेषामन्वयाहुतिरवकल्पते” (५।४।८ अ०) इति । अस्मि  
इत्यद्वयमेकनिरूपेणाञ्जलिना वज्रौ वायोऽहत्यादनमेवात्र होमः ।  
यस्यादेर्वा वातरूपाणां होमद्रव्याणामञ्जलिव्यतिरेकेणाहुतिर्न सम्भ-  
वति । न खलु वातो जुह्वामवदातुं शक्यते । अत एव सूत्रकारो  
ब्राह्मणान्तरमुदाजहार,—‘न ह्येतस्यावदानमस्तीति विज्ञायते’ इति ।  
तस्माद् व्यजनेनेवाञ्जलिना वज्रौ वायुं सञ्चारयेत् ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

‘वाजो नः’—सप्तभिर्वाजप्रसवीयं जुहोति हि ।

नक्तेति पयसा होमः, ‘समुद्रो’—वातनामभिः ॥

त्रिभिर्जुहोत्यत्र मन्वा एकादश समीरिताः इति ।

अथ मीमांसा,—पञ्चमाध्यायस्य तृतीयपादे (११ अ०) चिन्तितम्,—

“न धावेदर्षतीत्यादि चितौ सत्यां कृतावुत ।

आद्यस्थितेर्निमित्तत्वान्न कृतावग्निचित्वतः ॥

इदमाश्नायते, ‘अग्निचिदर्षति न धावेत्’, ‘स्त्रियमुपेयात्’ इति ।

तान्येतानि अग्निचिद्रूतानि चितौ निष्पन्नायां सत्यां ततः प्रभृति  
प्रवर्त्तन्ते, न तु चितेऽग्नौ कृत्वनुष्ठानं प्रतीचन्ते । कुतः ? अग्निचित्पदेन  
चयनस्य निमित्तत्वेनोपन्यासात्, न हि सति निमित्ते नैमित्तिकस्य  
विलम्बो युक्तः । इति प्राप्ते ब्रूमः,—कृतावुपयोक्तुमग्निचयनेन\*  
संस्क्रियते ; न च अग्निष्वक्ने कृतौ चयनसंस्कारः सफलो भवति ।  
तस्मात् कृतौ निष्पन्ने षति पश्चात् चयनसाफत्वाद्यं पुरुषोऽग्निं  
चितवानित्यस्य मर्थमस्तीति कृत्वन्ते तानि प्रतानीति” ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे छान्दोग्यजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे उत्तमप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

\* -स्योयते न’ इति आदर्शपक्षकपाठः ।

अग्निं युनजिम् शवसा धृतेन दिव्यः सुपर्णं वयसा  
 बृहन्तं । तेन वयं पतेम ब्रध्नस्य विष्टपः सुवो वहाणा  
 अधि नाक उत्तमे<sup>(१)</sup> । इमौ ते पश्चावजरौ पतचिखो  
 याभ्याः रक्षाःस्यप हस्यमे । ताभ्यां पतेम सुकृतासु  
 लोकं यचर्षयः प्रथमजां ये पुराणाः<sup>(२)</sup> । चिदसि  
 समुद्र्योनिरिन्दुर्हृदः श्येन कृतावा । हिरण्यपद्मः  
 शकुनो भुरग्युर्महान्तस्रधस्थे ध्रुवः ॥ १ ॥

आ निषत्तः<sup>(३)</sup> । नमस्ते अस्तु मा मा हिःसीर्विश्वस्य  
 मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः । समुद्रे ते हृदयमन्तरायु-  
 र्द्यावापृथिवी भुवनेष्वपि ते<sup>(४)</sup> । उज्जो दत्तोदधिं भिन्त  
 दिवः पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावत ।  
 दिवो मूर्ध्नासि पृथिव्या नाभिरुर्गपामोषधीनां ।  
 विश्वायुः शमी सप्रथा नमस्यथे<sup>(५)</sup> । येनर्षयस्तपसा  
 संचं ॥ २ ॥

आसुतेभ्याना अग्निः सुवरा भरन्तः । तस्मिन्नहं  
 नि दधे नाके अग्निमेतं यमाहुर्मनवस्तीर्णवर्हिषं<sup>(६)</sup> ।  
 तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्घातृभिरुत वा  
 हिरण्यैः । नाकं गच्छानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे  
 अधि रोचने दिवः<sup>(७)</sup> । आ वाचे मध्यमंरुहद्वुरग्युर-



यमग्निः सत्यतिश्चेकितानः । पृष्ठे पृथिव्या निहितो  
दविद्युतदधस्पदं कृणुते ॥ ३ ॥

ये पृतन्यवः<sup>(८)</sup> । अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सह-  
स्रियो दीप्यतामप्रयुच्छन् । विध्राजमानः सरिरस्य  
मध्य उप प्र यात दिव्यानि धाम<sup>(९)</sup> । सम्य च्यवध्वमन्  
सम्य याताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वं । अस्मिन्सधस्ये  
अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत<sup>(१०)</sup> । येना  
सहस्र वहसि येनाग्ने सर्ववेदसं । तेनेमं यज्ञं नो वह  
देवयानो यः ॥ ४ ॥

उत्तमः<sup>(११)</sup> । उदुध्यस्वाम्ने प्रति जायंहि एनमिष्टापूते  
सःसृजेषामयच्च पुनः कृण्वस्त्वा पितरं युवानमन्वा-  
ताःसीत्त्वयि तन्तुमेतं<sup>(१२)</sup> । अयं ते योनिर्ऋत्वियो  
यतो जातो अरोचयाः । तं जानन्नग्ने आ रोहाया  
नो वर्धया रयिं<sup>(१३)</sup> ॥ ५ ॥

ध्रुवः । सूचं । कृणुते । यः । सप्तर्चिःश्च ॥ १३ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्यकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
अयोदशोऽनुवाकः ॥ \* ॥

“दादग्ने वाजप्रसवीयहेमोऽभिहितः । अथ चयोदशेऽग्नियोगो-  
 ऽभिधीयते । कल्पः, ‘पुरस्तात् प्रातरनुवाकादग्निं युनज्मीति तिसृभि-  
 रंभिष्टशन्नग्निं युनक्ति’ इति । तच्च प्रथमामाह,—“अग्निं युनज्मि श्वसा  
 घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तं । तेन वयं पतेम ब्रध्नस्य विष्टपं  
 सुवो रुहाणा अधिं नाक उत्तमे<sup>(१)</sup>” इति । ‘अग्निं’ (चितमेतं वज्रं)  
 ‘श्वसा’ (बलेन) ‘घृतेनः’ (घृतादिद्रव्ययुक्तेन कर्मणा) ‘युनज्मि’ (रथेन  
 अश्वमिवाहं योजयामि) । कीदृशम् अग्निं ? । ‘दिव्यं’ (द्योतनात्मकं);  
 ‘सुपर्णं’ (पक्ष्याकारं); ‘वयसा’ ‘बृहन्तं’ (वयसा चिरकालभाविनं); ‘तेन’  
 (अग्निना) ‘वयं’ (यजमानाः) ‘ब्रध्नस्य’ (आदित्यस्य) ‘विष्टपं’ (तापरहितं  
 स्थानं) ‘पतेम’ (प्राप्नुयाम) । कीदृशा वयं ? । ‘उत्तमे’ ‘नाके’ (अत्युत्कृष्टे  
 स्वर्गलोके) ‘सुवः’ ‘अधि’-‘रुहाणाः’ (सुखप्रापकं प्रदेशम् अधिरोढु-  
 कामाः) ।

अथ द्वितीयामाह,—“इमौ ते पञ्चावजरौ पतन्निषो याभ्यां  
 रक्षांस्त्वप हृस्वमे ताभ्यां पतेम सुकृतासु लोकं यचर्षयः प्रथमजा ये  
 पुराणाः<sup>(२)</sup>” इति । ‘पतन्निषः’ (पक्ष्याकारस्य) ‘ते’ (तव) अग्नेः ‘इमौ’  
 ‘पञ्चौ अवजरौ’ (कदाचिदपि जीर्णे न भवतः) । हे ‘अग्ने’, ‘याभ्यां’  
 (पञ्चाभ्यां) त्वं ‘रक्षांसि’ ‘अप-हंसि’ (मारयसि), ‘ताभ्यां’ वयं ‘सुकृतासु’  
 (पुण्यकृतामेव) पुरुषाणां योग्यं ‘लोकं’ ‘पतेम’ (प्राप्नुयाम) । ‘ये’  
 ‘पुराणाः’ (अनादिसिद्धाः) ‘यचर्षयः’ (महर्षयः) सन्ति, ते च ‘प्रथमजाः’  
 (सृष्ट्यादावेवोत्पन्नाः); तादृशा ‘यच’ लोके निवसन्ति, तं ‘लोकं’  
 ‘पतेम’ ।

अथ तृतीयामाह,—“चिदसि समुद्रोऽनिरिन्दुर्दक्षः श्वेन चतावा ।

हिरण्यपक्षः शङ्खुनो भुरणुर्महात्सधस्ये भ्रुकः आ निषत्तः<sup>(१)</sup>” इति । हे अग्ने, त्वं चिदादिविशेषणैर्विशेषितः ‘असि’ । ‘चित्’ (जगतश्चेतयिता, यजमानैश्चितो वा) ; ‘समुद्रयोनिः’ (यथा समुद्रः सर्वेषां जलघराणां स्थानं तथा त्वं सर्वेषां कृत्स्नां स्थानं) ; ‘इन्दुः’ (परमैश्वर्ययुक्तः) ; ‘दक्षः’ (कर्मनिष्पादनकुशलः) ; ‘श्वेनः’ (पक्षिविशेषाकारः) ; ‘ऋतावा’ (सत्यवान्) ; ‘हिरण्यपक्षः’ (सुवर्णमयाभ्यां पञ्चाभ्यामुपेतः) ; ‘शङ्खुनः’ (कामनादिभेदेन कङ्कादिपक्ष्याकारश्च) ; ‘भुरणुः’ (सर्वं भरितुं क्षमः) ; ‘महान्’ (बङ्गीभिरिष्टकाभिश्चितत्वात् प्रौढः) ; ‘सधस्ये’ (आदित्येन सह एकत्र स्थितियोग्ये मण्डले) ‘आ निषत्तः’ (समन्तत उपविष्टः)\* ।

कल्पः, ‘यज्ञायज्ञियस्य स्तोत्रे एकया अग्रस्तुतं भवत्यथ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीरिति द्वाभ्यामग्निमभिष्टुति’ इति । तत्र प्रथमामाह,— “नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीर्विश्वस्य मूर्धन्वधि तिष्ठसि अतः । समुद्रे ते हृदयमन्तरायुर्द्यावापृथिवी भुवनेष्वर्पिते<sup>(२)</sup>” इति । हे अग्ने, ‘ते’ ‘नमः’ ‘अस्तु’, त्वं कर्मणि लक्ष्मणकारिणीं ‘मा हिंसीः’ (मा विनाशय) । त्वं ‘विश्वस्य’ (सर्वस्य) जगतः ‘मूर्धन्’ (शिरोवदुत्तमे चित्तिप्रदेशे) ‘अतः’ (आश्रितः सन्) ‘अधि-तिष्ठसि’ (अधिकौ भूत्वा वर्तसे) । ‘ते’ ‘हृदयं’ (त्वदीयं चित्तं) ‘समुद्रे’ वर्त्तते, - श्वावद्दृष्टिद्वारेण समुद्रसमानं जलं सम्पादयिष्यामीत्येवं सर्वदा तवानुग्रहः । तथा ‘अन्तरायुः’ (त्वदीयचित्तस्य मध्ये सर्वेषां

\* अत्र ‘भुवः’ इति पदस्य व्याख्यानं पतितमिव प्रतिभाति ।

† अत्र ‘मा’ (मां) इति प्रुठः पतित इव प्रतिभाति ।

प्राणिनामायुस्तिष्ठति)।—अत्र जीवन्तु एते प्राणिन इति यदा स्मरसि तदानीं तेषामायुर्भवत्येव । किञ्च 'भुवनेषु' (सर्वेषु लोकेषु) निमित्त-  
भूतेषु 'द्यावापृथिवी' 'अर्पिते',—उपरि द्यौः अधो भूमिश्च त्वया  
स्थापिते,—एतयोर्मध्ये सर्वे लेखास्तिष्ठन्वित्येवं तवानुग्रहः ।

अथ द्वितीयामाह,—“उद्गो दत्तोदधिं भिन्न दिवः पर्जन्यादन्त-  
रिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो दृष्ट्याऽवत । दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभि-  
रूर्ध्वपाशेषधीनां । विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्ये(५)” इति । अत्र  
पूजार्थम् एकस्मिन्नेवाग्नौ बह्वलमारोप्य निर्दिश्यते । हे अग्नयः, यूयं  
'उद्गो' 'दत्त' (उदकानि प्रयच्छत) । उदकदाने क उपाय इति  
उच्यते । 'उदधिं' 'भिन्न',—उदकं धीयतेऽस्मिन्नित्युदधिर्मेघः, तं  
विदारयत । केभ्यो निमित्तेभ्यः । 'दिवो' 'अन्तरिक्षात्' 'पृथिव्याः'  
(लोकत्रयं निमित्तीकृत्येत्यर्थः) । 'ततः' (मेघविदारणादूर्ध्वं) 'पर्जन्यात्'  
आगतया 'दृष्ट्या' 'नः' (अस्मान्) 'अवत' (रक्षत) । पुनरप्येकलेन  
सम्बोध्योच्यते,—हे अग्ने, त्वं 'दिवो' 'मूर्धासि' (द्युलोकस्य मूर्ध-  
स्थानीय आदित्यरूपोऽसि) ; 'पृथिव्याः' 'नाभिः' असि (नाभि-  
धन्वाभ्यदेशे वर्तसे) ; 'अपाम्' 'आषधीनां' च 'ऊर्क' (रसः) असि,  
त्वया हि पाके क्रियमाणे सति तत्र रसो जायते; तथा 'विश्वायुः'  
असि (सर्वस्य जगत आयुःप्रदोऽसि) ; 'शर्म' (शरणभूतः) असि ।  
'सप्रथाः' (सविस्तारः) असि । 'मेघे' (पण्यलोकमार्गरूपाय) तुभ्यं  
'नमः' अस्तु ।

अग्नियोगमन्त्रं व्याख्यातुं प्रसीति,—“सुवर्गा वै लोकाय देव-  
रथोऽयुज्यते यत्राकूताय मनथ्यरथ एष खलु वै देवरथो यदग्निः”

(५।४।१० अ०) इति । द्विविधो रथः,—देवरथो मनुष्यरथश्चेति ; तत्र स्वर्गप्राप्तये 'देवरथः' सञ्जीक्रियते ; 'ध्वज' कापि ग्रामविशेषे गन्तुं आकृतमभिप्रायो भवति, तदर्थं 'मनुष्यरथः' सञ्जीक्रियते । योऽथस् अत्र चीयमानोऽग्निः, स एष देवरथः न तु मनुष्यरथः ।

इत्थं प्रस्तुत्य मन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“अग्निं युनज्मि श्रवसा घृतेनेत्याह युनक्त्येवैनं स एनं युक्तः सुवर्गं लोकमभि वहति” (५।४।१० अ०) इति । 'एनं' (देवरथरूपम्) 'अग्निम्' अनेन मन्त्रेण 'युनक्त्येव' ; स च 'युक्तः' अग्निः 'एनं' (यजमानं) स्वर्गं प्रापयति ।

उक्तमन्त्रपञ्चके मन्त्रत्रयं विभज्य विनियुक्ते,—“यत् सर्वाभिः पञ्चभिर्युज्याद्युक्तोऽस्याग्निः प्रच्युतः स्त्रात्, अप्रतिष्ठिता आहुतयः स्त्रुः, अप्रतिष्ठिताः स्त्रोमाः, अप्रतिष्ठितानि उक्थानि, तिस्रभिः प्रातःसवनेऽभि मृशति चिष्टद्वै अग्निर्यावानेवाग्निसं युनक्ति, यथाऽनसि युक्ते आधीयते एवमेव तत् प्रति आहुतयस्तिष्ठन्ति, प्रति स्त्रोमाः, प्रति उक्थानि” (५।४।१० अ०) इति । आदावेव मन्त्रपञ्चकेन योजने सति कालान्तरे योजयितुं मन्त्राभावादयं 'युक्तः' 'अग्निः' 'प्रच्युतः' भवेत्, प्रच्युते अग्नौ आहुतीनां स्तोत्रशस्त्रयोश्च प्रतिष्ठा न भवेत् । अतः पश्चाद्योक्तं मन्त्रद्वयमवशेष्य 'प्रातःसवने' 'तिस्रभिः' 'अभि'-मृजेत् । तथा सति त्रिगुणमग्निं सर्वमपि अभिमृशति । ततो यथा लोके वस्तीवर्देत्युक्ते शकटे सर्वं प्रति ग्रामान्तरे नेतव्यं वस्तुजातमभिनिधीयते, एवमेतस्मिन् अग्नौ 'आहुतयः' स्तोत्राणि च 'प्रति'-'तिष्ठन्ति' ।

अथाविशिष्टं मन्त्रद्वयं विनियुक्ते,—“यज्ञाद्यग्नित्रयस्य स्तोत्रे राभ्यामभि मृशत्येतावाक्यं वै यज्ञो यावानग्निष्टोमो भूमा तु वै अस्त्र

अतः उक्तं: क्रियते यावन्नेव यज्ञस्य अन्ततोऽन्वारोहति” (५।४।१० अ०) इति । ‘यज्ञायज्ञां वो अग्रयः’ इत्यस्यामृषि उत्पन्नं साम यज्ञायज्ञीयं, तस्य साधः सम्बन्धि स्तोत्रं द्वतीयसवने प्रवर्तते । तस्मिन् प्रवर्तमाने सति ऋषिभ्यां दाभ्यां मन्वाभ्यामग्निमभिष्टुते । यज्ञायज्ञियस्तोत्रात्तो हि प्रकृतिभूतोऽग्निष्टोमः, स च यावान्, तावानेव उक्त्यगतिरात्रादिसर्वोऽपि यज्ञः । एतावदेव हि सर्वस्यापि यज्ञस्य मुख्यशरीरं । ‘अग्रयं’ (उक्त्यादिज्ञतोः) यज्ञायज्ञियस्तोत्रात् ‘उक्तः’ तु स्तोत्रसमूहे यः क्रियते, स तु सैव क्रियते, तेन अतिरिक्तेन पूर्वं विद्यमानस्य यज्ञशरीरस्य बाहुल्यमेव भवति, न तु किञ्चिद्व्युत्तनं शरीरं । एवं सति यज्ञायज्ञियस्य स्तोत्रकालेन अभिमर्शनेन अतिरिक्तेन अग्निष्टोमो उक्त्यागतिरात्रादिरूपो ‘यज्ञो’ ‘यावान्’ अस्ति ‘तं’ सर्वमपि अन्तराले ‘अन्वारोहति’, कृत्स्नमपि यज्ञजातं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

मन्त्रद्वित्वं प्रशंसति,—“दाभ्यां प्रतिष्ठित्यै” (५।४।१० अ०) इति ।

स्तोत्रमध्य एव अवान्तरकालं विधत्ते,—“एकया अप्रस्तुतं भवति, अथ अभि मृशति, उपैनमुत्तरो यज्ञो नमति, अथो सन्तत्यै” (५।४।१० अ०) इति । यज्ञायज्ञियस्तोत्रे हि एकविंशस्तोत्रो विहितः । तस्मिन् अत्र एकविंशतिसंख्यापूरणाय आवर्तनीयाः\* ।

तच्च हि विंशतिस्तोत्रियासु उक्तासु या अन्ता स्तोत्रीया,† तथा स्तोत्रम् ‘अप्रस्तुतं’ (अनुपक्रान्तं) यदा भवति, तदागीं मन्वाभ्यामभि-

\* ‘पूरणीयावर्तनीया’ इति सर्वत्र पाठो न सन्त्यपि प्रतिभाति ।

† पूरणीयपाठयोरेकैकप्याय अत्र ‘स्तोत्रियाः’ इति पाठः, पूर्वत्र वा ‘स्तोत्रीयासु’ इति पाठो भवितुं युक्तः ।

मृशेत् । एवं सत्युत्तरकालभावी 'यज्ञः' सर्वोऽपि 'एनं' (यजमानम्) 'उप'-'नमति' । अपि च तदभिर्भर्शनं यज्ञनैरन्तर्याय सम्पद्यते ।

कल्पः, 'पुनस्त्रितित्तिव्यर्थेषु श्रूयते,—अवणार्थं समृद्धार्थं सन्तानार्थं च । अवणार्थं व्याख्यास्यामः,—यदि इच्छा यदि पशुना यदि सोमेन यजेत योऽप्यस्य पुरोऽग्निस्त्वमन्ववसांय यजेत, अपि वा येन ऋषय इत्यष्टौ नानामन्त्र उत्तरवेद्यामुपदध्यात् इति । तेन प्रथमामाह,—  
“येनर्षयस्तपसा सचमासतेन्धाना अग्निं सुवः आ भरन्तः । तस्मिन्नेह नि दधे नाके अग्निमेतं यमाज्जर्मनवस्तीर्णवर्हिषम्<sup>(१)</sup>” इति । 'येन' (स्वर्गेण) निमित्तभूतेन पूर्वं महर्षयः 'तपसा' (सन्तापयुक्तेन) अग्निना 'सचम्' 'आसत' (अनुष्ठितवन्तः); कीदृशा महर्षयः?—'अग्निं' 'इन्धानाः' (प्रज्वलयन्तः); 'सुवः आ भरन्तः' (स्वर्गमादृतुं समुद्यताः); 'अहम्' अपि 'तस्मिन्' 'नाके' निमित्तभूते सति 'एतम्' 'अग्निं' 'नि'-'दधे' (स्थापयामि) । 'यम्' 'अग्निं' 'मनवः' (पूर्वं मनुष्याः) 'स्तीर्णवर्हिषं' (प्रसारितयज्ञम्) 'आहुः', तम् 'अग्निं' 'नि'-'दधे' इत्यन्वयः ।

अथ द्वितीयामाह,—“तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिः स्त वा हिरण्यैः । नाकं गृह्णानाः सुहृत्स्व लोके दंतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः<sup>(२)</sup>” इति । हे 'देवाः', ऋत्विजः सर्वे वयं पत्न्यादिभिः सर्वैर्मनुष्यैः 'उत' 'वा' 'हिरण्यैः' (हिरण्यादिभिः) सर्वैः साधनद्रव्यैश्च सहिताः 'तं' (अग्निम्) 'अनु'-'गच्छेम'; अनुगताः सन्तः फलं प्राप्स्यामः इत्याशयः । स एव स्पष्टीक्रियते,—'दिवः' 'पृष्ठे' (स्वर्गस्थोपरि) 'नाकं' (दुःउरहितं स्थानं) 'गृह्णानाः', गृहीतुकामा इत्यर्थः । कीदृशे

दिवः पृष्ठे ?—‘सुहृतस्य’ ‘लोके’ (सम्यगनुष्ठितस्य कर्मणः फलभूते); ‘तृतीये’ (पृथिवीमारभ्य गणनायां त्रिसङ्ख्यापूर्वके), ‘अधि रोचने’ (अधिकत्वेन दीप्यमाने) ।

अथ तृतीयामाह,—“आ वाचो मध्यमरुहङ्गुरण्युरयमग्निः सत्पति-  
चेकितानः । पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्यदं कृणुते ये  
पृतन्त्रवः<sup>(८)</sup>” इति । ‘अयम्’ ‘अग्निः’ ‘वाचः’ ‘मध्यम्’ ‘आ’-‘अरुहत्’  
(स्तोत्ररूपाया वाचः प्रतिपाद्यमर्थमारूढः), स्तोत्रगतसर्वगुणयुक्त इत्यर्थः ।  
कीदृशः अग्निः ?—‘भुरण्युः’ (जगद्भरणशीलः); ‘सत्पतिः’ (सतां  
पालकः); ‘चेकितानः’ (अभिज्ञानवान्); स च ‘पृथिव्या’ ‘पृष्ठे’  
(भूमेरुपरि) ‘निहितः’ (स्थापितः) ‘दविद्युतत्’ (अतिशयेन द्योतते) ।  
‘ये’ तु ‘पृतन्त्रवः’ (विरोधिनः, अस्माभिः सह कलहं कर्तुमिच्छन्ति), तान्  
‘अधस्यदं’ ‘कृणुते’ (अस्माकं पादस्य अधस्तादवस्थितान् करोति) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्त्रियो दीप्य-  
तामप्रयुच्छन् । विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य उप प्र यात दिव्यानि  
धाम<sup>(९)</sup>” इति । ‘अयम्’ ‘अग्निः’ ‘दीप्यतां’ (अस्मिन् कर्मणि प्रकाशतां) ।  
कीदृशः ?—‘वीरतमः’ (अतिशयेन शूरः); ‘वयोधाः’ (वयस आयुषः  
स्थापयिता); ‘सहस्त्रियः’ (दृष्टकांसहस्रसम्पादितः\*); ‘अप्रयुच्छन्’  
(अस्मिन् कर्मणि प्रमादरहितः); ‘सरिरस्य’ (जलस्य) ‘मध्ये’ ‘विभ्राज-  
मानः’ (अत्रैवविद्युदादिरूपेण विशेषतः प्रकाशमानः) । हे अलिग्-  
यजमानाः, तस्य प्रसादात् ‘दिव्यानि’ ‘धाम्’ (स्थानानि) ‘उप-  
प्र-यात’ (प्राप्नुत) ।

\*. ‘दृष्टकांसहस्रं सम्पादितः’ इति च दर्श-पुस्तकपाठः ।



अथ पञ्चमीमाह,—“सम्प्र-अवध्वमनु-सम्प्र-याताग्ने पथो देव-  
यानान् कृणुध्वं । अस्मिन् सधस्ये अद्युत्तरस्मिन् विसे देवा यजमानस्य  
सीदत<sup>(१०)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, त्वं ‘विसे देवाः’, ‘यजमानस्य’ सर्वं  
युयं, ‘सम्प्र’-‘अवध्व’ (सम्पक् प्रस्थावधत्), अस्य कर्मणो विप्रं वि-  
नाशयतेत्यर्थः । ‘अनु’-‘सम्प्र’-‘यात’ (अनुक्रमेण कर्मसिद्धिं प्राप्तुम्) ।  
ततः ‘देवयानान्’ (देवलोकप्राप्तिहेतुन्) ‘पथः’ (मार्गान्) ‘कृणुध्वं’  
(कुरुत) । ‘सधस्ये’ (सहस्यतियोग्ये) ‘अस्मिन्’ ‘सीदत’, ‘उत्तरस्मिन्’  
लोके अधिकत्वेन सीदत\* ।

अथ षष्ठीमाह,—“येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसं । तेनेमं  
यज्ञं नो वह देवयानो य उत्तमः<sup>(११)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, ‘देवयानः’  
(देवप्रापकः) ‘यः’ त्वं ‘उत्तमः’, स त्वं ‘येन’ व्यापारेण ‘सहस्रं’ ‘वहसि’  
(सहस्रदक्षिणाकं यज्ञं निर्वहसि), तथा ‘येन’ व्यापारेण ‘सर्ववेदसं’  
(सर्वस्वदक्षिणाकं यज्ञं वहसि), ‘तेन’ व्यापारेण ‘नः’ (अस्मदीयम्)  
‘इमम्’ ‘यज्ञं’ ‘वह’ (देवान् प्रापय) । ‘देवयानः’ इत्यादिकं यज्ञ-  
विशेषणं वास्तु,—यो यज्ञो देवान् प्राप्तः ‘उत्तमः’ भवति, तम्  
‘इमं’ ‘यज्ञं’ ‘वह’ इत्यर्थः ।

अथ सप्तमीमाह,—“उदुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि एगमिष्टापूर्त्ते सष्ट-  
रुजेथामयच्च । पुनः कृणुस्वा पितरं युवानमन्वाताः सीत् त्वयि-  
तन्तुमेतम्<sup>(१२)</sup>” इति । हे ‘अग्ने’, त्वम् ‘उदुध्यस्व’ (अस्मादिष्ये  
सर्वधानो भव); ‘एकं’ (यजमानं) ‘प्रति’-‘जागृहि’ (प्रतिदिनं जागरूकं  
सावधानं कुरु); ‘अयं’ ‘स’ त्वं स मिलित्वा ‘इष्टापूर्त्ते’ (भौत

\* ‘सीदतु’ इति सर्वत्र पाठो न सम्भवति ।

‘आर्त्तकर्मणी’ (सं-सृजेथाः) (सम्पादयते) । हे यजमान, त्वां ‘पितरं’ (पालक), ‘द्युवानं’ (द्यौवनोपेतं) ‘पुनः’ ‘कृण्वन्’ (भूयो भूयः कृण्वन्) अयमग्निः त्वयि निमित्तभूते सति ‘एतं’ ‘तन्तुं’ (यज्ञप्रवाहं) ‘अन्वाताऽशीत्’ (अनुक्रमेण लनोतु, सम्पादयतु) ।

अथाष्टमीमाह,—“अथ ‘ते’ योनिर्ध्वलियो यतो जातो अरोचथाः । तं ज्ञानन्नुम् आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्<sup>(१)</sup>” इति । हे-‘अग्ने’, ‘यः’ ‘अयम्’ इष्टकाचितिरूपप्रदेशः ‘ते’ (तव) ‘योनिः’ (स्थानं); ‘यतः’ (यस्या इष्टकाचितेः) ‘जातः’ (उत्पन्नः) त्वं ‘अरोचथाः’ (दीप्तो भवसि), ‘तं’ (योनिं\*) ‘जानन्’ (स्वकीयत्वेन अवगच्छन्) ‘आ’-‘रोह’ । ‘अथ’ (अनन्तरं) ‘नः’ (अस्माकं) ‘रयिं’ (धनं) ‘वर्द्धय’ ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यां पुनस्त्रितिं विधत्ते,—“प्र वै एषोऽस्मांल्लोकाश्चवते योऽग्निं चिनुते, न वै एतस्थानिष्टके आहुतिरिव कल्पते, यां वै एषोऽग्निष्टके आहुतिं जुहोति खवति वै सा, ताऽस्वन्तीं यज्ञोऽनु परा भवति, यंश्च यजमानो यत् पुनस्त्रितिं चिनुते आहुतीनां प्रतिष्ठित्यै, प्रति आहुतयस्त्रिष्टन्ति, न यज्ञः परा भवति, न यजमानः” (५।४। १० अ०) इति । ‘अग्निं’ चिन्वानः पुरुषः स्वर्गाभिमुखत्वात् ‘अस्मां-ल्लोकात्’ प्रच्युतो भवति । ‘एतस्य’ पुरुषस्य इष्टकारहिते देशे आहुतिर्न सम्भवति । भूप्रदेशस्य स्वकीयत्वाभावात् । एवं सति इष्टकारहिते प्रदेशे ‘याम्’ ‘आहुतिं’ ‘जुहोति’ ‘सा’ ‘खवति’-यथा भिन्नभाष्ये जलं गच्छति तद्वत् । ‘स्वन्तीं’ ‘ताम्’ आहुतिम् ‘अनु’ ‘यज्ञः’

\* ‘योनिं’ इति सर्वत्र पाठे न सम्यक् ।

नश्यति, 'यज्ञम्' 'अनु' 'यजमानः' अपि, नश्यति । अत आहुति-  
प्रतिष्ठार्थं 'पुनश्चिति' कुर्यात्; तत आहुतियज्ञयजमानाः प्रति-  
तिष्ठन्ति ।

अस्यां चित्ताविष्टकासङ्ख्यां विधत्ते,—“अष्टावुपदधात्यष्टाक्षरा  
गायत्री गायत्रेणैवैनं कन्दसा चिनुते” (५।४।१० अ०) इति ।

एतच्छाखास्मातमन्त्रानुसारेण सङ्ख्यां विधाय शाखान्तरानुसारेण  
अन्यौ द्वौ पक्षौ विधत्ते,—“यदेकादश त्रैष्टुभेन, यद्वादश जागृतेन,  
कन्दोभिरेवैनं चिनुते” (५।४।१० अ०) इति ।

प्रकारान्तरेण पुनश्चितिं प्रशंसति,—“नपात्को वै नामैषोऽग्निर्यत्  
पुनश्चितिर्य एवंविद्वान् पुनश्चितिं चिनुत आ तृतीयात् पुरुषादन्नम्  
अत्ति” (५।४।१० अ०) इति । न पातयति न विनाशयति आहुतिं  
न स्थावयतीति पुनश्चितिरूपस्य अग्नेः 'नपात्कः' इति नामधेयं । एवं  
ज्ञात्वा चितवान् पुरुषः पुत्रपौत्रपर्यन्तम् अन्नसमृद्धौ भवति ।

पुनःशब्दस्य तात्पर्यं दर्शयति,—“यथा वै पुनराधेय एवं पुनश्चिति-  
र्योऽग्न्याधेयेन न ऋध्नाति स पुनराधेयमा धत्ते योऽग्निं चित्वा न  
ऋध्नाति स पुनश्चितिं चिनुते यत् पुनश्चितिं चिनुते ऋध्ना” (५।  
४।१० अ०) इति । पुनराधेयपुनश्चित्योः पूर्वसमृद्धभावेन पश्चादु-  
द्घिसङ्गावेन च सादृश्यम् ।

अत्र पूर्वपक्षत्वेन शाखान्तरमतमुपन्यस्यति,—“अथो ब्रह्मवाङ्मन  
चेतव्येति रुद्रो वै एष यदग्निर्यथा व्याघ्रः सुप्तं बोधयति तादृगेद-  
तत्” (५।४।१० अ०) इति । यथा लोके सुप्तो व्याघ्रः केनचित्  
मार्गे गच्छता पुरुषेण बोधितः तमेव बोधयितारं मारयति, एवमयं

कूराऽग्निः पूर्वं चितः कथञ्चित् पुण्यवशान् सुप्तवच्छान्को वर्धते, स चेत् पुनश्चीयेत् प्रबोधितव्याप्नोवन्मारयेत् ; तस्मान्न चेतव्या इयं पुनश्चितिरिति पूर्वं पक्षः ।

तमेतं पक्षमनादृत्य स्वपक्षमेव स्थापयति,—“अथो खल्वाङ्घ्र्येत्येति यथा वसीयाऽसं भागधेयेन बोधयति तादृगेव तत्” (५।४।१० अ०) इति । लोके धनमर्थं प्रभुं चिरकालव्यवधानेन विस्मृतवन्तं मृत्यः पुनरपुपायनमानीय यथा बोधयति, स च बोधित एव अभीष्टमिष्टिं करोति, एवमयं प्रभुरग्निः पुनश्चितः सन् अभीष्टं साधयतीति चेतव्या इयं पुनश्चितिः ।

तस्याः पुनश्चितेः समृद्धिहेतुत्वमुदाहरणमुखेन स्पष्टीक्रियते,— “मनुरग्निमचिनुत तेन न आर्ध्नीत् सः, एतां पुनश्चितिमपश्यत् तामचिनुत, तथा वै स आर्ध्नीत्, यत् पुनश्चितिं चिनुते कश्चि” (५।४।१० अ०) इति ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

‘अग्निं’—त्रयं पुरा प्रातरनुवाकात् स्पृशेदिदम् ।

‘नमो’—द्वाभ्यां वल्गिमर्शा, येनाष्टाविष्टकाष्टकम् ॥

पुनश्चितिरिति प्रोक्ता मन्वास्तेऽत्र त्रयोदश ।

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे दृष्टान्तजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके त्रयोदशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

ममाग्ने वचो विह्वेष्टस्तु वयं त्वेन्नानास्तनुवं पुषेम ।  
 मच्चं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम<sup>(१)</sup> ।  
 मम देवा विह्वे संन्तु सर्व इन्द्रावन्तो मरुतो विष्णु-  
 रग्निः । ममान्तरिक्षमुरु गोपमस्तु मच्चं वातः पवतां  
 कामे अस्मिन्<sup>(२)</sup> । मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्या-  
 शीरस्तु मयि देवहूतिः । दैव्या हेतारां वनिषन्त ॥ १ ॥

पूर्वेऽरिष्टाः स्याम तनुवा सुवीराः<sup>(३)</sup> । मच्चं यजन्तु मम  
 यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु । एनो मा  
 नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता मे<sup>(४)</sup> ।  
 देवीः षडुर्वोरु रणः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वं ।  
 मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विपते सोम-  
 राजन्<sup>(५)</sup> । अग्निर्मन्युं प्रतिनुदन् पुरस्तात् ॥ २ ॥

अदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वं । प्रत्यञ्चो यन्तु  
 निगुतः पुनस्तेऽमैषां चित्तं प्रबुधा वि नेशत्<sup>(६)</sup> । धाता  
 धातृणां भुवनस्य यस्यतिर्देवः सवितारमभिमातिषाहं ।  
 इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं  
 न्यर्थात्<sup>(७)</sup> । उरुव्यचा नो महिषः शर्म यः स दस्मिन्  
 हवे पुरुहूतः पुरुक्षुं । स नः प्रजायै हर्यश्वः मृडयेन्द्र  
 मा ॥ ३ ॥

नो रीरिषो मा परा दाः<sup>(८)</sup> । ये नः सपत्न्या अप ते

भवंन्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् । वसवो रुद्रा  
 आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेतारमधिराजमक्रन्<sup>(८)</sup> ।  
 अर्वाचमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिह्वनजिदश्वजिह्व  
 यः । इमन्नो यज्ञं विह्वे जुषस्वास्य कुर्मो हरिवो  
 मेदिनं त्वा<sup>(९)</sup> ॥ ४ ॥

वनिषन्त । पुरस्तात् । मा । त्रिचत्वारिंशच्च ॥ १४ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
 चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ \* ॥

त्रयोदशे पुनश्चितिरुक्ता । अथ चतुर्दशे विह्वेव्यख्या इष्टका  
 उच्यन्ते । कल्पः, ‘ममाग्ने वर्चो विह्वेव्यस्त्वित्यनुवाकेन प्रतिमन्त्र-  
 मिष्टकाभिर्धिष्ण्यांश्चिर्नोत्यग्नेनवर्मा आग्नीषीय उपदधाति, द्वादश  
 षोडशैकविंशतिश्चतुर्विंशतिर्वा हेन्नीये, एकादश ब्राह्मणाच्छमीये,  
 षट् मार्जालीयेऽष्टावष्टावन्नेषु धिष्णियेषूपदधातीति विज्ञायते’ इति ।  
 नचाद्यामाह,—‘ममाग्ने वर्चो विह्वेव्यस्तु वयं त्वा इन्धानास्तनुवं पुषेम ।  
 मह्यं नमन्तां प्रदिशस्तसस्त्वया अथचेण पृतना जयेम<sup>(१)</sup>’ इति । हे  
 ‘अग्ने’, ‘विह्वेषु’ (यज्ञेषु) यत् ‘वर्चः’ (फलं) तत् ‘मम’ ‘अस्तु’ । ‘वयं’  
 (हृत्विग्यजमानाः) त्वाम् अग्निम् ‘इन्धानाः’ (प्रज्जल्यन्तः) ‘तनुवं’  
 (त्वदीयं शरीरं) ‘पुषेम’ (पुष्टं कुर्मः) । ‘मह्यं’ यजमानाय प्राच्याद्याः  
 ‘चतस्रेः’ ‘प्रदिशः’ ‘नमन्तां’ (वश्या भवन्तु), तत्तत्तया जना मदधीना

भवन्तु । ‘अथक्षेण’ (स्वामिना) ‘त्वया’ संहिता ‘वधं’ ‘घृतंनरः’  
(विरोधिन्यः सेनाः) ‘जयेम’ ।

अथ द्वितीयामाह,—“मम देवा विह्वे सन्तु सर्वे इन्द्रावन्तो  
मरुतो विष्णुरग्निः । ममान्तरिक्षमुह गोपमस्तु मच्छं वातः पवता  
कामे अस्मिन्<sup>(१)</sup>” इति । ‘सर्वे’ ‘देवाः’ ‘मम’ ‘विह्वे’ (मदीययज्ञे)  
‘सन्तु’ (तिष्ठन्तु) । देवा एव विशेष्यन्ते,—‘इन्द्रावन्तः’ (इन्द्रयुक्ताः),  
‘मरुतः’ (मरुद्गणाः), ‘विष्णुः’ ‘अग्निः’ च—इत्येवमाद्याः । इदम् ‘उह’  
विस्तीर्णम् ‘अन्तरिक्षं’ ‘गोपं’ (रक्षकम्) ‘अस्तु’ त्वं\* । अयं ‘वातः’  
(वायुः) ‘मच्छं’ (मदर्थम्) ‘अस्मिन्’ ‘कामे’ (यज्ञफले निमित्तभूते)  
सति ‘पवतां’ (सञ्चरतु), मदीयं कामं साधयत्वित्यर्थः ।

अथ तृतीयामाह,—“मयि देवा द्रविणम् आ यजन्तां मयाशीरस्तु  
मयि देवह्वतिः । दैव्या होतारा वनिषन्त पूर्वेऽरिष्टा स्याम तनुवां  
सुवीराः<sup>(२)</sup>” इति । एते ‘देवाः’ ‘मयि’ यजमाने ‘द्रविणं’ (पनम्)  
‘आ-यजन्तां’ (सर्वतः सम्पादयन्तु) । ‘आशीः’ (आशास्यमानं फलं)  
‘मयि’ ‘अस्तु’ (यजमाने सिद्धं भवतु) । तथा ‘देवह्वतिः’ (देवानाम्  
आह्वानञ्च) ‘मयि’ भवतु । ‘दैव्या’ ‘होतारा’ (देवसम्बन्धिन्  
चलितजः) ‘पूर्वे’ (अनादिसिद्धाः) ‘वनिषन्त’ (अस्मद्वज्रं सम्भजन्तु) ।  
वयं च ‘तनुवा’ (शरीरेण) ‘अरिष्टाः’ (हिंसारहिताः) ‘सुवीराः’  
(शोभनपुत्रयुक्ताः) ‘स्याम’ (भवास्म) ।

अथ चतुर्थीमाह,—“मच्छं यजन्तु मम यानि हव्या आकूतिः सत्या  
मनसो मे अस्तु । पुनि मा नि गां कतमत् चन अहं विश्वे देवासे अधि

\* एवमेव सर्वत्र पाठः । भवतु इति पाठो भवितुं युक्तः ।

‘वोचता मे<sup>(४)</sup>’ इति । ‘मम’ ‘यानि’ ‘हव्या’ (मदीयानि हवींषि) सन्ति, तानि सर्वाणि ‘मह्यं’ (मदर्थं) दैव्या ऋत्विजः ‘यंजन्तु’ । ‘मे’ ‘मम’ ‘मनसः’ ‘आकृतिः’ (मदीयस्य मनसः सम्बन्धी येऽयं सङ्कल्पः, स आकृतिः) ‘सत्यः’ ‘अस्तु’,—सङ्कल्पितार्थः सिध्यत्वित्यर्थः । ‘अहं’ ‘कतमतु’ ‘चनं’ ‘एनः’ (किमपि पापं) ‘मा’ ‘नि-गां’ (नितरां मा, प्राप्तवानि) । ‘विश्वे देवामः’ (हे विश्वे देवाः), ‘मे’ (मदर्थम्) ‘अधि’—‘वोचत’ (आधिक्यं ब्रूत,—यजमानानां मध्ये अयं अधिक इति देवानामग्रे कथयत) ।

अथ पञ्चमीमाह,—‘देवीः षडुर्वीरु एः कृणोत विश्वे देवास इह वीर्यध्वं । मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोमराजन्<sup>(५)</sup>’ इति । ‘देवीः’ ‘षडुर्वीः’ (उर्वीनामकाः षट्सङ्ख्याका हे देव्यः); अत एव शाखान्तरान्युपस्थाने समानातम्,—‘षण्मोर्वी-रं हस्यन्तु’ द्यौश्च पृथिवी च आपश्च ओषधयश्च ऊर्क् च स्रुता च’ इति । तादृश्यो हे देव्यः, नः (अस्मदीयम्) इदं कर्म ‘उरु’ ‘कृणोत’<sup>†</sup> विस्तीर्णं कुरुत । ‘विश्वे देवाः’ ‘इह’ कर्मणि ‘वीर्यध्वं’ (वीर्यं भवत),—विघ्नं परिहरतेत्यर्थः । वयं ‘प्रजया’ (पुत्रादिरूपया) ‘मा हास्महि’ (विपरित्यक्ता मा भूम) । तथा ‘तनूभिः’ (पुष्टशरीरैः) ‘मा हास्महि’ । हे ‘सोमराजन्’, ‘द्विषते’ (वैरिणे!) ‘मा रधामः’ (कार्यं सिद्धिं मा कर्वाम) ।

\* एवमेव सर्वत्र पाठः । ‘रं हस्यन्तु’ इत्येवंविधं कश्चिदन्यः पाठोऽत्र सम्भाव्यते ।

† ‘कृणोतु’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

‡ ‘वैरिभागे’ इति सर्वत्र पाठो न समीचीन इव प्रतिभाति ।



अथ षष्ठीमाह,—“अग्निर्मन्युं प्रतिनुदन् पुरस्ताददर्शो गोपाः”  
परि पाहि नस्त्वं । प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्ते अमा एषां चित्तं  
प्रबुधा वि नेशत्<sup>(१)</sup>” इति । अयम् ‘अग्निः’ ‘मन्युः’ (वैरिणां कोपं)  
‘प्रतिनुदन्’ (निराकुर्वन्) ‘पुरस्तात्’ (अस्माकं पुरतः) गच्छत्विति  
शेषः । हे अग्ने, ‘त्वम्’ ‘अदब्धः’ (केनार्थाहंसितः) ‘गोपाः’ (रक्षणसमर्थः)  
सन् ‘नः’ (अस्मान्) ‘परि’—‘पाहि’ (सर्वतः पालय) । तव पालने  
सति ‘ते’ (वैरिणः) ‘प्रत्यञ्चः’ (प्रतिमुखाः) सन्तः ‘निगुतः’ (नितरां  
गमनशीलाः, पलायनपराः) ‘पुनः’ ‘यन्तु’ (भूयो भूयो यत्र-कापि  
गच्छन्तु) । ‘एषां’ (वैरिणां) ‘चित्तम्’ (अन्तःकरणं) ‘प्रबुधा’ ‘अमा’  
‘वि-नेशत्’ (प्रबोधेन सह विनश्यतु) ।

अथ सप्तमीमाह,—“धाता धातॄणां भुवनस्य यस्यतिर्देवः  
सवितारमभिमातिषाहं । इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु  
यजमानं न्यर्थात्<sup>(२)</sup>” इति । ‘धातॄणाम्’ (जगत्कर्तॄणां दक्षप्रजापत्या-  
दीनां) अपि ‘धाता’ ‘यः’ (स्रष्टा), ‘भुवनस्य’ (लोकस्य) ‘पतिः’  
(पालकः) च । तथा ‘अश्विना’ ‘उभा’ (यौ उभौ अश्विनौ), ‘बृहस्पतिः’  
च इत्येते ‘देवाः’ ‘नः’ (अस्मदीयम्) ‘इमं’ ‘यज्ञं’ ‘यजमानं’ च  
‘न्यर्थात्’ (फलवैगुण्यलक्षणात् वैयर्थ्यात्) ‘पान्तु’ (रक्षन्तु) । कीदृशं  
यज्ञं ?—‘देवं’ (तत्तन्मन्त्रव्यवहारयुक्तं), ‘सवितारं’ (फलस्य जनकं),  
‘अभिमातिषाहं’ (पापलक्षणास्य अभिमातेः अरेः अभिभवितारम्) ।

अथाष्टमीमाह,—“उर्यचा नो महिषः शर्म यः सदस्मिन् हने  
पुरुहूतः पुरुहू । स/नः प्रजाये हर्यश्वः मृडयेन् स नो रीरिषो मा  
परा दा<sup>(३)</sup>” इति । पुरुभिः (वज्रभिर्यजमानैः) हूतः ‘पुरुहूतः’ ।

‘आहूत इन्द्रः’ इत्येते अस्मिन्निति हवो यज्ञः, तस्मिन् यज्ञे ‘स’ इन्द्रः  
 ‘नः’ (अस्माकं) ‘शर्म’ (सुखं) ‘यंसत्’ (यच्छतु) । कीदृश इन्द्रः ?—  
 ‘उरुव्यसः’ (अत्यन्तं व्याप्तः), बज्रदेशाधिपतिरित्यर्थः, ‘महिषः’  
 (महान् शौर्यादिगुणसम्पन्नः), ‘पुरुक्षु’ (पुरुषु बज्रषु मन्त्रेषु श्रूयते\*  
 शब्दयते प्रतिपाद्यत इति पुरुक्षुरेव पुरुक्षु), हरिनामानौ अथौ यस्य  
 अमौ ‘हर्यश्च’ । ‘ईदृश हे ‘इन्द्र’, ‘प्रजायै’ (पुत्रादिप्रजासिद्ध्यर्थं)  
 ‘स’ (त्वं) ‘नः’ (अस्मान्) ‘मृडय’ (सुखय), ‘नः’ (अस्मान्) ‘मा’  
 ‘रीरिषः’ (मा हिंसीः), ‘मा’ ‘परा-दाः’ (मा च तिरस्करु) ।

अथ नवमीमाह,—“ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव  
 बाधामहे तान् । वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मा उग्रं चेत्तार-  
 मधिराजमक्रन्<sup>(६)</sup>” इति । ‘ये’-केचित् ‘नः’ (अस्माकं) ‘सपत्नाः’  
 (शत्रवः) सन्ति, ‘ते’ ‘अप’—‘भवन्तु’ (अपनययुक्ता भवन्तु) । वयं  
 ‘तान्’ (सपत्नान्) ‘इन्द्राग्निभ्यां’ अनुग्रहयुक्ताभ्यां सहिताः ‘अव-बाधामहे’  
 (सर्वथा बाधितान् कुर्म) । वसुरुद्रादित्या देवता ‘मा’ (मां) एतादृशम्  
 ‘अक्रन्’ (कुर्वन्तु) । कीदृशम् ?—इति, तदुच्यते,†—उपरितनं स्वर्गं  
 स्पृशतीत्युपरिस्पृशं तं, ‘उग्रं’ (शत्रुतिरस्कारत्नम्), ‘चेत्तारं’ (अभिज्ञातारं)  
 ‘अधिराजं’ (अन्येषां सर्वेषामधिपतिम्) ।

अथ दशमीमाह,—“अर्वाचमिन्द्रमसुतो हवामहे यो गोजितं  
 धनजिद्व्यजिद्यः । इमं नो यज्ञं विह्वे जुषस्वास्य कुर्मो हरिवो

\* अत्र क्षयते इति पाठः, किं वा परत्र ‘पुरुक्षुरेव पुरुक्षु’ इत्यत्र पुरु-  
 क्षुरेव पुरुक्षु इत्येव पाठः सम्भाव्यते ।

† ‘वसुरुद्रादित्यादेवतानामेतादृशम्’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

‡ अत्र ‘उपरिस्पृशम्’ इति पदं पतितमिव प्रतिभाति ।

मेदिनं त्वा<sup>(१०)</sup>” इति । ‘यः’ इन्द्रः, ‘गोजित्’ (परकीयगर्वा\* जेता),  
तथा ‘यः’ ‘धनजित्’ (परकीयधनस्य जेता), ‘यः’ ‘अश्वजित्’  
परकीयाश्वानां जेता) अस्ति । ‘अर्वाचम्’ (अस्मदभिमुखं) तं ‘इन्द्र’  
‘हवामहे’ असुं यज्ञं निमित्तीकृत्य ‘असुतः’ (आह्वयामः)† । हे  
‘इन्द्र’ ‘विहवे’ (विविधाह्वाने) सति ‘नः’ (अस्मदीयम्) ‘इमं’ ‘यज्ञं’  
‘जुषस्व’ (सेवस्व) । हरिनामकावयौ यस्य सन्ति‡, स हरिवान्,  
हे ‘हरिवः’ (इन्द्र), त्वाम् ‘अस्य’ (यजमानस्य) ‘मेदिनं’ (क्षेत्रवन्तं  
‘कुर्मः’ ।

एतैर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधित्सुरादौ कानिचित् काम्यचयनानि  
दर्शयति, यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘कन्दश्चितं चिन्वीत पशुकामः’ इति  
विज्ञायते, सर्वैश्चन्द्रोभिश्चिनुयादित्येकं, प्राकृतैरित्यपरम्—इति ।

तदिदं विधत्ते,—“कन्दश्चितं चिन्वीत पशुकामः पशवो वै  
कन्दाऽसि पशूमानेव भवति” (५।४।११ अ०) इति । “अग्नि-  
मूर्धा दिवः ककुत्” इत्यनुवाकोक्तानि नानाच्छन्द्रोयुक्तमन्त्राणि,  
तैरेव चितो न तु यजुर्भिरिति कन्दश्चितः, तादृशमग्निं ‘पशुकामः’  
चिनुयात् ।

यच्च सूत्रकारेणोक्तं,—‘श्वेनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः’ इति  
‘विज्ञायते, वक्रपक्षो व्यस्तपुच्छो भवति, पश्चात् प्राक् उद्गृहति ।

\* ‘परकीयगर्वानाम्’ इत्येव पाठो भवितुं युक्तः ।

† अत्र पाठस्य वैपरीत्यमिव प्रतिभाति । ‘असुतो हवामहे’ (असुं यज्ञं  
निमित्तीकृत्य आह्वयामः) इत्येवंक्रम एकात्र पाठो भवितुं युक्तः ।

‡ ‘सन्ति’ इति सर्वत्र पाठो भ्रान्तिहृतः; ‘स्तः’ इत्येव भवितुं युक्तः ।

पुरस्तात् प्रत्यङ् उद्गतिः एवमिव हि वयसां मध्ये पञ्चनिर्णामो भवति इति विज्ञायते—इति । तदिदं विधत्ते,—“श्वेनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः श्वेनो वै वयसां पतिष्ठः श्वेन एव भूत्वा सुवर्गं लोकां पतति” (५।४।११अ०) इति । ‘वयसां’ मध्ये ‘श्वेनः’ अतिशीघ्रं पतितुं समर्थः । ‘श्वेन एव’ श्वेनवच्छीघ्रगाम्येव ।

यदप्युक्तं सूत्रकारेण,—‘कङ्कचिदलजचित् इति श्वेनचिता व्याख्यातौ’ इति । तदिदमुभयं क्रमेण विधत्ते,—“कङ्कचितं चिन्वीत यः कामयेत शीर्षणान् अमुष्मिन्लोके स्यामिति शीर्षणानेवा-मुष्मिन्लोके भवति । अलजचितं चिन्वीत चतुःसीतं प्रतिष्ठाकामश्चतस्रो दिशो दिक्ष्वेव प्रति तिष्ठति” (५।४।११अ०) इति । कङ्कालजो श्वेनस्यैव अवान्तरजातिभेदो, तच्च कङ्कस्य शिरो मण्डलाकारम्, अलजस्य तु पादयोर्विशेषः । अत एव पादस्थानीयासु सीतासु द्वादशमङ्गलामपोद्य चतुःसङ्ख्यां ब्रूते । तच्च कङ्कचिता स्वर्गलोके ‘शीर्षणान्’ (सर्वेषां मध्ये उद्गतशिरस्कः) प्रभुर्भवतीत्यर्थः । अथ ‘अलजचिता’ सीताचतुष्टयदिग्द्वारा प्रतिष्ठां प्राप्नोति ।

यदप्युक्तं सूत्रकारेण,—‘प्रजगचितं चिन्वीत भ्रातृव्यानिति विज्ञायते यावानग्निः सारन्निप्रादेशो दिक्षावतीं भूमिं चतुरत्रां कृत्वा पूर्वस्थाः करणा अर्धाच्छोणीं प्रत्यालिखेत्’—इति । तदिदं विधत्ते,—“प्रजगचितं चिन्वीत भ्रातृव्यवान्, प्रैव भ्रातृव्यानुदते” (५।४।११अ०) इति । ‘प्रजगं’ अनोमुखं, यथा शक्रेण पश्चाद्भागो विस्तृतः, पूर्वभागः सङ्कुचितः, तदत् । एतेन भ्रातृपान् प्रणुदते ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘उभयतःप्रजगं चिन्वीत यः कामयेत प्र

जातान् भ्रातृव्यान्नुदेयं प्रति जनिष्यमाणान् इति विज्ञायते  
यस्याविमुखे शकटे' इति । तदिदं विधत्ते,—“उभयतः प्रउगं चिन्वीतं  
यः कामयेत प्र जातान् भ्रातृव्यान्नुदेयं प्रति जनिष्यमाणानिति  
प्रेव जातान् भ्रातृव्यान्नुदेयं प्रति जनिष्यमाणान्” (५।४।११ अ० ।  
इति । प्राक् पश्चाच्च प्रउगाख्यशकटमुखसदृशम् ‘उभयतः प्रउगं’ ।  
तेन उत्पन्नान् भ्रातृव्यान् विनाशयति, उत्पत्त्यमानानां मुत्पत्तिं  
प्रतिवध्नाति ।

यदुक्तं सूत्रकारेण,—‘रथचक्रचितं चिन्वीत भ्रातृव्यवान् इति  
विज्ञायते यावानग्निः सारत्विप्रादेशस्तावतीं भूमिं परिमण्डलां कृत्वा’  
इति । तदिदं विधत्ते,—“रथचक्रचितं चिन्वीत भ्रातृव्यवान् वज्रो  
वै रथो वज्रमेव भ्रातृव्येभ्यः प्र हरति” (५।४।११ अ०) इति ।  
रथचक्रवत् वर्तुलत्वेन चीयत इति रथचक्रचित् ।

यदप्युक्तं सूत्रकारेण,—‘द्रोणचितं चिन्वीत अन्नकाम इति  
विज्ञायते इयानि तु खलु द्रोणाग्निं चतुरश्राणि परिमण्डलानि  
च तत्र यथाकामी’ इति । तदेतद्विधत्ते,—“द्रोणचितं चिन्वीतं  
अन्नकामो द्रोणे वै अन्नं भिष्यते सयोन्येवान्नमवरुन्धे” (५।४।११ अ०) ।  
इति । द्रोणो हि धान्यं भरन्ति, अतो धान्यस्थानसहितमन्नं  
प्राप्नोति ।

यदप्युक्तं सूत्रकारेण,—‘समूह्यं चिन्वीत पशुकाम इति विज्ञायते  
समूहन्निवेष्टक उपदधाति’ इति । तदिदं विधत्ते,—“समूह्यं चिन्वीत  
पशुकामः पशुमनव भवति” (५।४।११ अ०) इति । इमं हम्  
अर्हतीति समूह्यः ।

यदप्युक्तं सूत्रकारेण,—‘परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकाम इति विज्ञायते मध्यमाः स्वयमाहणां प्रदक्षिणमिष्टकागणैः परिचिनेति स परिचाय्यः’ इति । तदेतद्विधत्ते,—“परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामो ग्राम्येव भवति” (५।४।११ अ०) इति ।

यदप्युक्तं सूत्रकारेण,—‘ग्रामज्ञानचितं चिन्वीत यः कामयेत पितृलोकं ऋध्रुयामिति विज्ञायते दयानि तु खलु ग्रामज्ञानानि चतुरश्राणि परिमण्डलानि च तत्र याथाकामम्’ इति । तदेतद्विधत्ते,—‘ग्रामज्ञानचितं चिन्वीत यः कामयेत पितृलोके ऋध्रुयामिति पितृलोकं एवर्ध्नाति” (५।४।११ अ०) इति । तदेवं काम्यचयनानि समापितानि ।

अथ प्रकृतेः ‘ममाये वर्चः’ इत्यादिभिर्मन्त्रैः साध्यमुपधानं विधत्ते,—“विश्वामित्र-जमदग्नी वसिष्ठेन अस्यर्धेताः स एता जमदग्निर्विह्व्या अपश्यत् ता उपधात्त ताभिर्वै स वसिष्ठस्येन्द्रियं वीर्यमवृक्ष्य यद्विह्व्या उपदधातीन्द्रियमेव ताभिर्वीर्यं यजमानो भ्रातृव्यस्य वृक्षे” (५।४।११ अ०) इति । विह्वशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका विह्व्याः ।

उपधानदेशं विधत्ते,—“हेतुर्धिष्णिये उपदधाति यजमानायतनं वै हेता स्वे एवास्मा आयतने इन्द्रियं वीर्यमवृक्ष्ये” (५।४।११ अ०) इति । देवाङ्गातादिकस्य यजमानकार्यस्य हेता निष्पाद्यत्वाद्धेता यजमानस्यायतनम् ।

तत्र सङ्ख्यां विधत्ते,—“द्वादशोपदधाति द्वादशक्षरा जगती जागताः पञ्चो जगतीतासौ पगूनवृक्ष्ये” (५।४।११ अ०) इति । यद्यप्यज्ञ मन्त्राणां दशत्वान्मन्त्रवर्कसङ्ख्या पूरणीया । तत्प्रकारस्य

सूत्रकारेण दशिनः,—‘अल्पीयाऽसौ मन्त्राः, भूयाऽसि कर्माणि तत्र समशः प्रतिविभज्य पूर्वैः पूर्वाणि कारयेदुत्तरैरुत्तराणि; अल्पीयाऽसि कर्माणि, भूयाऽसौ मन्त्राः; तत्र प्रतिमन्त्रं कुर्यात्, अवशिष्टा विकल्पार्थाः, यथायूपद्रव्याणीत्यन्ताङ्गोपो विवृद्धिर्वा’ इति । अतोऽत्र पूर्वभागस्य अन्तिमं पञ्चमं, उत्तरभागस्यान्तिमं दशमञ्च आवृत्या वर्धयित्वा सङ्ख्या पूरणीया ।

स्थानान्तरेषु सङ्ख्यां विधत्ते,—“अष्टावष्टाव्येषु धिष्णियेषूपट्धाति अष्टाशफाः पशवः पशून्नेवावरुन्ते” (५। ४। ११ अ०) इति । प्रशास्त्रीय-पोत्रीय-नेष्ट्रीयाश्चावाकीयादीनि अन्यानि धिष्णियानि, तत्र नवम-दशममन्त्रयोर्लोपेनाष्टसङ्ख्या अवगन्तव्या ।

कश्चित् सङ्ख्यानन्तरं विधत्ते,—“षण्माज्जासीये, षड्वा ऋतव, ऋतवः खलु वै देवाः पितरः, ऋतून्नेव देवान् पितृन् प्रीणाति” (५। ४। ११ अ०) इति । दैविकस्य पैतृकस्य च कस्मिंश्चित् ऋतौ कर्तव्यत्वादृत्तुनां देवत्वं पितृत्वञ्च । अत्र सप्तमादीनां चतुर्णाम् मन्त्राणां लोपः ।

अत्र विनियोगसंग्रहः,—

ममाग्रे दशभिर्मन्त्रैर्धिष्णियेषु यथायथम् ।

दृष्टका उपधत्तेऽत्र वज्रिकाण्डः समापितः ॥

अथ मीमांसा, द्वतीयाध्यायस्याष्टमपादे (१४ अ०) चिन्तितम्,—

ममाग्र इति कस्यैव फलं? लिङ्गेन वक्तृगं ।

श्रुत्या स्वामिनि, न क्रीते, लिङ्गं तत्रोपचर्यताम् ॥

‘ममाग्रे-वर्चा विवेक्षस्तु’ इत्ययं मन्त्र इष्टकाचनान्कभूतो\*ऽध्वर्युणा

\* इत्ययम् आहवगोयस्याधाने करणभूतो मन्त्रः इति न्यायमासापाठः ।

पद्यते । विशिष्टं हवनं तेषां यज्ञानां ते विद्वाः । तेषु वर्षः तेजसा  
उपलक्षितं यत् फलं तन्मांसास्त्वित्यनेन लिङ्गेन मन्त्रमुच्चारयितुरध्वर्यो-  
क्षत्फलमिति चेत् । मैवं । अग्निं चिनुते\* इत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्ग-  
प्रधानफलस्य यजमानगामित्वं प्रतीयते, न च परिकीतस्याध्वर्योर्दक्षि-  
णातिरिक्तः फलसम्बन्धो न्याय्यः । तस्माच्छ्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तस्मिन्  
यजमानपरत्वेनोपचरणीयं,—मदीययजमानस्यैव तदर्थोऽस्त्विति हि  
उपचारः । तस्माद्यजमानेन पाद्येषु 'आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मं देहि'  
इत्यादिषु क्रियमाणानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा  
याजमानं, तथैवाध्वर्युणा पाद्येषु करणमन्त्रेषु श्रुतमपि फलं  
याजमानमेव" ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ० ॥

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो र्य पाञ्चजन्यं बहवः  
समिन्धते । विश्वस्यां विशि प्र वि विशिवाः समीमहे  
स नो मुञ्चत्वः हसः<sup>(१)</sup> । यस्येदं प्राणन्निमिषद्यदे-  
जति यस्य जातं जनमानश्च केवलं । स्तौम्यग्निं  
नायितो जाह्वीमि स नो मुञ्चत्वः हसः<sup>(२)</sup> । इन्द्रस्य  
मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो इव गन्तामा उप मामुपागुः ।  
यौ दाशुषः सुकृतो हवमुप गन्ता ॥ १ ॥

\* 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति न्यायमालापाठः ।

† आदर्शपुस्तकादौ मन्वे इति अत्र पाठः ।



स नो मुञ्चत्वः हसः<sup>(१)</sup> । यः संग्रामं नयति सं वशी  
युधे यः पुष्टानि सः सजति चयाणि । स्तौमीन्द्रं नायितो  
जोहवीमि स नो मुञ्चत्वः हसः<sup>(२)</sup> । मन्वे वां मिचा-  
वरुणा तस्य चित्तः सत्यौजसा दहणा यन्नुदेथे । या  
राजानः सरथं याथ उग्रा ता नो मुञ्चतमागसः<sup>(३)</sup> ।  
यो वाः रथं कजुरश्मिः सत्यधर्मा मिथुश्चरन्तमुपधाति  
दूषयन् । स्तौमि ॥ २ ॥

मिचावरुणा नायितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चत-  
मागसः<sup>(४)</sup> । वायोः सवितुर्विदधानि मन्महे यावात्म-  
न्वदिभृतो यौ च रक्षतः । यौ विश्वस्य परिभू तभूवतुस्तौ  
नो मुञ्चतमागसः<sup>(५)</sup> । उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धर्मो  
अस्थिरन् । स्तौमि वायुः सवितारं नायितो जोहवीमि  
तौ नो मुञ्चतमागसः<sup>(६)</sup> । रथीतमौ रथीनामह  
ऊतये शुभं गमिष्ठौ सुयमेभिरश्वैर्ययोः ॥ ३ ॥

वां देवौ देवेष्वनिशितभोजस्तौ नो मुञ्चतमागसः<sup>(७)</sup> ।  
यदयातं वहतुः सूर्यायास्त्रिचक्रेण सः स दमिच्छमानौ ।  
स्तौमि देवावश्विनौ नायितो जोहवीमि तौ नो  
मुञ्चतमागसः<sup>(८)</sup> । मर्हतां मन्वे अधि नो ब्रुवन्तु प्रेमां  
'वाचं' विश्वमिवन्तु विश्वे । आश्रन् हुवे सुयमानूतये ते  
नो मुञ्चन्त्वेनेसः<sup>(९)</sup> । तिग्ममायुधं वोडितः सहस्वदिव्यः  
शधः ॥ ४ ॥

• पृतनांसु जिष्णु स्तौमि, देवान्मरुतो नाथितो  
 जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वेनसः<sup>(१९)</sup> । देवानां मन्वे अधि  
 नो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वामवन्तु विश्वे । आशून् हुवे  
 सुयमानूतये ते नो मुञ्चन्त्वेनसः<sup>(१९)</sup> । यदिदं माऽभि-  
 शोचति पौरुषेयेण दैव्येन । स्तौमि विश्वान्देवान्नाथितो  
 जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वेनसः<sup>(१९)</sup> । अनु नोऽद्यान्-  
 मतिः<sup>(१५)</sup> अनु ॥ ५ ॥

• इदंनुमते त्वं<sup>(१६)</sup> वैश्वानरो न जत्या<sup>(१७)</sup> पृष्टो दिवि<sup>(१८)</sup> ।  
 ये अप्रथेताममितेभिरोजोभिर्ये प्रतिष्ठे अभवतां  
 वसूनां । स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते  
 नो मुञ्चतमःहसः<sup>(१९)</sup> । उर्वी रोदसी वरिवः क्षणात्  
 क्षेधस्य पत्नी अधि नो ब्रूयातं । स्तौमि द्यावापृथिवी  
 नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमःहसः<sup>(२०)</sup> । यत्ते वयं  
 परुषा यविष्ठाविद्वांसश्चकृमा कचन ॥ ६ ॥

• आगः कृधो स्वस्माः अदितेरनागा व्येनांसि  
 शिश्रयो विघ्नगमे<sup>(२१)</sup> । यथा ह तदसवो गैर्य्यं चित् पदि  
 सितम्\*ममुञ्चतो यजचाः । यूवा त्वमस्मत् प्रमुञ्च व्यःहः  
 प्रातार्यमे प्रतरान्न आयुः<sup>(२२)</sup> ॥ ७ ॥

• गन्ता । दूषयन्स्तौमि । ययोः । शङ्खः । अनुमतिः  
 अनु । चन । चतुस्त्रिंशच्च ॥ १५ ॥

इति तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके  
पञ्चदशोऽनुवाकः ॥ \* ॥

अग्नेर्मन्वे । यस्येदम् । इन्द्रस्य । यः संग्रामः । स  
नो मुञ्चत्वः हसः । मन्वे वाम् । ता नो मुञ्चतुमागसः ।  
यो वां । वायोः । उप । रथीतमौ । यदयातं । तौ नो  
मुञ्चतमः हसः । मरुतां । तीगमं । देवानां । यदिदं ।  
अनु नः । ऊर्वी । यत्ते । नो मुञ्चतमः हसः । यत्ते ॥

चतुरः हसः । षडागसः । चतुरेनसः । द्विरः हसः \* ॥

अग्नाविष्णू । ज्यैष्ठ्यः । शच्च । ऊर्क् च । अश्मा च ।  
अग्निश्च । अशुश्च । इधश्च । अग्निश्च मे घर्मश्च ।  
गर्माश्च । एका च । वाजो नः । अग्निं युर्नाजम् । ममाग्ने ।  
अग्नेर्मन्वे । पञ्चदश ॥ १५ ॥

अग्नाविष्णू (१।१) । अग्निश्च (६।१) । वाजो नो (१२।१) ।  
अदब्धो गोपाः (१४।३) । एकान्नचत्वारिंशत् ॥ ३६ ॥

॥ \* ॥ समाप्तः सप्तमः प्रपाठकः ॥ \* ॥

समाप्तश्च चतुर्थः काण्डः ॥

हरिः ॥ ॐ ॥

\* अयमंशः A प्रभृतिपुस्तके नास्ति ।

+ 'नवचिंशत्' इति A पु० पाठः । प्राथमिकेषु सप्तसु अनुवाकेषु प्रत्येकं  
द्विरिति १४, अष्टमे १, नवमे २, दशमे २, एकादशे १, द्वादशे ५, त्रयोत्क्षे १,  
चतुर्दशे २ एवं पञ्चदशेऽनुवाके ७ इति मिलित्वा एकान्नचत्वारिंशत् । ३६ ।

चतुर्दशेऽनुवाके विद्वत्पात्रा इष्टका उक्ताः । अथ पञ्चदशेऽश्वमेध-  
सम्बन्धिनो याज्यानुवाक्या उच्यन्ते । अथ षष्ठ्यानुवाकोऽस्मात् काण्डात्  
उत्कथ्यः । कल्पः, ‘अग्नये अ॒होमुचेऽष्टाकपालः इति दशहविष्य\*  
मृगारेष्टिमनुनिर्वपति समानन्, स्विष्टकृदिडमग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतस  
इति यथालिङ्गं याज्यानुवाक्या’ इति । तत्रोदाहृतस्य प्रथमहविषः पुरो-  
ऽनुवाक्यामाह,—“अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो यं पाञ्चजन्यं बहवः  
रुमिन्वते । विश्वस्यां विश्वि प्र वि विश्विवा॒ममीमहे स नो सुञ्चतु  
अ॒हमः<sup>(१)</sup>” इति । पञ्चजना निषादपञ्चमा वर्णाः, तेभ्यो हितः  
‘पाञ्चजेन्यः’ तादृशं ‘यम्’ अग्निं ‘बहवः’ यजमानाः, ‘रुमिन्वते’  
(प्रदीपयन्ति), ‘प्रथमस्य’ (सृष्ट्यादावुत्पन्नस्य), ‘प्रचेतसः’ (प्रकृत-  
ज्ञानवत्), तस्य ‘अग्नेः’ मूर्त्तिं ‘मन्वे’ (मनसा चिन्तयामि) ।  
‘विश्वस्यां’ ‘विश्वि’ (सर्वस्यां प्रजायां) ‘प्र वि विश्विवा॒मं’ (जाटराग्नि-  
रूपेण प्रविष्टवन्तं) तमग्निम् ‘ईमहे’ (वयं प्राप्नुमः) । ‘सः’ (अग्निः)  
‘नः’ (अस्मान्) ‘अहसः’ (पापान्) ‘सुञ्चतु’ (सुकान् करोतु) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“यस्येदं प्राणत् निमिषद्यदेजति यस्य जातं  
जनमानञ्च केवलं । स्तौम्यग्निं नायितो जाह्वीमि स नो सुञ्च-  
त्व॒हसः<sup>(१)</sup>” इति । ‘प्राणत्’ (आसोपेतं) ‘निमिषत्’ (निमेषोपेतं) ‘यत्’  
‘इदं’ जगत् ‘एजति’ (कम्पते) चष्टत इत्यर्थः, तत्सर्वं ‘यस्य’ अग्नेरधीनं  
‘जातं’ (पूर्वमुत्पन्नं), ‘जनमानम्’ (इतः परं जनिष्यमानं) ‘च’ जगत्सर्वं  
‘केवलं’ परनिरपेक्षं सत् यस्याधीनं, तम् ‘अग्निं’ ‘स्तौमि’, ‘नायितः’  
‘फत्तुयाजायुक्तोऽहं’ ‘जाह्वीमि’ (पुनः पुनर्जुहोमि) । शेषं पूर्ववत् । ”

\* हविषमिति आदर्शपुस्तकपाठः ।

अथ 'इन्द्रायाऽहोमुचे एकादशकपालः' इत्यास्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—  
 “इन्द्रस्य मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो वृत्रघ्नः स्तोमा उप मामुपागुः ।  
 यो दाग्धुषः सुकृतो हवमुपगन्ता स नो मुञ्चत्वऽहसः<sup>(१)</sup>” इति ।  
 ‘प्रथमस्य’ (सृष्ट्यादावुत्पन्नस्य), ‘प्रचेतसः’ (प्रकृष्टज्ञानवतः), ‘इन्द्रस्य’  
 मूर्त्तिं ‘मन्वे’ (अहं मनसा चिन्तयामि) । ‘वृत्रघ्नः’ (शत्रुघातिनः)  
 ‘इन्द्रस्य’ ‘उप’ (समीपं) प्राप्ताः ‘स्तोमाः’ (स्तोत्राणि)-‘मां’ (यजमानम्)  
 ‘उपागुः’ (प्राप्ताः),—इन्द्रगुणकथनपराणि स्तोत्राणि मज्जिङ्गायाम्  
 अवस्थितानीत्यर्थः । ‘यः’ इन्द्रः, ‘दाग्धुषः’ (हविर्दत्तवतः),\* सुष्ठु कर्म  
 अनुतिष्ठतो यजमानस्य ‘हवम्’ (आह्वानं यज्ञं वा) ‘उपगन्ता’  
 (प्राप्स्यति) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“यः संग्रामं नयति संवशी युधे यः पुष्टानि  
 सऽसृजति त्रयाणि । सौमीन्द्रं नाधितो जोहवीमि स नो मुञ्चतु  
 अऽहसः<sup>(२)</sup>” इति । ‘यः’ इन्द्रः ‘युधे’ (योद्धुः) ‘वशी’ (स्वाधीनपरिवारोपेतः)  
 ‘संग्रामं’ (युद्धदेशं) प्रति ‘सं’-‘नयति’ (स्वकीयां सेनां सम्यक्  
 प्रापयति) । ‘यः’ च इन्द्रः, ‘सं’-‘पुष्टानि’ (सम्पूर्णानि) ‘त्रयाणि’  
 (गवाश्चपुरुषरूपाणि) ‘संसृजति’ (यजमानेन यो जयति) । शेषं पूर्ववत् ।

अथ ‘मित्रावरुणाभ्यामागोमुग्ध्यां पयस्यः’ इत्यास्य पुरोऽनुवाक्या-  
 माह,—“मन्वे वां मित्रावरुणा तस्य चित्तऽ सत्यौजसा दृऽदृणा यं  
 नुर्देधे । या राजानऽ सरथं याय उया ता नो मुञ्चतमागसः<sup>(३)</sup>”  
 इति । ‘मित्रावरुणा’ हे मित्रावरुणौ, ‘वां’ (युवयोः) मूर्त्तिं ‘मन्वे’

\* अत्र ‘सुकृतः’ इत्ययं शब्दः पतित इव प्रतिभाति ।

† ‘स पुष्टानि’ इति सर्वत्र पाठो न सम्यक् ।

(मनसा ध्यायामि) । \* 'सत्यौजसा' (अकृत्रिमबलौ), 'दृंहणा' (सम्भयन्तौ) युवां 'वं' अस्मद्वैरिणं 'नुदेधे' (निराकुरुतः), तस्य वैरिणः 'चिन्त' (दुष्टबुद्धिं) जानीतं, युवामुभौ 'राजानं' (दीप्तिमन्तं) 'सरथं' (रथमहितम्) आदित्यं 'याज्ञ' (लोकोपकाराय दृष्टिमुत्पादयितुं दृष्टिं प्राप्नुयाथः) ! 'उया' (अनिष्टनिवारणेऽत्यन्तं तीक्ष्णौ), 'ता' (तौ) युवां 'नः' (अस्मान्) "आगसः" (पापात्) 'मुञ्चत' (मुक्तं कुरुत) ।

नचैव याज्यामाह,—“यो वा५ रथ ऋजुरग्निः सत्यधर्मा मिथु-  
श्चरन्तमुपयाति दूषयन् । सौमि मित्रावरुणा नाथितो जोह्वीमि  
तौ नो मुञ्चतमागसः<sup>(६)</sup>” इति । हे मित्रावरुणौ, 'वां' (युवयोः)  
'यः' 'रथः' 'ऋजुरग्निः' (अकृटिलप्रग्रहः) 'सत्यधर्मा' (अवितथा-  
धारणश्च) भवन्ति, स रथः\* 'मिथुश्चरन्तं' (मिथ्याचारिणं अन्यायकारिणं  
शत्रुं) 'दूषयन्' 'उपयाति' (बाधमानः प्राप्नोति) । सौमीत्यादि पूर्ववत् ।

अथ 'वायो-सावित्र आगोमुग्भ्यां चरुः' इत्यस्य पुरोऽनुवाक्या-  
माह,—“वायोः सवितुर्विदथामि मन्महे यावात्मन्वद् बिभ्रतो यौ च  
रन्तः । यौ विश्वस्य परिभू बभूवतुसौ नो मुञ्चतमागसः<sup>(७)</sup>” इति ।  
यो वायुर्यश्च सविता तयोरुभयोः 'विदथानि' (वेदनानि) अभिप्राय-  
विशेषान् 'मन्महे' (जानीमः) । 'यौ' (वायुसवितारौ) 'आत्मन्वत्'  
(स्वशरीरमिव) 'बिभ्रतः' (सर्वं जगद्भारयतः) । किञ्च 'यौ' (वायु-  
सवितारौ) 'रन्तः' (जगत् पालयतः) । किञ्च 'यौ' (वायुसवितारौ)  
'विश्वस्य' (कृत्स्नस्य) जगतः 'परिभू' (परितो व्यापकौ बभूवतुः) ।  
तांक्रियादि पूर्ववत् ।

तत्रैव याज्यामाह,—“उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धर्मे अस्थिरन् ।  
 सौमि वायुः सवितारं नाथितो जोहवीमि नो नो मुञ्चतमागसः<sup>(८)</sup>”  
 इति । ‘श्रेष्ठाः’ (प्रशस्ताः) ‘नः’ (अस्मदीयाः) ‘आशिषः’ (फलविशेषाः)  
 ‘देवयोः’ (वायुमवित्रोः) सम्बन्धिनि<sup>१</sup> ‘धर्मे’ ‘उप’ कर्मणि ‘स्थिरन्’\*  
 (उपासीयत) तदधीना इत्यर्थः । सौमीत्यादि पूर्ववत् ।

अथ ‘अश्विभ्यामागोसुगर्भ्यां धाना’ इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,—  
 “रथीतमौ रथीनामङ्गे ऊतये शुभं गमिष्ठौ सुयमेभिरश्वैः । यगोर्वी  
 देवौ देवेष्वनिशितमोजसौ नो नो मुञ्चतमागसः<sup>(९)</sup>” इति । ‘रथीनः’  
 ‘रथीतमौ’ (ये रथिनो देवाः सन्ति, तेषां मध्ये अतिशयेन रथिनौ),  
 ‘सुयमेभिः’ (सुष्टु नियन्तुं शक्यैः) ‘अश्वैः’ ‘शुभं’ (भलीचीनं देशं)  
 ‘गमिष्ठौ’ (अतिशयेन गच्छन्तौ) अश्विनौ ‘अङ्गे’ (अहं आङ्गयामि) ।  
 ‘देवौ’ अश्विनौ ‘देवेषु’ सर्वेषु मध्ये ‘ययोः’ ‘वां’ (युवयोः) ‘ओजः’  
 (बलं) ‘अनिशितं’ (अन्येन केनापि न तीर्त्तणीकृतं), किन्तु स्वभावेन  
 एव तीर्त्तमित्यर्थः । तावित्यादि पूर्ववत् ।

तत्रैव याज्यामाह,—“यदयातं वहतुः सूर्यायास्त्रिचक्रेण सप्त-  
 सदमिच्छमानौ । सौमि देवावश्विनौ नाथितो जोहवीमि नो नो  
 मुञ्चतमागसः<sup>(१०)</sup>” इति । यस्मात् कारणात् ‘सूर्यायाः’ (सूर्यपत्न्याः)  
 ‘स्वमातुः’ (सप्तदमिच्छमानौ) (सद्भावस्थानं इच्छन्तौ) ‘देवौ’ अश्विनौ युवां  
 ‘त्रिचक्रेण’ (चक्रत्रययुक्तेन) रणेन ‘वहतुं’ (वाहयितुं) ‘अयातं’ (रघस्योपरि  
 गतवन्तौ), तस्मात् कारणात् तथैवाविधौ देवौ । सौमीत्यादि पूर्ववत् ।

\* अत्र ‘धर्मे’ (कर्मणि) ‘उप’ अस्थिरन् इत्येवंरूपं पाठो भवितुं युक्तः ।

† अत्र ‘ऊतये’ इति पदस्य व्याख्या पतितेव प्रतिभति ।

‡ युवौ इति सर्वत्र पाठः प्रामादिकः ।

अथ 'मरुद्वा एनेःसुगन्धः सप्तकपालः' इत्यस्य पुरोऽनुवाक्यामाह,  
—“मरुतां मन्वे अधि नो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वामवन्तु विश्वे ।  
‘आशून् ऊवे सुयमानूतये ते नो सुञ्चन्त्वेनसः<sup>(११)</sup>” इति । ‘मरुतां’  
(मरुत्सञ्ज्ञकानां) देवानां मूर्त्तिं ‘मन्वे’ (अहं मनसा ध्यायामि) । तेन  
च मरुतः ‘नः’ (अस्मान्) ‘अधि’ ‘ब्रुवन्तु’ (अधिकान् ब्रुवन्तु) । ते च  
‘विश्वे’ (सर्वे) अपि ‘इमां’ ‘वाचं’ (मदीयां प्रार्थनां) ‘विश्वां’ (सर्वाम्) अपि  
‘प्र’ ‘अवन्तु’ (प्रकर्षेण रक्षन्तु) । ‘आशून्’ (शीघ्रगामिनः) ‘सुयमान्’  
(सुष्ठु नियामकान् मरुदास्थान् देवान्) ‘ऊतये’ (रक्षणाय) ‘ऊवे’  
(आह्वयामि) । ‘ते नः’ इत्यादि पूर्ववत् ।

तत्रैव याज्यामाह,—“तिग्ममायुधं वीडितं सहस्रदिव्यं शर्द्धं  
वृतनासु जिष्णु । स्तौमि देवान् मरुतो नाद्यितो जाह्नवीमि ते नो  
सुञ्चन्त्वेनसः<sup>(१२)</sup>” इति । मरुदास्थानां देवानाम् ‘आयुधं’ तिग्मादि-  
विशिष्टविशिष्टं ‘तिग्मं’ (तीक्ष्णं), ‘वीडितं’ (दृढं) । किञ्च मरुतां ‘शर्द्धः’  
(बलं) ‘सहस्रत्’ (परेषामभिभवित), ‘दिव्यं’ (यथोचितव्यवहारयोग्यं), अत  
एव ‘वृतनासु’ (परकीयसेनासु) ‘जिष्णु’ (जयशीलं) । स्तौमीत्यादि पूर्ववत् ।

अथ ‘विश्वेभ्यो देवेभ्य एनेःसुगन्धो द्वादशकपालः’ इत्यस्य पुरोऽनु-  
वाक्यामाह,—“देवानां मन्वे अधि नो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वा-  
मवन्तु विश्वे । आशून् ऊवे सुयमानूतये ते नो सुञ्चन्त्वेनसः<sup>(१३)</sup>”  
इति । पूर्वोक्ता मरुतां पुरोऽनुवाक्ये, १, \* तथेयं विश्वेषां देवानां  
पुरोऽनुवाक्या योजनीया ।

\* अत्र यथा इति पदं भवितुं युज्यते ।



तत्रैव याज्यामाह,—“यद्दिदं माभिश्चोचमि पौरुषेयेण दैव्येन ।  
स्त्रौमि विश्वान् देवान् नाधितो जोहवीमि ते नो सुहृन्त्वेनसः<sup>(१४)</sup>”  
इति । ‘पौरुषेयेण’ (मनुष्यव्यापारेण), ‘दैव्येन’ (देवव्यापारेण) च  
सम्पादितं ‘यत्’ ‘इदं’ (दुःखं) ‘मः’ ‘अभिश्चोचति’ (अभितो मां  
क्लेशयति), तस्य दुःखस्य अपनोदनार्थं । स्त्रौमीत्यादि शेषं पूर्ववत् ।

अथ ‘अनुमत्यै चहः’ इत्यस्य याज्ञानुवाक्ययोः प्रतीके  
दर्शयति,—“अनु नोऽद्यानुमतिः”<sup>(१५)</sup> “अन्विदनुमतं त्वम्”<sup>(१६)</sup> इति ।  
“अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञम्” इति पुरोऽनुवाक्या । “अन्विदनुमते त्वं  
मन्यासै” इति याज्या । एतच्चोभयम् “इदं वामास्ये” (३ का० ३ प्र०  
११ अ०) इत्यनुवाके व्याख्यातम् ।

अथ ‘अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालः’ इत्यस्य याज्यापुरो-  
ऽनुवाक्ययोः प्रतीके दर्शयति,—“वैश्वानरो न ऊत्या”<sup>(१७)</sup> “पृष्टो  
दिवि”<sup>(१८)</sup> इति । “वैश्वानरो न ऊत्या प्रयातु” इति पुरोऽनुवाक्या ।  
“पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः” इति याज्या । एतच्चोभयं “वैश्वानरो न  
ऊत्या” (१ का० ५ प्र० ११ अ०) इत्यस्मिन्ननुवाके व्याख्यातम् ।

अथ ‘द्यावापृथिवीभ्यामुक्त्रेमुग्भ्यां द्विकपालः’ इत्यस्य पुरो-  
ऽनुवाक्यामाह,—“ये अप्रयेताममितेभिरोजोभिर्धेयं प्रतिष्ठे अभवतां  
वसूनां । स्त्रौमि द्यावापृथिवीं नाधितो जोहवीमि ते नो  
सुहृन्तमः<sup>(१९)</sup>” इति । ‘ये’ द्यावापृथिव्यौ, ‘अमितेभिरोजोभिः’  
(परिच्छेत्तुमशक्यैर्बलैः) ‘अप्रयेतां’ (प्रख्याते अभूतां) । किञ्च ‘ये’  
द्यावापृथिव्यौ, ‘वसूनां’ (धनानां) ‘प्रतिष्ठे’ (आश्रयभूते) ‘अभवतां’,  
ते द्यावापृथिव्यौ । स्त्रौमीत्यादि पूर्ववत् ।

तत्रैव याज्यामाह,—“उर्वी रोदसी वरिवः कृणोतं चेचस्य पंढी  
अधि नो ब्रूयातं । सौमि द्यावापृथिवी नाथिते जाह्नवीमि ते नो  
मुञ्चंतमर्हसः<sup>(१०)</sup>” इति । ‘उर्वी’ (उर्वी, अत्यन्तं विस्तृते), ‘रोदसी’  
(रोदस्यौ) हे द्यावापृथिव्यौ, ‘वरिवः’ (धनं पूजां वा) ‘कृणोतं’  
(कुरुतं) । ‘चेचस्य’ ‘पंढी’ (पल्यौ) हे द्यावापृथिव्यौ, ‘नः’ ‘अस्मान्’  
‘अधि’ ‘ब्रूयातं’ (अधिकाद् कथयतं) । सौमीत्यादि पूर्ववत् ।

अथ स्विष्टकृतः पुरोऽनुवाक्यामाह,—“यत्ते वयं पुरुषचा यविष्ठ  
अविद्वांसश्चकमा कचनानागः । कृधी स्वस्माः अदितेरनागा येनांसि  
शिअथो विव्वग्ने<sup>(११)</sup>” इति । हे ‘यविष्ठ’ (युवतम) ‘अग्ने’, ‘वयम्’  
‘अविद्वांसः’ (ज्ञानरहिताः) सन्तः ‘ते’ (त्वदीयेषु) ‘पुरुषचा’ (पुरुषेषु)  
‘यत्’-‘कचन आगः’ (दं-कमप्यपराधं) ‘चकम’ (कृतवन्तः) । ‘अदितेः’  
(अश्वण्डनीयस्य) तव अस्मान् ‘अनागाः’ (अपराधरहितान्) ‘सु’-  
‘कृधि’ (सुष्ठु कुरु) । हे ‘अग्ने’, ‘एनांसि’ (अस्मदीयानि पापानि)  
‘विव्वक्’ (सर्वथा) ‘वि’-‘शिअथः’ (विशेषेण अथितानि कुरु) ।

तत्रैव याज्यामाह,—“यथा ह तदसवो गौर्यं चित् पदि  
मिताममुञ्चता यजचाः । एवा त्वमस्मत् प्र मुञ्च व्यहः प्रातार्यग्ने  
पतरान्न आयुः<sup>(१२)</sup>” इति । ‘यजचाः’ (यष्टव्याः), ‘वसंक’  
(जगन्निवासहेतवः), अग्निना सहिताः हे देवाः, ‘पदि सितां’  
(बन्धनस्थान्ने स्वीयस्य पाशस्य आक्रमणेन पादे बद्धां), ‘गौर्यं’-‘चित्’  
(गौरीमपि) यांकाञ्चित् गौरवर्णाङ्गाम् ‘अमुञ्चत’ (बन्धान्मुञ्चतवन्तः) ।  
हे ‘अग्ने’, ‘तत्’ ‘यथा’ ‘ह’ (येनैव प्रकारेण तद्भुक्तेऽन्नं कृतं),

‘एवा एवम्’ (एवमेव एवमपि) ‘अस्मत्’ (अस्मत्सकाशात्) ‘बृंहः’  
(विविधं पापं) ‘भृ-’-‘मुञ्च’ (प्रकर्षेण मुक्तं कुरु) । ‘नः’ (अस्मदीयम्)  
‘आयुः’ ‘प्रतरां’ (अत्यधिकं) यथा\* ‘प्रातारि’ (प्रतर सप्तादयः) ॥

अत्र विनियोक्तव्यम्,—

अग्नयेऽहोमुचेऽष्टाक-पाला इत्यादिनेरिताः ।

दृष्टयोऽग्नेर्मन्वयुक्ता याज्यास्तासु क्रमसदिमाः ॥

अग्नेराग्नेयके, दीन्द्रस्यैन्द्रे, मन्वे ह्यनन्तरे ।

मैत्रावरुणके, वायोर्वायो-सावित्रके, रथी ॥

आश्विने, मरुतां मारु-ते, देवा वैश्वदेविके ।

अनुदयोश्चानुमते, वैश्वा वैश्वानरे तथा ॥

द्यावापृथिव्यके ये तु, यत्ते स्विष्टकृतीर्यते ।

अनुवाके पञ्चदशे मन्वा द्वाविंशतिर्मताः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति सायनाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णराजुः-  
संहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमप्रपाठके पञ्चदशोऽनुवाकः ॥०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीरबुक्क-  
भूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थ-  
प्रकाशनामकतैत्तिरीयधर्मसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे सप्तमः प्रपाठकः  
सम्पूर्णः ॥०॥

\* अत्र ‘तथा’ इति पदं पतितमिव प्रतिभाति

† अग्नयेऽहोमुचेऽष्टाकपाल इति सर्वत्र पाठो न लभ्यते ।















